उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत

प्रमुख राजनीतिक विचारकों की चिन्तनधारा

जयनारायण पाण्डेय

प्राध्यापक : शासकीय महाविद्यालय, जगदलपुर (वस्तर) म० प्र०

लोक चेतना प्रकाशन

जबलपुर

वस्तु और व्यक्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता पाठ्य-ग्रंथ के रूप में भले ही स्वीकार कर ली जावे, लेकिन वास्तव में यह विशिष्ट-विषयक निबन्ध-संग्रह ही है। मौलिकता सम्बल ही कदाचित् इसे शुष्क राजनीतिक सर्वेक्षण या तथ्य-निरूपण से बचाकर साहित्यिकता की परिधि तक खींच लाता है। साहित्य और राजनीति का यह समन्वय सोद्देश्यतामूलक अवश्य है। उच्चस्तरीय छात्रों में राजनीति के सूक्ष्म, गंभीर, प्रौढ़ अध्ययन की जिज्ञासा जागृत करना अभीष्ट है। इस दिशा में यह प्रारम्भिक प्रयासमात्र है। सैद्धान्तिक अथवा प्रायोगिक रूप में राजनीतिक विचार और दर्शन की समीक्षा करते समय हमें किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व-विश्लेषण करना पड़ता है, विशेषतः उनका जिन्होंने समस्यामूलक वस्तुगत सत्य को नई अभिव्यंजना दी, नये विचारशिल्प की प्राणप्रतिष्ठा की, समाज को समय-समय पर अभिनव दिशानिर्देश दिया। इस प्रक्रिया में हमें समाहारात्मक दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है। अलग-अलग या बिखरी हुई पुरानी-नई मान्यताओं और स्थापनाओं को व्यवस्थित, क्रमबद्ध रूप देकर गतिशील बनाना राजनीति-दर्शन का सम्पृक्त स्वरूप है अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि सामासिक रूप में सांस्कृतिक-बौद्धिक अनुशीलन करते समय प्रासंगिक विचारसाम्य, अन्योन्याश्रय या अन्तरावलम्बन ढूँढ़ना राजनीतिक साहित्य में स्थायी एवं श्लाघ्य प्रयत्न है। इस क्षेत्र में हिन्दी विचार-जगत् की श्रीवृद्धि करने वाले विद्वानों ने काफी काम किया है। राष्ट्रभाषा में इन दिनों पर्याप्त मात्रा में नये ग्रन्थ इस पर निकल रहे हैं।

बहुमुखी, बहुरूपिणी राजनीति ने मनुष्य सभ्यता के विकास के साथ-साथ असंख्य उल्टे-सीधे, मोटे-बारीक, जटिल-कुटिल, सुघर-बेमेल विचारों का कूड़ा-कचरा लाद-लादकर विशाल मुक्कड़ तैयार कर दिया है। लेकिन उसी में बहुमूल्य विचार-रत्न छिपे पड़े रहते हैं। ऐसे में ही गुदड़ी के लाल की तरह

प्रमुख विचारक हुये हैं। इनमें से प्रायः सभी को विपरीत परिस्थितियों से लोहा लेना पड़ा, वैचारिक अनुदाय का मँहगा मूल्य चुकाना पड़ा। लेकिन इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ढाई हजार वर्षों के इतिहास में संकल्प और अभिव्यक्ति, दृष्टि और सृष्टि, संघर्ष और समन्वय का जितना व्यापक प्रयोग महात्मा गांधी ने किया उतना किसी दूसरे में दृष्टिगोचर नहीं होता। हो सकता है इसमें पूर्वाग्रह हो, लेकिन तटस्थता का क्षेत्र सर्वत्र तो नहीं है। इस पुस्तक में एक निश्चित परिणाम, परिवेश, परिप्रेक्ष में विचारकों का मूल्यांकन करने की चेष्टा की गई है। एक तरह से पूर्व निश्चित मर्यादा का पालन करना पड़ा है क्योंकि प्रत्येक विचारक पर स्वतन्त्र रीति से ग्रंथ रचना सम्भव है, और अंग्रेजी में ऐसे कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। लेकिन उन्मेषशील छात्रों का ध्यान रखते हुए प्रत्येक के लिए परिचयात्मक भूमिका, व्यक्ति, कृति, परिस्थिति, प्रभाव, पार्श्वभूमि, राजनीतिक विचारतत्व, विचार-विश्लेषण, आलोचना, अनुदान, तुलनात्मक समीक्षा आदि खंडों में विषय का वर्गीकरण किया गया है। उलझे विचार-तन्तुओं को स्पष्ट-स्वच्छ सुलझा हुआ बनाया गया है। किसी शब्दकोष या पारिभाषिक प्रणाली का प्रयोग नहीं किया गया। जैसे आते गये, शब्दों के भाव उतारते गये हैं। अंग्रेजी उद्धरण यहाँ-वहाँ हैं, लेकिन उन्हें छोड़ जाने पर भी कोई कठिनाई न होगी। भाषा, शैली, प्रवाह, प्रेषणीयता आदि के सम्बन्ध में मेरी अपनी मजबूरियाँ रही हैं। वस्तुगत परीक्षण आपका काम है, व्यक्तिगत निवेदन मेरा इतना है कि अभी प्रथम चरण में ही संभलने का मौका है। इसमें मुझे काफी आसानी और परेशानी से गुजरना पड़ा है। आसानी उनके कारण जिन्होंने विषय-परिज्ञान का पथ प्रशस्त किया, उन असंख्य लेखकों दार्शनिकों की सांस्कृतिक विरासत के कारण, जिनका नाम गिनाने के लिए कोई गुंजाइश नहीं जोड़ रहा हूँ। परेशानी बिल्कुल अपनी है—कमजोरियाँ, सीमाएँ, असमंजस, अल्पज्ञता और झंझटें ! अतएव स्पष्ट ही न तो कोई मेरी [illegible] है, न कोई मुझे आशा प्रत्याशा है। आत्म-विश्वास का गुनहगार अवश्य हूँ और इसीलिये शायद कुछ लिख-कह जाता हूँ। यह संयोगवश प्रकाशन के लिये राजनीति अथवा राजदर्शन का विषय लेकर बैठ गया, क्योंकि मेरी रुचियों का दायरा संकीर्ण नहीं है। आदरणीय गुरुजनों, सहृदय पाठकों और जिज्ञासु छात्रों का स्नेहाश्रय पाकर शायद कुछ और कर सकूँ। यह अवश्य है कि आपके सुझाव-संशोधन आदि से मुझे काफी बल मिलेगा। यहाँ-वहाँ विराम, पूर्णविराम, संकेत, अशुद्धियाँ आदि दोष प्रवेश पा गये हैं, इनकी सफाई में सहृदय सहयोग अपेक्षित है।

प्रकाशन व्यवस्था के लिये श्री नर्मदाप्रसाद खरे, संचालक, लोक चेतना प्रकाशन का आभारी हूँ।

अन्त में, अपनी सब गल्तियों और प्रकाशन में अप्रत्याशित देरी के लिये क्षमा याचना करते हुये आपकी बहुमूल्य सम्मति की प्रतीक्षा में—

होलिकादहन,
२६-३-१९५६
महाकोशल महाविद्यालय,
जबलपुर

—जयनारायण पाण्डेय

"उपदेशात्मक वीथियों में भटकता हुआ अकर्मण्यता से बोझिल राजदर्शन ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि के अभाव में मर जाता है।"

—जीं बोदां

० ० ०

"मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता आया हूँ। सत्यमय बनने के लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है। इस सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के अभाव में अशक्य है। ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम; दरिद्रनारायण की सेवा की बड़ी जरूरत है। सत्यान्वेषी मुमुक्ष जीवन के किसी क्षेत्र से बाहर नहीं है। यही कारण है मेरी सत्यपूजा मुझे राजनीतिक क्षेत्र में घसीट लाई।"

—महात्मा गाँधी

० ० ०

"प्रजा की समृद्धि में ही शासक की समृद्धि है, प्रजासुख में ही राजसुख है, प्रजा के कल्याण से परे शासक का कोई कर्तव्य नहीं।"

—कौटिल्य

० ० ०

"घृणित दासता में भयपूर्ण जीवन विताने की अपेक्षा हम एक हौसला लेकर संघर्ष में कूद पड़ें। जंजीरें और दीवारें टूटेंगी, निश्चय ही टूटेंगी।"

—कार्ल मार्क्स

भूमिका

'राजनीतिक चिन्तनधारा' का दूसरा संस्करण थोड़े हेर-फेर के साथ निकल रहा है। दार्शनिकों की संख्या उतनी ही है, कलेवर थोड़ा-सा बढ़ाया गया है। इसके वृहद् संस्करण की योजना भी विचाराधीन है। प्रथम संस्करण पर उत्तर प्रदेश शासन ने ६००) छः सौ रुपये का पुरस्कार दिया और अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने भी इसका अनुकरण किया। आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन चलता रहेगा। भाषा सम्बन्धी आलोचना कुछ-कुछ हुई। यह कुछ ठीक भी है, लेकिन 'कल' का विचार करके भी इस ओर ध्यान देना चाहिये। हिन्दी माध्यम का प्रयोग सफल ही नहीं पूर्ण यशस्वी हुआ है। छात्रों का ज्ञानवर्धन शुभ लक्षण है। परीक्षा के लिए इसकी उपयोगिता अंशतः सिद्ध हो चुकी है। विश्वविद्यालयों में भी पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्थान मिला है। इस संस्करण के लिए प्रेरणा के स्रोत भाई खरे जी ही हैं। सुधार और संशोधन के लिए सदैव तत्परता है, बशर्ते कि वे प्राप्त हों।

—जयनारायण पाण्डेय

जगदलपुर
१–५–६१

१—प्लेटो (अफलातून)

[४२८ ई० पूर्व—३४८ ई० पूर्व]

यूनान के राजनीतिक विचारकों में प्लेटो का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। फारसी इतिहासकारों द्वारा वर्णित 'अफलातून' प्लेटो का ही दूसरा नाम है। विचार जगत् में एकाधिपत्य की कल्पना नहीं की जा सकती और एक ही तरह के विचार विभिन्न परिस्थितियों या सीमाओं में पैदा हो सकते हैं। इसका आधार कभी-कभी तो प्रधानतः बुद्धिसाम्य माना जाता है और कभी-कभी ऐतिहासिक दृष्टि से समानान्तर चिन्तन कहा जाता है। इस तरह के विचारों को जो देश-काल की सीमा से अबाधित, सामान्य जीवन के पोषक तथा मौलिक समस्याओं के समाधान हेतु सर्वग्राह्य तथा सुलभ होते हैं, सार्वभौमिक विचार कहते हैं। सार्वभौमिक होने के लिए मनुष्यवादी अथवा मानवता-केन्द्रित आधार चाहिए; सूक्ष्म तत्वदर्शिनी बुद्धि, गम्भीर संवेदन-शीलता, व्यापक दृष्टिकोण तथा सदाशयता से प्रेरित आदर्श-कल्पना चाहिए। अपनी कुछ ऐसी विशेषताओं के कारण प्लेटो ढाई हजार वर्षों के बाद आज भी अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है। उसके विचारों की छाप अन्य दार्शनिकों में अमिट पाई जाती है और यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की अविछिन्न परम्परा निरन्तर गति से सामयिक परिवर्तन-संशोधन के साथ आज भी चली आ रही है और चलती जायेगी। यूनानी संस्कृति के आज अवशेष मात्र रह गये हैं, किन्तु मानव-सभ्यता में उसे उच्च स्थान प्राप्त है। प्लेट के विचारों का अध्ययन किये बिना यूनानी संस्कृत अपूर्ण मानी जाती है। लेकिन यहाँ स्पष्टतया यह समझ लेना चाहिए कि राजनीतिक विचारों का दायरा उन दिनों आज की तरह सीमित अथवा विशिष्ट नहीं था। जीवन-दर्शन की व्यापक परिधि में सामाजिक चिन्तन तथा विकास के सभी सम्बन्धित विषयों का समावेश रहा तथा वैज्ञानिक आधार पर उनका वर्गीकरण नहीं हो सका। इसलिये प्लेटो के दार्शनिक विचारों में संश्लिष्ट दृष्टिकोण है, कल्पना प्रधान आदर्श की अभिव्यक्ति है, किन्तु वस्तुपरक यथार्थ का अभाव-सा है।

संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा प्रभाव :

यूनान की राजधानी एथेन्स समृद्धि-शाली नगरी थी जहाँ निरंकुश विलास-प्रिय शासक, चालाक व्यापारी, आरामतलब धनीवर्ग, पढ़े-लिखे साधनारत विद्वान् तथा बहुत बड़ी संख्या में दरिद्र, अभिशप्त, पीड़ित क्रीतदास आदि सभी रहते थे। विविधतामंडित इस एथेन्स नगरी में प्लेटो का जन्म उच्च वर्ग में ४२८ ईसवी पूर्व में हुआ। उसके पिता एरिस्टी और माता पेरी-क्रीन दोनों प्रतिष्ठित वंश के थे। इस समय यूनान की आन्तरिक स्थित अस्त-व्यस्त थी। गृह-युद्ध, अराजकता, अव्यवस्था, नैतिक पतन, आर्थिक दुरवस्था आदि के कारण यूनान का नागरिक जीवन कलुषित होता जा रहा था। नगर-राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्धा तथा उच्छृङ्खल-वृत्ति के कारण समाज में एक घुन-सा लग गया, सड़ान्त (Stasis) पैदा हो गई (वार्ड-फाउलर ने इसे पुराने नासूर की संज्ञा दी है)। ऐसी स्थित में प्लेटो का प्रारम्भिक जीवन बीता। शिक्षा प्राप्त करने के लिए वह साक्रेटीज के विद्यालय में प्रविष्ट हुआ जहाँ नये ढंग से सद्गुणों के आधार पर ज्ञान-राशि अर्जित करने का मंत्र दिया जाता था। अपनी अद्वितीय प्रतिभा, कोमल भावना तथा परिष्कृत अभिरुचि के कारण प्लेटो होनहार विद्यार्थियों में गिना जाने लगा। धीरे-धीरे वह स्वप्नद्रष्टा होने लगा। मानसिक प्रविक्रिया की तीव्रता के कारण उसका दृष्टिकोण बदलने लगा। ई० पू० ३९९ में साक्रेटीज को विषपान द्वारा मृत्यु-दण्ड दिया गया जिसके कारण अधिकांश संयमी विचार विक्षुब्ध हो उठे। आतंक तथा दमन पर अधिष्ठित हुल्लड़बाजों तथा धूर्तों के (Canaille or ruffians) शासन पर से विश्वास धीरे-धीरे उठने लगा। प्लेटो परिव्राजक की तरह एथेन्स छोड़कर निकल पड़ा और क्रीट, एशिया माइनर, साइराक्यूज, बल्कन, सिसली, इटली आदि देशों में दस-ग्यारह वर्षों तक भ्रमण करता रहा। ज्ञान-सम्पन्न तथा अनुभव-वृद्ध होकर वह फिर एथेन्स आया और ३०० ई० पू० उसने अपनी स्वतन्त्र शिक्षण-संस्था (Academy) खोल दी। शिक्षक के रूप में कार्य करते हुए सारा जीवन उसने बिताया। साइराक्यूज के शासक डायोनोनीसियस ने उसकी शिक्षा से लाभ उठाया लेकिन आचरण में वह सर्वथा विपरीत सिद्ध हुआ जिसके कारण प्लेटो को बड़ी निराशा हुई। (This experience brought home to Plato the actualities of Political life in an especially poignant fashion) कुण्ठा, निराशा, भ्रान्ति से मुक्त होकर उसने आदर्शवादी विचारों की सृष्टि की ओर मरणान्मुख

समाज को बचाने का प्रयास किया। किन्तु व्यावहारिक दुनिया से दूर, विफलता की वक्र-वीथियों में चक्कर कातता, अपने सुनहले स्वप्नों को लादे हुए ई० पू० ३४८ में वह मर गया। अपने जीवन-काल में ही प्लेटो ने फरसी शासकों की निरंकुशता देखी, ज्वार की तीव्र गति से बढ़ते हुए एथेन्स के साम्राज्य का वैभव देखा, ताश के महल की तरह गिरता उसका विकृत रूप देखा, स्पार्टा के आभिजात्यतंत्र अथवा कुलीनतंत्र को भी देखा। फिर इसके बाद उसने जो कुछ लिखा अपने अनुभव के बल पर उससे एथेन्स के जनतंत्र, स्पार्टा के उच्च-वर्ग तंत्र, साइक्रूज के निरंकुशतंत्र का बलपूर्वक खंडन किया गया, तथा नये ढंग के बौद्धिक आभिजात्यतंत्र की स्थापना की गई। † उसकी शैली में एक तरह का सम्मोहक व्यंग्य (Tantalising irony) है जिसके द्वारा वह तीव्रता से खंडन करता है। पेरीक्लीज के स्वर्ण युग की समाप्ति के बाद होने के कारण प्लेटो साम्राज्य विस्तार का विरोधी था। जनतन्त्र (भीड़ तन्त्र का पर्याय ?) उसे सह्य नहीं था। दासप्रथा का समर्थक, व्यावसायिक अथवा वणिक वृत्ति का शत्रु तथा सैन्यवृत्ति का प्रशंसक वह था। सामाजिक, राजनीतिक संस्थानों का युक्तिपूर्वक विश्लेषण करने की प्रवृत्ति के कारण वह आने वाले युग में सुधारवाद का पथ-प्रदर्शक बना। सामयिक व्यक्तिवाद का विरोध करके प्लेटो ने राज्य को व्यक्ति का वृहद् संस्करण मान लिया। (State is an individual writ large)।

अपने पूर्ववर्ती विचारकों से प्लेटो ने प्रेरणा ली और बहुत कुछ सीखा किन्तु सबसे अधिक प्रभाव साक्रेटीज (सुकरात ४६६–३६६ ई० पूर्व) का ही उस पर पड़ा। साक्रेटीज ने ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करके उसकी प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य निश्चित किया था। ज्ञान के सोपान के रूप में सद्गुणों में शौर्य, सहिष्णुता, धार्मिकता, आदि का उल्लेख किया गया था। प्लेटो ने भी वही समस्या अपनाई— सत्य का अनावरण अथवा उसका स्वरूप-निर्धारण ! वास्तविक विचारों के आधार पर लोक-कल्याण की प्रतिष्ठा सत्य-धर्म-ज्ञान के बल पर करना प्लेटो का मन्तव्य था। प्रोटेगोरस की तरह प्लेटो इंद्रियजन्य ज्ञान को विश्वसनीय नहीं समझता। साक्रेटीज की भाँति वह निश्चित ज्ञान-प्रत्ययों को मानता है। इसलिए प्लेटो को प्रत्ययवादी भी कहा जाता है। ज्ञान को वह पार्मेनेडीज की सत्ता शक्ति की तरह स्थिर और पायथोगोरस की संख्या

---

†Plato denounced Athenian Democracy, Spartan Oligarchy Syracusean tyranny and established his own intellectual aristocracy. (W. A. Dunning vol. I)

की तरह साष्भूत मानता है। हेराक्लिटस के परिवर्तन-सिद्धान्त तथा डेमोक्रेटस का अनेकता-सिद्धान्त भी प्लेटो ने कुछ अंशों में ग्रहण किये।

दार्शनिक विचार-प्रणाली अपनाने, समुचित शिक्षा व्यवस्था चलाने तथा प्रजातंत्र का विरोध करने में प्लेटो प्रभावित हुआ साक्रेटीज से। लेकिन दूसरी ओर से वह संगीत, गणित आदि विषयों का सूक्ष्म परिज्ञान आवश्यक बतलाते हुए पायथेगोरियन तथ मेगेरियन विद्वानों से प्रभावित है। व्यावहारिक विषयों की ओर उसकी रुचि कम ही रही। अपने सामने सत्यान्वेषण का आदर्श रख कर वह समाज के लिए कल्याणकारी मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करने लगा। उसके पूर्ववर्ती सॉफिस्ट आइसोक्रेटस, सिनिक्स, सिरेनिक्स, आदि रूढ़िवादी विचारकों ने विचार-जगत् में एक तरह की उच्छृङ्खलता तथा अराजकता पैदा कर दी थी। प्लेटो ने उनकी भ्रान्तियों का निराकरण कर विचार-पथ प्रशस्त किया।

ग्रन्थ रचना :

प्लेटो ने अपने जीवन में लगभग तीन दर्जन ग्रंथों का प्रणयन किया। किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'रिपब्लिक' है जो ई० पू० ३८६ में लिखा गया है। ई० पू० ३८० में 'स्टेट्समेन' तथा ई० पू० ४२७ के पूर्व 'लॉज' की रचना हुई। 'रिपब्लिक' में तत्कालीन राजनीतिक जीवन-दर्शन का आदर्श रूप चित्रित किया गया है। प्रौढ़ अवस्था में प्रांजल भाषा तथा गम्भीर अनुभूति का समन्वय कर रूपकों, दृष्टान्तों तथा तुलनात्मक संवाद-समीक्षा के माध्यम से इस ग्रन्थ की रचना की गई। कल्पित आदर्श के सहारे सर्वव्यापी, विधि निर्मित, बलशाली राज्य का चित्रण किया गया; ऐसा चित्र जो वास्तविक दुनिया में कहीं है नहीं, लेकिन होना चाहिए। रिपब्लिक की महत्ता आज भी अक्षुण्ण है और राजनीतिक तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से यह उत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। † इसके सम्बन्ध में रूसो का कथन उल्लेखनीय है कि 'रिपब्लिक शिक्षा-विज्ञान पर सर्वोत्तम ग्रन्थरत्न है।' अंग्रेजी कवि शैली ने यह बताया कि सर्वप्रथम प्लेटो ने ही निर्विवाद रूप से यह स्थापित किया कि राज्य का प्रशासन किसी देश के राजनीतिक धूर्तों, महत्वाकांक्षियों अथवा पूंजीपतियों द्वारा नहीं बल्कि विद्वानों द्वारा होना चाहिए। रिपब्लिक पर प्रकाशित व्याख्यान माला

---

†Republic is a dramatised philosophy of human life—Nettleship. The Republic is eternally the voice of the scholar, the profession of faith of the intellectual, who sees in knowledge and enlightenment the forces upon which social progress must rely. (G. H. Sabine, Page 67)

में नेटिलशिप ने लिखा कि वह मनुष्य के जीवन-दर्शन का नाटकीय रूपान्तर है। इस ग्रन्थ में मनुष्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके यह सिद्ध किया गया है कि संस्थाएँ, विधियाँ, समाज के वर्ग, ये सब मानव-आत्मा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक दूसरे आलोचक के शब्दों में सॉफिस्टों की अराजकता तथा जनतंत्रियों की समानता के विरुद्ध भीषण विवाद इसमें उठाया गया है।*

इस युग में राजनीति नैतिकता से सम्पृक्त है अथवा यह कहा जावे कि राजनीति आचारशास्त्र के अन्तर्गत उपविषय के रूप में है। रिपब्लिक में राजनीतिक समस्याओं पर इस रूप में विचार किया गया है गोया वे विशाल सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग हों। सर्वप्रथम मानव-जीवन, धर्म, नैतिकता तथा सत्-असत् विवेक पर विचार प्रकट किया गया है जो आध्यात्मिक प्रवचन की तरह है। इसके बाद समाज-राज्य तथा नागरिक शब्दों की परिभाषाएँ और इनका अन्तरावलम्बन प्रदर्शित है। शिक्षा-सम्बन्धी अध्याय में मानवता के चरम उद्देश्य की प्राप्ति में आवश्यक सोपान के रूप में सर्वाङ्गीण शिक्षण-क्रम पर विचार किया गया है। सद्‌गुणों की नींव पर व्यक्ति का सदाशय होना तथा मंगल-कामना सहित उर्ध्वगामी होकर समष्टि में विलयित होना उत्तम आदर्श है। दार्शनिक राजा कोई सामान्य व्यक्ति नहीं बल्कि उदारचेता, धीरललित, सुविज्ञ, क्रान्तदर्शी नेता है, समाज का उन्नायक है, सही अर्थ में सर्वप्रथम नागरिक है। दार्शनिकों पर विचार प्रकट करते समय साम्यवाद अथवा तथा-कथित सम्मिलित जीवन-प्रणाली का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् राज्य के भेद-प्रभेद, उनका सामान्य शासन, विकार या बुराइयाँ, पतन, आतंक-दमन आदि पर विचार स्पष्ट किये हैं। अन्त में कविता, कला, भाग्यवादिता आत्मा का संक्रमण, मनुष्य की प्रच्छन्न शक्तियाँ आदि वर्णित हैं। धर्म या न्याय (Justice) सम्बन्धी विवेचन गम्भीर तथा विशद है। आदर्श राज्य की कल्पना आकर्षक है। 'रिपब्लिक' एक उत्कृष्ट रोमांस (संवेदनशीलता) की वृद्धि करने वाला विचारोत्तेजक ग्रंथ है। †

---

*Republic is a strong polemic against sophist anarchism and democratic egalitarianism." (E. Barker)

†The true romance of Republic is the romance of free intelligence, unbound by custom, untrammelled by human stupidity and self-will, able to direct forces even of custom and stupidity themselves along the road to rational life." (G. H. Sabine—page 67)

'स्टेट्समेन' नामक ग्रन्थ में राजनीति की प्रत्यक्ष बातें उठाई गई हैं। शासक तथा शासन को जीवित व स्थायी बनाने के साधनों का उल्लेख है। सच्चा राजनीतिज्ञ वही है जो बुद्धिमान दार्शनिक है और सही राजनीति है शिक्षा-प्राप्ति तथा चरित्र-निर्माण। इस ग्रंथ में हेरोडोटस के आधार पर राज्य का वर्गीकरण भी किया गया है। इस ग्रंथ में काल्पनिकता के स्थान पर व्यावहारिक बातों को तर्कसंगत आधार पर सुलझाया गया है। पहले ग्रन्थ की अपेक्षा इसमें आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने की अधिक चेष्टा की गई है और दार्शनिक शासक के रूप में राजनीतिज्ञ को परखा गया है।

अन्तिम ग्रन्थ 'दि लॉज' (The Laws) में प्लेटो के दर्शन का झुकाव अतिशय यथार्थवादिता की ओर है। अपने पिछले विचारों को अपर्याप्त तथा अव्यावहारिक मानकर विधियों की महत्ता स्वीकार करते हुए प्लेटो ने यह बताया कि कानून के आधार पर ही व्यक्ति के चरित्र पर उचित नियन्त्रण रखा जा सकता है।* परिवार, विवाह, संपत्ति, शिक्षा ये मानव-जीवन के अनिवार्य अङ्ग हैं लेकिन इन पर कठोर नियन्त्रण होना चाहिये। समाज-व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये जिसमें बुद्धिमान व्यक्तियों के पास अधिकतम भूमि तथा सम्पत्ति रहे। चार वर्गों में समाज इस क्रम से बँटा रहे कि केवल शारीरिक परिश्रम करने वाले के पास कम और अपेक्षाकृत बुद्धिमानों के पास अधिक भूमि तथा सम्पत्ति का विभाजन हो। अधिक अथवा अतिरिक्त सम्पत्ति पर शासन का अधिकार हो। शासन चलाने वाली विभिन्न संस्थाओं का परिचय भी इस ग्रंथ में दिया गया है। संक्षेप में स्पार्टा और एथेन्स दोनों नगर राज्यों के अच्छे-अच्छे तत्वों का समन्वय करके एक नया उदाहरण सामने लाया गया है। संयमित जीवन, कठोर अनुशासन, आडम्बरहीन व्यवहार, आत्मविश्वास तथा उत्सर्ग की प्रेरणा इन सब का हार्दिक अनुमोदन प्लेटो ने किया है। अपने सभी ग्रन्थों में प्लेटो उपमा, प्रतीक, दृष्टान्त आदि का सहारा लेता है। संवादों में खण्डन-मण्डन करके मत प्रतिपादन करता है और ज्ञान-प्राप्ति के लिये विचारों का पूर्वाभास ठीक से समझना आवश्यक ठहराता है। विचारों की सत्ता स्थापित करने के फलस्वरूप विचारवादिता (Ideocracy) का जनक उसे कहा जाता

*"Without abandoning the general principles stated in his Republic, which still provide the materials for his theory of the community, he adopted in almost everycase the hints thrown out in the Laws, enriching them with more painstaking and more extensive examinations of the empirical and historical evidence." (G. H. Sabine—History of political theory—page 86)

है। उसके सामने स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज, एथेन्स के संविधान थे। हिपोडेमस, फेलीज, सोलन के सुधारवादी नियम थे और सबसे बढ़कर अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तथा मर्मभेदिनी पर्यवेक्षण शक्ति थी। उसके विचारों में तारतम्य तथा सैद्धान्तिक स्थिरता (doctrinal coherence) की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। किन्तु 'रिपब्लिक' में सौन्दर्यमयी स्वच्छन्दवादिता से अनुप्राणित असम्बद्ध किन्तु आकर्षक निबन्ध सजाये गये हैं।* वास्तविक ज्ञान के प्रारम्भिक चरण के रूप में परिभाषा (definition) की व्याख्या करने का श्रेय प्लेटो को है। परिभाषा का अभिप्राय किसी वस्तु-तत्व के आकस्मिक तथा अस्थायी विशेषणों को दूर कर उसका आवश्यक तथा स्थायी रूप निश्चित करना है। सच्चा ज्ञान बाह्य-स्वरूप से नहीं बल्कि अमूर्त-चिन्तन (abstraction) द्वारा सम्भव है जो विशेषताओं और गुणों को सामान्य परिज्ञान (general idea or notion) के रूप में स्थिर करता है। "दार्शनिक दृष्टिकोण वस्तुओं को अपने ऊपरी या बाहरी ढाँचे में नहीं देखना है बल्कि इस रूप में है जिसमें अमूर्त भावनाएँ अन्तर्निहित हैं।" † वास्तवित गुण तो गुण का मौलिक काल्पनिक स्वरूप है और वास्तविक ज्ञान उस स्वरूप को देखने-समझने की प्रक्रिया है। इस भाँति प्लेटो ने अप्राप्य दूरवर्ती आदर्श की प्राप्ति के लिये पर्याप्त प्रेरणा तथा स्फूर्ति दी है। (Exhortation to attainment of the unattainable)। यही गीता का योग-क्षेम है और यही प्लेटो का वास्तविक ज्ञान।

समाज, ज्ञानमार्ग तथा दर्शन-तत्व :

प्लेटो ने मानवीय आत्मा के तीन प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया—क्षुधा, भावना तथा बुद्धि, जिनकी प्रेरणा से जीवन में साहस, सहिष्णुता तथा धर्म-विवेक का अभ्युदय होता है। इन गुणों का प्राधान्य किसी-न-किसी रूप में रहता है और समाज में तीन तरह के वर्ग क्रमशः दृष्टिगोचर होते हैं। क्षुधा-तृप्ति के लिये परिश्रम करने वाले उत्पादक वर्ग, भावना तथा देश भक्ति के प्रतीक सैनिक वर्ग और बुद्धि, वैभव-युक्त अभिभावक तथा न्यायदाता वर्ग।

---

* All his philosophy is presented in the Repuhlic as a romance emballished with a series of brilliant but not carefully correlated essays on morals and metaphysic. (Dunning vol. I)

† Not things as they presented themselves to common observation but things embodied in their abstract idea were the subject matter of real knowledge of philosophy in its true sense. (Dunning vol. 1)

सामान्यतः यह विभाजन निसर्गजात है और एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग से स्पष्टतया पृथक् है। (हिन्दू धर्म में भी जाति-वंश का निर्णय 'गुण कर्म-विभागशः' किया गया है और इस तरह श्रम विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार्य हुआ है।) प्लेटो के चिन्तन में वर्गविभाजन पूर्ण रीति से मान लिया गया है। इतना ही नहीं यह भी कहा गया है कि अपने-अपने वर्ग में रहकर अपना धर्म पालन करते रहना व्यक्ति का परम कर्तव्य है।* धर्मनिष्ठ व्यक्ति वास्तव में अभिनन्दनीय है तथा धर्मच्युत व्यक्ति त्याज्य है, गर्हित है। जहाँ धर्म है वहाँ व्यवस्था, स्थिरता, सम्पन्नता है; जहाँ धर्म का अभाव है वहाँ अराजकता, क्षणिकता, दरिद्रता है। धर्म सत्य का मूर्त रूप है, सत्य ज्ञान की पूर्ण व्याप्ति है, ज्ञान जीवन का उत्कर्ष है, दर्शन का प्रतिबिम्ब है। ज्ञानमार्ग का अवलम्ब लेकर प्लेटो समाज को गतिविज्ञान समझाता है। ज्ञान का लाक्षणिक स्वरूप 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के त्रिगुणात्मक रूप से समझा जाता है। ज्ञानमार्ग विराट् सत्य का उद्घाटन करता है, वह सत्य जो मङ्गलमय है, जन-कल्याण की ओर अग्रसर है साथ ही सुषमा-समन्वित है, हृदयहारी है। प्रशस्त ज्ञानमार्ग पर सत्य, धर्म, आस्था, सद्विवेक का पाथेय लेकर चलता हुआ मनुष्य अपने जीवन में ही प्रबुद्ध, जागरूक होकर सफल हो सकता है। इसलिए सदाचार ज्ञानप्राप्ति का ही परिणाम है।

ज्ञान की स्थिति समझाने के लिये प्लेटो ने रूपक का सहारा लिया है। एक तरह का ज्ञान वह है जो कन्दरा के भीतर है। गुफाद्वार से छनकर आनेवाले अल्प आलोक में आँखें फाड़-फाड़कर देखने से हम उसे देख पाते हैं, केवल बाह्य रूप ही देखते हैं। यह है ऐन्द्रिय ज्ञान जिसे प्लेटो ने सौन्दर्य-मूलक (Aesthetic) ज्ञान कहा है; जिसमें आसक्ति, वासना, लालसा अथवा सीमित दृष्टि है। दूसरी तरह का ज्ञान कन्दरा के मुख पर अवस्थित है जिसके एक ओर प्रकाश-पुञ्ज है, दूसरी ओर प्रच्छन्न अन्धकार। इस छायालोक में चाक्षुष ज्ञान के द्वारा हम सत्य का आभास मात्र पाते हैं, उसका सम्यक् प्रज्ञान नहीं प्राप्त करते। इसे प्लेटो ने भौतिक ज्ञानाभास (Dianoetic) कहा है।

---

* गीता में भी उल्लेख है "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" अथवा "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

इसके अनुसार व्यक्ति के जीवन की सार्थकता तथा चरम परिणति अपने स्वभाव-धर्म का पूरा पालन करने में है। यूनान में भी यही सिद्धान्त मान्य था।

इसमें द्वैतापत्ति है। तीसरा ज्ञान कन्दरा से बाहर उन्मुक्त, निर्बाध, अजस्र तथा अखण्ड है, जिसका प्रत्येक अणु-परमाणु स्निग्ध आलोक रश्मियाँ विकीर्ण कर रहा है। यही वास्तविक ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है. दार्शनिकता का स्फटिक-निर्मल रूप है। इसे प्लेटो ने विशुद्ध (noetic) ज्ञान कहा है। सच्चा दार्शनिक ज्ञानमार्ग से दिव्य अलौकिक दृष्टि प्राप्त कर देशकाल तथा सृष्टि को सही माने में समझता है और उसके अनुसार नियोजना करता है। सच्चा ज्ञानदर्शन प्राप्त करने के कारण दार्शनिक ही समाज का, राज्य का नियन्ता, शासक तथा अभिभावक बन सकता है। इसलिये आदर्श राज्य में ज्ञान के अनुपात से शासक. सैनिक, श्रमिक वर्गों का स्थान निश्चित किया गया है। दार्शनिक तत्वों में प्रतिभा, अनुभूति, अभ्यास का समावेश है और दार्शनिक में विवेक तथा सद्धर्म की ओर बढ़ने की अभूतपूर्व क्षमता हैं। ज्ञानमार्गी दार्शनिक अपने कार्यों में धर्म या न्याय (Justice) की आधारशिला रखता है, जिस पर पूरे समाज का विशाल प्रासाद बनने वाला है।

न्याय या धर्म (Justice)--वितर्क और विवेचन :

धर्म का सामान्य अभिप्राय यह कि जिस शक्ति द्वारा समाज की स्थिति है (या समाज को धारण किया जाता है) यही धर्म है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जाता है कि विकास और कल्याण की ओर प्रेरित कर समाज में नैरन्तर्य बनाये रखना धर्म का ही काम है ('यतोऽभ्युदयनिश्रेयस:सिद्धिः स धर्मः'—भारतीय सिद्धान्त के अनुसार) प्लेटो ने अपने युग में धर्म का यही व्यापक अर्थ किया और उसे व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए अनुल्लङ्घनीय मर्यादा-रेखा बताया। धर्म के मेरुदण्ड पर ही यह धरा अवस्थित है इसलिये धर्मपालन अनिवार्य है। प्लेटो का यह विषय नैतिकतामूलक, आध्यात्मिक तथा कुछ रहस्यवादी होने के कारण दुरूह अवश्य है लेकिन वह 'गुणों का गुण' है, उसके पालन से ही उत्थान है। धर्म न केवल व्यक्ति के लिये बल्कि सारी सृष्टि के लिये बना है। जड़-चेतन, भौतिक, आध्यात्मिक सभी तत्व एक तरह का धर्म-नियम मानते हैं। लेकिन धर्म क्या है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। इसकी व्याख्या प्राचीनकाल से होती आई लेकिन उसी तरह जैसे वेद 'नेति-नेति' (यह नहीं है, यह नहीं है) कहते हैं कोई एक व्याख्या सर्वमान्य नहीं हो सकी। प्लेटो ने परम्परागत धार्मिक दृष्टिकोण का खण्डन किया और फिर अन्त में धर्म की संक्षिप्त व्याख्या दी कि वह आत्मा का गुण है। छोटे-बड़े प्रत्येक सृष्टि कण में यह गुण विद्यमान है। सृष्टि के सूक्ष्मतम तत्व को माईक्रोकाजम (microcosm) कहा जाता है और उसके विराट स्वरूप

को मेक्रोकाजम (macrocosm) और धर्म इन दोनों स्वरूपों की स्वाभाविक अवस्था है। अतएव इसी आधार पर व्यक्ति बना और उसके ऊपर राज्य का निर्माण हुआ। तब राज्य (अथवा कल्पित-राज्य) धर्म को साकार देखने की प्रक्रिया है। न्याय और धर्म एक दूसरे से अभिन्न और घुले-मिले हैं।

धर्म सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन साक्रेटीज के मुँह से कराने के लिये प्लेटो ने एक विचार-गोष्ठी (symposium) का आयोजन अपने ग्रन्थ में किया है जिसमें दूर-दूर के प्रख्यात विद्वान सम्मिलित हैं। विवाद ग्रस्त प्रश्न है—धर्म का स्वरूप ! और इस पर लोग अपने-अपने ढंग से उत्तर देते हैं। सारा विवाद नाटकीय ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है।

(१) सबसे पहले सेफालस (Cephalus) और उसका पुत्र पालीमारकस (Polemarchus) विषय की प्रस्तावना करते हुए धर्म को संस्काराधीन अथवा पुरानी आचार परम्परा की नैतिकता (Traditionalism or old conventional morality) सिद्ध करते हैं। इसके अनुसार शब्दिक सत्यता और उचित व्यवहार यही धर्म और न्याय है ! इस व्यवस्था के अनुसार यथा-तथा अथवा जैसे को तैसा (quid pro quo-Tit for tat) यह व्यवहार बन जाता है जो पूर्णतया औपचारिक तथा बाह्य न्याय है। अतएव इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए साक्रेटीज का कहना है कि व्यवहार के बाह्य उपकरण हमेशा भ्रामक होते हैं (appearances are deceptive)। व्यवहार का पक्ष कलात्मक है अतएव अनुकरण, छद्म, ढोंग, बुराई (hypocrisicy, simulation) आदि को भी प्रश्रय मिल जाता है। इस तरह एक भयानक अन्तर्विरोध इसमें भरा पड़ा है। तो धर्म या न्याय का यह स्वरूप हो नहीं सकता। सच्चा धर्म तो सेवा की प्रवृत्ति तथा समाज की भलाई है (true justice is spirit of service)।

(२) इसके बाद साफिस्ट विचारकों (जो अधिकांशतया वितण्डावादी अथवा तर्क में विकट भट होते थे) का पक्ष सामने रखते हुए थ्रूसीमेकस (Thrasymachus) ने क्रान्तिकारी विचार रखे जिन्हें अभिनव नैतिकता के नाम से अभिहित किया जाता है (new morality or Radicalism)। इसके अनुसार बल प्रयोग शासन का धर्म है और आज्ञापालन प्रजा का, भले ही उससे व्यक्ति को आत्म संतोष न हो। ऐसी स्थिति में राजा का धर्म प्रजा का आनन्द अथवा भय भी हो सकता। इस भयानक अवस्था में एक ओर आततायित्व और दूसरी ओर विद्रोह की भावनायें हैं। अतएव इस बात का अपने आप खण्डन हो जाता है। फिर थ्रूसीमेकस उत्तेजित होकर कहता है कि

शासकीय स्वेच्छाचार धर्म है और वह अधर्म से श्रेयस्कर है। अब साक्रेटीज इन तर्कों का विरोध करते हुए कहता है कि इस धारणा से दण्डशक्ति का न्याय चलने लगता है, जिसकी लाठी उसकी भैंस यही चरम सत्य हो गया (might is right of jus as potentia)। लेकिन यह तो वास्तव में घोर अधर्म ही है, अतएव अग्राह्य है। दूसरे अधर्म से धर्म स्वभावतः ही अच्छा है, किसी सुविधा भावना (expediency) के कारण नहीं ! जिस व्यक्ति अथवा वस्तु को जो काम दिया गया उसे पूरा करते रहना उसका गुण है, धर्म है। आत्मा का काम सुदीर्घ, स्वस्थ, प्रसन्न जीवन देना है अतएव वह व्यक्ति या आत्मा का धर्म है। ऐसा धर्म अवरोधी, स्वभाव-प्रेरित, स्वयंसाध्य है और उसे कलाबाजी मानना मूर्खता है।

(३) अन्य महारथियों में ग्लाउकन (Glaucon) और एडीमेन्टस (Adiemantus) हैं जो धर्म को कृत्रिम, विधि-परम्परा-प्रथा द्वारा प्रेरित तथा भयजन्य मानते हैं। समाज के कमजोर व्यक्तियों ने बलवानों से समझौता किया और आत्मरक्षा के लिये प्रथाओं को मानते रहे। तो मनुष्य की प्रकृति और मानव-प्रथा के संयोग से भय की भित्ति पर धर्म प्रसूत हुआ। (nature and convention as regulative system) इसलिये कि समाज का नियन्त्रण ठीक से हो सके। प्रत्येक व्यक्ति की उच्छृङ्खल अमर्यादित अहं भावना (unscrupulous egoism) को बाँधना जरूरी था और वह किया गया। इसलिये यह सिद्धान्त कार्यकारणभाव पर आश्रित व्यवहारवाद का (pragmatism) सिद्धान्त है। इसके प्रत्युत्तर में साक्रेटीज ने कहा कि धर्म केवल बहिरङ्ग का निरूपण नहीं करता वह तो अंतरङ्ग, अभिन्न एवं अविकार है। दूसरे व्यवहार को नापने का कोई न कोई परिमाण या आधार होना चाहिये और वह धर्म ही हो सकता है। भय की भ्रान्ति तथा पशुता का पाश मनुष्य को धर्म की प्रेरणा नहीं देता। अतएव ये सभी विचार अथवा दलीलें बेकार हैं।

(४) अन्त में साक्रेटीज के माध्यम से प्लेटो स्वतः धर्म की व्याख्या करते हुये उसे आत्मा का, अन्तरतम का विशुद्ध गुण मानता है जो मानव-मस्तिष्क की स्वाभाविक परिणति है। समाज के नैतिक जीवन का अनिवार्य आधार धर्म या न्याय ही है (justice is an indispensable quality of moral life of the community.) राज्य यदि एक बलशाली यथार्थ है (reality) तो धर्म उस राज्य के स्वरूप का सम्यक् आदर्श (ideal) है। दूसरे गुणों अथवा विशेषताओं की अपेक्षा धर्म अधिक मौलिक तथा चिरस्थायी

है। विवेक युक्त धर्म के अभाव में मनुष्य का जीवन पशुतुल्य है। प्लेटो अपनी धर्म सम्बन्धी धारणा स्पष्ट करते हुये यह बताता है कि आदर्श राज्य में चार प्रमुख तत्व रहते हैं—बुद्धि, शौर्य, संयम और धर्म अथवा न्याय। पहले तीन गुण मानवीय त्रिभुज बनाते हैं जिससे मस्तिष्क का संचालन होता है, व्यक्ति जीवित, कार्यरत तथा सफल होता है। अनुपातक्रम से इन गुणों का बाहुल्य शासक, सैनिक, सेवक वर्गों का निर्माण करता है। अन्तिम गुण धर्म या न्याय वास्तव में सभी वर्गों को आत्म संयम, सहिष्णुता, कर्तव्य-पालन तथा अहं विस्मृति की प्रेरणा देता है जिससे सभी निष्काम भाव से अपना-अपना काम करें। प्लेटो के अनुसार धार्मिक या न्यायप्रिय राज्य वही है जिसमें लोग अपने अपने गुणों के अनुरूप कार्य करते हैं। शासक न्यायबुद्धि से प्रेरित, स्वार्थ-पक्षपात से परे होकर जब काम करता है, सैनिक अपनी जान की परवाह न करता हुआ जब युद्ध करता है, उत्पादक घोर परिश्रम से जब उपभोग का सामान तैयार करता है, तब धर्म की स्थिति रहती है और वही आदर्श राज्य है। इसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी ऐषणाओं, आकांक्षाओं को संयमित मर्यादित करके धर्म का पालन करता है। धर्म साधारणतः दो प्रकार का होता है। एक त ो विधि सम्मत विशिष्ट धर्म (legal of particularistic) और दूसरा पूर्ण सार्वभौम धर्म (perfect or universalistic) योग्यता तथ । कर्तव्यपरायणता के आधार पर विभाजित धर्म (distributive justice) का भी संकेत किया है। सच्चा धर्म पूर्णत्व की ओर ले जाने वाला सार्वभौम धर्म ही है। न्याय या धर्म की धुरी पर ही मानव-गति अवलम्बित है।

धर्म की इस व्याख्या का मूल उद्देश्य था एथेन्स तथा अन्य नगर-राज्यों को अपनी हीनावस्था का ज्ञान कराके सुरक्षित, स्थायी तथा निर्विकार राज्य बनाना। यह तभी सम्भव था जब सर्वसम्मति से धर्माचरण या न्याय-दृष्टि की युक्ति स्वीकार कर ली जाती। किन्तु प्लेटो के विवेचन में भी कुछ त्रुटियाँ रह गईं क्योंकि धीरे-धीरे नगर-राज्यों का पतन बढ़ता ही गया और उसके धर्म की कल्पना सुदूर आकाश में उड़ते-उड़ते अदृश्य हो गई। धर्म के नाम से प्लेटो व्यक्ति की गरिमा राज्य की भक्ति के नाम पर पूर्णतः तिरोहित कर देता है। व्यक्तित्व का विकास जिस स्वतन्त्र वातावरण में होता है उसमें राज्य की अंधश्रद्धा असंगत है। दूसरी बात यह भी कि व्यक्तियों में गुणात्मक भेद के साथ मात्रात्मक भेद भी होता है। एक ओर जहाँ व्यक्ति के धर्म की चर्चा है, कर्त्तव्यों का ही उल्लेख किया गया है। अधिकारों के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है। अधिकारों के अभाव में धर्म स्वेच्छाचारिता और जिसकी लाठी उसकी भैंस में बदल सकता

है। आज प्रत्येक राज्य में व्यक्ति के मौलिक कर्तव्यों और अधिकारों पर पूरा आग्रह रहता है। वर्ग-विभाजन तथा गुणविभेद का क्रम भी कम भ्रान्तिपूर्ण नहीं है। वर्ग-संघर्ष और कटुता इसके स्वाभाविक परिणाम हैं। फिर मानव-मस्तिष्क को अलग-अलग तीन कोठरियों में बाँटने की बात भी अव्यावहारिक, असत्य तथा असम्भाव्य है। प्लेटो ने दार्शनिक शासकों और उच्च वर्ग के विद्वान् लोगों को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके प्रस्ताविक गुणों से वह इतना अभिभूत है कि सम्भावित कमजोरियाँ नहीं देख पाता। शासक वर्ग भ्रष्ट, निरंकुश भी हो सकता है इसलिये आदर्श राज्य में भी शाश्वत सतर्कता (eternal vigilance) आवश्यक है। इस तरह हम देखते हैं कि प्लेटो की धर्म-धारणा स्थावर, निष्क्रिय, आत्मवादी, विकृतिशील तथा अव्यवहार्य है। मनोवैज्ञानिक सत्य की इसमें पूर्ण उपेक्षा की गई है।* इसके द्वारा जिस एकता की कल्पना की गई है वह अपकर्षशील (dull uniformity) है। कार्य-विशेषता का सिद्धान्त एकांगी है और एक व्यक्ति को एक काम देने की बात व्यक्ति के विकास का निषेध है (one man one work militates against personality)। एक वर्ग के एकाधिकार (monopoly) की सम्भावना अधिक है जिससे राज्य का पतन अवश्यम्भावी है।

आदर्श राज्य : एक काल्पनिक प्रयोग :

प्लेटो के आदर्श राज्य की नींव काल्पनिक भित्ति पर है। उसके पूर्व ऐसे संगठित राज्य यथा पाइथेगोरियन लीग आदि थे जिनके लिए प्लेटो के मन में आदर था। उदात्त गुणों की प्रेरणा के बल पर ही वह आदर्श राज्य का चित्र प्रस्तुत करता है। अपने समय के नगर-राज्यों की बुराइयाँ जड़मूल से नष्ट करने के लिए प्लेटो ने कुशल चिकित्सक की तरह शल्य-क्रिया की है।† सबका इलाज उसने बुद्ध की सार्वभौम सत्ता तथा दर्शन का साम्राज्य प्रतिष्ठित करने में ढूँढ़ा। उसका आदर्श राज्य सद्गुणों के क्रियान्वय का माध्यम है

---

* Plato's conception too is static, passive, subjective and demoralising, unpsychological and unrealisable. (G.H. Sabine)

‡ Existing maladies and dreadful diseases of city states were diagnosed by plato, who avoiding merl palliative and anodynes started close operetion and rodical remedy for that desperate evil.-(G.H. Sabine)

जिसमें परोपकारी उदारचेता बौद्धिक अभिभावकों तथा विज्ञान विशारदों का शासन है। पाइथेगोरियन्स ने व्यक्तियों की ३ श्रेणियाँ मानी थी। एक तो विशुद्ध ज्ञानमार्गी, दूसरे सम्मानार्थी और तीसरे धनलोलुप। इसी के आधार पर प्लेटो ने प्रत्येक व्यक्ति में ३ तत्वों—बुद्धि या विवेक, यशकामना या साहस और क्षुधा का समावेश किया। भूख मनुष्य की जन्मजात सहचरी है वह श्रम की अपेक्षा करती है। श्रम से सम्पत्ति अर्जित होती है। सम्पत्ति संचय या विस्तार से संरक्षक शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता होती है। राज्य की रक्षा जरूरी है। आक्रमण तथा प्रतिकार के लिये अपूर्व साहस चाहिये। साहस और क्षुधा को अखण्ड बनाये रखने के लिये बुद्धि का उन्मेष चाहिये। व्यक्ति की बुद्धि, हिम्मत, क्षुधा आदि क्षणिक तथा नश्वर हैं लेकिन समष्टिगत होकर जब राज्य की बुद्धि, हिम्मत और भूख का रूप धारण करती हैं तो वे इतिहास में अमर हो जाती हैं। लेकिन बुद्धि जब शासन करने आती है तो उसे क्षुधा के पाश से मुक्त होना चाहिये। यह मुक्ति राज्य नियंत्रित शिक्षा-व्यवस्था, सम्पत्ति तथा परिवार में साम्यवाद, दार्शनिक राजाओं द्वारा शासन से ही सम्भव है।

आदर्श राज्य में सर्वप्रथम स्त्री-पुरुषों के लिये उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था तथा कार्य प्रणाली का प्रतिपादन प्लेटो करता है फिर ऊपर के दो वर्गों (शासक तथा सैनिक) के लिये सम्पत्ति तथा स्त्रियों के समूहाधिकार अथवा उनमें साम्यवाद की कल्पना की गई है। प्राप्त की हुई शिक्षा को व्यवहारिक रूप देने के लिये इस तरह की साम्यवादी व्यवस्था, प्लेटो के अनुसार, अनिवार्य है अन्यथा सारी शिक्षा निरर्थक व निष्फल सिद्ध होगी। अन्त में दार्शनिकों के शासन की बात कही गई है जिसमें राष्ट्रभक्ति तथा राष्ट्रहित का समुचित समन्वय है। शासक वर्ग अभिभावकों की तरह हैं जो सन्तति की कल्याण-कामना में सदैव संलग्न रहते हैं। ये अभिभावक (Guardians) भी दो तरह के हैं—एक तो पूर्ण सम्पन्न अभिभावक और दूसरे सहायक अथवा प्रशासक। दार्शनिक होने के लिये नैसर्गिक प्रतिभा के साथ व्यापक व्यावहारिक ज्ञान, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य के निर्णय की अलौकिक क्षमता तथा राज्य के उद्देश्यों की स्पष्टता होनी चाहिये। कानूनों का जाल या बन्धन इन दार्शनिकों के लिए नहीं है और वे विवेक द्वारा संचालित होने के कारण विधियों से बहुत ऊँचे हैं (सामान्य तर्क यह है कि यदि जनता चरित्रवान है तो कानून की कोई आवश्यकता नहीं और यदि वह

भ्रष्ट है तो कानून बेकार है। दार्शनिक शासक के बिना राज्य एक दिन भी नहीं टिक सकता और उसमें रहने वाले व्यक्तियों का विनाश तथा पतन अवश्यम्भावी है। प्लेटो के कथनानुसार जब तक दार्शनिक शासक नहीं होते, और शासकों में दर्शन, बुद्धि, शक्ति, राजनीतिक महानता नहीं होती तब तक नगर राज्य और मानवता का कल्याण नहीं हो सकता। प्लेटो की आदर्श कल्पना में वर्ग विभेद पर अधिक जोर दिया गया है जिससे समाज का विभाजन शासक, सैनिक तथा उत्पादक (दास तथा श्रमजीवी) वर्गों में किया गया है। शासक ही सबसे अधिक बुद्धिमान् अतएव जिम्मेदार हैं और उन पर शिक्षा-व्यवस्था का दायित्व है। साथ ही इनका यह भी कर्तव्य है कि राज्य में बालकों की प्रतिभा के अनुरूप वर्ग-शिक्षण की व्यवस्था करें। आदर्श राज्य के लिये प्लेटो ने यूनानी सामग्रियों (hellenic materials) का ही प्रयोग किया है। राज्य द्वारा प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के साथ-साथ श्रम तथा कार्य-विभाजन (division of labour), कार्यगत विशेषज्ञता (vocational specialisation), ऊपरी वर्गों में सम्पत्ति तथा परिवार का राष्ट्रीयकरण (साम्यवाद), स्त्रियों की मुक्ति, कला तथा साहित्य पर प्रतिबन्ध (censorship) आदि प्रयोग भी पूरी दृढ़ता से जारी किये गये हैं। इन प्रयोगों का निरीक्षण गम्भीरता से करना चाहिये।

शिक्षा-सिद्धान्त :

सबसे पहले प्लेटो की शिक्षा-सम्बन्धी व्यस्था पर ध्यान देना चाहिये। उसके पहले एथेन्स और स्पार्टा में शिक्षा के अलग-अलग उद्देश्य तथा तरीके प्रचलित थे। एथेन्स में शिक्षा राज्य के नियन्त्रण से मुक्त थी। उसका उद्देश्य था अच्छे नागरिक तैयार करना। वहाँ की शिक्षा में कला, शिल्प-शास्त्रीय विषय आदि की प्रधानता थी। प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा का लाभ केवल धनिक वर्ग ही उठा पाते थे। साधारणतः उदार, व्यापक शिक्षा (liberal education) के द्वारा आभिजात्यतन्त्र की रक्षा करना वहाँ का ध्येय था। स्पार्टा में राज्याधीन शिक्षा थी। अल्प आयु में ही बालकों पर राज्य का अधिकार हो जाता था और उनकी प्रतिभा, योग्यता, अभिरुचि के आधार पर शिक्षा दी जाती थी। उसका स्वरूप सैनिक-शिक्षा (military education) था और उद्देश्य था अच्छे लड़ाकू रक्षक पैदा करना। कला अथवा सूक्ष्म बौद्धिक विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। बड़ी-बड़ी व्यायामशालाएं (gymnasium), रहने-सोने-खाने के बड़े-बड़े

सामान्यकक्ष, और युद्ध-क्षेत्र यही प्रमुख संस्थाएँ थीं। यहाँ प्रारम्भ से उच्च-शिक्षा तक राज्य का नियन्त्रण था और कुलीनतन्त्र की रक्षा की जाती थी।

प्लेटो ने इन दोनों का सम्मिश्रण कर दिया; अथवा यह कहा जाये कि एथेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का संयमित शारीरिक शिक्षण जोड़ दिया और इस तरह शिक्षा को व्यक्तित्व और राष्ट्र दोनों के विकास का माध्यम बनाया। शिक्षा-प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्लेटो की यह धारणा थी कि तीन प्रमुख तत्वों से निर्मित मानव-मस्तिष्क सक्रिय, सचेत तथा जिज्ञासामय है। किन्तु वातावरण की प्रतिक्रिया भी स्थायी और प्रभावोत्पादक है। अनुकूल तथा आकर्षक वातावरण में मस्तिष्क की चेतना उचित दिशा में गतिमान होता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों की प्रतिक्रिया विकर्षणशील होती है। सारांश में मानसिक भोजन बराबर मिलते रहने से मनुष्य सोचने, विचारने, क्रिया करने का क्रम ठीक से चलाता है। इस दृष्टि से शिक्षा आदि से अंत तक (from cradle to the grave) चलने वाली निरन्तर प्रक्रिया है। साक्रेटीज की तरह वह केवल ज्ञान प्राप्त करने या बोधमात्र से संतुष्ट नहीं है बल्कि उस ज्ञान को सक्रिय गुण में परिवर्तित देखना चाहता है। संक्षेप में उसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति केवल पढ़े ही न हों, कढ़े भी हों; जीवन के व्यापक अनुभवों से गुजरकर परिपक बुद्धि हो गये हों। राज्य की उत्पत्ति इसी मस्तिक की उर्वर कल्पना की उपज है और इसलिये प्रत्येक व्यक्ति विकास की मंजिल की ओर बढ़ सकता है। इस प्रकार वह अनुभूतिमूलक सार्थकता तथा पूर्णता का पक्षपाती है। शिक्षा के सम्बन्ध में सबल सोद्देश्यता का प्रचारक प्लेटो है। सामान्य शिक्षण द्वारा सत्य का अनावरण तथा साम्यवाद पर आधारित समाज-व्यवस्था की तैयारी उसके शिक्षा सम्बन्धी उद्देश्य थे। बार्कर ने यह स्पष्ट किया कि प्लेटो शिक्षा को सामाजिक सफलता का सोपान नहीं बल्कि सद्वृत्ति तथा सन्मार्ग की प्रेरक शक्ति तथा सत्य प्राप्ति का साधन मानता था। (education as means of Social righteousness and relisation of truth and not of social success—E. Barker)। दूसरी बात यह है कि वह शिक्षा का ध्येय यह मानता था कि आत्मा की आंतरिक दृष्टि को प्रकाश की ओर उन्मीलित करना (*to turn the eye which* soul already possesses to light) "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की त्रिमूर्ति के दर्शन कराना ही शिक्षा का पावन उद्देश्य था। राज्य इस तरह न केवल राजनीतिक संस्थान या धर्म-संस्थान हैं बल्कि एक विश्वविद्यालय भी हैं।

शिक्षा के लिये पाठ्यक्रम में शारीरिक वृद्धि, भाषा-गणित की शिक्षा, कला, नृत्य तथा संगीत की शिक्षा आदि विषय सम्मिलित किये गये। इसके अलावा व्याकरण, काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, भूगोल, खगोल, चित्रांकन विद्या आदि का भी समावेश था। औद्योगिक प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था न थी और उसे वर्जित कर दिया गया था। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है और इसलिये शरीर के लिये व्यायाम और आत्मा के लिये संगीत (Gymnastics for the body and music for the soul) का विधान किया गया। प्रारम्भ में ही बालकों की शारीरिक देखभाल होनी चाहिये। स्नायविक अवरोधों का निराकरण करने में संगीत का योग-दान महत्वपूर्ण है। इस व्यवस्था में पाइथेगोरियन्स का प्रभाव प्रत्यक्ष है।* शिक्षा में स्त्री पुरुषों में विभिन्नता नहीं की गई है और सबको समान रूप से अनिवार्य शिक्षण देने की बात कही गई है। शिक्षक-छात्र का सम्बन्ध भी 'आचार्य देवोभव,' की तरह निरूपित किया गया है। छात्र अज्ञान की गहरी गुफा में बन्दी है। अध्यापक का कार्य उसे प्रकाश देना, मुक्त करना और प्रकाश में लाना है। प्लेटो स्वयं जीवन भर शिक्षक रहा और इसलिये वह छात्रों से इस अनुशासन की अपेक्षा करता है कि वे अपना भविष्य शिक्षकों के हाथों सौंप दें। एक कुम्हार की तरह शिक्षक भी बालकों को (जो मिट्टी के लोंदे हैं) अच्छे पात्रों में बदल देता है। शिक्षा के वर्ग अलग-अलग हैं। सबसे पहले पूर्व प्राथमिक शिक्षण है। जिसमें ६ वर्ष के बालकों को सामान्य ज्ञान, साधारण धर्म की शिक्षा दी जावेगी। फिर ७ वर्ष से २० वर्ष की अवधि तक बालकों को सामान्य माध्यमिक शिक्षण अनिवार्य रूप से दिया जायेगा। इसकी परीक्षा में अनुत्तीर्ण व्यक्तियों को उत्पादक या श्रमिक वर्ग में स्थान मिलेगा और सफल होने वालों को उच्चशिक्षा के लिये चुना जावेगा। शारीरिक, बौद्धिक दोनों तरह की शिक्षा दी जावेगी। उच्चशिक्षा २० से ३५ वर्ष की आयु तक केवल दो वर्गों — शासक और सैनिक के लिये है। ये लोग ही अपने में से सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ मेधावी व्यक्ति को दार्शनिक राजा का पद देंगे। इस पद के लिये कई तरह के कड़े परीक्षण होंगे। शासक बनने पर दार्शनिक राजा दूसरों की शिक्षा का प्रबन्ध करेगा और स्वतः ज्ञान-विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं का नित्य नया आविष्कार करता रहेगा। इस व्यवस्था में यह

---

*The man that hath no music in himself, Nor is not moved with concord of sweet sounds, is fit for treasons, stratagems and spoils. (Shakespeare's Merchant of Venice (V-i-83-85)

उल्लेखनीय है कि आज की तरह परीक्षा-व्यवस्था, बौद्धिक-मनोवैज्ञानिक परीक्षण (Intelligence test etc.) आदि के विषय में प्लेटो के विचार स्पष्ट हैं। इस शिक्षण से पूर्ण अनुशासन, उत्तरदायित्व, संयमित जीवन तथा साधना को प्रोत्साहन मिलता है, व्यक्तित्व का विकास चरम सीमा तक होता हैं और राज्य भी लाभान्वित होता है।

उक्त प्रणाली में कुछ त्रुटियाँ भी थीं जिनकी ओर ध्यान जाना चाहिये। एक तो यह शिक्षा वर्गवाद की जननी थी जिससे कलह-असंतोष के बीज प्रारम्भ से ही पनपने लगते हैं। उत्पादक वर्ग की शिक्षा पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। दासों की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ विशेष अवस्था नहीं है। शुरू से माने हुये वर्गों में से किसी को जीवन भर छुटकारा नहीं मिल सकता। दूसरे इस शिक्षा में रुचि-विभिन्नता का ध्यान रखकर विविध पाठ्यक्रम (Diversified curriculum) नहीं रखा गया। इसके कारण मनहूस एकात्मकता छा जाने की सम्भावना है। दार्शनिकता तथा बौद्धिकता पर अधिक जोर देने से व्यक्तियों में उत्साह तथा कर्तृत्व की कमी आने की आशंका है। गणित और संगीत को अनावश्यक प्रधानता देकर साहित्य, चित्रकला आदि की उपेक्षा की गई है। साहित्य तथा विशेषतः कविता के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार प्रारम्भ से ही संकुचित हैं, उन्हें वह अनावश्यक मानता है। सारांश में यह शिक्षा-प्रणाली ऐसी नहीं है कि जिसे जनशिक्षा अथवा सम्पूर्ण समाज के लिये उपयोगी शिक्षा कहा जाये। उसकी व्यवस्था में उच्चवर्गीय सामन्तों अथवा दार्शनिक राजा का शिक्षण ही महत्वपूर्ण है। इस प्रथा में नमनीयता अथवा परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन की क्षमता नहीं है। इस धारा में शिक्षित, दीक्षित व्यक्ति यूनानी नगर राज्यों में भले ही कुछ कर पाते हों, आज के युग में निरर्थक ही सिद्ध होंगे। इसके सिवाय शिक्षा में शासक को भी परिवर्तन करने की अनुमति नहीं है। इसका मतलब यह है कि राज्य का हस्तक्षेप इस दिशा में नहीं रहना चाहिये, शिक्षा सामाजिक विषय है। शिक्षक-छात्र का रूपक भी कृत्रिम-सा ही प्रतीत होता है क्योंकि योग्य अध्यापकों के अभाव में सारा शिक्षण व्यर्थ जाता है और योग्य अध्यापकों के लिये उसके पास कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन प्लेटो अपने आदर्श राज्य की सफलता के लिये इसे आवश्यक मानता है। मानव-स्वभाव में होने वाले परिवर्तनों और विकारों के लिये शिक्षा दुर्भेद्य अग्रिम रक्षा-पंक्ति (Front line of defence) है।

साम्यवाद और साम्यवादी योजना :

इस युग में साम्यवादी विचारों का अभिप्राय यह था कि

उपभोग्य वस्तुओं पर स्वामित्व की या एकाधिपत्य की भावना न हो और व्यवहार में उनका मुक्त प्रयोग हो सके। विकास के लिये हमेशा स्वस्थ और स्वतन्त्र वातावरण चाहिये, और विकास में संलग्न मनीषियों के लिये कोई अभाव सामने न रहे। अभाव दूर करने का एकमात्र उपाय है प्रचुरता और समान स्वामित्व। इस प्रकार की सतर्कता रखने से सामाजिक संतुलन विशृङ्खलित नहीं हो सकता। विशेषत: शासक और सैनिक वर्ग समाज की प्रगति में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है इसलिये उनके लिये साम्यवादी योजना की कल्पना प्लेटो ने की। प्लेटो से पहले भी समाज में आदिमयुगीन साम्यवाद (Primitive communism) प्रचलित था जिसमें सब लोग मिलकर रहते, काम करते, औजार रखते, अर्जित धन का बराबरी से वितरण करते। यह दशा धीरे-धीरे दूर होती गई क्योंकि परिवार की वृद्धि के साथ ही सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न लोगों के सामने उठा। स्पार्टा में सार्वजनिक भाण्डारों का प्रचलन था जिनमें व्यक्ति सामूहिक रूप से भोजन करते और उनके लिये करों के रूप में कृषकों से अन्न एकत्रित किये जाते। क्रीट द्वीप में भूमि पर उत्पादन की व्यवस्था सामूहिक रूप से होती और उत्पादन के उपकरण समाज की सामग्री माने जाते थे। ग्रीक नाटककार यूरीपिडीज ने अपने ग्रंथ में स्त्रियों के साम्यवाद का उल्लेख किया था। प्लेटो ने साम्यवाद का प्रयोग सम्पत्ति और परिवार (विशेषत: स्त्री) के लिये किया। आदर्श राज्य में सम्पत्ति के साम्यवाद से कलह या संघर्ष न हो सकेंगे और स्त्रियों के साम्यवाद से विशुद्ध प्रजनन के साथ-साथ राज्यभक्त सन्तानों को उचित प्रशिक्षण हो सकेगा। शिक्षा-पद्धति के बाद साम्यवाद का उल्लेख करना दूसरी रक्षापंक्ति (Second line of defence) खड़ी करना है। प्लेटो के इन सिद्धान्तों की आलोचना बहुत कड़े शब्दों में हुई और एरिस्टाटल ने इनका पूर्ण खंडन किया। लेकिन प्लेटो इस साम्यवाद को मनोविज्ञान और व्यवहार शास्त्र के बल पर चलाना चाहता है।

सम्पत्ति के साम्यवाद से प्लेटो का अभिप्राय यह है कि समूह के हाथ में ही उत्पादन, वितरण, उपभोग का काम रहे। वह व्यक्ति को उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित क्षेत्र में रहकर अपने लिये निर्धारित कार्य कर सकता है और इससे ही समाज का कल्याण होता है। व्यक्ति का हित राज्य-हित में समाहित है। इसलिये व्यक्ति को अन्यथा तर्क करने की जरूरत नहीं है। उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये (abolition of private property) क्योंकि यह व्यर्थ का माया जाल है। निजी सम्पत्ति से अपनी प्रतिस्पर्धा,

संघर्ष, शोषण आदि के बढ़ने की सम्भावना रहती है। 'न रहे बाँस न बजे बाँसुरी' इस नीति के अनुसार जब निजी सम्पत्ति ही न रखी जावेगी तो आपसी कलह या तेरा-मेरा का भेद न रहेगा, सबको सभी चीजें उपलब्ध होंगी। चूंकि यह व्यवस्था केवल दो उच्च वर्गों—शासक और सैनिक के लिये है, उनकी आवश्यकताएँ राज्य द्वारा पूरी हो सकती हैं। अर्थात् उनके लिये समाज का बहुमत परिश्रम करके साधन जुटायेगा। शासकों और सैनिकों को न धन की चिन्ता होगी, न परिवार की। परिवार में साम्यवाद का अभिप्राय है स्त्रियों के लिये नई व्यवस्था का निर्माण। इसके अनुसार समाज में स्त्री-पुरुष को समान स्तर पर जीवन-यापन करना चाहिये और स्त्रियों को परिवारों के कठघरों में बन्द न रहकर पूर्ण आजादी का उपयोग करना चाहिये। इस प्रसङ्ग पर प्लेटो वैवाहिक संस्था का निषेध करता है क्योंकि विवाह के पीछे स्वामित्व या एकाधिकार की भावना पनपती है और विवाह स्वयं एक जीवनव्यापी बन्धन या दासत्व है। इससे मुक्त होकर उन्मुक्त सम्पर्क (Sex promiscuity) करना अधिक श्रेयस्कर है ऐसी धारणा प्लेटो की है।* इस प्रथा से एक ओर विजातीय वर्गों में भाव या काम ग्रन्थियों (Sex complexes) का निर्माण न होगा और स्वस्थ वातावरण बना रहेगा। इस वातावरण में योग्य का योग्य के साथ ही सम्बन्ध होगा और सुयोग्य सन्तान की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार प्रजनन शास्त्र (Eugenic point of view) के दृष्टिकोण से इस व्यवस्था में स्थायी लाभ और नस्ल या कौम की पवित्रता अक्षुण्ण रखी जा सकती है। सबल, प्रबुद्ध सन्तानों से आदर्श राज्य की रक्षा सुनिश्चित है। आज की दुनिया में, जहाँ यह कहा जाता है कि झगड़े की जड़ 'जर जमीन और जोरू (पत्नी)' है, नितान्त व्यक्तिगत परिवार और सम्पत्ति से घातक परिणाम निकलते हैं क्योंकि, प्लेटो के अनुसार, उनमें स्वतन्त्रता और स्वस्थता का अभाव है। साम्यवाद के आधार पर प्लेटो इन जड़ों को ही काटना चाहता था जिनसे कलह की बेलें निकलती थीं। साम्यवाद की घोषणा करने का अभिप्राय यह था कि शासक वर्ग के लिये निस्वार्थ तथा अनासक्तिमय वातावरण तैयार किया जावे जिससे भ्रष्टाचार, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, प्रलोभन आदि को प्रोत्साहन न मिले। मनोवैज्ञानिक आधार पर इस व्यवस्था का लक्ष्य था मानसिक दृष्टि से शासकों को त्याग, निर्धनता, बुद्धिवादिता का जीवन-

---

* Abolition of permanent monogamous sexualrelation and the substitution of regulated breeding at the behest of the rulers.

यापन करने के लिये तैयार करना। भौतिक आकर्षणों या सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रहकर सिद्ध योगी या स्थितप्रज्ञ की तरह शासक राज्य-कार्य चलाते हैं और ये उन सब दोषों से सर्वथा मुक्त रहते हैं जिनकी सम्भावनाएं (Susceptibilities) आज के शासकों में है। अतएव यह साम्यवाद कर्तव्य-पथ का प्रेरक है। आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर साम्यवाद विषमता, विद्वेष का अन्त करता है, अभाव से मुक्ति दिलाता है। दार्शनिक आधार पर साम्यवाद प्लेटो के अनुसार, उत्कृष्ट बौद्धिक चिन्तन की प्रक्रिया है और उसमें आदश के साथ कार्य-प्रेरणा मिलती है। न्याय-सिद्धान्त की पूर्ति के लिये साम्यवाद एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा प्लेटो ने यह सिद्ध किया कि सामाजिक सुख-सुविधा सुरक्षा के लिये कुछ व्यक्तियों विशेष कर बुद्धिमान शासकों को त्याग तथा बलिदान के लिये तैयार रहना चाहिये।

प्राचीन और अर्वाचीन साम्यवाद :

प्लेटो के उपर्युक्त विचारों को उस तरह साम्यवाद नहीं समझना चाहिये जैसा आजकल है। साम्यवाद के वैज्ञानिक रूप का स्पष्टीकरण मार्क्स और एंजेल्स ने किया और उनका प्रयोगात्मक रूप प्रत्यक्ष दिखाई देता है। लेकिन यह तुलना की जाती है कि आधुनिक तथा प्लेटो के साम्यवाद में कितनी समानता या अन्तर है। समानता की दृष्टि से दोनों प्रकार के साम्यवाद का उद्देश्य राज्य की सुरक्षा, एकता, दृढ़ता बनाये रखना है (भले ही इस साम्यवाद के बावजूद प्लेटो के राज्य का नामोनिशान नहीं रह गया !)। दोनों व्यवस्था शासकीय वर्गों को महत्व देती हैं और उनके लिये विशेष नियम बनाती हैं। शासकों को हितचिन्तक तथा सहायक के रूप में ग्रहण किया जाता है, उनका सम्मान किया जाता है। दोनों मुक्त स्पर्धा का निराकरण करते हैं क्योंकि उससे कलह तथा देशद्रोह की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। व्यक्ति के दायित्व और कर्तव्य के लिये दोनों सजग हैं। रूसी साम्यवाद में व्यक्ति का आचरण कुछ मूलभूत सिद्धान्तों और साम्यवाद आदर्शों की प्राप्ति के लिये होता है। प्लेटो के युग में शासकों के सामने दिन-रात देश-चिन्ता ही रहती थी। जनता के सेवक होने से दोनों के शासक और शासित पारस्परिक स्नेह से कार्य करते हैं। दोनों इस बात पर जोर देते हैं कि धन का वितरण और उपभोग जन्म, वर्ण अथवा धन पर आधारित न होकर समाज-सेवा की पूर्ति के आधार पर हो। लेकिन इस प्रकार की जितनी समानता आप दोनों में देखते हैं वह सब ऊपरी

या कृत्रिम है। यथार्थ में दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। इन्हें इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

प्लेटो के आदर्श राज्य में केवल शासक तथा सैनिक वर्गों के लिये इस तरह की व्यवस्था है; श्रमिक और दास वर्गों की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इस तरह की धारणा आधुनिक साम्यवाद के साथ नहीं है। प्लेटो का साम्यवाद वर्ग-विभेद दृढ़ करता है जब कि आधुनिक साम्यवाद वर्ग विहीन (Classless Society) समाज बनाने का लक्ष्य रखता है। प्लेटो के साम्यवाद में उत्पादन के साधन राज्य के हाथों न रखकर उत्पादक वर्गों के पास ही रहते हैं किन्तु वितरण और उपभोग में ही राज्य हस्तक्षेप करता है और शासक तथा सैनिक वर्गों को प्रचुरता से सब धन देता है। प्लेटो की यह कल्पना आधुनिक साम्यवाद के मूल पर ही कुठाराघात करती है। 'जो कमायेगा वह खायेगा' यह सिद्धान्त साम्यवाद का गुरुमन्त्र है लेकिन प्लेटो ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। प्लेटो का साम्यवाद सामाजिक संगठन या संस्थागत आधार (institutional Basis) की ओर ध्यान नहीं देता जबकि आज का साम्यवाद विविध रूपी जनतन्त्र (Multiform Democracy) की कल्पना करता है। प्लेटो के राज्य में आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को कोई स्थान नहीं है जबकि आधुनिक व्यवस्था में समाजवादी योजना (Socialistic economic Planning) पर अधिक जोर दिया जाता है। प्लेटो के साम्यवाद में प्रधानता बौद्धिकता को दी गई है (जिससे बौद्धिक अभिजात्यतंत्र की तानाशाही (Dictatorship of the elite) उत्पन्न हो सकती है)। आधुनिक साम्यवाद में श्रम को अत्यधिक महत्व दिया गया है (जिसके श्रमिकों, औद्योगिक मजदूरों या सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of the proletariat) कायम होती है)। प्लेटो का साम्यवाद सामाजिक विकास, विश्लेषण, समन्वय, संक्रमण आदि की ओर ध्यान नहीं देता जबकि आधुनिक रूप में इनकी अनिवार्यता असंदिग्ध है। संक्रमणकाल की व्यवस्था को जिसमें सर्वहारा का अधिनायक है, सर्वाधिक प्राथमिकता आज के साम्यवाद में है। क्योंकि यह संक्रमण ही अन्तिम रूप से राज्य का लोप करने वाला आदर्श साम्यवाद ला सकता है। ऐतिहासिक व्याख्या तथा आर्थिक मूलाधार से अनभिज्ञ रहने के कारण प्लेटो के विचारों में वैज्ञानिक विवेचना की क्षमता नहीं दिखाई देती। आधुनिक व्यवस्था मानवता का ध्यान रखते हुए अधिक आकर्षण और उपयोगी सिद्ध होती है। प्लेटो का साम्यवाद त्याग-विराग आदि आध्यात्मिक तथा नैतिक लक्ष्य की ओर अग्रसर है जबकि आधुनिक साम्यवाद भौतिकवादी

भित्ति पर खड़ा है। प्लेटो अपने युग में आर्थिक साधनों के द्वारा राजनैतिक लक्ष्य प्राप्त करना चाहता था (Strictly political purpose) जबकि आधुनिक साम्यवाद में राजनैतिक अस्त्रों के द्वारा आर्थिक लक्ष्य प्राप्त किये जाते हैं। प्लेटो का उच्चवर्गीय साम्यवाद एक तरह के कुलीनतन्त्र का समर्थक है, आधुनिक साम्यवाद इसके सर्वथा विरुद्ध है। प्लेटो ने प्रजातन्त्र की कल्पना किसी रूप में नहीं की और जनता के विशाल बहुमत को राज्यकार्य से निर्लिप्त रख कर अपना-अपना काम करने की सलाह दी। वर्तमान साम्यवाद जनवादी है और सामूहिक सक्रियता या योगदान (Mass participation) का समर्थक है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिकोण से बहुत व्यापक अन्तर दोनों में है जबकि समानता केवल स्थूल रूप में है।

प्लेटो के साम्यवाद की कटुतम आलोचना उसके शिष्य एरिस्टाटल ने की। और सामान्य दृष्टि से भी वह साम्यवाद असंगत, भ्रांतिपूर्ण तथा अमानवी दिखलाई देता है। प्लेटो ने मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्पत्ति और परिवार को बिलकुल अलग कर दिया है और इस प्रकार जीवन को उसने अपूर्ण, एकाङ्गी, दुर्बल तथा निरर्थक बना दिया है। सम्पत्ति का भाव मनुष्य के श्रम के साथ जुड़ा है और कोई भी राज्य उसका अपहरण या तिरस्कार करके जीवित नहीं रह सकता। उसी तरह पारिवारिक कल्पना भी जीवन का सबसे सुखद, प्रेरक, उत्साहमय प्रसंग है। इस पर आक्रमण करके प्लेटो ने जीवन की सभी मान्यताओं को निकृष्टतम बना दिया है। मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, आचार शास्त्रीय और सबसे बढ़कर मानवीय दृष्टि से स्त्री और परिवार जीवन के अभिन्न अंग हैं। विवाह व्यवस्था वास्तव में जीवन की शक्तियों के नियम का साधन है। इसके विपरीत जाकर प्लेटो कैसे सामाजिक एकता की कल्पना करता है, यह बात समझ में नहीं आती ? प्लेटो के साम्यवाद में स्त्री को भी एक सम्पत्ति मान लिया गया है जिसे जब चाहें, जहाँ जैसे भी पाया, बेचा, दूर किया। यह स्थिति सामाजिक अराजकता की द्योतक है। प्रजनन शास्त्र के सिद्धान्त की कोई पुष्टि इससे नहीं होती। प्रजनन पर नियंत्रण या निरीक्षण करने के लिये अन्य उपायों की ओर प्लेटो का ध्यान ही न गया। सबसे अधिक आश्चर्य तो तब होता है जब प्लेटो के राज्य में स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करती हैं, सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग लेती हैं, लेकिन पारिवारिक प्रसंग में दास तुल्य हैं। असमान, असंतुलित अथवा अप्रासंगिक सम्बन्धों से (Indiscriminate or promiscuous mating) कभी भी योग्य सन्तानें नहीं निकल सकतीं। प्लेटो के अनुसार विवाह कोई धार्मिक बन्धन न होकर सन्तानोत्पत्ति

का साधन मात्र है। यह धारणा सर्वथा गलत है। इसके सिवाय प्लेटो का साम्यवाद कई विरोधाभासों और विसंगतियों से भरा है। अव्यावहारिक तो वह है ही, अमानुषिक भी प्रतीत होता है। अरिस्टाटल ने साम्यवाद की आलोचना करते हुए कहा कि समाज में अनेकता में एकता (Unity in diversity) एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। लेकिन प्लेटो अनेकता तथा विविधता के विरुद्ध है। बिना विविधता के बौद्धिक विकास सम्भव नहीं। निष्प्राण एकरूपता (Dead uniformity) पैदा करके प्लेटो ने व्यक्ति से उत्साह तथा क्रियाशीलता छीन ली। नैतिक दृष्टि से भी एरिस्टाटल ने इस प्रयोग को अवांछनीय बताया क्योंकि स्त्रियों का साम्यवाद नैतिक भ्रष्टाचार में आसानी से बदल सकता है। इसके सिवाय समाज में पृथक-पृथक वर्गीकरण (Watertight compartments) करके प्लेटो ने कोई सामञ्जस्य या सहयोग का समीकरण नहीं ढूंढ़ा। प्लेटो के विचार उस बौद्धिकता के ही विपरीत हैं जिसका वह भक्त बनता है। इस तरह साम्यवाद सिद्धान्त, तर्क, उपयोगिता, नैतिकता की कसौटी पर ठीक नहीं जँचता। कांस्टेन्टिन रिटर का यह कहना भी गलत है कि साम्यवाद से दासता का अन्त सिद्धान्त रूप में होता है। प्लेटो का साम्यवाद एक भूला हुआ अध्याय बन गया है।

राज्य सिद्धान्त, कार्य-विभाजन और विशेषज्ञता :

प्लेटो ने राज्य की महत्ता स्वीकार करते हुए उसे संगठित, निष्ठावान्, सदाचारी जीवन का प्रेरक माना है। व्यक्तियों के संगठित समूह में राज्य की कल्पना अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा नियमानुकूल आचरण के लिये होती है जिससे आदर्श राज्य का लक्ष्य पूरा हो सके। आदर्श राज्य में पाँच मूलाधारों की पुष्टता का ध्यान रखा जाता है। ये हैं, न्याय-सिद्धान्त, शिक्षा-सिद्धान्त, साम्यवाद, राज्य प्रकृति (व्यक्ति का वृहत् संस्करण राज्य है जिसमें तात्विक या आध्यात्मिक एकता है), तथा दार्शनिक राजा (Philosopher king) अन्तिम आधार को मजबूत बनाने के लिये ही शेष चारों प्रचलित किये गये हैं। प्लेटो का यह निश्चित मत है कि राज्य की उत्पत्ति वृक्षों, चट्टानों या अन्य मौलिक तत्वों से नहीं होती बल्कि राज्यनिवासी व्यक्तियों के चरित्र से होती है। इस प्रकार वह राज्य की एक आध्यात्मिक धारणा (Metaphysical concept) की पुष्टि करता है।

प्लेटो ने जब यह घोषित किया कि व्यक्ति का विकसित रूप ही राज्य बनता है (State is an individual writ large), तब उसका आशय

यह था कि राज्य में भी गुणों की एकता है। राज्य-धर्म व्यापक है इसलिए आचरण योग्य है, व्यक्ति का उससे वैपरीत्य नहीं बल्कि सादृश्य है। जिस तरह मानव आत्मा या अस्तित्व के ३ भेद माने जाते हैं (भोग, शौर्य, बुद्धि), उसी प्रकार राज्य में भी ३ प्रमुख वर्गों का अस्तित्व है। भोगप्रधान आत्मा वासनाओं पर आश्रित है, प्रेम, क्षुधा, घृणा आदि तीव्र मनोभावों की सृष्टि करती है। बुद्धिप्रधान आत्मा ज्ञान, प्रेम, सहानुभूति, मानवता, एकता आदि की अनुभूति कराती है, धर्ममूलक प्रवृत्ति को परिपुष्ट करती है। शौर्यप्रधान आत्मा युद्ध, प्रेरणा, प्रतियोगिता, क्रान्ति, अन्याय का प्रतिकार और न्याय का अनुमोदन. इन सबका सचालन करती है (बुद्धि की सहायता से!)। एक ही शरीर में अपना-अपना प्रभाव बतलाते हुये ये तीनों प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। उसी प्रकार राज्य-प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है; भोग प्रधान, बुद्धि-प्रधान, शौर्य-प्रधान। इन गुणों को प्रत्यक्ष कराने वाले तीन वर्ग समाज में हैं, उत्पादक, शासक और सैनिक। ये तीनों अपना-अपना काम सुचारु रीति से करते हुए राज्य को शक्तिशाली तथा आदर्श संस्था बनाते हैं। राज्य प्राथमिक रूप से आर्थिक धारणा है क्योंकि उसमें उत्पादन और उसके वितरण पर अधिक जोर दिया गया है। मूल रूप से राज्य एक बौद्धिक धारणा है जिसके संचालक सत्य की परख करने वाले दूरदर्शी, तत्वदर्शी, त्रिकालज्ञ या सर्वज्ञ दार्शनिक हैं। (आदर्शवाद की सर्वज्ञता की सीमा समझने के लिये यह सूत्र ध्यान में रखना चाहिये)। (Omnipotence is impotence)—सर्वशक्तिमत्ता वास्तव में शक्तिहीनता की द्योतक है। यह आलोचना दार्शनिक राजा के संबन्ध में लागू होती है। न्याय या धर्म का सिद्धान्त मनुष्य के कर्तव्य-ज्ञान के लिये परम आवश्यक है और अन्त में राज्य में भोग, बुद्धि, शौर्य का समन्वय रहना चाहिये। इस धारणा से सावयव सिद्धान्त (Organic theory) की भी पुष्टि होती है।

राज्य के आर्थिक सिद्धान्त का परीक्षण करते समय दो प्रमुख तत्व दिखाई देते हैं जिनसे समाज में न केवल सुख-शान्ति है बल्कि मानवीय विकास भी संभव होता है। ये तत्व हैं—कार्य-विभाजन का सिद्धान्त (Division of labour) और विशेषज्ञता का सिद्धान्त (Specialisation)। इनके द्वारा न केवल आर्थिक विकास होता है बल्कि बौद्धिक प्रगति भी सुनिश्चित हो जाती है। कार्य-विभाजन का सिद्धान्त मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों के भिन्न-भिन्न अनुपात के कारण बनाया गया है। सैनिक, शासक और उत्पादक वर्गों का काम अलग-अलग है और उसे निष्ठापूर्वक पूरा करने से विशेष योग्यता

तथा दक्षता सम्पादित होती है। प्लेटो ने क्षुधा, शौर्य तथा बुद्धि के प्राधान्य से श्रमिक, सैनिक, शासक वर्गों का अस्तित्व स्वीकार किया और जिस राज्य में ये वर्ग सुसंगठित रहते हैं वहाँ धर्म, विद्या, वीरता और अनुशासन (आत्म-संयम) का साम्राज्य रहता है। इन गुणों के रहते पराभव, अवसाद या नैराश्य को कोई स्थान नहीं मिल सकता, जनता निर्विघ्न अपना काम करती है। कार्यविभाजन का स्वाभाविक परिणाम विशेषज्ञता है क्योंकि पूर्वजों का संचित अनुभव और कार्यक्षेत्र का विस्तार मनुष्य की प्रवृत्तियों को तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म बना देता है। राज्य का आधार आर्थिक सहयोग है जिसके लिये कार्यविभाजन का सिद्धान्त बना है लेकिन उसकी गति विशेषज्ञता की ओर है। विशेषज्ञता की खोज राज्य की प्रकृति के अनुरूप स्वाभाविक ही है। साक्रेटीज की तरह प्लेटो ने ज्ञान की महत्ता स्वीक,र करते हुये उसे गुणरूप में ग्रहण किया और उसका बँटवारा (कृत्रिम रूप में) समाज के बीच किया। लेकिन मौलिक रूप से सहयोग की भावना का तिरस्कार उसने नहीं किया। धर्म-भावना से अभिभूत होने के कारण प्लेटो प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा करता है कि वह अपने निर्धारित कार्य की पूर्ति निश्चित ढंग से करता हुआ विशेषज्ञ बन जाये जिससे समाज को उसकी कुशलता का लाभ मिल सके। एक तरह से व्यक्तित्व की चरम परिणति भी इसी आदर्श में है। इन सिद्धान्तों के कारण दार्शनिक शासक का काम सहज हो जाता है, समाज में संतुलन रहता है, गुणों तथा गुणियों की पूजा होती है, योग्य व्यक्तियों को ही प्रश्रय मिलता है, सामाजिक लाभ प्रचुर होता है। इन स्थितियों में किसी वर्ग में अभाव या असंतोष नहीं फैलने पाता और इस तरह क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। इनका विरोध या निषेध करने पर स्पर्धा, असंतोष, षड्यंत्र, विप्लव अनिवार्य है, अराजकता अवश्यम्भावी परिणाम है। अपने युग की विभीषिका देखकर प्लेटो अराजकता का खतरा उठाने को तैयार नहीं था। शासन केवल बुद्धिमता पर ही नहीं कार्य कुशलता पर भी आधारित होना चाहिये।

इस व्यवस्था के दोषों पर भी दृष्टिपात करना सामयिक होगा। प्लेटो के सिद्धान्तों में सबसे बड़ी बात मानव-स्वभाव का विरोधाभास (Paradox of human nature) है। मनुष्य का मस्तिष्क पूर्णता का द्योतक है, उसमें भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ छिपी रहती हैं। उनमें से एक को प्रधानता बताकर दूसरों को गौण बना देना मनुष्य-स्वभाव से अनभिज्ञता है। प्लेटो के आदर्शवादी विचारों की सबसे बड़ी कमी यही है कि उसमें वास्तविकता का मूल्यांकन ठीक ढंग से नहीं किया गया। दूसरी बात विशेषज्ञता के सम्बन्ध में है, विशेषज्ञता

पर जोर देने से एकाङ्गी तथा अपूर्ण विकास होगा क्योंकि कुछ विशेषज्ञ और शेष या अधिक अल्पज्ञ का समाज स्थायी प्रगति नहीं कर सकता। इसके सिवाय सम्पूर्ण व्यक्तित्व भी पूरी तरह विकसित नहीं होता। तीसरा बड़ा खतरा विशेषज्ञता के नाम पर वर्ग विशेष की उत्पत्ति है। इस व्यवस्था से नौकरशाही को बल मिलेगा और सामाजिक वर्गभेद मजबूत होता जायेगा। जहाँ बहुत अधिक विशेषज्ञ (Too many experts) होते हैं वहाँ जनसाधारण की सामान्य बातें भी उपेक्षित रह जाती हैं क्योंकि प्रत्येक अपनी-अपनी योग्यता का ढिढोरा पीटता है और दूसरे को नौसिखिया (Amateur) समझता है। इस कशमकश में जीवन की महत्वपूर्ण समस्यायें उचित समाधान नहीं पा सकतीं। प्लेटो ने दार्शनिक शासक को जो न केवल स्वतः विशेषज्ञ है बल्कि अन्य विशेषज्ञों का भक्त भी है, सर्वाधिकार देकर भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा कर दी है। दार्शनिक राजा ज्ञान तथा सत्ता के मद में अपनी त्रुटिहीनता (Infallibility) का दावा कर सकता है और स्वेच्छाचार की ओर कदम बढ़ा सकता है। दार्शनिक शासक के पीछे न तो स्वीकृत है, न प्रतिबन्ध। इस तरह विशेषज्ञता का विभ्रम विनाश के बीज बोता चलता है।

हवा से धरती पर :

प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना पूर्ण वायवी तथा असम्भाव्य योजना का प्रतिफल है। 'रिपब्लिक', के बाद के ग्रंथों में ('स्टेट्समेन' तथा 'लॉज' में) वह अधिक व्यावहारिक तथा नीतिज्ञ हो गया। वैसे तो उसके विचारों की मूलधारा में कोई व्यापक अन्तर नहीं दिखाई देता, फिर भी उसका दृष्टिकोण अधिक परिमार्जित हो गया। तर्कसंगत, व्यवस्थित विवेचन के साथ ही प्लेटो उन समस्याओं को उठाता है जिनसे जनता में गुण तथा धर्म की अभिवृद्धि हो, एक उच्चस्तरीय राष्ट्रीय चरित्र (National character) का निर्माण हो। फिर दार्शनिक शासक की विफलताओं की आशंका से वह नीतिकुशल राजनीतिज्ञ या आदर्श शासन ढूँढ़ने का प्रयास करता है। धीरे-धीरे विधियों के शासन की ओर प्लेटो का ध्यान आकर्षित हुआ और उसने यह माना कि विधियों द्वारा शासन ही उचित होना चाहिये। राज्य की दण्ड विधि (Criminal law) तथा नागरिक विधि (Civil law) का अन्तर भी उसने स्पष्ट किया। साथ ही शासकों को जनता में जनकल्याण तथा धर्म-पालन की अनिवार्य शिक्षा देनी चाहिए। विधियों का स्वरूप अनुभवजन्य युग-

परम्पराओं के बल पर हुआ है। इसलिये शासन पर उनका अक्षुण्ण है। विधि-सम्मत तथा विधि-विरुद्ध राज्य का वर्गीकरण करते समय उसने राजतन्त्र (Monarchy or Royalty), कुलीनतन्त्र (Aristocracy), प्रजातन्त्र (Democracy) का उल्लेख सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर किया और विकृत शासनतंत्र भी, जो उनसे सम्बन्धित हैं, उसने गिनाये—आततायित्व (Tyranny); धनिकतन्त्र (Oligarchy) तथा झुण्ड या भीड़तन्त्र (Mobocracy)। प्लेटो के अनुसार प्रजातन्त्र सबसे निम्नकोटि का है। राजतन्त्र तथा आभिजात्यतंत्र अच्छे हैं लेकिन खतरों से खाली नहीं। बौद्धिक आभिजात्यतंत्र का उसका पुराना सूत्र ही ठीक मालूम होता है। अपने अन्तिम ग्रंथ 'लॉज' में प्लेटो ने अपने साम्यवाद को तिलाँजलि दे दी और परिवार, विवाह तथा सम्पत्ति की आवश्यकता महसूस की। इस स्थिति में उसने राज्य से यह अपेक्षा की है कि समाज और संस्था पर वह पूर्ण नियंत्रण रक्खे। सामाजिक व्यवस्था का ऐसा चित्र प्लेटो ने खींचा जिसमें बुद्धि, भूमि और योग्यता के बल पर सम्पत्ति तथा सत्ता का विभाजन किया गया है। चूँकि सम्पत्ति भूमि के रूप में है इसलिये भूमि-वितरण चारों वर्गों में अलग-अलग अनुपात से होना चाहिये। एक न्यूनतम (Minimum) सीमा निर्धारित करने के बाद दुगुने, तिगुने, चौगुने आधार पर ऊपर के वर्गों को भूमि देनी चाहिये अर्थात् उच्च राशि (Ceiling) तथा न्यूनतम (Floor) में केवल चार गुने का अन्तर रहे। राज्य फिर अतिरिक्त सम्पत्ति जब्त कर सकता है। सम्पत्ति की विषमता यदि अनुपात सहित हो तो अधिक परेशानी नहीं है। विधियों की महत्ता मानने के बाद प्लेटो ने शासन-तन्त्र की या संविधान की एक ऐसी रूपरेखा तैयार की जिसमें राज्य-संचालन की योग्यता हो। सबसे ऊपर प्लेटो ने ३७ व्यक्तियों की सर्वोच्च सभा (Board of Guardians of Law) बनाई जिसमें ५० से ७० वर्ष की आयु के परिपक्व अनुभववृद्ध नागरिक सदस्यता प्राप्त करते हैं। इस सभा में वह न तो भावुक नवयुवकों को और न शिथिल वृद्धों को रखना चाहता है। उसके बाद ३६० सदस्यों की एक प्रशासकीय परिषद (Administrative Council) का उल्लेख उसने किया जिसमें सामान्य प्रतिनिधियों को स्थान मिलेगा। सर्वोच्च सभा का काम नीति-निर्धारण तथा निरीक्षण-नियंत्रण करना है और प्रशासकीय परिषद् नीति-क्रियान्वय में संलग्न रहती है। इसके बाद नागरिकों की सामान्य सभा (General Assembly) रहेगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को सदस्यता प्राप्त हो सकेगी। न्यायकार्य का संचालन करने के लिये १० व्यक्तियों की न्याय-परिषद (Nocturnal Council)

बनाई गई है जिसका कार्य विधियों का पालन कराना है। न्याय-परिषद् के साथ ही २० धर्माचार्यों तथा २० नवयुवकों की दो सलाहकार समितियों का निर्माण भी आवश्यक है क्योंकि उनसे किसी वस्तु के पक्ष-विपक्ष या सम्यक् ज्ञान में सहायता मिलती है। इस तरह की व्यवस्था में स्पार्टा और एथेन्स के संविधानों का संमिश्रण है और नागरिकों में जागरूक प्रेरणा भरने का स्तुत्य प्रयास भी है। संयमित जीवन, कठोर अनुशासन तथा नागरिक निष्ठा का समर्थन करते हुए प्लेटो राज्य के स्वार्थ को व्यक्ति या परिवार या समूह से ऊंचा रखता है। जनता में राज्यकार्य में सक्रिय रुचि बनाये रखने के लिये वह शिक्षा पर अधिक जोर देता है। सारांश में, उसके दर्शन का संक्रमण आदर्श से यथार्थ की ओर —हवा से धरती की ओर—हो चला है (Transition of his philosophy from the ideal to the actual)। लेकिन प्लेटो उन लोगों में से हैं जो हवा से धरती पर आकर भी अपनी हवाई-छतरी (पैराशूट) लादे ही रहते हैं।

समीक्षा :

प्लेटो के आदर्शवादी विचारों में योजना, प्रभाव, प्रचार की प्रचुरता तो है लेकिन स्थायित्व का अभाव है। सूक्ष्म विषयों का रूपक लेकर प्रत्यक्ष का ज्ञान कराना द्राविड़ प्राणायाम से भी अधिक कष्टकर है। प्लेटो की सारी योजना हवाई किले की तरह है। राजनीति तथा नीतिशास्त्र का मेल-जोल कराके प्लेटो मानव-स्वभाव की विशेषताओं और कमजोरियों को भूल कर ही आदर्श राज्य की कल्पना करता है और इस प्रकार काल्पनिक विचारकों (Utopian thinkers) में प्रमुख स्थान ग्रहण करता है। उसके द्वारा समर्थित राज्य अत्यधिक समष्टिवादी (Too collectivistic state) है जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज की उपेक्षा कर दी गई है। नागरिक वर्गों का विभाजन भी कृत्रिम तथा विकर्षक है। मानव-मस्तिष्क की प्रवृत्तियों का विवेचन मनोविज्ञान से परे है। समाज-रचना का चित्रण भयावह तथा असाध्य है। दासता की उपेक्षा ही नहीं उसका समर्थन भी किया गया है। मनुष्यों में अनावश्यक तथा अप्रत्याशित कट्टरता की कल्पना खींच-तानकर की गई है। कोई भी राजा या शासक चाहे दार्शनिक हो या आदर्श, वास्तविक नियंत्रण के अभाव में भ्रष्ट होता है, क्योंकि सत्ता में यह विशेषता है (प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' यह उक्ति सदैव चरितार्थ होती है या लार्ड एक्टन का प्रसिद्ध वाक्य Power

corrupts and absolute power corrupts absolutely)। उत्पादक वर्गों की उपेक्षा करके समाज में केवल अल्पसंख्यकों को महत्व दे दिया गया। शिक्षा-योजना इसी प्रकार कुछ उच्च वर्गों के लिए है और जन-शिक्षा का कोई उल्लेख नहीं है। विशेषज्ञता तथा कार्य-विभाजन की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं है। स्त्री, परिवार, सम्पत्ति, विवाह आदि मौलिक समस्याओं पर अनर्गल विचार उसने दिये हैं। समाज की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान नहीं रखा गया। कला-साहित्य पर प्रतिबन्ध (Censorship of art and literature) लगा कर किस प्रकार कोई समाज विचार स्वातंत्र्य की रक्षा कर सकता है? नागरिकता की संकुचित कल्पना ही ग्रहण की गई है। न्याय-धारणा स्पष्ट होने के बजाय दुरूह तथा भ्रामक है। स्वतन्त्रता के अभाव में खोखले आदर्शों का ढोल आवाज नहीं दे पाता। प्लेटो की योजनएँ वस्तुगत तथ्यों से दूर हैं। साध्य साधन का कोई स्पष्ट विवेचन वह नहीं कर पाता। उसके ध्यान में यह बात नहीं आ सकी कि राजनीतिक कार्यक्रम के पीछे उद्दे-श्यों का स्पष्ट, जागृत दर्शन होना चाहिये (Political programmes should be conscious philosophy of ends)। सारांश में प्लेटो राजनीतिज्ञ के बजाय धर्मोपदेशक बन गया है। उसके ग्रन्थों को कुछ ने आदर्श के नाम पर स्वच्छन्दतावाद का प्रयोग कहा है जिसमें वह हवा में तैरता रहता है। स्त्रियों के प्रति उसके विचार संकुचित हैं। दकियानूसी दायरे से बाहर आने में प्लेटो असमर्थ है। निस्वार्थ बुद्धि (Unselfish intellect) की खोज मृगतृष्णा की तरह है। स्वार्थ और आकांक्षा का संघर्ष प्लेटो के ध्यान में नहीं आया। उसके आदर्शवाद की तुलना फासिज्म या अधिनायकतंत्र (Fascism) से की जाती है। उसकी समानता का आधार यह है कि दोनों जनतंत्र की उपेक्षा करके बुद्धि या शक्ति की तानाशाही पर जोर देते हैं, उत्कृष्ट ज्ञान (Superior intellect) के उपासक हैं। दोनों शारीरिक तथा बौद्धिक विभेदों को स्थायी बनाने का प्रयास करते हैं। दोनों व्यक्ति स्वातंत्र्य कुचलने के लिए कटिबद्ध हैं, राज्य की सर्वोच्चता के प्रेमी हैं। राज्यभक्ति तथा सक्रिय नागरिकता दोनों का ध्येय है। कानून तथा व्यवस्था के प्रति उल्लेखनीय आकर्षण दोनों को है। प्लेटो की अनुरक्ति तथा श्रद्धा नगर राज्यों (City states) के प्रति तथा फासिस्टों की भक्ति राष्ट्रीय राज्यों (Nation states) के प्रति उल्लेखनीय हैं। दोनों दार्शनिकता तथा आदर्शवाद पर अधिक जोर देते हैं। लेकिन इस तुलना में समानता के साथ विभेदों या मतभेदों पर भी ध्यान देना चाहिये। प्लेटो साम्राज्यवाद के विरुद्ध है जब कि फासिस्ट पक्के

साम्राज्यवादी हैं। फासिस्ट विचार-धारा केवल आदर्शों के चक्कर में नहीं रहती बल्कि राजनीतिक यथार्थ की ओर ध्यान देती है। प्लेटो साम्यवाद के एक स्थूल रूप का चित्रण कर उसे उचित तथा आवश्यक बतलाता है किन्तु फासिस्ट तो साम्यवाद का पूर्ण विरोधी है। प्लेटो का आदर्शवाद आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है पर फासिस्टवादी प्रवृत्तियाँ भौतिकता और पाशविकता की प्रतीक हैं। इस तरह प्लेटो के विचारों में अधिक उदारता, सहिष्णुता तथा युग-संगति है।

आलोचना-प्रत्यालोचना के बावजूद प्लेटो का अनुदाय बड़े महत्व का है। राजनीतिक विचारकों में प्लेटो की विचारधारा सदैव सम्मान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखी गई है। आने वाले युगों में उसका प्रभाव बढ़ता ही गया और उसकी सार्वभौमिकता निर्विवाद हो गई। सबसे पहले राजदर्शन की अस्पष्ट रेखाएँ खींचने में उसे सफलता मिली; अरिस्टाटल ने अपने संशोधन से उसके प्रयास को अधिक महत्वपूर्ण बनाया। शिक्षा-व्यवस्था, बौद्धिक आभिजात्यतंत्र, नागरिक तथा दण्डविधि के भेद, स्त्रियों का उद्धार, विशेषज्ञता, न्याय तथा धर्म की व्यापक कल्पना (जिसमें नागरिक उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यबोध निहित है), आदर्श राज्य व्यवस्था आदि सभी बातें केवल यूनान या प्राचीनकाल के लिये ही नहीं हैं बल्कि हर समय या स्थिति में सार्वजनिक रूप में इनका प्रयोग विहित है। प्लेटो को इस बात में आशातीत सफलता मिली कि स्पार्टा और एथेन्स के परस्पर विरोधी तथा शत्रुतापूर्ण वातावरण में वह सामञ्जस्य तथा साम्य स्थापित कर सका। विधियों का महत्व स्वीकार करके प्लेटो ने शासन को वैयक्तिक प्रभाव दबाव से मुक्त किया और उसे सम्मानित पद दिया। धर्मनिरपेक्ष विचारों में उसका स्थान सर्वप्रथम आता है क्योंकि वह व्यावहारिक दर्शन के आधार पर ही आदर्श की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। उसके विचारों के बाद अरिस्टाटल का कार्य सुगम तथा सरल हो जाता है। दार्शनिक तथा शिक्षक प्लेटो केवल राज-दर्शन ही नहीं सामान्य मानवीय विचारों का आदि स्रष्टा माना जाता है। सिसरो, सेन्ट आगस्टाइन, टामस मूर, दांते, फ्रांसिसबेकन, रूसो आदि विचारकों पर प्लेटो का स्थायी प्रभाव पड़ा और उसकी रचनाओं से प्रेरणा लेकर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। प्लेटो के ग्रन्थ 'रिपब्लिक' को सब से प्रमुख आदर्श-वादी रचना माना जाता है। प्लेटो ने एक 'उदात्त अतृप्ति' (Divine discontent) की वृद्धि की जिससे समाज में महत्वपूर्ण अन्वेषण सम्भव हो सके। सर्वप्रथम समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने के लिये संस्थामूलक स्वरूप का अध्ययन करने की प्रेरणा प्लेटो ने ही दी। इतिहास, राजदर्शन, बौद्धिकता,

विधिशास्त्र, अनुभूति एथा प्रगतिशीलता की दृष्टि से प्लेटो का स्थान सदा के लिये अमर है। चेस्टर मेक्सी ने प्लेटो का मूल्यांकन करते हुए उसे प्रथम काल्पनिक विचारक (First utopian) कहा है। प्लेटो के विचारों में अस्थायी तथा संकुचित विषय भले रहे हों लेकिन उसके राजदर्शन का मेरुदण्ड कालातीत सार्वभौमता है। प्लेटो साम्राज्यवाद का विरोधी, जनतंत्र में विश्वास न रखने वाला, स्पार्टा के सैनिकवाद का प्रशंसक तथा दासत्व का समर्थक था। लेकिन सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण करने, आध्यात्मिक विचार प्रस्तुत करने तथा प्रगतिशील, प्रभावशाली कार्यक्रम निर्धारित करने में वह अग्रगण्य था।

२—अरिस्टॉटल (अरस्तू)

(३८४-३२२ ई० पू०)

यूनान के नगर-राज्यों का स्वर्णिम-युग जो पेरिक्लीज के समय था, धीरे-धीरे अस्त हो चुका था। प्लेटो में युग में पतन-विग्रह-विनाश की अवसादमयी कालिमा प्रगाढ़ हो चुकी थी। किन्तु इन्हीं विद्वेषकारी काले मेघों के बीच बौद्धिकता का क्षणिक किन्तु ओजस्वी प्रकाश फैलाने में अरस्तू का योग विद्युत्-रेखा की भाँति रहा। अरस्तू के ज्ञानालोक में इतना प्रभाव था कि आज भी राजनीति-गगन उस ज्योति से देदीप्यमान है। बिखरी हुई राजनीतिक विचार-धारा को सँवार कर वैज्ञानिक दृष्टि से सजाने में अरस्तू सफल रहा। तीक्ष्ण तर्क, तुलनात्मक अध्ययन, यथार्थवादी समीक्षा, कुशल विश्लेषण तथा निर्दोष चिन्तनधारा के कारण अरस्तू ने राजनीति को प्रभावशाली सुनियोजित विज्ञान का स्वरूप दिया। उसकी कला स्थापत्य-विशारद की भाँति थी जो जड़ वस्तुओं से सुन्दर प्रतिमा बनाता है। नगर-राज्यों के पतन ने ग्रीक सभ्यता की जड़ें हिला दीं और विचारकों को उद्वेलित कर दिया। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से प्रेरित नगर-शासक आपस में लड़-लड़कर नष्ट हो रहे थे। स्पार्टा, एथेन्स, कार्थेज, थेबीज, मेसीडोनिया आदि एक दूसरे को परास्त तथा पददलित करने में ही सचेष्ट थे। ऐसे समय में अरस्तू ने राष्ट्रीय एकता का सूत्रपात किया। साधारणतया प्रत्येक राजनीतिक अथवा अन्य संस्थाओं के विषय में यह निश्चित मत है कि उसके पतन के बीज उसमें ही निहित रहते हैं (Every institution has within itself the germs of its own dissolutoin)। तो ग्रीस या यूनान के नगर-राज्यों में संगठन का अभाव, व्यक्तिगत स्पर्धा, पाशविक शक्ति-संवर्धन, अदूरदर्शिता आदि के कारण इतिहास की यह अपरिहार्य प्रक्रिया काम करने लगी थी।

अरस्तू अपने गुरु प्लेटो का चिर अनुग्रहीत था किन्तु उससे भी आगे बढ़कर मौलिक प्रतिभा का व्यक्ति था। उसे लाइकियम विद्यालय का परिव्राजक (Peripatetic of Lyceum Academy) कहा जाता है जो नवीन विचार संदेशों का वाहक है। अरस्तू की अद्वितीय प्रतिभा ने इन परिस्थितियों का पर्यवेक्षण किया और अपने विचार सामने रखे। राजनीतिक अन्तर्दृष्टि

तथा वैज्ञानिक प्रज्ञा का विलक्षण प्रतीक वह बन गया। सर्वप्रथम अरस्तू ने ही यह सिद्ध कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है और वह बुद्धि-संचालित है। मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में उसने मानव मस्तिष्क तथा क्रियाओं का अन्वेषण किया और उन ऐतिहासिक शक्तियों की शोध की जिनसे जीवन उच्च आदर्शों की ओर यथार्थ वादी आधार पर बढ़ता है।

अरस्तू विद्यालय का 'मस्तिष्क' था और पुस्तकों का प्रेमी। अपने गुरु के प्रति उसके हृदय में अगाध श्रद्धा थी पर जैसे-जैसे अरस्तू की प्रतिभा परिपक्वता की ओर बढ़ती गई वैसे-वैसे दोनों के दार्शनिक विचारों का भेद भी स्पष्ट होता गया। तथापि यह बात निर्विवाद थी कि अरस्तू भी अपने गुरु (प्लेटो) और दादागुरु (साक्रेटीज) की भाँति विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था।

पाश्चात्य जगत् में आज जिस सभ्यता का बोलबाला है उसकी जड़ें प्राचीन यूनान की सभ्यता में निहित हैं। यह यूनानी सभ्यता अरस्तू की प्रतिभा में अधिकतम आत्मचेतना को प्राप्त हुई। अतएव आज के पाश्चात्य जगत् को समझने के लिये अरस्तू को समाधिक मात्रा में समझना आवश्यक है। आज का युग विज्ञान का युग है और अरस्तू ने संसार को सबसे प्रथम वैज्ञानिक भाषा दी थी। यूरोप का कोई नवीन और प्राचीन दर्शन-प्रस्थान ऐसा नहीं जो बिना अरस्तू के संदर्भ के भली-भाँति समझा जा सके। चाहे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म) हो चाहे सावयव दर्शन (फिलासफी आफ आर्गनिज़्म) हो, सबके कल्पना-भवन की नींव अरस्तू के विचार में हैं—वे सब उसी वाणी का उपयोग करते हैं जो अरस्तू ने उन्हें सिखाई है।

राजनीति और समाजनीति के क्षेत्र में अरस्तू ने समग्र यूरोप का पथ-प्रदर्शन किया है। इतिहास के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप देने में उसने पर्याप्त योगदान दिया था। एथेन्स के संविधान के रूप में उसने हमको विश्व के प्रथम संविधान की रूपरेखा प्रदान की है। काव्यकला के क्षेत्र में उसका काव्यशास्त्र यूरोप के आलोचना साहित्य में सबसे अधिक व्यापक प्रभाववाला ग्रंथ रहा है। यह छोटा-सा अधूरा ग्रन्थ सर्वथा विलक्षण है। अरस्तू की प्रतिभा के आलोक की चमक और उसके विचारों का चक्रव्यूह हजारों वर्ष तक पश्चिमी देशों के मनीषियों के चिन्तन को वन्दी बनाकर अभिभूत किये रहा। आज भी उसका आकर्षण और उपयोगिता बिलकुल समाप्त हो गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

दांते के अमर शब्दों में "अरस्तू ज्ञानवानों का गुरु (ई)—ल् माएस्त्रों दी कोलोर के सान्नो)—है।" (अरस्तू की राजनीति—अनुवादक श्री भोलानाथ शर्मा)।

संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा प्रभाव :

अरस्तू का जन्म एक चिकित्सक निकोमेकस् के परिवार में यूनान के स्टेजिरा (Stagira) नगर में ई० पूर्व ३८४ में हुआ। मेसीडोनिया के राजवंश से सम्बन्धित होने के कारण अरस्तू का जीवन सम्पन्न तथा सुखमय रहा। इसी वंश के प्रभावशाली सम्राट सिकन्दर ने ई० पूर्व ३४८ के लगभग सारे यूनान पर अपना आधिपत्य जमाया और धीरे-धीरे भारत की पश्चिमी सीमा तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। प्लेटो के शिक्षालय में अध्ययन करने के बाद अरस्तू सिकन्दर के शिक्षक, परामर्शदाता तथा चिकित्सक के रूप में काम करता रहा। कतिपय इतिहासकारों की यह भी धारणा है कि विश्व-विजय के लिये प्रस्थित सिकन्दर के साथ-साथ अरस्तू भी घूमता रहा और भारतीय वैभव के भी उसने दर्शन किये। इस बात में सत्यांश कम या बिलकुल ही न हो लेकिन यह तो निश्चित है कि वह विदेश-भ्रमण बहुत दिनों तक करता रहा और इस भाँति ज्ञान-वर्धन के बाद एथेन्स लौटा। वहाँ इसने हर्मियस की पुत्री पीथियास से विवाह किया और सुखमय दाम्पत्य जीवन बिताया। पीथियास की मृत्यु के बाद उसने हैर्पीलिस को अपनी जीवन-सहचरी बनाया। एथेन्स में लीकियम के उद्यान में वह अध्यापन कार्य करता था। उसके दर्शन-प्रस्थान का नाम पेरीपेटेटिक (Peri patetic या पर्यटक) था। अपने स्पष्टवादी; उग्र, निर्भीक विचारों के कारण अरस्तू को विरोधियों के षड्यन्त्र का सामना करना पड़ा जिसके प्रतिकारस्वरूप वह एथेन्स के बाहर पहिले मिनीलेन बाद में कालिकस नगर में कुछ समय के लिये चला गया एथेन्स त्यागते समय, उसने कहा था कि "मैं एथेन्स-वसियों को दार्शनशास्त्र के विरुद्ध दूसरी बार अपराध न करने देने के लिये दृढ़ संकल्प हूँ।" सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका महत्व भी घटने लगा। ई० पू० ३२२ में उसकी खाल्किस (काल्किस) नगर में मृत्यु हो गई।

आधुनिक राजनीति शास्त्र के प्रणेता अथवा प्रवर्तक के रूप में अरस्तू की ख्याति अमर है। नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचार शास्त्र, मनोविज्ञान, शारीरिक, जन्तु विद्या, तर्कशास्त्र (Analytics) राजनीति आदि विषयों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक अनुशीलन-अध्ययन सर्वप्रथम अरस्तू ने ही किया और इसीलिये वह वर्तमान वैज्ञानिक विचार-परम्परा का जनक है। साक्रेटीज, प्लेटो

तथा अन्य पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का उसपर स्थायी प्रभाव था किन्तु अपनी मेधाशक्ति के कारण मौलिकता तथा परिष्कृत विचारधारा का संयोग करने में वह सफल हुआ। बौद्धिक जगत् में कल्पनाजन्य वास्तविकता को हटाकर वास्तविक कल्पना करने की विचारपद्धति उसने ही अपनाई। निगमन पद्धति के द्वारा उसने अनुभवजन्य ज्ञान का प्रसार-प्रचार किया। भौतिक वस्तुओं को प्रधानता देते हुए उनके क्रियात्मक रूप तथा गतिशील परिवर्तन का नियम उसने निर्धारित किया। समाज तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते समय उसने सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग—व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की बल्कि उसे गौरव तथा ख्याति के शिखर पर बैठाया। सबसे पहले उसने ही यह स्थिर किया कि समाज और राज्य एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रेरित हैं और वह उद्देश्य है व्यक्ति का कल्याण, उत्कर्ष अथवा उन्नयन। इसी चरम उद्देश्य की सिद्धि के लिये अन्य मानवीय संस्थायें भी कार्यरत हैं। इस तरह सभी मानव-प्रयास एक तरह की सोद्देश्यता लिये हुए हैं। भौतिकवादी, वस्तुवादी, व्यक्तिवादी तथा यथार्थवादी अरस्तू अपने विचारों में स्थूल से सूक्ष्म की ओर, शरीर से आत्मा की ओर तथा वासना से बुद्धि की ओर अग्रसर है। तर्क-सरणि का अवलम्बन करके विचारों का उदात्तीकरण इसी भाँति सम्भव है।

ग्रंथ-रचना :

अरस्तू के ग्रन्थ उसके मित्र थियोफ्रेस्टस और नेलेयस् को प्राप्त हुए और बहुत समय तक एक कोने में अप्रकाशित पड़े रहे। किसी तरह वे अपैनिकन् के ग्रन्थालय में पहुँचे जिसे रोमन विजेता सुला ने लूटा था। ई० पू० ६ में यह संग्रह रोम लाया गया। वहाँ पेरीपेटेटिक विद्यालय के अध्यक्ष एन्ड्रोनिकस् रोद्स ने इन्हें प्रकाशित कराया। इस तरह अरस्तू की मृत्यु के ढाई सौ वर्ष बाद उसकी रचनाएँ प्रकाश में आईं। इन ग्रन्थों की सूची दियोजेनस लाएर्तिस ने दी है और उनकी संख्या ४०० के करीब है। लिखित और मौखिक दोनों प्रकार के अभिभाषणों और विचार-संग्रहों का इतना विपुल भाण्डार शायद ही किसी अन्य लेखक का हो। रचनाओं में कलात्मक मर्मस्पर्शिता, प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति, काव्यगत शैली और भाषागत सौन्दर्य का अजस्र प्रवाह है जिससे सिसरो और क्विन्तीलियन सरीखे विद्वान् उसके भक्त हो गये। जर्मन विद्वान् याएगर ने अरस्तू की प्रतिभा का विकासक्रम बनाया है। उसके ग्रन्थ इन खण्डों में विभाजित किये जा सकते हैं :—तर्कशास्त्र और दर्शन सम्बन्धी, भौतिक शास्त्र सम्बन्धी,

मनोविज्ञान और पराविद्या (मेटाफिजिक्स), प्राकृतिक विज्ञान और जीव-जन्तु विद्या, नीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, सदाचार, भाषण-कला, लेखन-कला, काव्य-शास्त्र आदि ।

सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिसे अरस्तू ने लिखा पॉलिटिक्स (Politics) है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था तथा राजनैतिक परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन करने के बाद (१५८ यूनानी संविधानों के आधार पर) अरस्तू ने अपने विचार निश्चित किये, उन्हें वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। एक शिक्षक के नाते विषय-प्रतिपादन के साथ-साथ शङ्का-निवारण तथा तुलनात्मक बोध की चेष्टा भी उसने की। प्रश्नोत्तर के ढंग पर लिखी गई इस पुस्तक में क्रम-विसंगति भले ही हो लेकिन सम्बन्वित विषयों का विवेचन विवेकपूर्वक किया गया है। यह भी सम्भव है कि सामयिक प्रश्नों की गम्भीरता-गुरुता से प्रेरित होकर अपने वक्तव्य या दृष्टिकोण को सामने रखना ही उसका ध्येय रहा हो जैसा कि बौद्धिक धारणा वाले व्यक्तियों का होता है। पूर्वाग्रह अथवा पूर्वासक्ति से अलिप्त रहकर तटस्थ या निष्पक्ष अध्ययन करना ही उसका लक्ष्य रहा हो। छात्रों के समक्ष प्रस्तुत विचारों को आज स्थायित्व मिल चुका है और अलग-अलग टिप्पणियों के साथ इस ग्रन्थ के संस्करण हो चुके हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण में पर्याप्त समय लगा है और इसके अन्तर्गत विषय-विभाजन से यह प्रतीत होता है कि इसमें समय-समय पर अन्य विचारों को भी ग्रहण कर लिया गया है। लेकिन इससे ग्रन्थ का गौरव अक्षुण्ण रहता है। आठ भागों में विभाजित पुस्तक में राज्य के मूलभूत तत्वों के चिन्तन, संविधान का स्वरूप-निरूपण तथा उत्कृष्ट राज्य की उपादेयता आदि के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किए गये हैं। इसके सिवाय दास-प्रथा की अनिवार्यता पर अपना स्पष्ट मत देने के साथ-साथ राज्यक्रान्ति के कारण, परिणाम, निराकरण आदि पर भी व्यापक रीति से विचार प्रकट किया गया है। राज्य, नागरिकता, शिक्षा, विधि, संप्रभुता, जनमत आदि पर अपना मत प्रकट करते हुये अरस्तू ने समुचित परिभाषा तथा व्याख्या की है। इन सबसे ऊपर तथा अधिक महत्वपूर्ण प्रयास इसने किया मानव-स्वभाव, मस्तिष्क तथा कृतियों को सम्यक् रूप से देखने-समझने का। मनुष्य की, व्यक्तिगत स्तर पर अखण्डता तथा सजातीयता सिद्ध करने के बाद सामाजिक इकाई के रूप में सावयवी सिद्धान्त की स्थापना भी अरस्तू ने की है। पालिटिक्स एक ओर ऐतिहासिक विचार-ग्रन्थ है तो दूसरी ओर सामाजिक विषयों तथा शास्त्रों का वर्गीकरण करते हुये (पॉलिटिक्स तथा नायकोमेशियन एथिक्स)

अलग-अलग स्वतन्त्र चिन्तन करने की प्रणाली है जिसका प्रभाव आज तक कायम है।

अन्य ग्रन्थों में उसने एथेन्स तथा विभिन्न राज्यों के संविधान का प्रारूप भी लिखा।

व्यक्ति, समाज, राज्य :

प्लेटो ने व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को विवेक, ओज तथा भूख इन तीन मौलिक प्रवृत्तियों में विभाजित किया है और इनके शमन अथवा पूर्ति हेतु संलग्न जनसमूह को सलाहकार, सैनिक तथा उत्पादक—इन तीन वर्गों में बाँटा। किन्तु इस काम में उसने एकांगी दृष्टिकोण अपनाया जिससे यह आभास होता है कि मानो अलग-अलग ढंग से इन प्रवृत्तियों पर एकाधिपत्य रखते हुए सामाजिक वर्गों का निर्माण हुआ है। इसके विपरीत अरस्तू ने मानव-मस्तिष्क की तीन दशाओं का चित्रण किया जो जड़ता, पशुता, विवेक से अभिहित हैं। इन दशाओं में जड़ता एक तरह की स्थिरता अथवा गतिहीनता है, जीवन-धारण तथा विस्तार इसमें केवल बाह्य साधनों-शक्तियों पर निर्भर है। पशुता एक ओर तो झुण्ड-प्रवृत्ति की सूचक है तो दूसरे इसमें अन्धी गतिशीलता भी है। केवल विवेक की स्थिति ही ऐसी है जिसमें अस्तित्व, विकास, निरन्तर गतिमयता तथा कार्य-कारण-भाव निर्दिष्ट करने वाली न्यायबुद्धि भी है; यही विवेक मनुष्य की प्रगति-परम्परा का वाहक है। व्यक्ति में जिस तरह स्वप्न-जागृति-सुषुप्ति आदि अवस्थायें हैं जिनके परिमाण से उसकी आन्तरिक-बाह्य मनोदशा का परिचय होता है, क्रियाशीलता का आभास मिलता है, उसी तरह उपर्युक्त तीन दशाओं के अनुपात से व्यक्ति अपना संतुलन, सामञ्जस्य तथा अनुकूलन करता है। मौलिक रूप से यह सामाजिक प्रवृत्ति है। इसकी झलक हमें कुटुम्ब, ग्राम तथा राज्य इन तीन संगठनों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। कुटुम्ब में माता-पिता द्वारा बच्चों का भरण-पोषण होता है; कई परिवारों के सामूहिक प्रयास से गाँव बनता है और कितने असंख्य गाँवों की संचित अक्षय विचारनिधि के रूप में राज्य आता है। क्रमिक विकास की एक अनिवार्य श्रृङ्खला तो राज्य में आकर अंतिम रूप ग्रहण करती है। राज्य की परिभाषा करते हुये अरस्तू कहता है कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निर्मित संगठनों का दायरा बढ़ते-बढ़ते राज्य की परिधि छूने लगता है (जिस तरह जल की तरंगें धीरे-धीरे बढ़ती और किनारा छूने लगती हैं)।*

* "The state is a culmination of widening circles human associations based on human wants." Aristotle

इस भाँति राज्य स्वाभाविक, अनिवार्य तथा प्राथमिक संस्था है। व्यक्ति के पूर्ण विकास में राज्य का योगदान अपूर्व है और इसलिए व्यक्ति को अपना स्थान ठीक से समझना चाहिये। (State is an individual writ large) व्यक्ति का बृहत् संस्करण राज्य में हुआ किन्तु अन्योन्याश्रय आधार पर। व्यक्ति के बिना राज्य तथा राज्य के बिना व्यक्ति शून्य, अपूर्ण, निरर्थक है। राज्य विभिन्न व्यक्तियों की पारस्परिक अभिव्यक्ति तथा राजनीतिक सूक्ष्मबुद्धि का परिचायक बृहत् संघ (Political Koimonia) है। इस राज्य की उत्पत्ति निसर्ग-जन्य अथवा मनुष्य की परिष्कृत बुद्धि और प्रकृति द्वारा सम्भव हुई इसलिये यह राज्य स्वाभाविक है इसके अभाव में जीवन-धारण असम्भव हो जाये इसलिये यह आवश्यक है, अनिवार्य है। अच्छा, अधिक अच्छा अथवा सबसे अच्छा जीवन बनाने के लिये ही राज्य का अस्तित्व है, उसकी सार्थकता है। इस अवसर पर अरस्तू ने परिवर्तनशीलता का नियम भौतिक तत्वों के स्वरूप में निरूपित किया है जो प्रत्येक कण को प्रभावित किये है। पदार्थों में यह परिवर्तन अपदार्थ की ओर बढ़ता है अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। अरस्तू ने पदार्थों की दस श्रेणियाँ (Categories)* मानी हैं जो पदार्थ निर्धारण के विधेय (Predicates) हैं। इनमें द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध, देश, काल, स्थिति, अवस्था, क्रिया और भोग हैं। प्राकृतिक या कृत्रिम वस्तु-निर्माण के लिये चार तरह के कारण बताये गये हैं। भौतिक (Material), प्रभावक (Efficient), औपचारिक (Formal), प्रधान या अन्तिम (Final)। तो यह अन्तिम कारण ही पदार्थ का सूक्ष्मतम सार-तत्व है, अतएव वांछनीय है।†

---

*१-ऊसिया अथवा ती एस्ति = पदार्थ अथवा जो है, २—पोसॉन् = कितनी, मात्रा, ३—पोइयान् = कैसा, गुण, ४—पोसति = सम्बन्ध, ५—पू = कहाँ, स्थान, ६—पोतें = कब, समय, ७—केइस्थाइ = स्थिति, ८—एरखेइन् = अधिकार, रखना, ९—पोइयेन् = कर्तृत्व, १०—प्रोस्टवेइन् = कर्म।

अरस्तू की राजनीति—भोलानाथ शर्मा, (पृष्ठ २०)

†भारती दर्शन में चार कारणों का उल्लेख है :—समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्त कारण, लक्ष्यकारण। जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी समवायी है, कुम्हार के मन में घड़े के आकार की कल्पना असमवायी है, कुम्हार, चक्का, डंडा आदि निमित्त हैं, पानी भरना लक्ष्य है।

अरस्तू के संतुलित दृष्टिकोण में तथ्यों की विलक्षणता, विविधता और उनके आधारभूत नियमों का व्यापक अन्वेषण किया गया है। प्राणिमात्र के प्रति अनुराग रखना और उसके किसी अंग की उपेक्षा न करना उसकी दृष्टि से आवश्यक कर्तव्य है। भोजन और प्रजनन की प्रकृति समस्त प्राणियों में है। जीवों के अंग-सादृश्य के आधार पर पूरे प्राणिजगत् की एकता का आभास होता है। उसके अनुसार प्रकृति के मनन, 'विकास की सीमाएँ अस्पष्ट किन्तु अनवरत हैं। जड़ जगत् से वनस्पति जगत्, वनस्पति से प्राणिजगत्, प्राणि से मानव-जगत् में क्रमशः परिवर्तन थोड़ा-थोड़ा होता गया। यह प्रकृति का उत्क्रान्तिक्रम है। इसकी प्रेरणा बाह्य न होकर आन्तरिक उद्देश्य की सत्ता में है जिसे 'एन्तेलेखी' कहा गया है। अरस्तू ने पराविद्या (मेटाफिजिक्स) को श्रेष्ठ माना है क्योंकि इसमें कार्य-कारण भाव की खोज होती है और मौलिक सिद्धान्तों का परीक्षण-स्थापन होता है। जगत् की सब गतियों और आकृतियों के मूल में ३ तत्व होते हैं :—आदिकारण, सत्ता-तत्व, नित्य-अशरीरी-गतिशून्य तत्व। सत्ता के अनुसन्धान में पदार्थ की प्रधानता है। पदार्थ का व्यक्तिगत तत्व है, सत्ता-काल में परिवर्तित होते हुए भी वहीं रहता है—भौतिक तत्व, आकार, गुण आदि का संयोग उसमें बना रहता है। पदार्थ के आकार को 'आइडास' (फार्म) कहा जाता है। किसी भी पदार्थ में प्रकृति और आकृति—मेटर और फार्म—का सम्बन्ध स्थिर या स्थायी नहीं है। प्रत्येक विकृति आगे विकसित होने वाली विकृति (विशेष आकृति) के लिये प्रकृति हो जाती है। यही द्वन्द्वात्मक विकास है जिसकी स्थापना अरस्तू ने हीगेल और मार्क्स से हजारों साल पहले की। वनस्पति, जीव, मानव सब में प्रकृति-विकृति का सिलसिला चलता है। परिवर्तन के यही चार कारण हैं-(१) मेटीरियल काज (तो एक्स हू)= समवायी कारण, वह पदार्थ जिससे कोई वस्तु बनती है। (२) फार्मल काज अर्थात् वह नियम जिसके अनुसार कोई वस्तु विगलित या निर्मित हुई है। (३) एफीशियेन्ट काज (तो होथेन्)—कर्ता या शक्ति जो परिवर्तन को गति-प्रदान करता है। (४) फाइनल काज (तो हू हेनेका)—चरम कारण जो समस्त प्रक्रिया का परिणाम है। सभी संकल्पित कार्यों में मूलभूत निमित्त कारण तो कर्ता का संकल्पित उद्देश्य अथवा विचार होता है और वह विचार तो स्वयं गतिमान नहीं होता। गति रहित निमित्त कारण का पदार्थों में गति को प्रेरणा देना अरस्तू का अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। गति के अनेक प्रकार हैं, जैसे :—संभूति, विनाश, अन्यथाकरण, वृद्धि, हानि, सरल या वर्तुल देशान्तरीकरण। गति को वह सतत और शाश्वत मानता है और सृष्टि को भी शाश्वत स्वीकार

करता है । गति-सातत्य के लिये गति को नित्य प्रेरणा देने वाले तत्व एवं ऐसे नित्य पदार्थ की आवश्यकता है जिसमें नित्य गति की सत्ता बनी रह सके । जिस पदार्थ में नित्य गति की सत्ता रहती है, मेटर है । नित्यगति से मेटर में उत्तरोत्तर विशिष्ट आकारों का प्रादुर्भाव हुआ करता है । जो तत्व इस गति को प्रेरणा देता है वह ईश्वर (थियोस) है । यही अप्रेरित आद्य प्रेरक (हो ऊ किनूमेनन् किनेई) है । यह ईश्वर जगव्याप्त न होकर संसार के संसरण अथवा प्रक्रिया से परे नितान्त निर्लिप्त है । ईश्वर की सत्ता सर्वोत्तम, शाश्वत, आनन्दमय, सजीव, चिन्मय, प्रेरक है । इस प्रकार की धारणा शुद्ध आकृति (Idea) के सिवाय कुछ भी नहीं है । प्लेटो की विश्व-आकृति (World idea) की जगह अरस्तू ईश्वर की शुद्ध आकृति का पक्षपाती है । बात एक ही है, आडम्बर अलग-अलग हैं ।

समग्र दार्शनिक चिन्तन और ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य है मानव-जीवन की उन्नति, मनुष्य के सुख की वृद्धि । मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों की छाया सामाजिक क्षेत्र में पड़ती है अतः नीतिशास्त्र और राजनीति शास्त्र का पृथक्-पृथक् अध्ययन करते हुए भी हमें मानव के समन्वित स्वरूप से परिचित होना चाहिये । व्यावहारिक जगत में सर्व श्रेष्ठ कला राजनीति है क्योंकि यह अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिये अन्य सब कलाओं द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं का उपभोग करती है । यही सबको मार्ग-निर्देश भी देती है । सद् बुद्धि, सच्चरित्रता और सदाचरण का आभास राजनीति का अभीष्ट है । सच्चरित्रता और सत्कर्म का निर्णय करने के लिये मध्यम मार्ग (मेसातेस्) का निरूपण किया गया है । आत्म-प्रकाशन में गर्वोक्ति और हीनता या आत्मावसादन के स्थान पर यथार्थ तथ्य की अभिव्यक्ति करना मध्यम मार्ग है । साहस, उदारता, संयम, सत्यपरायणता, स्वाभिमान आदि मध्यममार्गीय गुण हैं । मनुष्य संकल्पों के लिये स्वतन्त्र है और अपने कार्यो के लिये स्वतः उत्तरदायी है । मध्यमार्गी प्रवृत्ति से ज्ञान चिन्तन, कला-चिन्तन, आत्म-चिन्तन और ईश्वर-चिन्तन की स्वाभाविक प्रगति होती है ।* व्यक्ति की समस्त चेतनाओं, क्रियाओं, कल्पनाओं की अन्तिम परिणति राज्य के रूप में अनिवार्यतः होती है ।

दास प्रथा : पक्ष-विपक्ष :

यूनान का आर्थिक ढाँचा इस तरह बना था कि भूमि का स्वामित्व आभिजात्य वर्गो या कुलीन परिवारों के हाथ में था जो परिश्रम नहीं कर सकते थे ।

*अरस्तू की राजनीति—भोलानाथ शर्मा, पृष्ठ २३-२३

उत्पादन के लिए श्रमिकों का बड़ा दल उनके अन्तर्गत रहता जो भूमि पर जी तोड़ परिश्रम करता। उन्हें पालने-बचाने का दायित्व उच्च वर्गों तथा राज्य पर था। इन श्रमिकों में अधिकांश दरिद्र व्यक्ति, भृत्यजीवी, युद्धबन्दी सैनिक अथवा परास्त विद्रोही और उनके परिवार के सदस्य थे। बाहरी देशों से पकड़ कर भी इन्हें लाया जाता था। दासों की विशाल सेना वास्तव में राष्ट्र की सम्पत्ति मानी जाती थी क्योंकि इनकी मिहनत पर ही सारा देश जीता था। दास-प्रथा इस तरह उचित, आवश्यक तथा उपादेय थी। कुछ लोगों ने मानवता के नाम पर इस प्रथा का विरोध किया। लेकिन अरस्तू ने राष्ट्र की मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये इस दास-प्रथा का अनुमोदन किया। यथार्थवादी तथा व्यावहारिक विचारक के नाते केवल भावनाओं के तीव्र स्वर से घबराकर राष्ट्र का उत्पादन कम करने अथवा जटिलता—कठिनता बढ़ाने का वह पक्षपाती नहीं था। पॉलिटिक्स के प्रथम अध्याय में उसने इस प्रथा पर विचार प्रकट करते हुए यह सिद्ध किया है कि दास अपने स्वामी के संरक्षण में परिश्रम करते हुए अपना जीवन सफल-सार्थक बना सकता है, स्वामी की विशेष अनुकम्पा से सुख-सुविधा प्राप्त कर सकता है और धीरे-धीरे दासत्व से मुक्त भी हो सकता है। बौद्धिक असमानता, भौतिक विषमता और शारीरिक क्षमता के आधार पर ही यह दास-स्वामी सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ है। स्वभावतः दासप्रथा नैतिक मूल्यों पर निर्भर है (Natural and ethical Value)। स्वामी का कर्तव्य है दासों के प्रति स्नेहपूर्ण, दयालु रहना और दास का काम है उत्पादन करना, स्वामी की आज्ञा मानना। दास के बिना स्वामी और स्वामी के बिना दास निरीह, असहाय, संत्रस्त रहेंगे इसीलिए इनका होना अनिवार्य है। शारीरिक पृथकत्व होने पर भी दास स्वामी के शरीर का ही अंग या जीवांश है।* इसी आधार पर अरस्तू ने पारस्परिक दायित्व (Vicarious liability) का सिद्धान्त भी बताया। दास अपनी मुक्ति (emancipation) के प्रयत्न अपने उत्कृष्ट सद्व्यवहार से कर सकता है लेकिन उसका कल्याण इसी में है कि वह अपना काम ठीक से करता रहे, जहाँ है वहीं बना रहे। दासों के परिवार के सदस्यों को भी इस अभिशाप से मुक्ति नहीं मिल सकती थी। उत्पादन का क्रियात्मक साधन होने के कारण सजीव सम्पत्ति के रूप में दास-प्रथा न्यायोचित तथा श्लाघ्य ठहराई गई। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह दास-प्रथा

---

*'A slave is an animated part of master's body though physically separate.' (Aristotle)

बड़े लम्बे अरसे से चली थी और यूनान के राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख संस्थान बन चुकी थी।

दास-प्रथा के समर्थन में अरस्तू ने जो भी कहा उसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण ही प्रमुख था। मध्यम मार्ग का पालन करते हुये उसने दासों को प्रेरणा दी और स्वामियों पर प्रतिबन्ध लगाया। विजित देशों को बलपूर्वक सामूहिक दास बनाने के विधि-सम्मत अधिकार का विरोध करके अरस्तू ने कुछ सुधार भी किया। उसके पूर्व ही साफिस्ट आल्सीडेमस तथा सिनिक विचारक दास-प्रथा का जबर्दस्त खण्डन करते थे किन्तु वे मूलतः अराजकतावादी थे क्योंकि उनकी बातों में आर्थिक ढाँचे के टूट जाने का संकेत था। इस तरह अरस्तू ने दास-प्रथा का औचित्य बनाने में एक प्रणाली को अनुमोदन सिद्ध (Rationalisation) किया है। अरस्तू के इन विचारों में भ्रान्ति अथवा संकीर्ण मनोवृत्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। बौद्धिक असमानता का निर्णय देते हुए अरस्तू दासों को बुद्धिहीन तथा स्वामी को विद्वान् सिद्ध करता है। यह धारणा निर्मूल तथा एकदम गलत है क्योंकि आज तक भी ऐसा कोई निश्चित मापदण्ड नहीं निकला है जो सूक्ष्म बुद्धि का इस भाँति विभाजन करे, दूसरे बुद्धि का विकास शिक्षण, अभ्यास, परिस्थिति आदि पर भी निर्भर है। जन्मना दास अथवा जन्मना स्वामी मानने का सिद्धान्त वास्तव में निराधार, अनुचित तथा अन्यायपूर्ण है। दासों का जीवन पशु तुल्य बताते हुये स्वामी के साथ पारस्परिक दायित्व का निरूपण विचित्र विरोधाभास है। इसी तरह स्वामी का दास को मित्र अथवा हितैषी समझना मनोविज्ञान के प्रत्यक्ष सत्य का खण्डन है। शारीरिक दासता की विपरीत तथा भयानक मानसिक प्रतिक्रिया होती है और दास का आत्म-समर्पण भले हो आत्म-विसर्जन नहीं हो सकता। बुद्धिहीन कहने के बाद दास को मुक्ति के प्रयास करने की शिक्षा देना भी असंगत बात मालूम होती है। इस विवेचन से यह मालूम होता है कि मानो यूनान के बड़े जेलखाने में जनता का विशाल बहुमत आजन्म कारावास पा रहा हो (किसी अज्ञात अपराध अथवा मनुष्यकृत जीवन्त अभिशाप के कारण ?) और जेल के संरक्षकों से उनकी इतनी मुहब्बत हो कि न वे छूटना चाहते हों और न वे छोड़ते हों।

सारांश यह कि किसी भी आधार पर इस दास-प्रथा का समर्थन करना स्वतन्त्र-चिन्तन अथवा समता-स्वाधीनता का निषेध है।

दासों को नागरिक अधिकार नहीं दिये जाते। उसी तरह विदेशी भी इन अधिकारों से वंचित हैं। कुछ अन्य वर्ग भी जिनके पास यथेष्ट सम्पत्ति नहीं है नागरिक अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं। श्रमजीवी या भृत्यजीवी वर्ग को राज्य-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं है। अरस्तू ने राज्य को नागरिकों का समूह तो माना किन्तु नागरिक की परिभाषा निषेधात्मक रूप से दी। उसके अनुसार विदेशी और दास नागरिकता नहीं प्राप्त कर सकते। न्यायालय में वादी-प्रतिवादी बनने अथवा राज्य पाने पर भी नागरिकता नहीं मिलती। मताधिकार छिन जाने पर अथवा राज्य से बहिष्कृत होने से नागरिकता नहीं मिल सकती। वंशानुक्रम से प्राप्त अधिकार के रूप में नागरिकता स्थिर नहीं है। तात्पर्य यह कि अरस्तू सामाजिक-राजनैतिक जीवन में समस्त नागरिक अधिकार पात्र-अपात्र का ध्यान रख कर बाँटना चाहता है किन्तु ऐसा करने में वह निश्चित सुस्थिर मत नहीं पाता और इसलिये समाज में नागरिकता केवल उन हाथों की वस्तु रह जाती है जिनमें पहले थी। यह नागरिकता अरस्तू के अनुसार सक्रिय, गतिशील नागरिकता है जिसमें राजनैतिक विचार के साथ कार्य-क्षमता भी है (Arisotle's Citizen is an active agent capable of political Speculation and participation)।

क्रान्ति : निदान तथा निराकरण :

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति केवल सामान्य परिवर्तन नहीं बल्कि राज्य के ढाँचे में परिवर्तन है। यह राजनैतिक परिवर्तन ऐतिहासिक कारणों से प्रेरित होता है। प्रत्यक्ष वस्तुगत यथार्थता का निर्मम नियम व्यक्ति को, उस स्थिति में जब वह अपनी आशा-आकांक्षाओं को अवरुद्ध तथा कुण्ठित पाता है, विकट संघर्ष की ओर ले जाता है। सामाजिक जीवन में ऐसी स्थितियाँ आती हैं लेकिन उनका कोई क्रमागत आधार नहीं है। प्लेटो ने उत्थान-पतन का साधारण नियम बताते हुये चक्रगति का सिद्धान्त निश्चित किया। अरस्तू ने अनुभवजन्य ज्ञान द्वारा निष्पक्ष दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया। क्रान्ति के स्वरूप अलग-अलग होते हैं, सामान्यतः ४ हैं :—राज्य के संविधान में परिवर्तन, राज्य-शक्ति का हस्तान्तर (बलपूर्वक क्रान्तिकारियों द्वारा सत्ता-अपहरण), आभिजात्यतंत्र अथवा प्रजातंत्र की विकृति, किसी संस्था विशेष अथवा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का अन्त। इस तरह के परिवर्तन मनुष्य के स्वभाव, इरादों, अवसरों तथा कारणों पर निर्भर करते हैं। किसी भी क्रान्ति में विनाशकारी तत्वों की प्रधानता रहती है। समाज के विकार के रूप में हमें

क्रान्ति की बीमारी का निदान करना चाहिये ताकि उसका ठीक से उपचार हो सके।

क्रान्ति के कारणों की खोज करते हुये अरस्तू ने कई बातें बताई हैं। पद तथा प्रतिष्ठा का मोह, अहंकार, अतिशय व्यक्ति-सम्मान, आतंक-घृणा, असमान-विषम तत्वों की अभिवृद्धि, निर्वाचन-षड़यंत्र, व्यक्तिगत स्पर्धा-विद्वेष, दलबन्दी, राज्य का अनावश्यक-असंतुलित विस्तार, बाहरी जातियों का आगमन निर्गमन, असमानता की मनोवृत्ति, पद-वितरण में पक्षपात आदि क्रान्ति कारण हुआ करते हैं। यदि उचित प्रतिनिधित्व तथा लाभकारी पदों का समान वितरण हो तो अपेक्षाकृत कम अवसर क्रान्ति के आते हैं। कभी-कभी स्वतःस्फूर्ति क्रान्ति (Automatic revolution) भी भड़क उठती है। लेकिन इन सबको रोका जा सकता है यदि परिस्थिति बिगड़ने के पहले ही सँभाली जावे। सतर्कता, दूरदर्शिता तथा सम्यक् ज्ञान द्वारा इनके कारणों की छान-बीन करके क्रान्ति का निराकरण किया जा सकता है। राज्यों में विकार किस भाँति प्रवेश कर जाते हैं इसका भी ध्यान रखना चाहिये। जनतन्त्रों में भड़काने वाले उपद्रवी तत्व (demagogues) उनका विनाश करते हैं, उच्च वर्गों तथा धनिकों के विरुद्ध लोगों को उकसाकर। धनिक कुलीन तन्त्र में धनिक वर्ग की अकर्मण्यता, अयोग्यता, प्रतिस्पर्धा तथा दमनकारी शासन द्वारा क्रान्ति होती है। उच्चवर्ग तन्त्र में समूह तन्त्र तथा धनिक वर्गों का वेतुका मेल रहता है (maladmixture) और बौद्धिक मतभेदों की तीव्रता रहती है। राज्यतन्त्र अत्याचार तथा दुराचरण के फलस्वरूप विघटित हो जाता है। इन हालतों में बुद्धिमत्तापूर्ण कूटनीतिक उपायों द्वारा क्रान्ति का निरोध करना चाहिए।

क्रान्ति के विरोधात्मक उपायों का वर्णन करते हुये अरस्तू का कहना है कि किसी एक व्यक्ति या वर्ग के हाथों सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण नहीं होने देना चाहिये। विभिन्न वर्गों का विचार करते हुये उनमें सन्तुलन बनाये रखना चाहिये। राजनीतिक संतुलन (Political equilibrium) बनाये रखना ही राजनीतिज्ञता है। पद, लाभ, सम्मान आदि निष्पक्ष दृष्टि से अधिक से अधिक लोगों को दिये जावें जिससे संतुष्ट वर्गों की सृष्टि हो। भ्रष्टाचार,, घूसखोरी, पक्षपात, बिरादरीवाद आदि का उन्मूलन करना चाहिये। संविधान के अनुरूप जनता में नागरिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हुये आदर सद्भावना आदि जाग्रत करना चाहिये। क्रमानुसार समता का सिद्धान्त मान लेने से सामाजिक ढाँचे में स्थायित्व आता जाता है (Stability through

proportionate equality) । शासकीय कार्यों में बहुमत अथवा अल्पमत को सामान्यतया बराबर अवसर देना चाहिये । प्रशासकीय आन्तरिक विवरणों तथा आय-व्यय साधनों का ध्यानपूर्वक अध्ययन, निरीक्षण तथा नियंत्रण करना चाहिये । न्याय प्रदान में पक्षपात नहीं करना चाहिये तथा न्याय वितरण में भलाई का विचार रखना चाहिये । बाह्य आक्रमण रोकने के लिए पर्याप्त सुरक्षा तथा सैन्य-व्यवस्था होनी चाहिये । संविधान, शासनतन्त्र तथा समाज-व्यवस्था के प्रति सन्तोष समादर का भाव रखना चाहिये । साथ ही उद्दंड तथा अनियंत्रित तत्वों पर सतर्कतापूर्ण दृष्टि रखनी चाहिये (vigilant watch over recalcitrant elemants) । उपर्युक्त कार्यों से बहुत सम्भव है क्रान्ति की व्याधि रुक जावे । इस तरह क्रान्ति के लिये निवारक तथा उपचारक (Preventive and curative) दोनों साधनों का प्रयोग करके प्रारम्भ में ही दबा देने की क्रिया का अवलम्ब लेना चाहिये । इस विश्लेषण से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि अरस्तू यथास्थितिवादी अथवा क्रान्ति विरोधी है । वह तो एक अच्छी स्वस्थ व्यवस्था बनाये रखने के लिये साधारण स्वास्थ्य के नियममात्र बताता है । अपनी पितृव्य परम्परा के अनुकूल इस दिशा में उसने एक डाक्टर (चिकित्सक) का ही काम किया है ।

आधार और आदर्श :

अरस्तू प्रगतिशील मध्यमवर्गीय उदारवाद (Progressive middle class liberalism) का प्रवर्तक था उसके अनुसार प्रजातन्त्र का बहुमत पर आधारित विवेकभ्रष्ट, बहुसंख्यक जनसमाज और शासन खतरे से खाली नहीं था । एक ओर जहाँ दरिद्र जनता हो, सर्वहारा वर्ग हो और दूसरी ओर मुट्ठीभर अमीर-उमरा हों, सम्पन्न वर्ग हो वहाँ मध्यमवर्ग का होना सन्तुलन और सन्मवय के लिये आवश्यक है । मध्यमवर्ग ही शासन की बागडोर श्रेष्ठता के आधार पर संभाल सकने में समर्थ है । यह मध्यमवर्ग उच्च आकांक्षाओं और आदर्शों से युक्त गुणग्राही समाज है जबकि आभिजत्यतन्त्र या सर्वहारा वर्ग उग्रता की सम्भावनाओं से युक्त है ।* दूसरे शब्दों में वह वर्गों के अस्तित्व

---

* Aristotle despised plutocratic or redical aristocracy and pau perised proletarist and pleaded for a strong powerful progresive middle class to bring about an equilibrium between the rich and the poor.

—political Legacy of plato & Aristotle by R. K. Mishra—page 214-215.

पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए वर्ग समन्वय (Conciliation of classes) का पक्षपाती है। राज्य का लक्ष्य निश्चय ही वर्गविहीन होना चाहिये। अरस्तू की अध्ययन-पद्धति की मौलिकता एक दूसरा उत्कृष्ट गुण है जिसके कारण वह अन्य दार्शनिकों से अधिक क्षमतावान् सिद्ध हुआ है। आन्केन (Oncken) के शब्दों में वह राजनीति विज्ञान की सही पद्धति का जन्मदाता है। इसके अनुसार तथ्यों के पर्यवेक्षण, संग्रह, विश्लेषण, तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ही परिणामों या निष्कर्षों का विचार होना चाहिये और प्रत्येक तथ्य के स्वाभाविक विकास क्रम का तर्कपूर्ण अनुशीलन होना चाहिये। सत्य के अन्तिम, सार्वभौम, निरपेक्ष रूप को आग्रहपूर्वक स्वीकार करना या उस पर अड़े रहना बौद्धिक जड़ता होगी। उसके परिवर्तनशील सापेक्ष, सीमित रूप को ग्रहण करना खुली बुद्धि का सूचक है। इस दृष्टि से हम पूर्णता या निश्चित मतवाद (Perfection and certainty) का निषेध करके सम्भावना या सत्य सामीप्य (Probability and approximate truth) की ओर बढ़ते हैं जिसका ठीक ढंग से सत्यापन (Verification) किया जा सकता है। अरस्तू की इस विचार सरणि को सोद्देश्य प्रणाली (Technological method) कहा जाता है। इसके अनुसार किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये इसके विकास का प्रत्येक स्तर पर विश्लेषण करना चाहिये। जैसे मनुष्य का स्वभाव समझने के लिये उसके जीवन की प्रमुख प्रवृत्तियों, क्रियाओं और समाज या राज्य के परिवेश को समझना आवश्यक है। स्वरूप की अपेक्षा स्वभाव पहिले से मौजूद है और प्रकट शक्ति की अपेक्षा सम्भावना अधिक पहले मौजूद है (The end or nature is prior to the form, as potentiality is prior to actuality)। भौतिक तत्वों का सही अर्थ समझने के लिये उनके उद्देश्यों और लक्ष्यों पर दृष्टिपात करना चाहिये। इस सिद्धान्त से भाग्यवादिता का समर्थन होता है और विज्ञान के क्षेत्र में इसका प्रयोग लाभदायक नहीं हो सकता। इसके सिवाय अरस्तू ने ऐतिहासिक पद्धति पर भी अधिक जोर दिया है।

अरस्तू के आदर्शराज्य की कल्पना इन्हीं उद्देश्यों और ऐतिहासिक विकास-क्रम के अन्वेषण का परिणाम है। सर्वप्रथम वह राज्य के भौतिक आधारों का पूरा समर्थन करता है और जनता की समृद्धि तथा उसके स्वास्थ्य पर विचार करता है। इनके अभाव में आदर्श राज्य की कल्पना निराधार है। इसी कारण वह भौतिकवादी दृष्टिकोण (Matarial basis) का समर्थक है। दूसरे वह राज्य की सोद्देश्यता पर विचार करते हुए उसे अच्छे जीवन—सुख-सुविधापूर्ण

जीवन का एक उपकरण या साधन मानता है (The state exists not for the sake of mere life, but for the sake of good life)। राज्य स्वाभाविक और नैतिक संगठन होते हुए भी जन-कल्याण का एकमात्र साधन है; बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य (techno-logical basis) का संरक्षक है तीसरे, राज्य का नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार (Ethico-psychological basis) है सहिष्णुता, बन्धुत्व समानता, सहयोग और सद्भाव जिनके कारण राज्य एक प्राणवान् संगठन बनता है। चौथा, राज्य का व्यावसायिक अथवा कार्यप्रधान आधार है (Functional basis) जिसके अनुसार श्रम और सहयोग के आधार पर लोग अपने-अपने व्यवसाय में लगे रहते हैं।

कार्यों का विभाजन होता है और व्यक्ति विशेषज्ञ बनकर अपनी प्रतिभा से सामाजिक समृद्धि करते हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी मनुष्य को सांस्कृतिक विविधता और मुक्तजीवन की सच्ची अनुभूति होनी चाहिये। अन्यथा घातक एकरूपता उसे नीरस और निस्तत्व बना सकती है। अरस्तू के आदर्श राज्य में धर्माचार्य, विधायक और प्रशासक, सैनिक, पूंजीपति, उत्पादक और शिल्पी ये ६ वर्ग हैं (Priests, legislators and administrators, miltia, capitalists, producers and artisans)। इनमें से प्रथम चार वर्गों को नागरिक अधिकार दिये हैं। इस तरह अरस्तू श्रमिक उत्पादकों और शिल्पियों के प्रति अनुदार हो गया है। प्रो० बार्कर के अनुसार अरस्तू के इन वर्गों में एक स्तर से दूसरे स्तर या वर्ग तक बढ़ने की प्रवृत्ति बराबर रही है और कभी भी कठोर नियम के रूप में इसका पालन नहीं किया गया है। अरस्तू के इन विचारों में पर्याप्त भ्रान्तियाँ भी हैं क्योंकि कभी नहीं। अन्तिम वर्गीकरण सम्भव पाँचवाँ आधार भौगोलिक (geographical basis) है जिसके अनुसार क्षेत्रफल, जनसंख्या और खाद्य सामग्री में निश्चित अनुपात रहते हुए आत्मनिर्भरता या स्वावलम्बन की प्रवृत्ति जागृत होती है। भूमि का वितरण व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ढंग पर होना चाहिये। उदार, धार्मिक, दानी व्यक्तियों के पास वैयक्तिक भूमि रह सकती है परन्तु भूस्वामित्व सामूहिक होना श्रेयस्कर है। नगरों की योजना पूरी मोर्चेबन्दी के साथ होनी चाहिये और उनमें सभी तरह के साधन होने चाहिये (Strategically planned cities)। छठवाँ आधार सामाजिक और आर्थिक हैं (Socio-economic basis) जिसमें स्त्री-पुरुष, सम्पत्ति, परिवार, स्वास्थ्य, वितरण-उपभोग विनिमय आदि पर विचार किया गया है। महिलाओं की समानता का

समर्थन अरस्तू ने नहीं किया और उनके सम्बन्ध में उसके विचार काफी अनुदार और संकीर्ण हैं। सातवाँ आधार महत्त्वपूर्ण है और वह शिक्षा-सम्बन्धी (Educational basis) हैं जिसके द्वारा राज्य अच्छे नागरिक प्रशिक्षित करता है जो उसकी सब तरह से रक्षा करते हैं। सभी मनुष्यों को नागरिकता और बन्धुत्व की शिक्षा देना (Art of citizenship and fellowship) राज्य के लिये आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा नैसर्गिक और अर्जित प्रतिभा का समुचित उपभोग राज्य और समाज के लिये किया जाता है। प्लेटो की भाँति अरस्तू भी शिक्षा की वृहद् योजना सामने रखता है क्योंकि दोनों आखिर शिक्षा-शास्त्री ही थे।

इन सात आधारों पर कल्पित आदर्शराज्य प्रजातन्त्र की उपेक्षा ही नहीं करता वरन् उसके विरुद्ध स्थायी कदम उठाता है। फलस्वरूप यह थोड़े से व्यक्तियों के लिये ही आदर्श है, अधिकांश के लिये अभिशाप है। जन्म या जाति, अवकाश और संस्कृति के नाम पर भद्रसमाज या उच्चवर्ग हमेशा अपने अलग-अलग महल बनाता रहा है जो प्रत्येक क्रान्ति या विप्लव में गिरते रहे हैं। इतना ही नहीं उनमें स्वाभाविक रूप से विघटन और विनाश के बीज पनपते रहे हैं। भद्रलोग की शाश्वत वेदना से अपरिचित अरस्तू वास्तविकता के नाम पर अधिक प्रतिक्रियावादी और पुरातनपन्थी बन जाता है। इस राज्य में वह प्रजातन्त्र का शाब्दिक उल्लेख करता है। (Arisdemo or Democracy operating within aristocracy) किन्तु यह किसी भी अर्थ में सही प्रजातन्त्र नहीं कहा जा सकता। शायद इसीलिये अरस्तू ने एक वैकल्पित और गौण आदर्श की कल्पना की और मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले संवैधानिक राज्य को, जो प्रजातन्त्र का नरम या मुलायम ढाँचा है, अधिक उपयुक्त बताया (Polty or moderate democracy)। इसमें वह धर्म या न्याय की वितरित प्रणाली (Distrbutive justice) अपनाता है जिसमें राज्य के विभिन्न पद अलग-अलग प्रतिभा वाले योग्य व्यक्तियों को कुछ स्वीकृत या मान्य सिद्धान्तों के आधार पर दिये जाते हैं। सारांश में हम यह कह सकते हैं कि अरस्तू द्वारा आदर्श राज्य का अन्वेषण एक असंगत तो नहीं किन्तु दुस्साहसपूर्ण प्रयास है जिसमें कई परस्पर विरोधी विचारों का गट्ठा बन गया है (A bundle of contradictions)

स्वर्णिम मध्यम मार्ग तथा सर्वोत्कृष्ट राज्य :

उग्रता, उत्तेजना तथा अतिशयता से दूर रहने का परामर्श देते हुए अरस्तू ने मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मध्य वर्ग के लोग

जो अनियन्त्रित सर्वहारा वर्ग से अलग हैं तथा विलासी-भ्रष्ट उच्चवर्ग से भी दूर हैं, ठीक से शासनतन्त्र चला सकते हैं। एक ओर जहाँ दरिद्रता-अभाव के कारण पतन है, दासत्व है, वहीं दूसरी ओर धनबाहुल्य से दुर्गुण हैं, अहङ्कार हैं। इन दोनों पाटों में पिस जाने के बजाय मध्य मार्ग को राज्यशक्ति का नियंत्रण करना चाहिये। इसे अरस्तू ने स्वर्णिम मध्य मार्ग का शासन (Rule of the golden mean) कहा है क्योंकि इसमें एकांगी विचार अथवा पक्षपात को स्थान नहीं है तथा सर्वसुलभ न्याय-प्रणाली उपलब्ध है। राज्य के अन्तर्गत शासकवर्ग सर्वोच्च सत्ता वहन करता है और इस तरह राज्य (State) तथा शासन (Government) का अन्तर स्पष्ट होता है। अरस्तू के अनुसार राज्य नागरिकों का समूह है और शासन उन नागरिकों का वर्ग है जो शासन-सूत्र संचालन करते हैं। शासनतन्त्र परिवर्तनीय है और सत्ता हस्तांतरणीय। संविधान शासन का नैतिक विधान तथा घोषणापत्र है। राज्य के विभिन्न अंगों की व्यवस्था तथा संगति, अधिकार-विभाजन, संप्रभुता-निर्णय, राज्य के उद्देश्य आदि विषयों का समावेश संविधान में होता है। संविधान बदल देने से लक्ष्य, नीति-रीति सभी बदले जा सकते हैं। शासन का संगठन जन्म, सम्पत्ति तथा जनसंख्या पर निर्भर करता है। वस्तुत: जनता ही सर्वशक्तिमान् है किन्तु संप्रभुता कुछ व्यक्तियों की वस्तु नहीं, विधि-प्रधान संप्रभुता ही स्तुत्य है। शासन का उपयोगी तथा व्यावहारिक स्वरूप कभी-कभी उपेक्षा, भ्रान्ति तथा तिरस्कार से भ्रष्ट-विकृत हो जाता है। परिणामस्वरूप शासन के निम्न रूप बनते जाते हैं।

शासन का सामान्य स्वरूप	शासन का विकृत स्वरूप
१—राज्यतन्त्र (Monarchy)	१—निरंकुश राज्यतंत्र (Tyranny)
२—आभिजात्यतन्त्र (Aristocracy)	२—असमर्थ धनिक तन्त्र (Oligarchy)
३—प्रजातन्त्र (Polity)	३—समूह तन्त्र या भीड़तन्त्र (Democracy)

प्रजाराज्य में मध्यमवर्गीय प्राधान्य शासन में होने से अरस्तू ने उसे सर्वश्रेष्ठ बताया है, क्योंकि उसमें सभी वर्गों का सन्तुलन-समन्वय-सहयोग रहता है। समूहतन्त्र अथवा भीड़तन्त्र में सत्ता मूर्खों और धूर्तों के हाथ चली जाती है जिससे देश का नैतिक, बौद्धिक धरातल नीचे गिर जाता है। वंशपरंपरा के अनुसार आनेवाले शासक सद्गुणों से विभूषित तो हो सकते हैं लेकिन

सत्तामद की उत्कटता तथा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के कारण वे निरंकुश भी बन जाते हैं और फिर अत्याचारी राज्य बना डालते हैं। आभिजात्यतन्त्र में भी शासक सामान्यतया अन्य वर्गों की उपेक्षा करते हैं और अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में संलग्न रहते हैं। शासक वर्ग इस तरह एक कुत्सित परिधि में घूमता है और जनता संत्रस्त, असहाय और असहिष्णु हो जाती है।

अरस्तू ने राज्यों के भी ९ रूप माने हैं और उनकी प्रकृति के अनुसार उनका वर्गीकरण किया है—(१) आदर्श-राज्यतन्त्र, (२) निरंकुश-राज्यतन्त्र, (३) शुद्ध-आभिजात्यतन्त्र, (४) मिश्रित-आभिजात्यतन्त्र, (५) अयोग्य-धनिकतन्त्र (६) प्रजातन्त्र (माध्यमवर्ग प्रधान), (७) अयोग्य किन्तु सहिष्णु धनिकतन्त्र, (८) अतिसहिष्णु प्रजातन्त्र, तथा (९) उग्र-समूहतन्त्र। इनमें आदर्श तथा व्यवहार की दृष्टि से मध्यमार्ग का प्रेरक प्रजातन्त्र अथवा प्रजाराज्य (Polity) ही सबसे उत्तम व्यवस्था हो सकती है। इस वर्गीकरण के साथ ही प्लेटो की रचना 'लाज़' (The Laws) के आधार पर संविधान के मूलाधार भी अरस्तू ने निश्चित किये हैं। जनसंख्या, क्षेत्रफल, नागरिकवर्ग राष्ट्रचरित्र तथा शिक्षा-प्रणाली इन कसौटियों पर प्रत्येक राज्य को कहने पर ही वह उत्कृष्ट राज्य की विशद व्याख्या करता है। जनसंख्या इतनी हो कि आवश्यकताओं की पूर्ति में आत्मनिर्भर हो सके। क्षेत्रफल न अधिक बड़ा, न बिलकुल छोटा, उत्पादन योग्य भूमि का अभाव उसमें न हो तथा विदेशियों के लिये साधारणत: अप्रवेश्य हो। नागरिक वर्ग (सैनिक, धनिक, पुरोहित, शासक आदि) भूमि के स्वामी तथा राज्यनीति के प्रवर्तक हैं, उनमें विशेष दायित्व है राष्ट्ररक्षा का। अनागरिक वर्ग में श्रमजीवी, कृषक मजदूर तथा दासवर्ग हैं जो परिश्रम से राष्ट्र का उत्पादन बढ़ाते जाते हैं। राष्ट्रचरित्र ऊँचे स्तर का हो जिसमें यूनान के सद्गुण (दृढ़ता, उदारता, ओज, सौन्दर्य, कलाप्रेम, देशभक्ति, उपासना आदि) विद्यमान हों और जीवन को स्थायी प्रेरणा देते रहें। शिक्षा-प्रणाली राज्य का मेरुदण्ड हैं इसलिये नागरिकों को समुचित शिक्षा दी जानी चाहिये। राज्य के चरम आदर्श लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में शिक्षा का उपयोग होना चाहिये। शिक्षा द्वारा ही शारीरिक, मानसिक, सद्गुणों का प्रस्फुटन सम्भव है। साधारणत: शासक को तीन शाखाओं में विभक्त होना चाहिये; कार्यकरिणी, विधायिनी, न्यायप्रदायिनी।

इस तरह की कल्पना में अरस्तू ने अपने समय की सभी बातों का परस्पर विरोधी संग्रह कर डाला है और कभी-कभी मनोवैज्ञानिक सत्य के विपरीत भी वस्तुयोजना की है। स्वर्णिमपथ की कल्पना आदर्शप्रधान होने से कम व्यवहार्य

है और उसका स्वरूप सम्मोहक अधिक है, स्थायी कम। एक तरह से इस पथ का अवलम्ब असिधाराव्रत (तलवार की धार पर चलना) की तरह कठिन है। किन्तु इससे एक सार्वजनिक सिद्धान्त भी आगे चलकर निकला है। जो प्रजातन्त्र का प्राण कहा जा सकता है। संतुलन और नियमन का सिद्धान्त (Doctrine of Checks and Balances) आज के युग में अनिवार्य रूप से प्रयोगात्मक वाक्य है और शासनतन्त्र इस पर आधारित है। जिस प्रकार किसी परिवहन-सामग्री (Motor or Vehicle) को गतिशील तथा कार्योपयोगी बनाने के लिये ब्रेक (Brake) यथा एक्सीलरेटर (Accelerator) दोनों की आवश्यकता है उसी तरह शासन तथा समाज के लिये भी स्थिति तथा प्रगति दोनों जरूरी हैं। जनसंख्या की समस्या, सुरक्षा, भूमि-वितरण, शिक्षा-व्यवस्था आदि मौलिक प्रश्न भी आज अलग-अलग राज्यों के सामने हैं और अपने लक्ष्य की पूर्ति करने वाले राज्य इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते। अरस्तू ने उन प्रश्नों पर विचार करके भविष्य के लिये सोचने-विचारने का काम प्रारम्भ कर दिया। उसके क्रमबद्ध व्यवस्थित चिन्तन से आगे चलकर जटिल एवं कुटिल राज्यतन्त्र का पूरी तरह से विश्लेषण हो सका। स्वर्णिम मध्यमार्ग के आश्रय से ही आज हमें संसदात्मक प्रजातान्त्रिक प्रलाली (Parliamentary Democracy) का प्रचलन दिखाई देता है। शासन का वर्गीकरण, कार्य तथा शक्ति विभाजन, राज्य के उद्देश्य, नागरिक जीवन का विकास आदि बातें आज भी मान्य हैं, और उन पर गम्भीरता से विचार होता है। नागरिकों के सम्बन्ध में संकीर्ण तथा अनुदारवृत्ति अरस्तू में अवश्य है क्योंकि श्रमजीवियों के विशाल बहुमत को नगण्य-सा कर दिया गया है। कुल मिलाकर अरस्तू की कल्पना प्लेटो की अपेक्षा अधिक वास्तविक तथा उपयोगी है।

विधि, संप्रभुता, धर्म :

विवेकजनित आचरण के सामान्य नियम जो नैसर्गिक तथा उपयोगी हैं स्वाभाविक विधि के रूप हैं। स्वाभाविक विधि के अनुकूल जीवन-सुरक्षा तथा वृद्धि के लिये सामाजिक नियम और भी बनते जाते हैं और संचित ज्ञान-राशि के रूप में विधियों का स्वरूप धारण कर लेते हैं। स्वाभाविक विधि के प्रतिकूल विधान करने का अभिप्राय विनाशकारी तत्वों को प्रोत्साहन देना है। इसलिये विचारवान् विधि-निर्माताओं को स्वाभाविक विधि का व्यवधान मानते हुए विधि बनानी चाहिये। विधिप्रधान शासन भी श्रेष्ठ होता है क्योंकि इसमें व्यक्ति अथवा समूहविशेष के पक्षपात या दमन का प्रश्न ही नहीं उठता।

विधियों की मर्यादा शासक तथा शासित दोनों के लिये व्यवहार की सीमारेखा है और उसका उल्लंघन या अतिक्रमण दण्डनीय है। विधि की संप्रभुता स्वीकार करके अरस्तू ने आधुनिक राजनीतिक प्रवाह को बल दिया तथा निरंकुश शासन या बहुमत के अनुदारवादी शासन को दूर ढकेल दिया है। योग्य विद्वान व्यक्तियों को ही विधि-निर्माण से संलग्न रहना चाहिये। और स्वार्थों से ऊपर उठकर नीति-विधान करना चाहिये। प्रश्न यह अवश्य उठता है कि केवल स्वाभाविक संप्रभुता अथवा विधि का प्राधान्य मानने पर स्वाभाविक अधिकारों को कहाँ तक मान्य किया गया है? उस दिशा में अरस्तू मौन-सा है। स्वाभाविक अधिकारों की व्याख्या वह नहीं करता। अधिकारों का भाव सत्ता के प्रति आसक्ति तथा दूसरों के प्रति वितृष्णा प्रकट करता है जिसकी परिणति स्पर्धा, कलह तथा आत्म-श्लाघा होती है। इसलिये अधिकारों तथा स्वतन्त्र चेतना का संतुलित समन्वय होना चाहिये। शासक को सत्तामद में अन्धा नहीं होना चाहिये और उसी तरह प्रजा को स्वेच्छाचारिता से दूर रहना चाहिये। समता या समानता का भाव अरस्तू को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि सृष्टि के प्रत्येक तत्व में विविधता, विषमता, दूरी क्षमता तथा जटिलता जन्मजात है। मनुष्यों में शारीरिक मानसिक विभिन्नता भी सर्वत्र दर्शनीय है। इसलिये समता का नारा अराजक तत्वों को उभाड़ता है। स्वतन्त्रता तथा अधिकार के समन्वय से संविधान की निर्वैयक्तिक सत्ता का समादर होता है और नागरिक भी तटस्थ भाव से आज्ञापालन तथा विधिपूर्वक जीवनयापन का सिद्धान्त अपना लेते हैं।

संप्रभुता अथवा सर्वोच्च सत्ता के क्रमिक विकास और विधिगत पक्ष का विवेचन राजनीतिक दृष्टिकोण से आधुनिक देन है। यूनानी दर्शन में संप्रभुता की पूर्ण व्याख्या नहीं की गई है। हाँ, संप्रभुता के समीप पहुँचने का प्रयास अवश्य किया है और इस कार्य में अरस्तू भी उसकी खोज करता है संप्रभुता को स्वाभाविक विधि (Natural Law) पर आधारित किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि सर्वोच्च सत्ता न्यायानुमोदित हो, निरंकुश नहीं। जिन व्यक्तियों, वर्गों अथवा केन्द्रों में संप्रभुता निहित हो उन्हें सतर्कता तथा सावधानी से विधेयन-नियमन करना चाहिये। यह अनुचित है कि व्यक्ति इस सर्वोच्च सत्ता का दुरुपयोग अपनी स्वार्थ-लिप्सा तथा महत्वाकांक्षा की संपूर्ति में करे। यदि संप्रभुता एक व्यक्ति के हाथ में हो तो उससे अवहेलना होती है, यदि धनिकों के हाथ में हो तो स्वार्थ साधन होता है, यदि जनता अथवा दरिद्रों के हाथ हो तो, उत्पीड़न होता है। इसलिये सर्वोत्तम विचार यह है कि सत्ता सामान्य मध्यमवर्गीय प्रजा के हाथ में हो जिसके विकार या दमन कम से कम

हो। इस तरह न्यूनतम प्रतिकार की रेखा (Line of least resistance) की भांति संप्रभुता की मर्यादा स्वीकार कर ली गई है। लोकमत (Public-Opinion) के आकलन तथा अनुगमन का उल्लेख भी किया गया है किन्तु लोकप्रिय संप्रभुता नाम की कोई वस्तु जैसे है ही नहीं। यह अवश्य है कि अरस्तू को संप्रभुता की पूरी कल्पना नहीं है और इसका पूरा-पूरा विचार ठीक से उसके लेखों में उभरा नहीं है। संप्रभुता की स्थिति से ही राज्य का स्वरूप बनता-बदलता है। क्रांति के समय संप्रभुता की स्थिति बदलती है अथवा ज्यों की त्यों रहती है, केवल शासन परिवर्तन होता है।

धर्म के सम्बन्ध में प्लेटो ने बड़ा ही व्यापक तथा सर्वग्राह्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया था किन्तु अरस्तू ने उसकी सूक्ष्म व्याख्या की और आचार-सम्बन्धी व्यवहार-नियमों को अलग करते हुए धर्म को उपयोगी तथा अनिवार्य तत्व निरूपित किया। प्लेटो ने सद्गुणों के व्यावहारिक पक्ष तथा सक्रिय स्वरूप को। धर्म में विलयित किया था सौर अरस्तू ने भी धर्म से यही अर्थ ग्रहण किया। जिस प्रकार व्यक्ति के परिवार, गांव आदि अनेक संघों की संहिता राज्य के रूप में हुई, व्यक्ति के धर्म भी लोकधर्म, राष्ट्रधर्म या पूर्णधर्म के रूप में बढ़ते गये। अन्त में समाज के साथ नैतिकताप्रधान समन्वय करके व्यक्ति का समष्टिगत धर्म हमें प्राप्त हुआ यह धर्म-प्रेरक उद्बोधक, स्पृहणीय तथा ग्राह्य है। केवल यूनानी ही नहीं सार्वभौम जीवन का मूल आधार है। धर्म की व्याख्या भी विधियों पर आश्रित है और न्याय प्रणाली इस पर ही अवलम्बित है। न्याय प्रदान के कार्य से राज्य धर्म की प्रतिष्ठा बनाये रखना है। न्याय के दो सामान्य भेद स्वीकृत किये गये हैं वितरक और सुधारक। वितरक-न्याय से अभिप्राय धर्म के अस्तित्व-पक्ष की रक्षा करना, योग्यता का औचित्य से सम्बन्ध जोड़ना तथा समाज में इस प्रकार संतुलन रखना है। सुधारक-न्याय का मतलब अवरोधों को दूर करके अधर्म का निराकरण करके, समाज में व्यक्ति द्वारा हो जाने वाली गलतियों का सुधार करता है।

शिक्षा-सिद्धान्त :

जीवन में वास्तविक आनन्द की अनुभूति सद्गुणों से होती है और सद्गुणों की प्राप्ति शिक्षा का सब से बड़ा अनुदान है। शिक्षा के पुनीत कर्त्तव्य से राज्य अपने संरक्षण और स्थायित्व का मार्ग प्रशस्त करता है क्योंकि प्रशिक्षित, जागरूक, समर्थ व समझदार नागरिक ही किसी राज्य की वास्तविक सम्पत्ति हैं। शिक्षा के नैतिक मूल्यों और दार्शनिक पक्षों पर उसका आग्रह अधिक था।

"शिक्षा का उद्देश्य है आत्मिक क्रियाओं को उत्कृष्ट रूप में व्यक्त करना और व्यक्ति का संतुलित विकास करना।" मनुष्य को प्राकृतिक पशुता से उठाकर मनुष्य नाम का वास्तविक अधिकारी शिक्षा ही बनाती है। अतः प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज में शिक्षा की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। शिक्षा द्वारा समस्त नागरिक शासन-पद्धति के अनुकूल ढाले जाते हैं और शासन-पद्धति केवल पदों की सृष्टि या रचना न होकर राष्ट्र की जीवन-पद्धति भी है। अतः शिक्षा को राष्ट्राधीन या राष्ट्रायत्त होना चाहिये। शिक्षा की समूची व्यवस्था राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य है। स्वर्णिम मध्यम-मार्ग का प्रकाश व्यक्ति के जीवन में शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। शिक्षा वह आध्यात्मिक शक्ति है जो व्यक्ति का समाजीकरण करती है। (Education is a spiritualising force which socialises individuality)। शिक्षा का उद्देश्य राजनीतिक है अर्थात् व्यक्ति को राजनीतिक प्राणी के रूप में शिक्षित करना। दूसरे यह राज्य द्वारा नियंत्रित है। व्यक्तिगत या निजी तौर की संस्थाओं को स्थान नहीं है। यह अनिवार्य, निःशुल्क, स्वतन्त्र और सार्वभौतिक है, इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसका दृष्टिकोण नैतिक है और उच्चतर की उपयोगिता से युक्त है। शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिये। बुद्धि और स्वभाव का संस्कार करना प्रमुख लक्ष्य है। बुद्धि का विकास और शारीरिक सम्पदा बालकों के लिये आवश्यक है। वयस्कों के लिये बौद्धिक परिपक्वता और दृढ़ता चाहिये। इसका आधार राजनीतिक और प्रजनन शास्त्रीय भी होना चाहिये। साथ ही, शिक्षा को एकांगी न होकर विविध या बहुउद्देश्यीय होना चाहिये। प्रथा के अनुसार पढ़ना-लिखना गणित (Three R's), व्यायाम, संगीत और चित्रकारी आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है। पढ़ने के साथ ही जीवन में अवकाशकालीन क्रिया (Hobby) और चिन्तन को प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। ऐसी सामाजिक स्थिति आवश्यक है जिसमें श्रम और अवकाश का समुच्चय हो सके। संगीत की उपयोगिता असीम है।* कलाओं का स्थान कम महत्व का नहीं है। सारी शिक्षा समग्रमूलक अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रबुद्ध करने वाली होनी चाहिये।

अरस्तू की शिक्षा योजना ३ खण्डों में विभाजित है। प्रथम बालकों की शिक्षा जो जन्म से प्रारम्भ होकर ७ वर्ष की आयु तक चलती है। यह मुख्यतः माता-

---

* मुसाइयस् के अनुसार 'मर्त्य मानव के लिए संगीत है सबसे मधुर'—अरस्तू, पृ० ५२५, भोलानाथ शर्मा—

पिता के निरीक्षण में है किन्तु बालक को पूरा पोषण और स्वतन्त्र-स्वस्थ वातावरण मिलना चाहिये। द्वितीय स्तर पर ७ वर्ष से १४ वर्ष की आयु के बालकों की प्राथमिक शिक्षा है जिसमें शरीर और बुद्धि का साथ-साथ विकास होता है। तृतीय स्थिति में १४ से २१ वर्ष की आयु तक का पाठ्य-क्रम है जिसमें उच्च विषयों के साथ सैनिक शिक्षा भी शामिल है। शिक्षित व्यक्ति को अपना व्यवसाय चुनने और विशेषज्ञ बनने के लिये मुक्त छोड़ देना चाहिये। बार्कर के शब्दों में अरस्तू की शिक्षा-पद्धति प्लेटो की ही तरह होते हुये भी अधूरी और अव्यवस्थित है। प्लेटो के शिक्षा-सिद्धान्त इस दिशा में अधिक स्पष्ट और क्रमबद्ध हैं।

समीक्षा तथा समाहार :

अरस्तू का प्रभाव आज भी राजनीति, अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र, आचारशास्त्र मनोविज्ञान आदि क्षेत्रों में बना हुआ है और प्रत्येक विषय का प्रारम्भ उसके विचारों को लेकर होता है। यह दूसरी बात है कि इनकी मान्यता अथवा अमान्यता का प्रश्न सामने आता है। संचित ज्ञान आज अपनी परिपक्व अवस्था में है, दिन-पर-दिन नये विचार आते जाते हैं, कुछ त्याज्य हैं तो कुछ ग्राह्य। यह क्रम निरन्तर चल रहा है। इस क्रम को उचित परिप्रेक्षित में देखने की चेष्टा अरस्तू ने की इसीलिये वह इन सब शास्त्रों का जन्मदाता है। अरस्तू के विचार न केवल एथेन्स या अन्य नगर-राज्यों में बल्कि विरोधी राज्यों में भी मान्य रहे हैं। दासता, नागरिकता, नगर-राज्य की श्रेष्ठता आदि पर जो विचार अरस्तू ने दिये अपने समय में व्यावहारिक तथा सुलभ थे। यह अवश्य था कि उसकी दृष्टि भावी राज्यों की ओर न पड़ सकी। इसका कारण यह भी हो सकता है कि युग की भीषण समस्या ने अन्य बातों को तिरोहित कर लिया हो। फिर भी अरस्तू के विचार में सार्वभौम तत्व (Universality) विद्यमान हैं और उन्हीं तत्वों के कारण उसका अनुदान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

सारांश में अरस्तू ने वैज्ञानिक नीति-रीति का प्रचलन किया और पद्धति-विज्ञान (Methodology) को बुद्धिगम्य बनाया। स्वतन्त्रता तथा अधिकार के बीच संतुलन की बात कह कर मध्यमार्ग का उपदेश देना एक तरह से सहिष्णुता, उदारता, मानवता आदि उदात्त गुणों को विभूषित करना है। इन सद्गुणों को व्यावहारिक जीवन में उतार कर ही हम मानव-कल्याण के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते है। जनमत की प्रतिष्ठा बनाने के साथ ही विधि की मर्यादा तथा सीमित संप्रभुता का सिद्धान्त भी हमें अरस्तू से मिलता है। नियंत्रण तथा संतुलन का सिद्धान्त, समाज के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में स्वीकार्य है और

उसके फलस्वरूप विनाशकारी तत्वों का शमन किया जा सकता है। राज्य-शक्ति के विभाजन का सिद्धान्त जिसके अनुसार न्याय देने, कानून बनाने, कार्य-क्रम आगे बढ़ाने का क्रम अलग-अलग अंगों द्वारा परिचालित होता है अरस्तू के ग्रंथ में स्पष्ट है। अद्वैतवादियों ने जिस "प्रधान, सुनिश्चित, मानवीय, सत्ता" का अनुसंधान किया उनकी प्रारम्भिक खोज अरस्तू ने ही शुरू की थी। भौतिकवादी तत्वों का महत्व तथा आर्थिक कारणों का अन्तर्संघर्ष प्रस्तुत करके अरस्तू मार्क्स से बहुत पहले ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की झलक दिखाने लगता है। अर्थशास्त्र पर उसने विचार प्रकट करते हुये उसे पारिवारिक मंगल साधना का शास्त्र बताया, आचारशास्त्र को व्यक्ति के आचरण-व्यवहार का नियामक सिद्ध किया और राजनीति को जनकल्याण का आदि प्रेरक निरूपित किया। प्लेटो ने जहाँ इन विषयों पर संश्लिष्ट दृष्टिकोण अपनाया, अरस्तू ने विश्लेषणात्मक रीति से बातों को समझाया और युक्तिपूर्वक तर्कसम्मत व्याख्या की। व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रचार करने में भी अरस्तू का योग रहा। स्पष्ट, निर्भीक, सामयिक विचार, अकाट्य तर्क, सुविधाजनक व्यवहार-पक्ष, विद्वत्ता-पूर्ण विषय-प्रतिपादन आदि कुछ विशेषताएँ अरस्तू के चिन्तन में हैं।

आने वाले युग में तथा अन्य विचारकों में अरस्तू की छाप सुस्पष्ट दिखाई देती है। पालिटिक्स का लेटिन अनुवाद रोमन विचारकों द्वारा प्रस्तुत किया गया। धार्मिक विचारकों तथा रोमन आचार्यों ने अरस्तू का उल्लेख तत्वदर्शियों के गुरु के रूप में किया। सेण्ट टामस एक्वीनस (१२२५-१२७४) नामक दार्शनिक पादरी पर अरस्तू का प्रभाव पड़ा और उसने राज्य का जन्म, विकास, संचालन एक तरह के सामाजिक अनुबन्ध से सम्भूत माना। समाज को सर्वोच्च तथा स्थायी मानते हुये शासन को परिवर्तनीय बताया। मध्ययुगीन इस विचार-धारा का प्रभाव काफी समय तक रहा। राज्यों का वर्गीकरण, विधियों की विवेचना तथा वर्गीकरण, तथा धर्मसत्ता और राज्यसत्ता का स्पष्टीकरण इनमें अरस्तू का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अरस्तू के 'पालिटिक्स' पर व्यापक व्याख्या भी उसने लिखी (Commentaries on the Politics of Aristotle)। मध्यकालीन पोप तथा चर्च विरोधी विचारकों में मार्सिलियो आफ पेडुवा (Marsiglio of Padua) तथा विलियम ओकहम पर भी अरस्तू के निर्भीक भौतिकवादी विचारों की छाप है। मैकियावेली (१४६८-१५२७) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिन्स' में आचारशास्त्र और राजनीति का पृथक्करण करते हुये अरस्तू के पग-चिन्हों का अनुसरण किया। मांटेस्क्यू का शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त (Theory of Separation of

Powers) अरस्तू की मूलप्रेरणा पर निर्भर है। संप्रभुता सम्बन्धी विचारकों में जी बोदाँ (१५३०-१५९६), हेरिंगटन, आस्टिन (१७९०-१८५९) आदि अरस्तू की परम्परा के वाहक हैं। आदर्शवादी हीगेल (१७७०-१८३१) तथा ऐतिहासिक भौतिकवादी कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) भी अपने-अपने ढंग से अरस्तू के अनुग्रहीत हैं। हीगेल ने राज्य की अन्तश्चेतना की खोज की और मार्क्स ने आर्थिक तत्वों का ऐतिहासिक अनुसंधान किया। अरस्तू के बाद यूनान की विचारधारा में २ प्रमुख तत्वों का जन्म प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। एक तो सुखवादी एपीक्योरियन (Epicurean) विचारधारा जो मनुष्य के क्रिया-कलाप को मूलतः स्वार्थ पर आधारित मानती है। दूसरी विरक्तिवादी स्टाइक (Stoic) विचारधारा जो नैतिकता, परमार्थ, पारलौकिक जीवन, प्राकृतिक विधि, सार्वभौमिकता आदि पर विश्वास करती है। किन्तु धीरे-धीरे अरस्तू के विचार काफी अरसे के लिये विलुप्त से हो जाते हैं जब तक उनका पुनरुद्धार मध्य-युग में न किया गया।

प्लेटो तथा अरस्तू :

यों तो प्लेटो गुरु था एरिस्टाटल (अरस्तू) उसका अन्यतम शिष्य। लेकिन दोनों के विचारों में काफी अन्तर पाया जाता है। फिर भी इतना निश्चित है कि दोनों के विचार तत्वों में यूनानी विशेषता तथा सार्वभौम सत्य (The Hellenic and the Universal) पाये जाते हैं।

विचार-साम्य की दृष्टि से दोनों नगर-राज्यों के प्रति आस्था रखते हैं और उसकी अभिवृद्धि के लिए जागरूक हैं। नगर-राज्य की अखंड भक्ति के प्रवाह में उन्होंने विस्तृत राज्य, राष्ट्र, साम्राज्य, गणराज्य आदि को बिल्कुल भुला दिया है। दोनों राज्य को अनिवार्य तथा आवश्यक सिद्ध करते हैं। समाज के सावयव रूप (Organic) का समर्थन करते हुये दोनों यह बताते हैं कि व्यक्ति और समाज परस्पर आश्रित तथा आधारित हैं। सामाजिक कल्याण का मूर्तरूप व्यक्ति की हितसाधना में स्थिर करते हैं। दोनों ने आदर्श राज्य (सर्वोत्कृष्ट) तथा दूसरे दर्जे के राज्य की कल्पना की है। अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो के वांछनीय राज्य की तरह है। इस पर सिजविक (Sidgwick) का कथन है कि जहाँ प्लेटो समाप्त करता है वहाँ से अरस्तू प्रारम्भ करता हैं (Aristotle begins where Plato leaves off) साक्रेटीज तथा प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी साफिस्टों की भ्रामक तथा विघटनकारी विचारधारा का खण्डन किया। दोनों ने दासता का समर्थन किया और उसे अनिवार्य बताया। दोनों

ने ज्ञानानुभूति का समर्थन किया। दोनों शिक्षा-प्रणाली के घोर समर्थक थे। इतने पर भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि अरिस्टाटल अपने गुरु प्लेटो की पूर्णतया प्रतिलिपि (Prototype) नहीं है। कुछ अन्तर विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा।

प्लेटो के विचारों में प्रतीकात्मक संकेत तथा काल्पनिकता का प्रश्रय लिया गया है जबकि अरिस्टाटल ने यथार्थवादी, तार्किक, व्यवस्थित चिन्तन का आधार निर्मित किया। पद्धति-विज्ञान की नई शाखा अरिस्टाटल से ही आविर्भूत हुई। कल्पनाश्रयी होने के साथ प्लेटो समन्वयवादी है, निगमनात्मक (Deductive) तर्क पर विश्वास रखता है। अरिस्टाटल विश्लेषण करने में पटु है, आगमनात्मक (Inductive) पद्धति का पालन करता है। (विशेष की प्राप्ति निगमनात्मक (Deductive) तर्क द्वारा और सामान्य की प्राप्ति आगमनात्मक (Iuductive) तर्क द्वारा होती है। एक ओर जहाँ प्लेटो ने विचारों को गुँथा हुआ सश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया, अरस्तू ने राजनीति और आचारशास्त्र को अलग-अलग करके उन्हें संपुष्ट किया। प्लेटो ने आचारशास्त्र को मौलिकशास्त्र माना और राजनीति को उसका अङ्ग बताया। अरस्तू ने राजनीति को सर्वोपरि तथा सर्वग्राही सिद्ध किया। आदर्शवादी प्लेटो वस्तुजगत् की आन्तरिक एकता से प्रभावित है जबकि एरिस्टाटल विविधता की ओर संकेत करता है। प्लेटो ने ऐसा आदर्श राज्य प्राप्त किया है जो सर्वकालीन सत्य है। परन्तु एरिस्टाटल का विश्वास है कि उचित संविधान की व्यवस्था जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिये। प्लेटो ने बौद्धिक आभिजात्यतन्त्र का प्रचंड समर्थन किया जबकि अरस्तू मध्यमवर्गीय प्रजातंत्र में विश्वास रखता है। अरस्तू ने प्लेटो की न्याय-व्यवस्था, धर्म-कल्पना, साम्यवाद तथा सामाजिक विभक्तीकरण का खण्डन किया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पारिवारिक ऐकान्तिकता का अरस्तू प्रबल समर्थक है जबकि प्लेटो इनमें साम्यवाद की बात कहता है। प्लेटो दृष्टान्त तथा रूपक के सहारे विचार करता है जबकि अरस्तू अकाट्य तर्क तथा तथ्य प्रस्तुत करता है। प्लेटो के अनुसार विचारों का दृढ़ीकरण (Regimentation) आवश्यक है किन्तु एरिस्टाटल वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। हर्नशा के अनुसार प्लेटो राज्य-समाज की व्याख्या दार्शनिकों के विचार मंथन से ही सम्भव मानता था जबकि अरिस्टॉटल परम्परा, क्रिया-कलाप तथा आचार-व्यवहार की उपेक्षा नहीं करता। प्लेटो के आदर्शों से यह प्रतीत होता है कि उसने स्पार्टा के नीरस जीवन में एथेन्स की कलाभिरुचि पैदा की (Atticised Sparta) जबकि अरस्तू ने एथेन्स के

व्यवसायी-श्लाघ्य जीवन में स्पार्टा का संयम तथा उत्साह भरा (Spratanised Athens) फ्रेडरिक पोलक के शब्दों में इनका अन्तर स्पष्ट किया गया है, "प्लेटो गुब्बारे में बैठकर नभचारी बनता है और कभी-कभी बादलों का आवरण हटाकर अत्यन्त स्पष्ट दृश्य देख लेता है, पर अधिकांश समय वह मेघाच्छन्न ही है। लेकिन अरिस्टॉटल अपनी बाहुशक्ति का अवलम्ब ले नया उपनिवेश खोजता है और ठोस धरती (Terra Firma) पर श्रमदान से पथ-निर्माण करता है।" चेस्टर मैक्सी के शब्दों में प्लेटो किसी ऐसे महानतम मानव की खोज में है जो राज्य की आदर्शानुरूप सृष्टि करे, अरिस्टॉटल ऐसा विज्ञान खोज रहा है जो राज्य को अच्छे से अच्छा बना सके।*

---

* Plato seeks superman who will create a state as good as ought to be, Aristotle seeks a superscience, which will create a state as good as can be.

C. C. Maxey: Political Philosophies, page 68.

३-रोमन विचारक सिसरो*

(ई० पूर्व १०२-४३ ई० पूर्व)

यूनान में एक ओर नगर-राज्यों का विकास हुआ, नये संस्थान बने-बिगड़े, तो दूसरी ओर इटली में एक नई सभ्यता जनमी जो एथेन्स, स्पार्टा आदि नगर-राज्यों से भिन्न थी। यूनान की स्वतन्त्रता विघटित हो चुकी थी पर रोमन स्वाधीनता प्रकर्षशील थी विचार की दौड़ में द्रुतगामी यूनान तो सो गया पर संयमी, आश्वस्त, व्यावहारिक रोम धीरे-धीरे बढ़ता गया। वैसे तो आज न यूनान है, न रोम, न उनकी सभ्यता, न संवास, परन्तु उनके विचारों का ऐतिहासिक महत्व बना हुआ है। मनुष्य की उदात्त प्रतिभा, उन्मेषशालिनी मौलिकता, अनवरतश्रम तथा विलक्षण कार्यक्षमता के प्रतीक के रूप में रोम का इतिहास हमारे सामने है। रोम ने व्यवस्थित ज्ञान दिया, देश, साम्राज्य की कल्पना दी, नागरिक संघ-संस्थानों की उपयोगिता बताई और सबसे महत्वपूर्ण योग दिया विधिशास्त्र (Jurisprudence) की गम्भीर, सूक्ष्म विवेचना करके। प्लेटो की तरह संश्लिष्ट तथा व्यापक विचार प्रस्तुत करते हुये भी रोमन चिन्तकों ने काल्पनिक आदर्शवाद का तिरस्कार किया और यथार्थवाद की अवतारणा की। जीवन की कठोर मान्यताओं के प्रति सजग रहकर संघर्षशील रोमन युद्धकला में निष्णात विजेता है, जो न रुकना जानता है, न विश्राम लेना। आगे बढ़ते रहना और व्यवधान-व्याघातों को ध्वस्त करना उसका एकमात्र अभीष्ट है। विशाल रोमन साम्राज्य बहुत काल तक प्रभावशाली रहा किन्तु प्रकृति के अपरिहार्य नियम के अनुरूप उसका भी ह्रास हो गया। रोम ने तीन प्रमुख विचारक दिये—पोलिबियस (ई० पूर्व २४० से १२२) जो सत्रह वर्षों तक रोम में राजबन्दी (Political hostage) रहा, सिसरो, सुप्रसिद्ध निबन्धकार तथा विख्यात वक्ता, (ई० पूर्व १०२–४३) और सेनेका जो सम्राट नेरो का मुख्य मन्त्री, लेखक तथा मित्र (ई० पूर्व ४ से ६३ ई०) था।

---

*इस नाम का शुद्ध उच्चारण चिचरो है ठीक उसी तरह जैसे क्रोचे (Croce) नाम सही है। किन्तु सुविधा की दृष्टि से सिसरो का ही प्रयोग किया गया है—लेखक

ये तीनों यूनान के विचारों से पूर्णतया परिचित थे पर वहाँ की अन्धानुकृति के बजाय वास्तविक स्थिति में अपने ढंग से विचार रखना इन्होंने उचित समझा। रोमन राजनैतिक अवस्था का परिचय यहाँ समीचीन होगा।

रोमन राजनीति : संस्था और सिद्धान्त :

राज्य की रचना कई अलग-अलग कौमों या जातियों (Nationalities) के सम्पर्क से हुई। समाज दो भागों में बँटा था—एक ओर पेट्रीशियन (Patricians) थे जो उच्चवर्ग के भद्रपुरुष थे, दूसरी ओर प्लेबियन (Pleibians) थे जिनमें मध्य तथा निम्नवर्ग के सायान्य लोग थे। शासन उच्चवर्ग के हाथों था इसलिए दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष चला करता था। निर्वाचित राजा शासन का प्रधान था किन्तु वह उन सभाओं की कठपुतली-मात्र था जो उसके निर्वाचन में प्रधानता रखती थीं। पेट्रीशियन की राज्य-सभा 'कमीशिया क्यूरियाटा' (Comitia Curiata) कहलाती थी और परामर्म देने वाली परिषद् सीनेट (Senate) के नाम से विख्यात थी! वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप प्लेबियन की एक जनसभा 'कमीशिया सेन्चुरियेटा' (Comitia Centuriata) के नाम से बन गई और इस तरह सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व शासन में होने लगा। राजतन्त्र इस तरह मर्यादित होने पर भी कभी-कभी निरंकुश हो उठता तो उस समय सामान्य जनता अपना रौद्र रूप दिखलाती। टार्क्वीनियस राजा को अपदस्थ करके लोगों ने ई० पूर्व ५०० के लगभग गणतन्त्र की स्थापना करली थी जिसमें अधिकांश लोगों को राजनैतिक नागरिक अधिकार दिये गये थे। राजा को हटाकर दो प्रधानामात्य 'कौन्शुल' (Consuls) बनाये गये जो नागरिक प्रशासन तथा सैनिक शासन पर नियन्त्रण करते थे। दंडाधिकारी मजिस्ट्रेट कहलाते तथा सभी पद निर्वाचन द्वारा वितरित किये जाते। कई उच्च पदों पर पेट्रीशियन का अधिकार हो जाने पर प्लेबियन लोगों ने 'कन्सीलियम प्लेबिस' (Concilium Plebis) नामक सभा बनाई जो उनके स्वार्थों की रक्षा करती और गवर्नर की तरह उच्च अधिकारी 'ट्रिब्यून' (Tribune) की नियुक्ति करती थी। यह सभा आगे चलकर 'कमीशिया ट्रिब्यूटा' (Comitia tributa) बन गई जिसका काम कानून बनाना था। 'सीनेट' में उच्चवंशों के प्रतिनिधि रहे आये जो बढ़ती हुई प्रचण्ड जनशक्ति अथवा लोक सत्ता के विरुद्ध षड़यन्त्र किया करते थे। कौन्सुल के रूप में राजतन्त्रवादी व्यवस्था चलती, सीनेट कुलीनतन्त्र का प्रतीक था और जनसभा जनतन्त्र की द्योतक थी। विधियों, नियमों, अधि-

नियमों के बल पर प्रशासकीय कार्य चलने लगा जिसने पूरी व्यवस्था को निर्वैयक्तिक रूप दिया। सैन्यशक्ति की अभिवृद्धि निरन्तर की जाती रही। ‘ारों ओर विजेताओं ने अपने सैन्य-अभियान प्रारम्भ किये। विजित देशों में अपनी व्यवस्था चलाकर उसे अपने आधीन घोषित करके उन्होंने अपनी यशपताका फहराई। उन देशों का सुदृढ़ीकरण (Consolidatien) करके उन्हें रोमन साम्राज्य का अंग बना लिया। नागरिकता के अधिकार देकर जनसमूह को संतुष्ट रखा गया और इस तरह रोमन साम्राज्य विशाल सैनिक-सङ्घ की भाँति विस्तृत होता गया। ऐसे प्रख्यात विजेताओं में जूलियस सीजर, आगस्टस, आक्टेवियस आदि प्रमुख थे जिनको उद्दाम महत्वाकांक्षा सामांन्य मानवीय परिधि के बाहर चली गई। इस दुर्दम्य महत्वाकांक्षा के विरुद्ध ही ब्रूटस की तरह लोकप्रिय गणतन्त्रवादियों ने षड़यन्त्र-हत्या-आत्महत्या का जाल रचा। अराजकता बढ़ती गई, अधिकारियों का अपमान होने लगा और उपद्रवी तत्वों को उभरने का मौका मिल गया। कांस्टेन्टिन आदि शासकों ने सुधार के प्रयत्न किये किन्तु बिगड़ी हालत बनाई न गई। पहले रोमन प्रकृति पूजक अथवा जड़ धर्म (Heathenism or Paganism) के अवलम्बी थे। धीरे-धीरे ईसाई-धर्म (Christianity) रोम का राज्य-धर्म बन गया। जर्मनी तथा स्पेन की वर्बर जातियों के प्रचण्ड आक्रमण के कारण रोमन साम्राज्य पाँचवीं सदी तक समाप्त हो गया।

रोम के राजनीतिज्ञ, विचारक कम और कर्मठ अधिक थे। उनपर विरक्तिवादियों (Stoics) का प्रभाव अधिक था जो आवश्यकताओं के अनुसार समस्या सुलझा लिया करते थे। सुखवादी विचारकों (Epicureans) की तरह उन्होंने व्यक्ति और राज्य का विलीनीकरण स्वीकार नहीं किया। राज्य की वैधानिक सत्ता मानते हुए व्यक्ति को अधिकार दिये गये पर राजाज्ञा-पालन अनिवार्य नियम मानकर। प्राचीन प्रथा-परम्परा, प्रयोगात्मक सुविधा, लोकमत की सामूहिक अभिव्यक्ति, दैवी शक्ति-सिद्धान्त आदि साधारण परिस्थितियों का निर्माण करके रोमन राजनीतिज्ञों ने एक अद्वितीय शक्ति का सृजन किया। व्यक्तियों को सफल जीवन-निर्देशन के लिये रचनात्मक विधि (Positive law) बनाई गई और स्वातन्त्र्य-संरक्षण के लिये विशिष्ट विधि (Private law) स्वीकृत की गई। कानूनों का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया गया। सब से पहले प्राकृतिक विधि (Jus naturale) जिसका आधार बुद्धि-विवेक, न्याय तथा अस्तित्व के अनिवार्य सिद्धान्त हैं और जो मनुष्य के स्वभाव में प्रकृति-प्रदत्त होने से घुली-मिली है। इसकी प्रमुख विशेपताएँ हैं आन्तरिक

तर्कपूर्णता, सार्वभौमिक प्रभाव, न्यायप्रियता तथा आडम्बरहीनता । दूसरी विधि नागरिक विधि (Jus civile) है जो रोम में नागरिकों को समुचित व्यवहार की प्रेरणा देने के लिये बनी है। तीसरी तरह की सार्वभौमिक विधि अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Jus Gentium) थी जो विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करती थी। यह विधि समस्त मानवीय परम्पराओं की वाहक होने के कारण उपयोगी है। सर्वश्रेष्ठ विधि तो प्राकृतिक विधि है और अन्य दो विधियाँ उसकी विकृत रूप हैं। विधि-संहिता-निर्माण (Codification) का कार्य भी इस समय हुआ और द्वादशसूत्रीय संहिता (Code of Twelve tables) तथा सम्राट् जस्टीनियन की संहिता (Justinean code) प्रसिद्ध हैं। इनमें सूक्ष्म रीति से नागरिकता, राजनीतिक शक्ति-स्रोत, विवाह, व्यापार, सम्पत्ति-दास—उत्तराधिकार के नियम, निगम-विधियाँ (Corporation of Municipal laws), राजविधियाँ (Rex legis) जनसम्मत विधियाँ, संवैधानिक नियम आदि विषयों पर विचार किया गया है। विधियों को धार्मिकता से मुक्तकर विशुद्धीकरण (Secularisation of law) की ओर ले जाने का काम सर्वप्रथम रोमन विचारकों ने ही किया। प्रमुख न्याय शास्त्रियों में गायस, मसियन, अल्पियन, फ्लोरेस्टिनस, सेनेका, सिसरो आदि उल्लेखनीय हैं। प्राचीन विधि तथा रोमन विधि (Ancient Law and Roman Law) का यह जटिल स्वरूप आज भी कानून-विशारदों के लिये अनिवार्यरूप से पठनीय है। रोमन विचारकों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे मौलिक विचारक नहीं, केवल व्याख्याता तथा संवाहक थे।*

जीवन-परिचय तथा साहित्य :

सिसरो का पूरा नाम मार्कस टूलिवस सिसरो (Marcus Tullius Cicero) था जो रोमन इतिहास में सुप्रसिद्ध वक्ता, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ हो गया है। रोम के ऐतिहासिक पुरुषों की प्रामाणिक जीवनी सर्वप्रथम प्लूटार्क (Plutarch's lives) ने लिखी थी, जिसके आधार पर सिसरो कि विशेषतायें ज्ञात होती हैं। दूसरे शेक्सपियर ने अपने एतिहासिक नाटकों (जूलियस सीजर आदि) में इस चरित्र पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला है। इसका जीवन काफी नाटकीय था क्योंकि अपने आपको दूसरों से पृथक् तथा

*Roman Political Thinkers were expounders and transmitters ather than creators of Political ideas.

—C C. Maxey, Chapter VI.

उच्च समझने की तीव्र भावना (Exclusive Superiority) उसमें थी। सामाजिक प्रश्नों में भी वह अपनी अहंवादिता सामने रखकर ही विचार प्रकट करता था। किन्तु उसके विचारों पर सारे रोमन लोगों का ध्यान बरबस खिंच जाता था। उसके वक्तव्य तथा निबन्ध अपनी नवीनता तथा विशेषता के लिये प्रसिद्ध थे। सीनेट में प्रतिनिधि के रूप में उसकी ख्याति अवश्य थी लेकिन विरोध अथवा विरोधी दल को बर्दाश्त करने में वह असमर्थ था। उसके सम्बन्ध में यह उल्लेख प्रासङ्गिक है कि वह एक महान् व्यक्ति था जो अपनी अकड़बाजी के कारण निष्प्रभ हो गया (A man of great abilities rendered ineffectual by selfish vanisty)। सीनेट में वह ब्रूटस, केसियस, एन्टोनी, सीपियों आदि के साथ बैठता था लेकिन उसका व्यक्तित्व अलग ही झलकता था। उसके भाषणों तथा वक्तव्यों में जहाँ भावना का ज्वार और तर्क का तूफान था वहीं शिथिलता और निष्क्रियता भी उसके जीवन में थी। सङ्कटकालीन घड़ियों में निर्णय करने में अशक्य होने के कारण उसे दुःखद अन्त भोगना पड़ा।

अपने समय के सुप्रसिद्ध सिद्धान्तशास्त्री तथा प्रभावशाली व्यक्ति के रूप में उसकी ख्याति सुरक्षित है। यह अवश्य कहा जाता है कि उसने दूसरों के विचारों को नये भाषा-परिधान दिये और उन्हें अमर बनाया। उसकी शैली, (लेखन तथा भाषण) आकर्षक तथा प्रभावक थी। उसके ग्रंथों का सबसे अधिक पठन-पाठन किया गया। सिसरो की रचनाओं में जो भी विचार उतरे उन्हें श्रेष्ठतम मानव अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के रूप में प्रसिद्धि मिली।*

रोम के सामाजिक संगठन में भीषण उथल-पुथल उस समय मची जब गृहयुद्धों की अधिकता से न्याय-कानून सब ध्वस्त होने लगे। धनिकों और निर्धनों का गृहयुद्ध उस युग का महत्वपूर्ण वर्गसंघर्ष था जो भीषण गतिरोध उत्पन्न करता था। इस अव्यवस्था या अराजकता के चलते रोम का राजनीतिक विकास अवरुद्ध था; विधियों के स्रोत सूख चुके थे। सिसरो ने प्रजातन्त्र विधि

---

*His ideas were taken from other men, but he gave them an immortality that their originators could not, because he wrote lasting literature, and an idea once incorporated in Cicero's works was forever emblamed in the classics of human expression.

—Maxey-Political Philosophies—Page 84

तथा शासन पर तीन पुस्तकें लिखीं; डी रिपब्लिका (De Republica) 'डी लेजिबस' (De Legibus) तथा 'डी आफिसिस' (De Officiis) इनका उद्देश्य था सामाजिक एकता कायम रखकर न्याय के प्रति निष्ठा जागृत करना जिससे नियमानुकूल विकास निरन्तर होता रहे, गतिरोध न उत्पन्न हो। युद्धजनित वातावरण में इन ग्रन्थों के सिद्धान्त नक्कारखाने में तूती की आवाज भर पैदा कर सके और सिसरो के समकालीन राजनीतिज्ञों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बाद में विधिशास्त्रियों तथा धर्माचार्यों ने उनसे कुछ लाभ उठाया। 'डी रिपब्लिका' में आदर्श-राज्य की कल्पना करते हुए राज्य के सर्वोत्तम रूप का वर्णन किया गया है। प्लेटो के ग्रन्थ से प्रभावित होकर सिसरो ऐसा राज्य बनाना चाहता है जो केवल हवाई किलों का ही निर्माण न करे बल्कि शासन में लौकिक, सांसारिक तथा व्यावहारिक नियमों का पालन करे। इस ग्रन्थ में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हुए आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र आदि सिद्धान्तों के बल पर अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य की व्यवसायात्मिका या निर्णायिका बुद्धि (Good Counsels) का सामञ्जस्य विधि के साथ करते हुए उसे सर्वोच्च स्थान देने की चेष्टा की गई है। इसमें प्रश्नोत्तर तथा संवाद के रूप में विवेचन है और सिपियो तथा लेशियस को नायक बनाया गया है। 'डी लेजिबस' में विधियों की सार्वभौमता तथा उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। प्राकृतिक विधियों को मानव हित के स्वयंसिद्ध नियम मानते हुए उन्हें सार्वदेशिक बनाने पर वह जोर देता हैं जिससे मनुष्यता के बीच दीवारें या दरारें न हों। विश्व-भ्रातृत्व की ओर इस दिशा में उसका सुझाव स्पष्ट है। वह ऐसा साम्राज्य चाहता है जिसमें समता तथा विश्वबन्धुत्व हो और कानून की मर्यादा का पूरा-पूरा पालन हो। राज्य तथा शासन सम्बन्धी विचारों में सिसरो ने प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करते हुए जनशक्ति पर विश्वास रखने की सलाह दी। वास्तव में विधि, न्याय, प्रभुता तथा अन्य शक्ति का आदिस्रोत जनता ही है। 'डी आफिसिस' (De Officiis) में वह अपने पुत्र को पत्र द्वारा नागरिक उत्तरदायित्व तथा शासन, राज्य, पर सम्बन्धी विचार प्रगट करता है। उसके ग्रन्थत्रय (Trilogy) मौलिक भले ही न हों लेकिन रोम की राजनीतिक स्थिति में उपादेय अवश्य हैं; और शाश्वत सिद्धान्तों का समर्थन करने के कारण स्थायी मूल्य रखते हैं। उसके ग्रंथ प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य की विधि के रूप में मान्य हैं और उनसे उद्धरण दिये जाते हैं। प्रोफेसर विलोबी के अनुसार सिसरो का महत्वपूर्ण अनुदाय इस कार्य में रहा कि उसने यूनानी विचारों को रोम के साथ संयुक्त

किया और इस तरह एक संश्लिष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत किया; भले ही कोई नया सिद्धान्त न दिया हो। रोम की विधि-प्रधान विचारधारा में यूनान की न्याय तथा समता की कल्पना समन्वित विधिशास्त्र को समृद्ध किया है। प्लेटो, पोलिवियस, स्टाइक या विरक्तिवादी पेनेशस (Panaetius) आदि के विचारों से उसने प्रत्यक्ष सहायता ली है और कहीं-कहीं उन्हें ज्यों-का-त्यों रख दिया है। प्रभाव के सम्बन्ध में चर्चा करते समय उसे उत्साही प्लेटो भक्त (Ardent Platonist) कहा जाता है। विचार साम्य तथा अनुकृति के बल पर इस बात की कल्पना की जा सकती है कि गोया प्लेटो की पुस्तक हाथ में लेकर सिसरो अपने संवाद ठीक कर रहा हो, पात्रों को तैयार करता हो और विषय-निर्वाचन में व्यस्त हो। अन्य स्थानों से भी उसने विचार ग्रहण किये। पोलिवियस तथा लाइकरगस ने जिन आदर्श संविधानों की रूप-रेखा प्रस्तुत की, सिसरो ने उसे स्वीकार किया। पोलीवियस की भाँति सिसरो भी यह मानता है कि राजतंत्र, कुलीनतंत्र, जनतंत्र तीनों चक्के की तरह (ऊपर-नीचे) घूमते हैं और तीनों में अलग-अलग गुण-दोष हैं, जिनसे राज्य का उत्थान-पतन होता रहता है। किन्तु तीनों के सानुपातिक समन्वय से संतुलित संविधान (Balanced Constitution) सर्वोत्कृष्ट होता है, ऐसा वह मानता था।

उसकी रचनाओं का मौलिक उद्देश्य उन विस्तृत रोमन आदर्शों की पुनः स्थापना करना था जिनसे राजनीतिज्ञ सेवाव्रत लेकर गौरवान्वित होते थे। यूनानी यथार्थ से उन्हें जोड़कर सिसरो ने आदर्शों को सुगठित मूर्तरूप दिया। राजनैतिक उद्देश्य उसका था गणतन्त्र को शक्तिशाली संविधान के रूप में रखकर उसका पुराना वैभव लौटा लाना जो टाइबेरियस ग्रेकस (Tiberius Gracchus) की क्रान्तिकारी परिषद् (Revolutionary Tribunate) के पूर्व था। उसके समय में क्रिसिपस का विरक्तिवाद (Stoicism of Chrysippus) प्रचलित था जो मनुष्य की स्वतंत्रता तथा एकता का व्यक्तिवादी ढंग से समर्थन करते हुए विश्वबन्धुत्व का पक्ष मजबूत करता है। क्रिसिपस तथा सिसरो के इन विचारों से मनुष्य को साध्य के रूप में निरूपित किया गया न कि साधन की तरह जैसा कि १८वीं सदी में इमानुएल काण्ट ने (१७२४-१८०४ ई०) दूसरे शब्दों में इसी तरह की स्थायी घोषणा की (A man must be treated as an end and not as a means)। इस प्रकार प्लेटो तथा काण्ट और हीगेल के बीच राजनीतिक आदर्शवाद की कड़ी के रूप में सिसरो का महत्व है।

मनुष्य-स्वभाव और समाज :

प्लेटो तथा अरिस्टाटल यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य में विविधता तथा विचित्रता का अपूर्व मिश्रण है। भिन्न-भिन्न परिमाण में गुणों के मिलने से मनुष्य अपनी व्यक्तिगत विभिन्नता प्राप्त करता है। मानसिक गुणों के संघात से शारीरिक निर्माण होता है और लोगों का वर्गीकरण इन आधारों पर किया जा सकता है। अरस्तू ने इसीलिये कुछ अथवा बहुमत के लोगों के लिये दासता की व्यवस्था की क्योंकि वे दूसरे कार्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त थे। दासता का समर्थन उसने नैतिक तथा आर्थिक ढंग से भी किया। यूनान में जहाँ गुणों की प्राप्ति पर अधिक जोर दिया जाता था, स्वभाव का मौलिक भेद मान लिया गया था। इसके विपरीत सिसरो स्वभाव को मौलिक एकता मानकर चलता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस आधार पर अरस्तू ने दासत्व का समर्थन किया उस का सिसिरो ने तीव्र खण्डन किया। दासता को स्वाभाविक मानना बुनियादी भूल है और मानव स्वभाव की पूर्ण अनभिज्ञता है। गुण उपार्जित करने में व्यक्ति किसी से पीछे नहीं रहता क्योंकि गुण-ग्राहकता कि प्रवृत्ति सब में विद्यमान है ?

व्यक्ति में भेद तो केवल मात्रा का होता है, स्वरूप का नहीं। व्यक्ति इस प्रकार अपने लिये सामान्य स्थान प्राप्त करता है, सामान्य व्यवहार का हकदार बनता है। विशेष सुविधा या अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता की माँग करना अनुचित, अस्वाभाविक तथा अक्षम्य है। व्यक्ति की तरह कोई समूह या सामाजिक वर्ग भी ऐसा नहीं है जो सर्वथा गुणी या गुणहीन ही हो। न्यूनाधिक मात्रा में गुण सब जगह हैं और सम्बन्धित दोष भी वहीं दिखाई दे जाते हैं। इसलिये सुविधा प्राप्त वर्ग (Privileged Class) या न्यस्त स्वार्थ (Vested interest) वाले दलों को समाज में कोई स्थान नहीं होना चाहिये। मौलिक एकता की व्याख्या करते समय सिसरो सार्वदेशिक शाश्वत विधि (Universal Eternal Law) का उल्लेख करता है। ईश्वरीय सृष्टि तथा शासन (Providential Government) ने जगत में इस तत्व की रचना की मनुष्य की बुद्धि, सामाजिक प्रवृत्ति, सहयोग भावना ने इसकी पुष्टि की। मनुष्य अपने इन्हीं गुणों के कारण ईश्वर के निकट ही नहीं, उससे मिलता-जुलता भी है। (मनुष्यत्व ही को देवत्व मानने की भावना अन्यत्र भी रही है)। समस्त संसार के राज्य में जिसमें सभी राज्य-समाज सम्मिलित हैं इस स्थायी नियम को मानना पड़ता है कि सभी मनुष्य समान हैं। समान कहने का मतलब यह नहीं

कि वे विद्या या सम्पत्ति में बराबरी का दावा करते हैं; किन्तु मनोवैज्ञानिक रचना, विश्वास-मान्यता-विवेक आदि के सम्बन्ध सभी में हैं। यदि समानता व्यवहार या यथार्थ में नहीं दिखाई देती तो इसका कारण भ्रान्ति, दुर्बुद्धि, असत्य धारणा तथा अनुचित व्यवहार है। सभी मनुष्य तथा जाति समूह अनुभव प्राप्त करने, उनका संरक्षण करने, उन्हें हस्तान्तरित करने की एक-सी योग्यता रखते हैं, यह अनुभूतिमूलक एकता सार्वभौम है किसी एक कौम या जाति की बपौती नहीं है। सिसरो के इस वक्तव्य पर ध्यान देना चाहिए। (डी रिपब्लिका से उद्धृत)

"वास्तव में सच्चा कानून एक ही है और वह सद्विवेक या सद्बुद्धि (Right reason) का कानून है जो प्रकृति के अनुकूल सब मनुष्यों में प्राप्य, अपरिवर्तनशील तथा चिरन्तन है। अपने निर्देशों से यह कानून मनुष्य से अपने कर्तव्यों की पूर्ति कराता है, निषेधों से उसे गलत रास्ते पर जाने से रोकता है। आदेश-निषेध (Commands and Prohibitions) का प्रभाव अच्छे व्यक्तियों पर ही पड़ता है, बुरे व्यक्तियों पर नहीं। मनुष्यकृत कानून से इस नैसर्गिक विधि को अवैध बनाना या इसमें संशोधन करना नैतिक अपराध है। इसका प्रयोग रोकना अनुचित है और इसे रद्द करना असम्भव है। सीनेट, प्रतिनिधि या जनसमूह हमें इस कानून के मानने से नहीं रोक सकते और न इसकी व्याख्या या टीका करने के लिये किसी विद्वान् विधिशास्त्री या सेक्सटस एलियस की जरूरत है (अर्थात् इसका परिचय तथा ज्ञान आसान, सर्वसुलभ है) इसमें रोम के लिये कुछ, और एथेन्स के लिये कुछ और नियम नहीं बनते, उसी तरह आज और कल के नियमों में अन्तर नहीं होता। एक ही नियम शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अकाट्य, अपौरुषेय है, प्रत्येक व्यक्ति इसे मानने के लिये बाध्य है और इसकी प्रेरणा देने वाला सब मनुष्यों तथा जातियों का नियन्ता ईश्वर है। जो मनुष्य इसे नहीं मानता वह अपनी आत्मा के श्रेष्ठ अंश (Best Self) से उदासीन है। मनुष्य के वास्तविक स्वभावके विरुद्ध जाकर वह मानवी दण्ड से भले बच जाय, उसे असह्य यातना या नारकीय यन्त्रणा भोगनी ही होगी।"

सिसरो के उपर्युक्त वक्तव्य में प्रवचनकर्ता पादरी की तरह अदम्य उत्साह, विश्वास तथा धर्म के प्रति आस्था है। अपनी बात समझाने के लिये मनुष्य की बुद्धि को तरंगित करना ही नहीं बल्कि आतंकित करना भी उसका तरीका है। प्रोफेसर ए० जे० कार्लाइल ने सिसरो के सिद्धान्तों में अरिस्टाटल का विरोधाभास

ढूँढ़ा और यह सिद्ध किया है कि सिसरो ने बड़ी हिम्मत से यूनानी धारणाओं को उलट देने का प्रयास किया। स्वतन्त्र नागरिकता (Free Citizenship) की भावना केवल बराबरी वाले लोगों में होती है किन्तु, अरिस्टाटल के अनुसार, बराबरी मनुष्य स्वभाव में है ही नहीं इसलिये स्वतन्त्र नागरिकता केवल सीमित रूप में दिखाई देती है। इस धारणा का विरोध करते हुये सिसरो ने यह कहा कि मनुष्य विधियों से शासित है और विधियों के समक्ष छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच कुछ भी नहीं, सब बराबर हैं। स्वतन्त्र नागरिकता केवल समानता के बल पर ही ग्राह्य है और वह एक नैतिक आवश्यकता है। सिसरो के वाक्यों में राजनीतिक जनतन्त्र (Political Democracy) की व्यापक या विशद कल्पना नहीं की गई है किन्तु बिना किसी ऐसे नैतिक आधार के राजनीतिक जनतन्त्र का समर्थन करना कठिन हो जाता है। जोर जिस बात पर दिया गया है वह यह है कि *प्रत्येक व्यक्ति में मानवीय आदर तथा उच्चता निहित है और वह विशाल* भ्रातृ-संघ का एक सम्मानित सदस्य है। यदि दुर्भाग्य से उसे दास बनना ही पड़ा तो वह एरिस्टाटल की व्याख्या की तरह अभिजात्यों की सम्पत्ति (Goods and Chattels) या जीवित औजार (Living Tool) न होकर, क्रिसिपल के कथनानुसार, जीवन पर्यन्त भृत्यजीवी (A Wage-earner hired for life) हैं। इस तरह सिसरो के विचार अरिस्टाटल की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील तथा अर्वाचीन धारणा के अनुकूल हैं। 'डी लेजिबस' से निम्न-लिखित उद्धरण सिसरो की विशिष्ट चिन्तनधारा का समर्थक है :—

"दार्शनिकों के विचार मन्थन से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य धर्म-भावना (Justice) से सम्पृक्त है तथा अधिकारों का मूल मनुष्य की राय या सलाह में नहीं बल्कि स्वभाव में है। यदि आप मनुष्य की सहयोगी सामाजिकता तथा भ्रातृत्व की धारणा मान लें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हम लोग आपस में एक दूसरे के पूरक हैं। यदि बुरी आदतें या झूठे विश्वास हमारे मस्तिष्क खराब न करें तो हमारा व्यक्तित्व दूसरों में भी साफ झलकने लगेगा और आपस में हम सब एक से दिखाई देंगे।"

समाज के सम्बन्ध में सिसरो की धारणा आदर्शवादी है। समाज व्यक्ति की सामूहिक अभिव्यक्ति है और संगठित समाज ही न्याय तथा एकता का संरक्षक है। रोम के समाज को न्यायप्रिय, स्वतन्त्रप्रिय तथा समदर्शी बनाने का प्रयत्न उसका था। ऐसे समाज की संस्थाएँ आदर्शवादी होकर भेदभाव को प्रश्रय नहीं देतीं। संगठित जनता की आवाज व्यापक जनहित के लिये उठती है, एक-एक स्वर मिलकर उस महाध्वनि को तेज बनाते हैं। समाज जब

जनहित में न्यायपूर्वक प्रवृत्त होता है जब वह अपने लिये आवश्यक उपकरण (Instrumentality or Agency) ढूँढ़ता है जिससे जनता कि सामूहिक इच्छा न केवल व्यक्त हो बल्कि कार्यरूप में भी परिणत हो। समाज की महत्ता स्थापित करके जनप्रिय संप्रभुता (Popular-Sovereignty) की ओर सिसरो का झुकाव स्पष्ट है। जनप्रिय संप्रभुता के अन्तर्गत ही वैधानिक या राजनीतिक प्रभुत्व का समावेश किया गया है। किसी भी नियम-विधान-संविधान या स्वरूप रचना में समाज ही अधिकार तथा सत्ता की अन्तिम स्वीकृति है। सामाजिक अधिकार या सत्ता जब संगठित शक्ति के रूप में प्रकट होती है तो उसका दमनकारी स्वरूप (Coercive Power) मनुष्यों द्वारा ही बनाया होने के कारण सर्वमान्य होता है। इस तरह समाज में जनता के संगठित सामूहिक मूर्तरूप को शक्तिशाली मानकर (Corporate Power of the People) सिसरो चलता है।

राज्य तथा शासन :

समाज के भीतर पारस्परिक तथा सावयव एकता मानकर चलने से एक बात साफ हो जाती है कि बिना सहयोग तथा कर्तव्य भावना के (Consciousness of Mutual Obligation) कोई काम चल ही नहीं सकता। राज्य की उत्पत्ति बिना जनता की सहमति के सम्भव नहीं है और सहमति से ही एक दूसरे की समानता की स्वीकृति मिलती है। समझौता होना या न होना गौण बात है, सामाजिकता तथा सहयोग प्रधान है। सिसरो के अनुसार राज्य इसलिये नहीं बना कि लोग अपने आप को निराश्रित तथा निर्बल मानते थे बल्कि इसलिये बना कि वैसा करना उनके स्वभाव में ही था, सामाजिकता की प्रवृत्ति उनकी जन्मजात थी। किन्तु जनसमूह में विभिन्न वर्गों का समावेश होता है इसलिये सर्वोच्च वैधानिक सत्ता जो नियामक तथा प्रेरक हो, आवश्यक है। इसका काम निषेधात्मक या प्रतिबन्धात्मक होने के साथ ही विधायक भी है। राज्य को सिसरो जनता का मामला या जनता का कार्य मानता है। उसका प्रसिद्ध वाक्य है "राज्य जनता की सम्पत्ति है" (Res Publica Res Populi) राज्य कोई बिखरा हुआ समूह या झुण्ड नहीं है बल्कि विशाल जनमत का संघ है जो न्याय पर आधारित है तथा सामान्य हित में साझीदार है।* राज्य का निर्माण

* "The essential feature of a state is the association of a large body of people in an agreement with respect to justice and a partnership for the common good."

--(C. Maxey—Political Philosophies—Page 85.)

इसलिये नहीं हुआ है कि सामूहिक स्वार्थों की खोज में मनुष्य को आसानी हो बल्कि यह नैतिकता के सिद्धान्तों पर आधारित मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता है। राज्य की इस भावना ने ही कामनवेल्थ की धारणा को पुष्ट किया है। सिसरो ने अपने राज्य सम्बन्धी विचारों के द्वारा भोगवादियों (Epicureans) तथा संशयवादियों (Sceptics) की इस धारणा का खण्डन किया है कि न्याय तथा धर्म अपने आप आन्तरिक रूप से अच्छे हैं (That Justice in an intrinsic good) या प्रकृति का सामञ्जस्य व्यक्तिगत स्वार्थ से जमता है (Identification of nature with individual self interest)। राज्य जब तक नैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संगठित जनसमूह नहीं बनता है तब तक वह आगस्टाइन के शब्दों में बड़े पैमाने पर डकैती है (Higeway robbery on a large scale)।* राज्य भले ही आतंककारी या पाशविक सत्ताधारी हो जावे लेकिन उसका जनवादी स्वरूप नष्ट नहीं होने पाता। इसलिए निरंकुश राज्य पतन की ओर बढ़ता है और विकृत हो जाता है। कामनवेल्थ राज्य की परिभाषा सिसरो ने अपने ढंग से की है। "कामनवेल्थ वास्तव में जनता का संगठित प्रयास है। जनता का अभिप्राय जन समूह या वर्ग है। परन्तु प्रत्येक वर्ग का समूह स्वेच्छा से किसी भी रूप में मिलकर राज्य नहीं बना सकते। इसके लिये तो वड़ी संख्या में लोगों को एकत्रित होकर कानून तथा अधिकारों के सम्बन्ध में सामान्य सहमति व्यक्त करनी चाहिये और सामाजिक लाभ के लिये आपसी सहयोग करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।" इस प्रकार राज्य एक समष्टिगत संस्था (Corporate Body) है जिसमें सभी नागरिक सदस्य हैं और जो अपने सदस्यों को आपसी अभय तथा न्यायपूर्ण शासन (Just Government) देती है। इस धारणा से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि राज्य तथा विधि जनता की सम्पत्ति हैं इसलिये उसके अधिकार जनता के सामूहिक अधिकारों से उत्पन्न होते हैं। दूसरा यह कि यदि राजनीतिक अधिकार वैधानिक तथा न्यायपूर्ण ढंग से प्रयोग में लाया जावे तो वह जनता का सामूहिक अधिकार है। न्याय करने वाला मजिस्ट्रेट अपने पद के कारण इसका प्रयोग करता है। इसका वारंट (या आदेश) कानून है और

---

* इस सम्बन्ध में यह उक्ति स्मरण रखनी चाहिये कि न्याय के अभाव में राज्य पाशविक आतंक तथा लूट है—यह धारणा रोमन काल में प्रबल थी। (In the absence of justice what is the state exception organised brigandage ?)

वह स्वयं कानून से बनाया गया है।* तीसरा यह कि राज्य और विधि हमेशा किसी ऊँचे ईश्वरीय नियम से आबद्ध हैं, नैतिक तथा नैसर्गिक नियमों की अवहेलना नहीं कर सकते हैं।। इसका आशय यह कि मनुष्यकृत नियम-अनुशासन के ऊपर भी एक व्यापक अनुशासन है जो अनुल्लंघनीय है। शक्ति का प्रयोग राज्य के लिये आनुषंगिक है क्योंकि वह न्याय और अधिकार के प्रचलन के लिये ही उपयोग में लाई जाती है। इस तरह सिसरो ने सरकार के लिए त्रिविध सूत्र बनाये। सत्ता जनता पर अवलम्बित है, विधिसम्मत तथा विधि-प्रेरित है, और नैतिक आधार से ही अनुमोदित है। इन सिद्धान्तों को राजनीतिक दर्शन में सामान्त स्वीकृति मिली और ये सदियों तक सर्वमान्य सिद्धान्त (Common places of Politieal Philosophy) बने रहे।

शासन तथा संविधान के प्रभेद ढूंढ़ने में इस युग में दो विचारधारायें प्रबल थीं। एक तो मिश्रित संधान (Mixed Constitution) का श्रेष्ठ मानना और दूसरी संविधानों की चक्रवत् गति। इन धारणाओं को पोलियस तथा पेनेशस ने ग्रहण कर रोम के इतिहास के अनुकूल उसमें परिवर्तन करते हुए सिसरो शासन संघ का उल्लेख करता है। यूनान में शासन का वर्गीकरण करने में शासकदल तथा शासन के उद्देश्य ध्यान में रखे जाते थे। एकतंत्र, आभिजात्यतंत्र तथा प्रजातन्त्र ये ३ स्वीकृत खण्ड थे जिनके साथ विकृत रूपों को भी (आततायित्व, भ्रष्टकुलीनतन्त्र, भीड़ तन्त्र) रखा जाता था। रोम के विचारकों ने इस वर्गीकरण को ग्रहण तो किया किन्तु उनकी धारणा थी कि चक्रवत्गति के के कारण अच्छे और बुरे दोनों संविधान आते रहते हैं। एकतन्त्र से आततायित्व, आततायित्व से कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्र से भ्रष्टकुलीनतन्त्र, भ्रष्टकुलीनतन्त्र से प्रजातन्त्र, प्रजातन्त्र से भीड़ शासन—यह संक्रमण सर्वत्र प्राप्त होता है। इस धारणा के पीछे कोई ऐतिहासिक समर्थन नहीं बल्कि अनुभूत्यात्मक कल्पना ही अधिक थी। इस विचारधारा के पीछे कई लोगों के विचार छिपे होंगे किन्तु सबने अपने-अपने ढंग से शासन की व्याख्या की। सिसरो ने रोम के संविधान को आदर्श, स्थायी, अनुकरणीय तथा सुरक्षामूलक माना क्योंकि वैसा करना

---

*" As the laws govern the magistsate, so the magistrate governs the people, and it can truly be said that the magistrate is a speaking law and the law a silent magistrate."

—Cicero's De Legibus

रोम की परम्परा थी। इस तरह नगर-राज्यों का अनुभव खींचतान कर बड़े साम्राज्य में जोड़ने की चेष्टा की गई। सिसरो के ग्रन्थनायक सीपियो के शब्दों में शासन सम्बन्धी विचार साफ हो जाते हैं। सीपियो कहता है, "मैं किसी भी एक शासन-प्रकार से मुक्त रूप से सहमत नहीं हूँ। उन सब के सम्मिलित स्वरूप को मैं श्रेयस्कर तथा श्लाघ्य मानता हूँ क्योंकि उसमें सबकी विशेषतायें किसी न किसी रूप में सुरक्षित हैं।" इसी प्रकार के वक्तव्य अन्य रोमन विचारकों ने भी दिये हैं। यदि किसी एक अमिश्रित शासन या संविधान का चयन करना हो तो सिसरो एकतन्त्र (Monarchy) को ही चुनेगा क्योंकि वह पितृतुल्य शासन (Paternal rule) की तरह है जिससे राज्य का विकास तथा संरक्षण ठीक होता रहता है। दूसरे नम्बर के वह आभिजात्यतन्त्र को रखेगा और तीसरे में प्रजातन्त्र को। प्रजातन्त्र की कमजोरियों के सम्बन्ध में वह प्लेटो से अधिक प्रभावित है। किन्तु इस प्रकार प्रजातन्त्र की अवहेलना करके नागरिकों की मौलिक एकता की बात कहना कहाँ से संगत या उचित है, यह प्रश्न विचारणीय है। प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में इस तरह का बर्ताव करने से सिसरो में गम्भीर विरोधाभास मालूम होता है। सिसरो ने जिस तरह के विचार शासन तथा संविधान के सम्बन्ध में रखे और मिश्रित रूप को बढ़ावा दिया उसकी आलोचना में टेसीटस का यह वाक्य अक्सर जोड़ा जाता है कि 'मिश्रित रूपों की प्रशंसा करना तो आसान है लेकिन किसी एक रूप को भी अमल में लाना कठिन है।' राज्य तथा शासन के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त बनाकर रोम के संस्थामूलक इतिहास से सम्बद्ध करना सिसरो का प्रशंसनीय प्रयास था। किन्तु बनी-बनाई चीज लेकर लादने वाला व्यक्ति उसकी उपयोगिता वास्तविक क्षेत्र में नहीं दर्शा पाया। नई परिस्थितियों में पुराने विचारों को लागू करने की चेष्टा यह प्रतीत होती है। शासन सम्बन्धी विचार में सिसरो संगठित जनसमूह की हमेशा बात कहता है और उसकी परिभाषा भी निश्चित करता है। रोम की सीमा के अन्तर्गत उसे संकुचित राष्ट्रवादी परिभाषा भी कहा जा सकता है। इस परिभाषा के अनुसार आत्म शासित जनसमूह जो अपनी रक्षा तथा वृद्धि करने में समर्थ है राष्ट्रमूलक संगठन है। इसके अधिकार सुसंगठित तथा सर्वमान्य हैं और प्रत्येक स्थिति में लागू हैं।* इस परिभाषा में सबसे बड़ी कमी यह है कि

---

*"A People is a self governing organisation which has necessarily the powers required to preserve and continue its existence."

—Cicero.

जनसमूह कैसे आत्मशासित है ? कौन शासन करता है ? किसे जनता या प्रतिनिधि माना जाय ? जनसमूह की अभिव्यक्ति कहाँ, कब, कैसे होती है ? इत्यादि व्यावहारिक प्रश्नों के उत्तर हमें नहीं मिल पाते। इस दृष्टि से सिसरो के सिद्धांत अपूर्ण तथा भ्रामक है। शासकों को इस बात की चेतावनी वह हमेशा देता है कि जनसेवक के नाते उन्हें सदैव प्रजा का हितचिन्तन करना चाहिये अन्यथा प्रकृति कोप का सामना उन्हें करना पड़ेगा। आतंककारी राजाओं की हत्या (Tyrannicide) की सलाह उसने प्रच्छन्न रूप से दी है। शासकीय कार्यों में जनता को अधिक से अधिक हिस्सा लेना चाहिये किन्तु वह व्यावसायिक तथा औद्योगिक वर्गों (Commercial and Industrial classes) का विरोधी है क्योंकि धन के बल पर वे भ्रष्टाचार फैलाते हैं और लोगों का नैतिक पतन कर देते हैं। दूसरे वे वर्ग अपने स्वार्थ-लाभ तथा आधिपत्य के लिये शोषण, बल-छल सबका सहारा लेते हैं। शासकीय पदाधिकारियों को अपना जीवन शंका या भ्रष्टाचार से परे रखना चाहिये और अपने को ऐतिहासिक रोमन नागरिक का तुच्छ सेवक मानकर चलना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि अपनी अस्थिरता तथा ढुलमुल नीति के कारण (Fickleness and Fluctuations) रोमन जनता इतिहास प्रसिद्ध हो गई है।* अपने ग्रन्थ 'डी आफिसिस' (De officiis) में सिसरो ने पदों का महत्व तथा उनकी रक्षा करने के उपाय बताये। सत्ताधारी कब अत्याचार की ओर बढ़ने लगता है इसका पूरा आभास जनता को नहीं मिल पाता। बूंद-बूंद कर छनकर सत्ता आ जाने में राजा के पास केन्द्रित होती जाती है और एक रात उसे सर्वस्व सर्वोच्च बनने की धुन सवार हो जाती है। उस दिन से वह घृणास्पद (Despicable) तथा अनुपयोगी हो जाता है। इसलिये सत्ता पर अंकुश रखने के लिये सुरक्षा तथा स्वीकृति (Safeguards and Sanctions) जनता के पास होनी चाहिये। इनके अभाव में हुल्लड़बाज या धूर्त (Rabble-rouser or Demagogue) लोगों को अपना उल्लू सीधा करने का मौका मिलता है। यह स्थिति अराजकता से कम भयावह नहीं है। इसीलिये जहाँ रोम की जनता अत्याचार को बुरा से बुरा

---

*कभी भीड़ का अत्याचारी शासक को मारना, कभी उसकी पूजा करना, कभी अधिकारियों की अवहेलना करना, कभी राजमार्ग पर अनियंत्रित भीड़ लगा कर हुल्हड़ करना, ये सब मामूली घटनायें थीं। और आज भी यही सब विशेषताएं झुंड या भीड़ में पाई जाती हैं।

समझ कर (Tyranny is a bitter wrong against people) अत्याचारी को हटाने या मार भगाने का प्रयत्न करती है, वहीं दूसरी ओर वह दूसरे अत्याचारी को भ्रान्तिवश शासन का आमन्त्रण देती है। रोम के इतिहास में इसके कई उदाहरण भरे पड़े हैं।

वधि-सम्बन्धी विचार :

सिसरो का सबसे महत्वपूर्ण अनुदाय विधि सिम्बन्धी नियमों का स्पष्टीकरण है। प्राकृतिक विधि (Natural law) के सम्बन्ध में उसके विचार स्थायी तथा शास्त्रीय वक्तव्य के रूप में मान्य है। वास्तविक विधि की परिभाषा देते हुये सिसरो ने कहा कि विधि स्वभाव-सम्मत सामान्य विवेक है जो सार्वभौमिक तथा शाश्वत है। इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया गया है - "सच्ची विधि स्वभाव से अनुमोदित, उचित विवेक का पथ है। प्रयोग में यह सार्वभौमिक है, स्थायी तथा अपरिवर्तनशील है। अपने आदेशों से वह कर्तव्य की प्रेरणा देती है और निषेधों से भ्रान्तियों का निराकरण करती हैं।"* इसका अभिप्राय यह हैं कि विधि के दो गुण प्रमुख हैं। एक तो प्रयोगात्मक है जिससे सब पर सबके द्वारा यह लागू की जा सकती है। इसके फलस्वरूप ही सार्वभौमिकता की बात स्वीकार की जाती है। दूसरा गुण सर्वकालीनता अर्थात् किसी भी युग में काल का व्यवधान न मानते हुए निश्शंक भाव से इसका प्रयोग होना चाहिये। युग, काल या समय के परिवर्तनों का इसकी मौलिक अंतरंग धारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इससे यह विधि अविनाशी तथा चिरन्तन या शाश्वत हो जाती है। राज्य की उत्पत्ति का आधार यह विधिव सिद्धान्त ही है। सर्वोत्तम या आदर्श राज्य में विधि की प्रधानता है। विधि की उपेक्षा करने से अराजकता तथा विप्लव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। विधि सामान्य होती है, विशेष नहीं। व्यक्तिगत आचरण में नैतिकता का जो महत्व है वही शासन में विधि का है। राजनीतिक आचार या व्यवहार का नियन्त्रण या संतुलन करने के लिये ही विधियों का निर्माण हुआ है। यों तो कानून सम्बन्धी विचार सिसरो ने 'डी लेजिबस' में स्पष्ट किये हैं लेकिन उनके लिखने का उद्देश्य उन दार्शनिक विचारों को स्पष्ट तथा विस्तृत व्यावहारिक रूप देना है जिन्हें 'डी रिपब्लिका'

---

*"True law is right reason in agreement with the nature: it is of universal application, unchanging and everlasting; it summons to duty by its commands, and averts from wrong doing by its rpohibition."

—Maxey—page 86

में वह स्थापित कर चुका है। कानून की मर्यादा, उसकी मान्यता और क्षमता का पूरा-पूरा उल्लेख करने के बाद सुगठित तथा सुशासित राज्य के लिये वैज्ञानिक विधि-संहिता (Code of Laws) बनाने का काम भी वह करता है। ऐसा करने में वह रोम के परम्परागत कानून का अनुसरण करता है पर कहीं-कहीं अनुमान तथा कल्पना के सहारे भी तर्क करता है। रोमन विधि-सिद्धान्तों को समानता, न्यायप्रियता तथा तारतम्य के आधार पर उसने सर्व-प्रिय तथा व्यापक बना दिया। इसका प्रभाव साम्राजवादी न्यायाचार्यों तथा ईसाई धर्माचार्यों पर भी पड़ा। विधिशास्त्र में जिस संवैधानिक नैतिकता (Constitutional Morality) का महत्वपूर्ण उल्लेख किया जाता है। उसकी रक्षा करने तथा उपयोगिता बनाये रखने की ओर भी वह संकेत करता है। प्राकृतिक विधि के सम्बन्ध में विरक्तिवादियों (Stoics) की धारणा की पुष्टि करते हुये सिसरो ने जो भी विचार विधियों के सम्बन्ध में व्यक्त किये वे आज तक प्रभावशाली हैं।

विरक्तिवादियों ने कानूनी अर्थ में तो कम पर नैतिक अर्थ में अधिक प्रचार जिन तत्वों का किया उनमें विश्व-राज्य की कल्पना, प्राकृतिक न्याय, विश्व की सार्वभौम नागरिकता आदि थे। उन दिनों विभिन्न विचार पन्थों (Schools of thought) में एक दूसरे से ग्रहण करने की पद्धति थी। पेनेशस तथा क्रिसिपस के विरक्तिवादी विचार सीपियानिक वर्ग (Scipionic circle) तथा सिसरो तक बिना किसी विशेष परिवर्तन के पहुँच गये थे। इस युग की कतिपय मान्यताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। एक तो लोगों का यह विश्वास था कि संसार में ईश्वरी शासन (Divine Government) चल रहा है, जो न्यायपूर्ण तथा दयालु है, जनता का पालन अपने बच्चों की तरह करता है। विशाल मानव-वंश के सभी सदस्य आपस में भाई-भाई हैं। भाषा, आचार-विचार, जीवन प्रणाली के अन्तर के बावजूद मनुष्यों में तात्विक एकता है। आचरण के कुछ ऐसे नियम जो न्याय, नैतिकता विवेक पर आधारित हैं सबके लिये अनिवार्य हैं, इसलिये नहीं कि उन्हें आदेशात्मक विधि के रूप में बताया गया है या न मानने से दण्ड मिलता है, पर इसलिये कि अपने आप अच्छे, उपयोगी तथा आदरणीय हैं।

मध्ययुग में तो वे स्वीकृति स्वयंसिद्धियों के रूप में ग्राह्य थे। आगस्टाइन तथा लेक्टेन्शस ने सिसरो के विचारों को सामान्य ज्ञान की तरह अपनी पुस्तकों में उद्धृत किया। विधि की सर्वोच्च सत्ता मानने का एक स्वाभाविक परिणाम

यह हुआ कि शासन में निर्वैयक्तीकरण (Depersonalisation) की भावना प्रबल होती गई और विधि प्रधान शासन (Rule of Law) स्थापित होने में सुगमता हो गई। एक बार जहाँ संविधान की महत्ता तथा पवित्रता (Sanctity) स्वीकार की गई। शक्ति संतुलन, संशोधन, नियमन, परिमार्जन, अनुगमन आदि अपने आप होने लगते हैं और विद्रोह तथा विनाश की संभावनायें कम होती जाती हैं। संविधान वास्तव में व्यक्ति समूह की सम्मिलित तथा परिष्कृत आकांक्षाओं का प्रतीक बनकर एक पवित्रतम अभिलेख बन जाता है जिसकी रक्षा करना प्रत्येक का कर्तव्य है। इसमें शासन के उद्देश्य, प्रकार, तरीके, भेद या अन्तर आदि इस प्रकार नियमपूर्वक सजाये जाते हैं कि समर्थन और विरोधी दोनों पक्षों का यथासम्भव समाधान होता जाता है। इसके साथ ही परम्पराओं (Conventions) की श्रृङ्खला व्यवहार में इस प्रकार बनती जाती है कि उसका मूल्य अधिक ठोस हो जाता है। परम्पराओं का मूल्य इस सम्बन्ध में लिखित प्रावधानों या धारा-उपधाराओं से कहीं अधिक होता है। संविधान की सर्वोच्चता का परिणाम यह भी होता है कि उसके अंतर्गत गठित की गई शक्ति या सरकार उसकी रक्षा करती है, उसमें अभिवृद्धि या संशोधन करती है। चूँकि संविधान जनता द्वारा ही अधिनियमित, अंगीकृत तथा आत्मार्पित होता है, जनता द्वारा ही बदला जा सकता है। अर्थात् सरकार में आमूल परिवर्तन करके ही नई जन शक्ति के अभ्युदय से नये संविधान की कल्पना की जाती है। इस प्रकार संविधान किसी भी देश की (भाग्यवादियों अथवा नक्षत्रशास्त्रियों के अनुसार) जन्मकुण्डली है जिसके सूक्ष्म अध्ययन से उसकी गतिविधियों, सम्भावनाओं तथा आपात स्थितियों का कुछ-कुछ परिचय मिल सकता है। इस पृष्ठभूमि में संविधान अपना महत्व बनाये रखते हैं। सिसरो ने संविधान को स्थायी तथा सार्वकालिक रूप देने की चेष्टा की। संविधान भी प्राकृतिक विधि पर ही आधारित है इसलिये उसके भेद-प्रभेद करना केवल सुविधा की दृष्टि से उपयुक्त है। वस्तुतः मिश्रित संविधान या संश्लिष्ट तत्व ही प्रमुख है। सिसरो की ये धारणायें न केवल रोमन विचारकों का परिचय देती हैं बल्कि यह भी बतलाती हैं कि अधिकांश दार्शनिकों के बहुत समय तक लगभग ऐसे ही विचार बने रहे।

रोम का राजनीतिक अनुदाय और सिसरो :

रोम के विचारकों ने राजनीति के मौलिक सिद्धान्त भले न दिये हों और यूनान की तरह सूक्ष्म बौद्धिक चिन्तन न किया हो, किन्तु उन्होंने समस्याओं का

व्यावहारिक समाधान ढूँढ़ने में अद्वितीय क्षमता तथा विद्वता का परिचय दिया। दार्शनिक शब्दावलियाँ तो उन्होंने यूनान से उधार ले लीं किन्तु वास्तविक राजनीति तथा प्रशासन के लिये हवाई उड़ान छोड़कर ठोस धरती पर अपने पैर उन्होंने जमाये। रचनात्मक विधि, अधिकारों का सिद्धान्त, संप्रभुता, राज्य का विधिमूलक स्वरूप (Juridical Concept), राजनीति सत्ता का स्थानान्तर, विधियों की धर्मनिरपेक्षता आदि विचार रोम से प्राप्त हुए। रोम की समस्यायें यूनान से भिन्न थीं। रोम का साम्राज्य विस्तृत तथा विविधतायुक्त था। उसका शासन चलाना प्रमुख कर्तव्य था न कि सैद्धान्तिक वाग्जाल में उलझे रहना। उनके बहुभाषी राज्यों (Polyglot Domains) में विधि का समन्वय धर्म और नैतिकता से करना असम्भव था, इसलिये उन्होंने विधि को धर्म नैतिकता के बन्धनों से मुक्त कर स्वतन्त्र रूप में खड़ा किया। दूसरे प्रोफेसर गेटेल के अनुसार, उन्होंने व्यक्ति और राज्य को पृथक किया, उनके कर्तव्य अधिकार निश्चित किये। राज्य की कल्पना वैधानिक व्यक्तित्व (LegalEntity or Personality) के रूप में की गई जो सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक तथा स्वाभाविक आश्रय था, जिसका कार्य व्यक्ति के अधिकार का संरक्षण करना था। इस प्रकार व्यक्ति और राज्य की मर्यादा-रेखा खींचकर प्रत्येक का स्थान निश्चित करना और अवैधानिक हस्तक्षेप (Illegal Encroachments) दूर करना उनका प्रमुख कार्य रहा। प्राकृतिक विधि तथा राष्ट्रीय विधि के रूप में उन्होंने अलग-अलग ढंग से कानून की मर्यादा स्थापित की। विधिशास्त्र का निर्माण इस प्रकार सम्भव हो सका। यूनान और रोम दोनों के राजनीतिक विचार एक दूसरे के पूरक थे, एक दूसरे की कमी दूर करते थे। यूनान नगर राज्यों की शासन कल्पना तथा आदर्श की मरीचिका लेकर चलता रहा किन्तु रोम के साम्राज्य का शासन अधिक व्यावहारिक था। रोम के साम्राज्य ने जिन प्रमुख राजनीतिक विचारों को परिपुष्ट किया वे हैं—विधि के सर्वयुगीन सिद्धान्त, सत्ता का केन्द्रीयकरण राज्य की मौलिक एकता, विश्वबन्धुत्व तथा सार्वभौमिकता की भावना। इनके साथ ही व्यापक सहिष्णुता, मानवता की भावना, मौलिक अधिकारों का संरक्षण प्रजातन्त्र की उपादेयता आदि उद्देश्यों की पूर्ति में उसने योग दिया। यह अवश्य है कि इन सिद्धान्तों में कुछ ऐसी बुनियादी कमजोरियाँ छिपी थीं जिनके कारण रोम का साम्राज्य ऐतिहासिक छायामात्र बन सका, अधिक समय तक क़ायम न रहा।

पोलीबियस, सिसरो, सेनेका इन तीनों विचारकों को रोम का 'राजनीतिक

मस्तिष्क' कहा जाता है। तीनों के विचारों में एक-सी गति है तथा एक ही लक्ष्य रहा है। पोलीबियस ने अपने ग्रन्थ 'रोम का इतिहास' (History of Rome) में उस साम्राज्य की महानता तथा गरिमा का परिचय देते हुये शासनतन्त्र का वर्गीकरण किया है जिसे सिसरो ने स्वीकार किया। वर्गीकरण एकाङ्गी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन स्वरूपों का भी उल्लेख था जो आन्तरिक शक्तिहीनता या दुरुपयोग से भ्रष्ट या विकृत हो जाते हैं। मिश्रित व्यवस्था को स्वीकार करना एक तरह से मध्यमार्गीय दृष्टिकोण कहा जा सकता है। शासन-व्यवस्था तथा संविधान के चक्रवत् घूमने की बात भी व्यवहार जगत् से अधिक सम्बन्ध रखती है। पोलीबियस के पहले लाइकरगस ने भी मिश्रित-विधान स्वीकार किया था। सिसरो ने उन परिस्थितियों का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक किया जिनके कारण रोम के विशाल गणराज्य को मिट्टी में जाना पड़ा। उसने निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न तत्वों के आपसी संघर्षण तथा गतिरोध के कारण (जिनका शमन शक्ति-प्रदर्शन या बलप्रयोग द्वारा होता) वह टूटा। उसने शक्तिशाली साम्राज्य की कल्पना आगे बढ़ाई किन्तु उन कमजोरियों से मुक्ति न पा सका। सिसरो की स्थिति उस व्यक्ति की तरह है जो विश्वबन्धुत्व के आदर्श तथा व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य के बीच पड़ा है और दोनों को जोड़ने का प्रयास करता है। सार्वभौमिकता की खोज में वह निकलता है पर व्यक्तिवाद का चोगा उतारना नहीं चाहता। सेनेका भी मानवमात्र की समानता में विश्वास करता है किन्तु सिसरो से अधिक भावुक तथा व्यक्तिवादी है। प्राकृतिक अवस्था की तरह वह ऐसी स्थिति की कल्पना करता है जिसमें पूर्ण सुख-शान्ति थी, मनुष्य निर्विकार, निश्छल था। बुराइयों के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई जो प्रतिबन्धात्मक कार्य करता है। सेनेका के विचार राजनीतिक कम, दार्शनिक अधिक हैं। अपने समय की निराशावादिता का ही वह चित्रण करता है। तीनों विचारक विरक्तिवादियों से प्रभावित हैं, राज्य को नैतिक विकास का साधन बनाना चाहते हैं। प्लेटो की दार्शनिक प्रतिभा तथा अरस्तू की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का समन्वय करने का प्रयास सिसरो ने किया। किन्तु उसमें न तो वह ज्वलन्त आशावाद तथा (काल्पनिक) आदर्शवाद है जो प्लेटो में था और न अरिस्टाटल की तरह बिखरे तथ्यों को समेटकर सिद्धान्त गढ़ने की क्षमता उसमें है। इतना अवश्य है कि दास-प्रथा का खंडन सिसरो ने (सेनेका, पोलिबियस ने भी) किया और इस प्रकार प्लेटो, अरिस्टाटल के विचारों की एक बड़ी भ्रान्ति दूर करने की चेष्टा की। सिसरो का महत्व इसलिये दूसरे विचारकों से कम नहीं समझना चाहिये।

समीक्षा :

विरक्तिवादी विचारधारा में और अशुद्धियां चाहे जितनी रही हों मानवता-वादी दर्शन (Philosophy of Humanitarianism) के रूप में उसकी ख्याति हुई। पेनेशस, क्रिसीपस, पोलीबियस आदि के विचारों का प्रतिनिधित्व करने में इस दर्शन को सफलता मिली और सिसरो इसे बढ़ाने में सफल हुआ। रोम के प्राचीन आदर्शों का पुनरभ्युदय सिसरो ने किया; कला-साहित्य का विकास किया; सहृदयता-सद्भावना-विनम्रता का प्रचार किया। सत्ता के दर्प से चूर, विक्षिप्त समाज की तंद्रा दूर करने के लिये रोम के विचारकों ने मानवशुद्धि का माध्यम जन-कला (Humanitas) में ढूंढ़ा।* यही कला विधि के माध्यम से प्रस्फुटित हुई। सीपियो-दल (Scipionic Circle) के सिवाय सिसरो ने इसकी उन्नति करने में अनुपम सहयोग दिया। रोम का कानून जो इसके पूर्व धार्मिक आचार, आडम्बर, पूर्वज-स्मृति, देवपूजा आदि कृत्यों से जुड़ा था और गैर रोमन लोगों से भेदमूलक बर्ताव करता था बिलकुल बदल दिया गया और उसे नया स्वरूप सिसरो ने दिया। इस हद तक तो सिसरो को सफलता मिली। दूसरे उन स्फुट विचारों को संकलित कर एक-सूत्रताबद्ध किया और सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया। राज्य, समाज, व्यक्ति विधि, सत्ता, अधिकार, नागरिकता, विश्व-बन्धुत्व आदि के सम्बन्ध में उनके विचार ध्यान देने योग्य हैं। सबसे बड़ी बात जो सिसरो ने सिद्ध कर दी वह यह कि शासकों के सारे अधिकार जनता से ही प्राप्त होते हैं; इसलिये जनता ही सर्वोच्च शक्ति मानी जानी चाहिये। जनता की इस शक्ति से ही शासन, संविधान, क्रान्ति आदि का संचालन होता है। इस अनुदाय से रोम के कानून को स्फाटिक रूप से सुडौल बनाकर (Crystallisation of the theory of law) पेश करने में सिसरो को सफलता मिली। लेकिन दूसरी बात भी उतनी ही सच है कि सिसरो की व्याख्या या उसके उपदेश रोम के गिरते साम्राज्यवाद को नहीं बचा सके। इतिहास ने अपना निर्णय रोम की व्यवस्था पर तो दिया ही सिसरो के सिद्धान्तों को भी काल की रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। इस पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होगा कि सिसरो ने भी केवल आदर्शों के ऊपरी आचारण पर ही ध्यान दिया, भीतरी कमजोरियों को छिपाता रहा। परिणामस्वरूप विधि व्यवस्था विचलित हो गई, निरंकुशता, भ्रष्टाचार,

*The humaintas was a corrective for the crudeness of a society drunk with power and unenlightened by taste or ideas and a means of idealising conquest.

स्वार्थ, आत्म-पुष्टि के सामने परास्त हो गई। नागरिक आदर्श मृतप्राय हो गये। स्वर्ण युग (Golden Age) बनाने की धुन में सब कुछ भूल जाने वाले विचारक लोहे पर ही पीतल का मुलम्मा इतने दिनों चढ़ाते रहे। सिसरो के विचारों में इतनी शक्ति न थी कि वह रोम की बुराइयाँ दूर कर सकता।

विधियों का जाल फैलाने के कारण व्यक्ति की उपेक्षा हो गई क्योंकि विधियों में उसकी अन्तर्निहित भावना (Spirit) की जगह ऊपरी ढाँचा या शब्दमात्र (Letter of law) प्रधान हो गया। कानूनी दांव-पेंच जहाँ बढ़ते हैं वहाँ कानूनी बारीकियाँ, भ्रामकता, असत्य तथा बाह्य आडम्बर (Legal niceties, quibble Prevarication and Technicalities) की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। इसीलिये किसी राजनीतिक का यह मत विचारणीय है कि बहुत ज्यादा कानून कभी-कभी दिमागी दिवालियेपन का सूचक है। दूसरे, सिसरो ने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में कोई नई बात नहीं कही, पुरानी बातों को ही निरर्थक जोर देकर दुहराता रहा। उसके सारे सिद्धान्तों के बावजूद सत्ता का दुरुपयोग या आततायित्व की स्थापना न रुक सकी। सत्ता के केन्द्रीकरण ने एक ओर निरंकुशता को जन्म दिया, दूसरी ओर विश्वशासन की भावनाओं को उभारा। विश्वबन्धुता की भावना कोरे आदर्श के रूप में तब भी थी, आज भी बनी है। एटम-युग का प्रकाश जिसे दूर न कर पाया उसे सिसरो अपनी टिमटिमी से क्या करते ? राज्य की एकता का सिद्धान्त अवश्य ही मान्य रहा और उस पर आगे चलकर विचारकों ने प्रकाश डाला। व्यक्तिवाद तथा समानता का प्रचार करने में सिसरो ने रोम के गणतन्त्रीय युग का समर्थन किया जो रोम की राजनीतिज्ञ परिपक्वता का सूचक था। लेकिन उस युग के बीत जाने, नष्ट हो जाने पर भी सिसरो इसी भ्रम में रहा आया कि उसे फिर से ला सकता है। इतिहास ने उसके विरुद्ध अपना मत दिया। नीरो (Nero) की तरह सम्राटों ने उस युग की अंत्येष्टि-क्रिया कर दी। लेकिन इस बात से असहमति नहीं प्रकट की जा सकती कि सिसरो ने व्यक्ति के नैतिक कर्तव्यों का उल्लेख कर सेवा-भावना की जागृति करने में अपूर्व सफलता पाई।

वह व्यावसायिक राजनीतिज्ञ या किसी संस्था अथवा सदन का संचालक न होकर एक विधिवेत्ता था जिसके ग्रन्थों में राजनीति के सिद्धान्तों की बजाय प्रत्यक्ष राजकार्य का विवेचन अधिक है। उसका दार्शनिक दृष्टिकोण प्लेटो, अरिस्टाटल

के साथ ही विरक्तिवादी विचारधारा (Stoicism) से पूर्णतः अनुप्राणित था। समता, सामंजस्य, विधानवाद और मध्यममार्ग पर उसकी आस्था दृढ़ थी। वह वस्तुतः अनुदारपन्थी (Conservative) था, जिसके विचार दक्षिणपंथी तानाशाही (Right Dictatorship) और वामपंथी उग्रता (Left Radicalism) से बचकर मध्यममार्ग का अनुसरण करते थे। एक समन्वित-संतुलित व्यावहारिक जीवनदृष्टि और कार्यप्रणाली का वह समर्थक था। एक ओर जहाँ प्लेटो का चिन्तन नगरराज्यों की संकीर्ण सीमाओं के भीतर था, वहीं दूसरी ओर सिसरो अपने स्थितप्रज्ञ दर्शन और प्रत्यक्ष प्रशासकीय अनुभव के बल पर विश्व-संगठन और व्यापक समस्या पर भी विचारशील था। मान्टेस्क्यू (१६८६-१७५५) ने सिसरो के सम्बन्ध में भावपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं।*

"सिसरो के ग्रन्थों से दिल-दिमाग दोनों ऊपर उठते हैं। उसकी प्रतिभा, वक्तृता, निर्भीकता, गरिमा और स्फूर्ति उल्लेखनीय हैं। जागरूक विचार प्रवाह, तेजी, आग, जोश और गम्भीरता के साथ वह न केवल प्रवक्ता और दार्शनिक है बल्कि स्वतन्त्रता का अजेय सैनिक एवं संरक्षक है। ब्रूटस, केसियस और केटो का उदात्त चरित्रचित्रण उसने किया। रिपब्लिक के शत्रुओं ने उस पर डटकर प्रहार किया—वेरेस क्लाडियस, केटिलीन, सीजर, एन्टोनी सब उसके प्रबल शत्रु बने लेकिन अपनी भावनाओं में वह सदैव अजेय बना रहा। जिस समय सीजर की दुर्धर्ष विजयवाहिनी इटली पर बढ़ी और पाम्पी ने रोम तथा इटली का परित्याग कर दिया उस समय सिसरो ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ऐसे कायर व्यक्ति का, जो देश छोड़कर भाग गया, वह कभी सम्मान नहीं कर सकता। अच्छा होता यदि वह प्राचीरों पर मर जाता और रोम के खण्डहरों में दफन हो जाता।"

सीजर के सत्तारूढ़ होने पर भी सिद्धान्तवादी सिसरो ने अवसरवादिताका आश्रय नहीं लिया। अपने स्वतन्त्र देश टस्कुलम में बैठकर वह ग्रन्थ रचना करने लगा। और फिर उसे साथी मिला गणतन्त्रवादी ब्रूटस जिसके भाग्य के साथ उसका भी अस्त हो गया।† विशेषतः ईश्वरीय प्रकृति के अन्वेषण पर उसके

---

*Political thought in perspective—William Ebenstein page—88.92.

†सीजर की हत्या के बाद एन्टोनी और आक्टेवियस के षडयन्त्रों ने पापिलियस के माध्यम से सिसरो को प्राणदंड दिया और इस तरह एक महान् चरित्र का नाटक समाप्त हो गया।

ग्रन्थ 'The Nature of the Gods and on Divination' दार्शनिक भावों से ओत-प्रोत है किन्तु उसने पुरातनपंथियों की धज्जी उड़ाते हुए नये आलोचनात्मक मानदण्ड प्रस्तुत किये। एक तरह से उसका रोल उत्कृष्ट राजनीतिक प्रशिक्षक (Political Educator) की तरह था।

विरक्तिवाद (Stoicism) :

प्रारम्भिक राजनीतिक विचारों में विरक्तिवाद का स्थान उल्लेखनीय है। रोम और यूनान की सही विचारधारा का प्रतिबिम्ब इसमें मिलता है। इसके अनुसार व्यक्तिवाद, सुखवाद और साम्राज्यवाद सब विध्वंसक हैं और इनकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न विश्वबन्धुत्ववाद एकमात्र सत्य है। अलेक्जेन्डर ने विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा लेकर इस दर्शन का व्यावहारिक प्रदर्शन किया जबकि उसने पारसीक, यूनानी, मखदूमी मेसीडोनियन आदि अलग-अलग कौमों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इस तरह सार्वजनीन एकता, विश्वबन्धुत्व और एक राज्य की विचारधारा शुरू हुई। इसका प्रवर्तक दार्शनिक जेनो (Zeno) था जो डिमिट्रियस के राज्यकाल में स्टोवा नामक स्थान से अपने विचारों की घोषणा करता था। इसके पूर्व सिनिक (Cynic) विचारधारा प्रचलित थी, जो एन्टीस्थेनीज और डायोजेनीज (Antisthenes and Diogenes) के नाम से सम्बन्धित है तथा जिसमें क्षेत्रीय संकीर्णता का निषेध करके व्यापक राज्य की कल्पना की गई है। इसी समय संशयवादियों (Sceptics) का भी एक वर्ग बन गया था। इस तरह का चिन्तन उस युग और समाज में अनिवार्य था जिसमें नये तत्वों का निरन्तर प्रवेश हो रहा हो। यूनानी संस्कृति के छोटे दायरे में (Closed Culture State) जब परिवर्तन, अनुकूलन और विघटन की आँधी चली तब नागरराज्य की जगह विश्वराज्य (Cosmopolis) की कल्पना होने लगी। यूनान की आदिम संस्कृति में सिनिक और स्टाइक बाहर से आने वाले तत्व थे किन्तु जिनकी उच्चस्तरीय घोषणा ने उन्हें यूनानी सभ्यता का नवीन सुधारक बनाया। जेनो, क्रिसीप्रस, एन्टीपेटर, पोसीडोनियस, आदि प्रमुख विरक्तिवादी साइप्रस के रहने वाले थे और यूनान आकर अपना प्रभाव दिखा गये। सिसरो का शिक्षक पोसीडोनियस प्लेटो के विचारों से प्रभाविक था परन्तु उसने विरक्तिवाद को ही प्रधानता दी। इसका मुख्य कारण यह था कि केवल आदर्श और अमूर्त कल्पना पर राज्य की नींव नहीं रखी जा सकती थी। जेनो आदि अपने विचारों में उग्र थे क्योंकि उनके मतानुसार केवल यूनानी प्रभुता खोखली थी इसमें एशियाई तत्वों का संयोग पर्याप्त

मात्रा में हो चुका था (Greco-Oriental World) और वह मिटाया नहीं जा सकता था।

यूनानी संकीर्णता की पुष्टि करने के बजाय उसे एशिया के ऐक्य और व्यापक दृष्टिकोण से उदार बनाने का कार्य निश्चय ही महत्वपूर्ण था। यही कार्य क्रान्ति के माध्यम से फ्रांस की राज्यक्रान्ति के अवसर पर स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व की जनघोषणा के साथ व्यक्त हुआ। मानव स्वाधीनता, मौलिक अधिकार और विश्वभ्रातृत्व की धारणा पुष्ट करने में इस विचारधारा का योगदान स्तुत्य है। रोम के नैतिक और वैधानिक जगत में इससे बड़े परिवर्तन हुए और कानून के आगे समानता का सिद्धान्त मान्य हुआ। दासप्रथा और स्त्री समाज की मुक्ति के अभियान में इसका प्रभाव स्पष्ट पड़ा। नागरिकता, प्राकृतिक विधि समानता और सामाजिक प्रगति के नियमों को इससे काफी प्रेरणा मिली। ईसाई विचारधारा में सेंट पाल के उपदेशों को प्रधानता इसी के बल मिली। ग्रोटियस, पफेलडार्फ, वोल्फ और ह्वाटेल आदि लेखकों ने (१७-१८वीं सदी) इसी के अधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समाज की नींव रखी और अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) का सूत्रपात किया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और मानव अधिकारों की घोषणा (१७८९ ई०) में इसका प्रभाव असंदिग्ध रूप से है। आज भी यह विचारधारा प्रेरक और भावपूर्ण है। स्टाइक, सिनिक, स्केप्टिक आदि विचारधाराएँ गम्भीर विवेचन के विषय हैं। सिसरों में इसकी एक झलक मात्र दिखाई पड़ती है।

———

४-मेकियावेली

(सन् १४६६-१५२७)

मध्ययुगीन अन्धकारपूर्ण अवस्था के गुजर जाने पर पन्द्रहवीं सदी में यूरोप में ज्ञान की नई दिशा प्रदीप्त हो उठी। बौद्धिक पुनर्जागरण (Renaissance) के फलस्वरूप साहित्य, राजनीति, दर्शन तथा कला के क्षेत्र में नई प्रतिभाएँ आईं। लगभग सौ वर्षों तक धर्मसत्ता तथा राजसत्ता के बीच निरन्तर संघर्ष के बाद कतिपय उद्दण्ड तथा महत्वाकांक्षी शासकों ने पोप के आदेश-पत्रों को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया और आतङ्ककारी शासकों का युग स्थापित किया। इंगलैण्ड में सप्तम हेनरी, स्पेन में फर्डीनेण्ड, फ्रांस में ११वें लुई तथा जर्मनी में सम्राट् मेक्समीलियन ने राष्ट्र-निर्माण के प्रयास किये। ज्ञान और निर्माण के इस उषःकाल में मेकियावेली पैदा हुआ कला-शिक्षा के केन्द्र इटली में जो उस समय दुर्भाग्यग्रस्त था। अपने समय की घटनाओं का सूक्ष्म पर्यालोचन करने के साथ ही उसने राष्ट्र की गतिविधियों में सक्रिय भाग लिया और राजाओं के भाग्य के साथ अपने को जोड़कर उत्थान-पतन के बीच डूबता-उतराता रहा। विशुद्ध राष्ट्रीयता की उपासना करते हुये धर्म, आचारशास्त्र, नैतिकता की स्थापनाओं को राजनीति से पृथक् करके उसने राजनीति को सर्वोच्च स्थान दिया। फिर राजनीति कोरी सैद्धान्तिक न रहकर प्रायोगिक या व्यावहारिक हो गई जिसका उद्देश्य सफलता-प्राप्ति रहा। इटली के प्रसिद्ध नगर फ्लोरेंस की शिक्षा-दीक्षा से प्रभावित प्रतिभाशाली मेकियावेली अपने युग की विभिन्न अन्तर्धाराओं से प्रसूत शिशु था जो आगे चलकर एक नई राजनीतिक सूझ या दिशा का जनक बना। राष्ट्रीय एकता के पुनीत यज्ञ में साध्य साधन का अन्तर्द्वन्द्व विनाशकारी है इसलिये अभीष्ट प्राप्ति में जो साधन सामने आये उसका निःसंकोच प्रयोग करना चाहिये। राज्य विस्तार, शक्ति निर्माण, प्रभुत्वस्थापन, सैन्य संचार आदि कार्यों में उद्देश्य प्रधान है और साधन गौण! हर हालत में शक्ति का अभ्युदय होना चाहिये। ज्ञान और शुचिता यदि सहायक हैं तो उनका स्वागत, यदि बाधक हैं तो उनका बहिष्कार! इतिहास में मेकियावेली का राजनीतिक नाम धूर्तता तथा निर्मम स्वार्थसाधना का पार्याय माना जाता रहा है। इसमें अतिरंजित दृष्टिकोण

अवश्य रहा। साहित्य में मेकियावेली शब्द राक्षसी या तामसी* (मेफिस्टोफ़िलियन) प्रवृत्तियों का पुञ्ज माना गया है।

इतिहास ने वर्षों मेकियावेली को अवमानना—तिरस्कार—प्रतारणा के नर्क में पटक रखा था। लेकिन एक समय ऐसा अवश्य आया जब उसे उचित सम्मान दिया गया। इटली में उसकी ४००वीं वर्षगांठ राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाई गई और फ्लोरेन्स में उसकी कब्र पर लिखा गया कि 'इतने महान् व्यक्ति के लिये सारी प्रशंसा अपर्याप्त है।'† बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने उसकी रचना से लाभ उठाया और जीवन भर वही किया जो मेकियावेली कह गया। लार्ड एगडन के अनुसार कालान्तर की घटनाओं ने मेकियावेली के कथन का औचित्य प्रमाणसहित सिद्ध किया। भारत में भी विदेशी शासक मेकियावेली के चरण-चिन्हों पर विभाजन नीत (Divide et Empera) के बल पर शासन करता रहा। इसके ग्रंथों का अध्ययन रिशलू, क्रिस्टिना, फ्रेडरिक, विस्मार्क, क्लीमेन्शों, मुसोलिनी, हिटलर, लेनिन, स्टालिन आदि सुप्रसिद्ध राजनीति-विशारदों ने किया और उसकी सूक्ष्मतत्वदर्शिनी, ऐतिहासिक तथा प्रयोगात्मक अध्ययनपद्धति से लाभान्वित होकर तुलनात्मक राजनीत में सफलता पाई या प्रभाव जमाया। वास्तविक राजनीति (Real Politik) तथा आधुनिकतम ऐतिहासिक विश्लेषण के संस्थापक के रूप में मेकियावेली का नाम अमर है।

संक्षिप्त जीवनवृत्त तथा ऐतिहासिक पार्श्वभूमि :

निकोलो मेकियावेली का जन्म इटली के सुप्रसिद्ध सम्पन्न नगर फ्लोरेन्स में सन् १६४६ में प्राचीन टस्कन वंश से सम्बन्धित एक सामान्य परिवार में हुआ। उसके पूर्वजों में से एक ने मेडिसी वंश के आतताइयों के विरुद्ध बगावत करके जेलयातना और मृत्यु से आलिङ्गन किया था। फ्लोरेन्स नगर में स्वतन्त्र गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। निकोलो का पिता वकील था और दोनों (पिता-पुत्र) अपने को गणतन्त्रवादी कहने में गौरव मानते थे। निकोलो को अपने समय के विद्यालयों में रोम के उत्कृष्ट आदर्शों- पुनर्जागरण के बौद्धिक

---

*मनुष्य की शुद्ध बुद्धि को ग्रसनेवाला राक्षस ग्रह जो अनैतिकता, उत्पीड़न भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख करता है। गेटे के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फाउस्ट' तथा मार्लो के डा० 'फास्टस' में इस चरित्र का उल्लेख है।

†Tanto Nomini Nullum Par Elogium (For so great a name no praise is adequate).

उद्बोधनों तथा ग्रीक-लेटिन साहित्य ग्रंथों की शिक्षा मिली थी। शिक्षणक्रम विवेकाश्रित, तर्क-जिज्ञासापूर्ण गवेषणात्मक तथा मानवतावादी था जिसका अमिट प्रभाव जीवनपर्यन्त रहा। राजनैतिक सूझ-बूझ, अद्वितीय प्रतिभा तथा कार्यक्षमता के कारण निकोलो गणतन्त्र की सेवा में दत्तचित्त होकर प्रविष्ट हुआ और विभिन्न पदों पर कुशलतापूर्वक कार्य करता रहा। दौत्य कार्य (Diplomatic Missions) में उसे २४ बार फ्रांस, रोम, बर्लिन के दरबारों में जाना पड़ा जहाँ उसने यथेष्ट प्रसिद्धि पाई। प्रत्यक्ष अनुभव, सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा समाहारात्मक दृष्टिकोण के बल पर उसे व्यापक ज्ञान भण्डार मिल गया।

मेडिसी-वंश के शासक लॉरेन्जो (Lorenzo the Magnificent १४६९-१४९२) के युग में वह रहा। लॉरेन्जो स्वत: कवि, उदारवृत्ति का शासक तथा कलाकारों-विद्वानों का पोषक था। इसका युग इटली के अभ्युदयकाल का प्रभात माना जाता है। इटली के पाँचों राज्यों—नेपल्स, रोम, वेनिस, फ्लोरेन्स और मिलान—में उसने सन्तुलन कायम रखा। दुर्भाग्यवश स्पर्धा तथा षड्यन्त्र का शिकार होने से लॉरेन्जो स्वतः घायल हुआ और इसका भाई मारा गया। सन् १४९२ में उसकी मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी पीरो राजगद्दी पर आया पर वह दो वर्ष में ही निर्वासित कर दिया गया। चार्ल्स अष्टम के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेनाओं ने फ्लोरेन्स पर आक्रमण किया। डोमीनिकन पादरी सावनारोला ने गणतन्त्र में सुधार करके धर्मराज्य बनाने की चेष्टा की किन्तु वह भी सन् १४९८ में समाप्त कर डाला गया। इन संकटपूर्ण घड़ियों में निकोलो को फ्लोरेन्स गणतन्त्र के द्वितीय मुख्य-विभाग (Second Chancery) का मन्त्री चुना गया। दस सदस्यीय शासन परिषद (Decemvirate or Council of ten) का वह प्रमुख सदस्य था। इस प्रकार जब वह सत्ता तथा वैभव के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान था अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों का ज्वार भयानकता से उठा। रेवेना की लड़ाई में स्पेन के मुकाबले फ्रांस की हार सन् १५०९ में हुई और उसकी भीषण प्रतिकिया फ्लोरेन्स में हुई। राजनीतिक लक्षण बदला, मेडिसी वंश पुनःस्थापित किया गया और मेकियावेली निष्कासित कर दिया गया। तब से उसके जो दिन बिगड़े तो कभी न फिरे। उसका जीवन निर्वासित अवस्था में गरीबों तथा जङ्गली लोगों के बीच अध्ययन करते बीता। अपने ग्रामीण आवास सेन केसियानों में उसने दाँते, पेट्रार्क, टिबूलस, ओविड आदि का साहित्य पढ़ने के साथ राजनीतिक मनोविश्लेषण भी किया। इसी समय उसने ग्रंथ-रचना भी की। राजद्रोह के अभियोग में उसे बन्दी-जीवन भी बिताना पड़ा। नये लारेन्जो (मृत्यु १५१७ ई०) के शासनकाल में उसने

आशा की कि उसका खोया हुआ स्थान फिर से प्राप्त होगा किन्तु वह दुराशामात्र सिद्ध हुई। फ्लोरेन्स का इतिहास लिखने का काम उसे नाम मात्र के वेतन पर कार्डीनल डि मेडिसी द्वारा दिया गया। असमर्थता, दरिद्रता, अभाव तथा अशान्ति के बीच मेकियावेली चक्कर खाता रहा। फिर एक ओर से जर्मनी के चार्ल्स पंचम और फ्रांस के फ्रान्सिस प्रथम ने इटली पर आधिपत्य जमाना चाहा और दूसरी ओर मार्टिन लूथर का सुधारवादी आन्दोलन (The Reformation) तीव्रतर हो गया। ऐसे समय रोम का पतन और मेडिसी वंश का निष्कासन हो गया। सन् १५२७ में नये संगठित इटली का स्वप्न लिये मेकियावेली की मृत्यु हो गई।

जिस समय इङ्गलैंड, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने में जुटे थे, इटली में भ्रष्टाचार, गृह-कलह, षड्यन्त्रों का बोलबाला था। पवित्र रोमन साम्राज्य जिसके सम्बन्ध में सत्ताधारियों में यह धारणा बन गई थी कि वह रोमन गुणों से रहित, अपवित्र साम्राज्य का भूत था, कब का विनष्ट हो चुका था। अन्य राष्ट्रों में व्यवसाय, वाणिज्य यातायात की उन्नति होने से वैभव, विपुलता, सम्पन्नता की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि हो रही थी किन्तु इटली में आतंक, निराशा, दरिद्रता, अशान्ति की बदली छाई हुई थी। सामान्तवादी व्यवस्था तथा आक्रमण की सम्भावना के कारण कृषकों का जीवन भी दुखमय था, यह युग कायरों तथा दुस्साहसियों की प्रधानता का था। इटली के पांच राज्यों में अलग-अलग व्यवस्था थी—वेनिस और फ्लोरेन्स में गणतन्त्र, नेपल्स में राज्यतन्त्र, मिलान में ड्यूक का शासन और रोम में पोप का धर्मराज्य (Vatican Empire)। आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने के कारण इटली में बड़े पैमाने पर 'भृत्यजीवी सेना' (Mercenany Army) बन गई जो किराये पर किसी पक्ष की ओर से लड़ने को तैयार रहती। चर्च और पोप की स्थिति विदेशी षड्यन्त्रों को बढ़ावा देती थी। धर्म की खाल ओढ़ने वाले नकली धर्माचार्य लिप्सा-वासना दुर्बुद्धि के कृमि-कीटों से बदतर थे। धर्मभ्रष्ट-मानव पशुतुल्य होता हैं (धर्मेण हीना पशुभिः समानाः) और इटली में मानव निम्नतम पशु की तरह था। पोप का काम यह हो गया था कि चोर से कहना कि चोरी करे और महाजन से कहना कि वह आराम से सोये। विदेशी शक्तियों को तो वह आक्रमण के लिए उकसाता और इटली की जनता को धर्म की अफीम घोलकर देता। पाण्डित्यवादी विचारक (Scholasticism) बड़े-बड़े प्रमाणों रूपकों का आसरा लेकर श्रद्धा-विश्वास की निरर्थक बकवास करते थे। ऐसे दुर्दिन में फ्लोरेन्स का एक मेधावी नागरिक (Brilliant

Florentine) निकोलो चिकित्सक के रूप में सामने आया। असह्य यातना से कराहते-छटपटाते रोगी के लिये उसने जहर का नुस्खा तैयार किया। सम्पूर्ण इटली को राष्ट्रीयता के सुदृढ़ सूत्र में बाँधने की कामना लेकर मेकियावेली व्यावहारिक राजनीति का प्रयोग करना चाहता था और उसके लिये मार्गदर्शन भी किया। अपने जीवन में तो उसकी आशा फलवती न हुई किन्तु मैजिनी, गेरीबाल्डी, केव्हूर, इमेनुअल आदि देशभक्तों ने उसकी शिक्षा से लाभ उठाकर इटली का पुनरोत्थान (Italian Irredentism) साकार किया। राष्ट्रीयता की कल्पना मेकियावेली ने शक्तिशाली राजतन्त्र के रूप में की और ऐसे राजा की अनिवार्यता सिद्ध की जो प्रबल, प्रचण्ड, दुर्धर्ष, सर्वज्ञ तथा महाप्रतापी हो। जर्मनी के प्रसिद्ध इतिहासकार रेंक (Ranke) तथा फ्रेडरिक मीनेक ((Friederick Meineck), इङ्गलैंड के लार्ड एक्टन (Lord Acton), फ्रांस के रेनादे (Renandet) आदि मेकियावेली को देशभक्त, राष्ट्रसेवी, मानवतावादी, प्रकर्षशील तथा ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं।*

ग्रन्थ, प्रभाव तथा अध्ययन पद्धति :

मेकियावेली का युग प्रवर्तक ग्रन्थ 'प्रिन्स' है जो सन् १५१३ ई० में लेटिन भाषा में लिखा गया। उसके ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा कूटनीतिक विचारों पर प्रकाश डालने वाला महत्वपूर्ण आकर्षक अभिलेख के रूप में यह ग्रन्थ सर्वमान्य है। ग्रन्थकर्त्ता का मूल उद्देश्य है ऐसे शासक का सृजन करना जो बर्बर जातियों से इटली को मुक्त करे और राष्ट्रीय एकता को स्थायी, सबल सैन्यशक्ति से संयोजित करे। यह ग्रन्थ मेकियावेली की मृत्यु के ५ वर्ष बाद सन् १५३२ में प्रकाशित हुआ और २० वर्षों में इसके पचीस संस्करण हो चुके थे। सीजर बोर्जिया (Cesare Borgia) इसका नायक है जो आदर्श नरेश का प्रतीक है। इसमें कुल २६ अध्याय हैं जिनमें राज्य के विविध प्रकार, सैन्य संगठन दैनंदिन राज्यशासन, राजा के लिये नीति-कूटनीति की शिक्षा, इटली के पतन के कारण, भाग्यवादिता का खण्डन आदि महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालते हुये अन्तिम अध्याय में इटली-मुक्ति के लिए राजा को आह्वान किया गया है (Exhortation to liberate Italy from

---

*मुसोलिनी के विरोधी काउण्ट कार्लो स्फोर्जा (Count Carlo Sforza) ने (Living thoughts of Machiavelli) अपने ग्रन्थ में मेकियावेली के सशक्त, जानदार विचारों का अनुमोदन किया।

barbarism)। कुछ आलोचकों ने इस ग्रन्थ को सत्ताधारी राजनीति का प्रतिनिधि ग्रन्थ मानकर स्वीकार किया और कुछ ने इसे तानाशाहों का अधिकार पत्रक (Blueprint for Dictators) माना। इसका विवेचन पूर्णतया वैज्ञानिक आधार पर है और लेनार्डो ऑलस्की ने अपने ग्रन्थ 'मेकियावेली, दि साइन्टिस्ट' में यह सिद्ध किया कि वह अरस्तू से अधिक यथार्थवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थक था। बहुत समय तक यह ग्रन्थ (प्रिंस) जब्त रहा और इसे अनाचार, (Emblem of Immorality) अनैतिकता, नास्तिकता, दुर्भावना का प्रचारक ग्रन्थ माना जाता रहा है। किन्तु धीरे-धीरे यह प्रतिबन्ध उठा और इस ग्रन्थ की सारी विशेषताएँ प्रकाश में आईं। प्रत्यक्ष व्यवहारवाद तथा पूर्ण सुविधा (Pragmatism and Expediency) का आधार लेकर ही ग्रन्थ लिखा गया। उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों का निष्कर्ष इस रूप में बताया गया है कि योग्यशासक में शक्ति तथा धूर्तता का (शेर और लोमड़ी का) मिश्रण होना चाहिये। शक्ति ही सर्वस्व तथा श्रेष्ठ है। साध्य के लिये साधनों का विसर्जन करना चाहिये। आवश्यकता के आगे कोई नियम-उपनियम नहीं है। विस्तार, प्रक्षेप, दमन तथा आत्मतुष्टि की नीति अनिवार्य है। नैतिकता, धर्म आदि के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिये। निश्चय ही यह ग्रन्थ उसकी सर्वोत्तम कृति है जो पीरो द मेडिसी के पुत्र नये लारेन्जो को इस उम्मीद से भेंट की गई थी कि उपेक्षित, बहिष्कृत मेकियावेली को फिर से सम्मान प्राप्त होगा। उसकी दूसरी रचनाएँ "डिसकोर्सेज आन लिव्ही"* तथा फ्लोरेन्स का इतिहास है। इनमें वह फ्लोरेन्स के गणतंत्र की प्रशंसा करते हुये इटली को विशाल रोमन गणतन्त्र के रूप में चित्रित करने का स्वप्न देखता है। इटली के निवासियों को वह विश्व की सभी जातियों से श्रेष्ठतम योग्यतम मानता है। फ्रांस और स्पेन की जीत का कारण वह राजनीतिक संगठन की योग्यता मानता है इसलिये इटली में वह राजनीतिक संगठन का बिगुल फूंकना चाहता है। इस संगठित रूप में भूमध्यसागर पर अपना वर्चस्व स्थापित कर (Mare nos trum अथवा हमारा समुद्र) इटली सभ्य देशों में मूर्धन्य हो सकता है। रोम ने एक समय इतिहास में अपनी यशःपताका सबसे ऊँची फहराई थी। प्रयत्न करने पर एक बार फिर से वह झुका हुआ, गिरा हुआ परचम दूनी ताकत से उठाया जा सकता था। उसके तर्क में भावपूर्ण धाराप्रवाह वक्तृत्व (Impassioned Eloquence) कटु, अतिरंजित तथा उग्र लेखन शैली

---

*Discourses on the first ten books of Titus Lixius यह ग्रन्थ का नाम था।

(Dithyrambic Quality), ऐतिहासिक तथा बौद्धिक विश्लेषण, तथा तामसी या पैशाचिक अट्टहास (Elfish Homour) की ध्वनि है। उसने राजनीति को अनैतिक या भ्रष्ट नहीं बनाया—यह काम तो उसके पूर्व ही किया जा चुका था—किन्तु उसने ऊँचे आसनवाले धूर्त तथा पाखंडी धर्माचार्यों की बकवास बन्द कर अपूर्व साहस का प्रशंसनीय परिचय दिया।*

अपने पूर्ववर्ती विचारकों में अरिस्टाटल का सर्वाधिक प्रभाव मेकियावेली पर पड़ा। अरिस्टाटल के विवेचन में वैज्ञानिकता थी, यथार्थवाद का पूरा ध्यान था और तर्कसम्मत वर्गीकरण था। मेकियावेली ने भी यही प्रयोग किया और उसके वर्गीकरण से लाभ उठाया। रोमन इतिहास तथा संस्थानों से भी मेकियावेली पूर्ण परिचित था। रोम के प्राचीन वैभव और गौरवशाली इतिहास का वह अनन्य भक्त था। रोमन विधिसंहिताओं का प्रभाव भी उस पर था। धार्मिक आन्दोलन के अभ्युदय तथा विकास और पाण्डित्यवाद (Scholasticism) के प्रति उसकी आस्था नहीं थी और उसने अपने लेखों में इनके विरुद्ध विशुद्ध राजनीतिक मतवाद खड़ा किया। आचार शास्त्र में भी नैतिकता की पुरानी परिपाटी का मेकियावेली ने कड़ा विरोध किया। प्राचीन मूल्यों की अवहेलना करते हुये उसने यह घोषित किया कि व्यक्ति और राष्ट्र की नैतिकता अलग-अलग है। व्यक्ति के लिये निषिद्ध होने पर भी यदि कोई वस्तु राष्ट्रहित में उपयोगी है तो उसका प्रयोग अनैतिक कदापि नहीं हो सकता। वास्तव में सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्ष विचारक (Secular) मेकियावेली ही था जिसने अपने अनुभूतिपूरक ऐतिहासिक प्रयोगों के बल पर चिन्तन की नई दिशा निश्चित की। वह पहला दार्शनिक था जिसने यूरोप में वास्तविक प्रकृति धर्म तथा सद्विवेक का साम्राज्य प्रचलित किया। स्वतन्त्रता का वह स्वतः समर्थक था और आदिकालीन निर्बन्ध स्वाधीनता का स्वच्छंद आनन्द लेना चाहता था।† उसकी सामान्य धारणा यह भी थी कि विवेक की भी गति जहाँ न हो वहाँ आवश्यकता बरबस खींच ले जाती है।‡ इसके बल पर उसने अपने काल की

---

*"He did not demoralise Politics—that had been done centuries before—but he did debunk the sanctimonious cant of holy frauds in high places with a pitiless candour that is not undeserving of admiration" (Chester Maxey—Political Philosophies)

†Freedom from shackles and resteraints imposed on men's thought and action by dogmas of scholasticism and freedom to revel with untrammelled spirit of the ancients.

‡"Where reason does not lead, necessity often drives."

समस्याओं पर पूरा-पूरा ध्यान दिया और उनका समाधान प्रस्तुत किया। व्यावहारिक प्रत्यक्ष राजनीति में जमने और उखाड़ दिये जाने के कारण मेकियावेली शंका, सतर्कता, अवसरवादिता और कुटिलता का प्रवर्तक हो गया। इटली राष्ट्र का एकीकरण तथा पुनर्निर्माण, राष्ट्र सम्पत्ति का विकास, पाखंडी अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का खंडन, समाज में पुनर्भ्युदय का शुभ्र ज्ञानालोक फैलाना, तात्कालिक तथा प्राथमिक समस्या का हल निकालना मेकियावेली के कुछ प्रमुख कार्य थे।

मेकियावेली की अध्ययन-पद्धति के विषय में कुछ विशेषताएं स्पष्ट हैं। ऐतिहासिक अध्ययन-प्रणाली का सहारा लेकर उसने अपने उद्देश्यों की पुष्टि के लिये तथ्य ग्रहण किये। सिद्धान्त-प्रतिपादन उसका कार्यक्षेत्र न था, वह तो सुविधाजनक मार्ग का अन्वेषी था इतिहास को वह मानव जाति के अधः पतन की करुण कथा मानता था। राजदर्शन में ऐतिहासिक पद्धति महत्वपूर्ण मानी जाती है साथ ही उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक, यथार्थवादी था। (भले ही वह अतियथार्थवाद की सीमा पर पहुंच गया हो) आदर्शवाद को वह धर्म का ढोंग मानता था। निरूपणात्मक विशेषता के कारण वह तत्कालीन स्थितियों का मूल्यांकन करने में विशेष पटु था। कूटनीतिक कार्य करते रहने के कारण उसकी निरीक्षण-शक्ति तीव्र थी। व्यक्ति और राष्ट्र के स्वभाव को भली-भाँति उसने समझने का प्रयास किया। मनोवैज्ञानिक भ्रान्तियां उसमें अवश्य रह गईं लेकिन उसने मानव जीवन में विशुद्ध राजनीतिक प्रेरक-हेतु (Political Motivation) ढूंढ़ा। मानव स्वभाव का चित्रण एकाङ्गी तथा भ्रामक था लेकिन मेकियावेली का वह मूलाधार था। वैज्ञानिक अनासक्ति तथा तटस्थता उसके विचारों में पर्याप्त हैं। वैज्ञानिकों के विचारों में प्रत्येक भौतिक तथ्यों का कार्य-कारण-सम्बन्ध रहता है और उसमें व्यक्तिगत समीकरण का अभाव रहता है। आगमनात्मक विधि (Inductive Method) के कारण वह अनुभूत्यात्मक साधारणीकरण की दिशा में प्रवृत्त हुआ और ध्येयवाद का प्रवर्तक बना। धार्मिकता, परम्परा, रूढ़ि, जटिलता तथा निरपेक्ष बौद्धिकता या पाण्डित्य प्रदर्शन का घोर विरोधी था। राजनीति का शुद्ध रूप रखने में उसने पुनर्जागरण की उन्मुक्त प्राकृतिक बुद्धि के सहारे यह प्रयत्न किया कि राजनीति धार्मिक उपदेशों या दृष्टान्तों का प्रकरणमात्र न रह जाय।* इस प्रकार वह राजनीति को कला के रूप में

---

*He avoided political science to be a congeries of moral and religious precepts and advanced rationalism of pagan Renaissance,

देखता है। मेकियावेली की अध्ययन-पद्धति सर्वथा दोषहीन नहीं है। पक्षपात, पूर्वाग्रह, हठवादिता तथा एकाङ्गी दृष्टिकोण उसकी विशेष त्रुटियाँ हैं। पोप के प्रति घृणा, धर्म का अनादर, मानव-स्वभाव की स्वार्थपरता, छद्म-छल की नीति, राजा के प्रति पक्षपात तथा सत्ताधारी मद, दोष-उपासना, मेकियावेली के विचारों को कमजोर बनाते है। लेकिन केवल इतने से ही उनकी उपादेयता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह स्मरण रखना चाहिये कि वह अन्य विचारकों की तरह काल्पनिक स्वप्नदृष्टा या समाजशास्त्री नहीं था। सारी दुनिया के लिये व्यवहार संहिता या राज्यमीमांसा लिखना उसका ध्येय न था वह तो इटली का राष्ट्रीय सेवकमात्र था।

मानव स्वभाव, नैतिकता तथा धर्म :

मेकियावेली ने मनुष्य के संकल्पों और कार्यों के सम्बन्ध में प्रेरक कारण का उद्घाटन किया और यह सिद्ध किया कि स्वभावगत दुष्टता के कारण ही मनुष्य अधोगति को प्राप्त हुआ। विभिन्न वर्गों या जनसमूहों तथा व्यक्तियों के सम्पर्क में अपनी सूक्ष्म, पैनी अन्तर्दृष्टि के बल पर उसने मनुष्य-स्वभाव का विश्लेषण किया। उसके अनुसार मनुष्य की अहंकृति तथा स्वार्थचेतना (Universal Egoism) उसके सारे क्रियाकलापों के मूल में हैं। विभिन्न कमजोरियों से आक्रान्त मनुष्य सद्गुण या परोपकार जैसी बातों से पूर्ण अपरिचित है। उसे कार्यप्रेरणा तथा उत्तेजना (Incentive and Drive) स्वार्थपरता के बल पर ही मिलती है।* मनुष्य शारीरिक दृष्टि से दुर्बल, मानसिक दृष्टि से वह मूर्ख तथा स्वभावतः दुराचारी, पापी होता है। अपने विचारों में वह अस्थिर तथा ढुलमुल, कार्यों में निष्करुण और कृतघ्न तथा व्यवहार में धोखेबाज तथा लन्दी-फन्दी होता है। प्रत्यक्ष लाभ के लिये वह बड़े से बड़ा स्वांग रचता है, पाखंडी बनता है, कभी भिक्षुक, कभी सन्त, कभी अमीर-उमरा, तो कभी नेता अलग-अलग भेषों में वह अपनी लालसा-वासना की पूर्ति अहर्निश करता रहता है। लालची होने के साथ ही वह कायर भी है। भय के कारण ही वह दूसरों से प्रेम करता है और साथ देता है। मनुष्य विलासी होने के कारण आराम प्रिय है, आनन्दवादी-भोगवादी है, कष्टों से घबराता है, उन्हें दूर रखने के प्रयत्न करता है। योग्य शासक का इतना आतंक और रोब रहना चाहिये कि लोग उनके भय के कारण ही कर्तव्यपरायण बने रहें। घृणा मनुष्य

*Material self-interest is the most potent of all factors of political motivation. —Machivelli

के स्वभाव में दूसरा अस्त्र है जिसे वह समय-समय पर काम में लाता है। बड़ी आशा लगाये प्रत्येक व्यक्ति उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब बाप मरता है और बैल बँटते हैं। इसीलिये उसका यह वाक्य प्रसिद्ध है कि मनुष्य पिता की मृत्यु का दुःख आसानी से भूल जाते हैं पर पितृधन की हानि नहीं भूलते Man more readily forget the deah of father than the loss of patrimony) कपट-वासना-स्वार्थ का पुंज मानव अपने ही द्वारा बुने गये जाल के भीतर छटपटाता हुआ नष्ट हो जाता है। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य निरन्तर परिवर्तनों के बीच घिसता-पिसता जा रहा है। ऊपर से नीचे गिरना उसकी स्वाभाविक परिणति है। मानव इतिहास पतन से प्रलय, महाप्रलय की ओर बढ़ रहा है। और वह दिन दूर नहीं जबकि यह पापी जीवन भयानक विस्फोट के साथ विलीन हो जायेगा। इस तरह के चित्रण में मनुष्य के आदि पाप (Original Sin) की धारणा निहित है जो धर्माचार्यों ने प्रचलित की थी।

इस तरह का विश्लेषण एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया गया। मेकियावेली का शासक भी एक मानव है जो इन सब दुर्गुणों से युक्त है फिर कैसे वह सब दोष दूर कर सकता है ? उसका उद्देश्य था शासक को सतर्क-सशंकित रखना जिससे वह व्यर्थ के मायामोह में न फँसे। मनुष्य स्वभाव को बिलकुल काले रंग में पोतने के बाद भी मेकियावेली यह मानता है कि उसका सुधार सम्भव है। नियन्त्रण, संयम, अनुशासन के द्वारा समाज में संतुलन रखा जा सकता है ऐसी उसकी धारणा है। इतना अवश्य है कि इस तरह का चित्रण मनोवैज्ञानिक सत्य से परे है तथा अवैज्ञानिक भी है। केवल कुछ छिट-फुट उदाहरणों के बल पर व्यापक सिद्धान्त बना देना तार्किक भ्रान्ति है। यह चित्रण हाब्स के प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य-स्वभाव से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। इसके कारण ही मेकियावेली को मानवताद्रोही तथा घातक माना जाता रहा है।

इस तरह का कुत्सित-गर्हित मानव नैतिकता के कौन से मानदण्ड प्रस्तुत कर सकता था ? सिवाय स्वार्थसिद्धि के जहाँ कोई लक्ष्य दूसरा नहीं वहाँ नैतिकता की चर्चा व्यर्थ मानी जानी चाहिये। किन्तु इस सम्बन्ध में मेकियावेली अपने तर्क प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार नैतिकता दो प्रकार की है (Double Standards) एक तो व्यक्ति या जनता की अपने भले-बुरे की धारणा। इसके कारण ही वह सदैव कर्तव्यपालन में तत्पर रहते हैं। उनका हित इसमें

कि वे राजाज्ञा का पालन करें, सेवा, बलिदान और सज्जनता का प्रमाणपत्र प्राप्त करें। इसके विपरीत राजा परम स्वतन्त्र है। उसपर कोई नियन्त्रण नहीं, उसकी कोई नैतिकता नहीं। अपने शक्ति-संवर्धन या प्रभाव-विस्तार में जो उपयुक्त हो, सहायक हो वह सब न्याय और नैतिक है। येन केन प्रकारेण सफलता प्राप्त करना उसका उद्देश्य होना चाहिये, चाहे जिस साधन से हो। राजा का काम है आम खाना न कि गुठलियाँ गिनना। मेकियावेली द्वारा चित्रित आदर्श नरेश अपने सामने यह दृष्टिकोण लेकर चलता है कि न कोई चीज़ अच्छी है न, कोई बुरी। जरूरत पर जो काम दे और फल-प्राप्ति करा दे वह सब अच्छी। पाश्चात्य देशों में राजनीति की इस द्विधाविभक्त नैतिकता के कारण ही उसे धूर्तों का अन्तिम सहारा (Last refuge of a Scoundrel) कहा गया है। सच्चा राजा मेकियावेली के अनुसार वह है जो शक्ति, धोखा, पक्षपात (Force, Fraud, Favour) लेकर चले और साथ ही वह शेर की तरह शक्तिशाली हो और लोमड़ी की तरह चालाक। मेकियावेली की नीति को व्याघ्र-लोमड़ी नीति (Lion and Fox theory) कहा गया है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म लोक-परलोक, सगुन-असगुन, शत्रु-मित्र ये सब विचार का-पुरुषों के लिये हैं, राजा इनका दास नहीं हो सकता। बल्कि राजा हमेशा यह सीखे कि उससे अच्छा नहीं बनना है (Must learn how not to be good)। बेईमानी, धोखेबाजी, छल-कपट, अवसरवादिता, आडम्बर, हत्या-चोरी-डकैती सब कुछ कुशल शासक के लिये अनिवार्य है। ऊपर से मेकियावेली के ये सिद्धान्त अनैतिक तथा नृशंस मालूम होते हैं लेकिन वास्तव में सारा इतिहास और सारी राजनीति इन्हीं प्रयोगों का खुला अखाड़ा है। दुहरी नैतिकता की बात करते हुये मेकियावेली आचारशास्त्र और धर्म से राजनीति को पृथक करता है क्योंकि सदियों राजनीति धार्मिकता तथा नैतिकता की बन्दिनी बनी रही। मेकियावेली स्वतः न तो अधार्मिक है, न अनैतिक किन्तु वह राजनीति में धर्म तथा नैतिकता विरोधी बातों को प्रश्रय केवल इसलिये देता है कि उनके अवलम्ब से सफलता शीघ्र मिल सकती है। मध्ययुगीन इतिहास में धार्मिक चिन्तन अपनी चरम सीमा पर था और आचार, व्यवहार तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धार्मिक आदेशों या उपदेशों का प्राधान्य था।

मेकियावेली से पहले अरिस्टाटल ने भी राजनीति को आचारशास्त्र से अलग करने की कोशिश की थी किन्तु उसने अनाचार की स्थापना नहीं की। मेकियावेली ने धर्म को भ्रष्ट होकर अनाचार में बदलते देखा था। पोप, सामन्त,

गिरजा, सब विलसिता के भक्त थे और सदैव इस प्रयत्न में रहते कि कब दूसरों की सम्पति हड़प ली जावे। इन संस्थाओं ने राजनीति को अपनी चरणदासी की तरह रखा किन्तु इसके कारण ही पतन-परिवर्तन का कालचक्र घूमता रहा। इस खतरे को अच्छी तरह से मेकियावेली ने समझा और इसका इलाज किया। उसके अनुसार धर्म व्यक्तिगत मान्यता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म-पालन में स्वतन्त्र है, राज्य का इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं। किन्तु यदि धर्म राजकाज में आड़े आता है तो अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करता है, जिसका दंड है इसका विनाश, विघटन या बन्दीकरण। उपयोगिता के आधार पर ही धर्म का निर्णय हो सकता है। जिन कामों में धर्म की आड़ लेकर जनता की भावनाएँ उभाड़ी जा सकती हैं उनका प्रयोग स्तुत्य है अन्यथा वह दंडनीय है। व्यक्ति के लिये हत्या, पापाचार, सम्पति-अपहरण अधर्म है किन्तु राज्य के लिये समय पड़ने पर सब धर्म है। ईश्वरप्रणीत धर्म नामक कोई वस्तु मेकियावेली के मत से नहीं है। ईश्वरवादी मनुष्य भले हो या भूत-प्रेत पूजक हों, सगुण हों या निर्गुण हों, आस्तिक हों या नास्तिक हों इससे राज्य को कोई प्रयोजन नहीं। सारांश में धर्म मानवकृत अर्थात् कृत्रिम है और दो प्रकार का है। एक तो व्यक्ति धर्म जो बिलकुल नगण्य या गौण है, दूसरा राजधर्म जो व्यापक, प्रभावक तथा अनिवार्य है। राजधर्म ही सर्वधर्म-समन्वय है।

राजधर्म में हत्या, मृत्युदंड, सम्पति-साम्राज्य-अपहरण, शत्रु-विमोचन सब शास्त्रानुकूल तथा धर्मसम्मत कृत्य हैं। इन विचारों के द्वारा मेकियावेली ने सर्वथा नवीन तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण उपस्थित किया। उसके पीछे बौद्धिक तर्क तथा शुद्ध बुद्धि का बल था। इसीलिये उसे आधुनिक राजनीति का जनक या राजनीति में बुद्धिवाद का प्रवर्तक कहा जाता है। पूर्णतया सफल तथा उपयोगी शासन किस प्रकार बने यह मेकियावेली की युग-समस्या थी और इसके समाधान हेतु उसने कुटिल राजनीति की विभीषिका प्रस्तुत की। मेकियावेली इतिहास के उस पक्ष का समर्थक है जिनके अनुसार उत्थान-पतन, विभव-पराभव, निर्माण-विनाश, चक्रवत् (Cyclical Motion) चला करते हैं—(हालांकि उसका परिवर्तन सिद्धान्त पतनोन्मुख होने के कारण विरोधी तथा असंगत है।) आज के मानव की तरह वह शान्ति, सुरक्षा, स्थिरता का हामी न था। वह तो युद्धग्रस्त समय में आया और युद्धकाल के द्वारा मार्ग-सन्धान करना चाहता था, युद्ध के बिना न कला, न शिक्षा, न संस्कृति बच सकती थी। नगर-गणतन्त्र से वह राष्ट्रीय-राज्य की कल्पना की ओर बढ़ा था

और उस राष्ट्रीयता को साकार करने के लिये प्रयत्नशील था। लेकिन इन प्रयत्नों के पूर्व वह अतीत के शक्ति-व्यतीत पूर्वबोधों (Superannuated Preconceptions) से मुक्ति पाना चाहता था।

मेकियावेली ने धर्म, अचारशास्त्र, नैतिकता के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कहा कि ये सब गौण तथा उपेक्षणीय हैं। राज्य सर्वश्रेष्ठ मानव-संवास है और उसकी नीति या तंत्र ही सबसे महत्वपूर्ण है। व्यक्ति अपने ही हित में राज्य का आश्रय ग्रहण करता है। समाज और राज्य का चिन्तन अलग-अलग किया गया है। राज्य निश्चय ही समाज से भी ऊँचा है। धर्म और आचारशास्त्र को वह राज्य के बन्धन में रखकर राजनीति की अनुवर्तिनी बनाना चाहता था। राज्य को वह धर्महीन नहीं बल्कि धर्मनिरपेक्ष तथा आचारहीन नहीं बल्कि आचारगत बाधाओं से मुक्त देखना चाहता था। इसीलिये उसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह अनैतिक नहीं नैतिकता-विरोधी था और अधार्मिक नहीं धर्म निरपेक्ष था। (He was not immoral but unmoral, not irreligious but unreligious) उसका व्यक्तिगत जीवन प्रगतिशील, आदर्श तथा अनुकरणीय था। केवल सामूहिक विकास के लिये वह धर्म और नैतिकता को दूर रखना चाहता था क्योंकि व्यक्तिगत धर्म का समष्टिगत होना सम्भव नहीं। इसके विपरीत समष्टिगत धर्म में व्यक्तिगत धर्म रह सकता है बशर्ते कि वह उसका विरोध न कर अन्धानुकरण करे। आज की दुनियाँ में भी धर्म और आचरणशास्त्र राजनीति के दायरे से कोसों दूर हैं।

राज्य—उद्भव, स्थिति विकास तथा सुरक्षा :

मेकियावेली से पूर्व प्लेटो तथा एरिस्टाटल ने राज्य को मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता माना था क्योंकि मनुष्य बुद्धिमान होने के साथ ही राजनीतिक प्राणी भी था। सेण्ट टामस एक्वीनास ने अनुबन्ध की पृष्ठिभूमि में राज्य की उत्पत्ति मानी थी और राजा को जनता के प्रति उत्तरदायी माना था। इनके अलावा धार्मिक तथा पांडित्यवादी विचारक राज्य को धर्म का ही परिवर्धित संस्करण मानते और उससे यह अपेक्षा करते कि राज्य में धर्म-कर्म-नियमन सुचारु रीति से होता रहे। एक दल दैवी-सिद्धान्त के समर्थकों का था जो राजा को ईश्वर का दूत, फरिश्ता या मुनीम समझता था और इसी नाते अधिक से अधिक प्रभावशाली राज्य बनाना चाहता था। इन प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध मेकियावेली ने मनुष्य के स्वभाव, राज्य की पूर्वदशा, समाज का अभाव आदि

बातों पर प्रकाश डालते हुये यह बताया कि मनुष्य की मौलिक दुष्टता तथा स्वार्थपरता पर नियंत्रण रखने के लिये ही राज्य की उत्पत्ति हुई। कब, कैसे, किसके द्वारा इससे मेकियावेली को कोई प्रयोजन नहीं ? वास्तव में वह उत्पति का सिद्धान्त पेश नहीं करना चाहता था। किन्तु प्राकृतिक दशा का आभास दिखलाकर वह हाव्स का प्रेरक बन गया। मनुष्यों ने अपने सामूहिक स्वार्थों को इस प्रकार जमाया कि उससे राज्य बना गया जो उनके स्वार्थों का संरक्षक था। इस क्रिया में बहुत-कुछ स्वार्थत्याग या बलिदान हुआ लेकिन वह भले या अच्छे के लिये। इस तरह राज्य व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर प्राथमिक संस्थान बना जो शक्तिशाली तथा संगठित होने के कारण व्यक्ति पर नियंत्रण कर सकता था, विदेशियों का दमन करता, व्यक्ति के लिये अधिकतम लाभ की योजना करता। वह राज्य कोई दैवी चमत्कार या धार्मिक शल्प नहीं बल्कि प्रत्यक्ष भौतिक जगत् में सामाजिक शक्ति का परिणाम है। स्वार्थ साधना के हेतु राज्य बना इसलिये राज्य का भी स्वार्थी होना स्वाभाविक है। सारांश यह कि व्यक्ति के गुणों से प्रथक् राज्य के गुण नहीं हैं फर्क इतना है कि राज्य के गुण अधिक ओजस्वी, अनिवार्य प्राथमिक तथा प्रयोज्य हैं और व्यक्ति उसकी छत्रछाया में विकास कर सकता है। अथवा यह भी माना जा सकता है कि सामूहिक स्वार्थों ने राज्य की खाल ओढ़ली और उसे जब चाहा उतारा-पहना इसके इतिहास का परिवर्तन निरन्तर परिवर्तन का सिद्धान्त इसका साक्षी है। चक्रवत् ऐतिहासिक गति के कारण अच्छे राज्य बने तो वे मनुष्यों के स्वार्थ-कपट की अत्यधिक मात्रा से विनष्ट हो गये। कमजोर राज्य बने तो कुशल, दूरदर्शी, प्रतापी शासक भी मिल गये जिन्होंने राज्य को शक्तिशाली बनाया। राज्य मनुष्यकृत संस्थानों में सर्वश्रेष्ठ तथा जनकल्याणकारी है। व्यक्ति अपना विलयन करके राज्य में विकसित ही होता है। अन्य संस्थान राज्य के अन्तर्गत उसके अनुचर हैं। वे सब राज्य के प्रति उत्तरदायी हैं किन्तु राज्य स्वच्छन्द, निर्द्वन्द्व, स्वतन्त्र है, मनुष्यों की नैतिकता, धार्मिकता से पूर्णरूपेण मुक्त है, बन्धनातीत हैं। मेकियावेली के ग्रन्थों में राज्य, राजतन्त्र, शासकतन्त्र की ही व्याख्या की गई है।

'प्रिंस' के प्रारंभिक अध्याय में ही मेकियावेली गणतन्त्र और राजतन्त्र का उल्लेख करता है। गणतंत्र के प्रति उसका झुकाव स्वाभाविक था क्योंकि गणतंत्र में व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास सम्भव था। गणतन्त्र का प्रत्येक व्यक्ति राजा की तरह शक्तिशाली, सजग, त्यागी तथा तेजस्वी था। अपने नगर फ्लोरेंस के

गणतन्त्र के प्रति भी उसका ममत्व था। किन्तु सारे इटली देश के हित में वह राजतन्त्र को उपयोगी मानता था और वह भी निर्वाचित राजतन्त्र को। राजतन्त्र के दो प्रकार उसने निश्चत किये, एक तो आनुवंशिक और दूसरा कृत्रिम। कृत्रिम राजतन्त्र आनुवंशिक राजा को पदच्युत करके ऊपर से लादा जाता है। निर्वाचित राजतन्त्र में योग्यतम व्यक्ति अधिक से अधिक समर्थन के बल पर शासन करता है और यह प्रयोग गणतन्त्र और राजतन्त्र की अच्छाइयों का मिश्रण है। कृत्रिम अथवा मिश्रित राजतन्त्र की जटिल समस्याओं का उल्लेख करते हुये मेकियावेली ने यह सिद्ध किया कि राजा अपनी ही गलतियों से अपना विनाश कर लेता है। इस सम्बन्ध में उसने फ्रांस के शासक लुई १२वें का उदाहरण दिया जिसने मिलान पर बिना किसी बाधा के कब्जा किया किन्तु पहले ही प्रहार में डूच्यक लुडोविको ने उससे सब कुछ छीन लिया। इटली में लुई का आधिपत्य बहुत समय तक रहा किन्तु उसकी ही अदूरदर्शिता से वह नष्ट हो गया। वेनेशियन लोगों के आक्रमण पर जो लम्बार्डी पर आधा अधिकार चाहते थे लुई इटली गया और लम्बार्डी पर उसने कब्जा किया। इस घटना से फ्लोरेंस, वेनिस, जिनोवा, पीसा, मान्टुआ, नेपल्स सब लुई के प्रशंसक हो गये। किन्तु लुई न तो अपने दोस्त बनाये रख सका, न विजित देश में अपना प्रभाव या आकर्षण ही बना पाया। मिलान में आते ही उसने पोप अलेक्जेन्डर को रोमेना पर अधिकार कर लेने दिया। इससे उसके शत्रु अप्रसन्न हो गये और पोप शक्तिशाली हो गया। लुई ने विदेशी स्पेनियार्डस् को अपने साथ आने का निमन्त्रण देकर अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मार ली। मेकियावेली के अनुसार उसने (लुई ने) पांच गलतियां कीं। एक तो छोटे-छोटे राज्यों का पूर्ण दमन किया। (उन्हें कायम रखकर लड़ाना या सन्तुलन रखना चाहिये था।) दूसरे एक ही शासक को शक्ति बढ़ाने का मौका दिया। तीसरे अपने साथ प्रबलतम विदेशी को भी लेता आया। चौथे वह स्वतः इटली आकर नहीं बसा और पांचवें उसने उपनिवेश या नई बस्तियां नहीं बसाई। किन्तु उसकी सबसे बड़ी गलती थी वेनेशियन्स (जिन्होंने उसे बुलाया था) की समाप्ति के लिये स्वीकृति देना। लुई ने पोप को रोमेना और स्पेन को नेपल्स का राज्य यदि युद्ध की सम्भावना स्थगित करने के लिये दिया था तो वह उसकी भूल थी क्योंकि युद्ध स्थगन के नाम पर अराजकता नहीं स्वीकार करनी चाहिये। युद्ध तो अनिवार्य है, वह टलता भी है तो थोड़े समय के लिये और वह भी संधिकर्ता की असुविधाएँ बढ़ाता हुआ। इस प्रकार राज्य संभालने के लिये (यदि वह कृत्रिम है) मेकियावेली बड़ी सूक्ष्म तथा दूरदर्शिता

का परिचय देता है।* इसके साथ ही वह यह भी सिद्ध करता है कि अलेक्जेन्डर महान ने डेरियस का राज्य किस खूबी से अधिकृत किया और उसकी मृत्यु के बाद भी वह राज्य कायम रहा। मेकियावेली के गणतन्त्र सम्बन्धी विचारों पर ह्यूम ने लिखा कि अन्य शासनों की अपेक्षा गणतन्त्र को वह अधिक स्थायी मानता था। इस गणतन्त्र में दो परस्पर विरोधी किन्तु महत्वपूर्ण तत्वों का समन्वय होना चाहिये। एक तो महाबलशाली राजा और दूसरे आत्महित-चिंतन में कुशल जनता। दोनों की जागरूकता तथा कर्तव्यनिष्ठा ही गणतन्त्र की सफलता की कुंजी है।

राज्य और शासन का विभेद स्वीकार करते हुये शासनतन्त्रों का वर्गीकरण मेकियावेली ने इस उद्देश्य से किया कि आदर्श शासन कायम किया जा सके। आदर्श शासन उसके लिये वही है जो पूर्णतया सफल हो, व्याघातों से मुक्त हो, अप्रतिहत सत्ता जिसकी हो। उसके पूर्व अरिस्टाटल ने वैज्ञानिक आधार पर शासनतन्त्र का वर्गीकरण किया था। उसके वर्गीकरण में पोलीबियस और सिसरो के विचारों को जोड़कर उसने अपने विचार रखे। शासनतन्त्र धन और सत्ता समन्वय से चलता है लेकिन उसमें संख्या का दृष्टिकोण प्रमुख रहता है। संख्या के आधार पर ही वह शासन का वर्गीकरण सामान्य और विकृत रूपों में करता है।

सामान्य रूप	विकृत रूप
(१) राजतंत्र	आतंक या उच्छृङ्खलतंत्र
(२) कुलीन या आभिजात्यतंत्र	अयोग्य कुलीनतंत्र
(३) प्रजातंत्र	झुण्ड या समूहतंत्र

---

*इस सम्बन्ध में हिटलर को शांत करने की नीति (Appeasement Policy) उल्लेखनीय है। युद्ध के लिये उद्धत हिटलर चेम्बरलेन की आशावादिता तथा म्यूनिक पेक्ट (२९ सितम्बर १९३८) का लाभ ही उठाना चाहता था ताकि उसे तैयारी का मौका मिल जावे। म्यूनिक पेक्ट योरप के ४ बड़े राष्ट्रों—जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड और इटली के बीच हिटलर के इस दावे पर हुआ कि जेकोस्लावाकिया की जर्मन जनता अपने पितृदेश में रहना चाहती है।

इनके अलावा एक-एक मिश्रित शासन (Mixed Principality) भी होता है जिसमें प्रत्येक के अच्छे गुणों का समावेश होता है। रोमन विचारकों की तरह वह मिश्रित शासन का प्रशंसक है क्योंकि उसमें समुचित शक्ति-संतुलन तथा नियन्त्रण बना रहता है आर्थिक स्वार्थों का महत्व स्वीकार करते हुए वह राज्यशासन से यह अपेक्षा रखता है कि सम्पत्ति की सुरक्षा पूर्णरूप से रखी जावे। सामान्य जनता में सम्पत्ति का वितरण इस आधार पर हो कि विषमता, असमानता और असन्तोष अधिक न बढ़ सके। योग्य राजा इस तरह की व्यवस्था करता है जिससे आर्थिक समानता का उद्देश्य पूरा हो सके। शासनतंत्र की परिवर्तनशीलता की ओर भी मेकियावेली सबका ध्यान आकर्षित करता है। समय-समय पर शासन बदलते रहने से पुराने दोषों पर परदा भी पड़ जाता है और नई जिज्ञासा से असन्तोष दबा रहता है। शासन को जनमत अपने अनुकूल बनाये रखना चाहिये। इस प्रकार वह राज्य की तरह शासन को भी इतिहास की चक्रगति का अंग मानता है। कामनवेल्थ में बराबरी के नागरिकों की बड़ी संख्या रहती है इसलिये वह शासन उत्तम है क्योंकि वह एक तरह से मिश्रित शासन ही है। कुलीनतन्त्र की कठोर आलोचना की गई है। मेकियावेली सामन्तवादी प्रथा का भी विरोधी था। उच्चवर्ग के लोग आलसी, विलासी तथा परश्रमजीवी (Social Parasites) होते हैं। राज्य में वेकार रहने से षड़यन्त्र, स्पर्धा आदि की सृष्टि करते और दूसरों को लड़ाते है उनके रहते राष्ट्रीय एकता नहीं कायम हो पाती। इनके विपरीत मध्यमवर्ग में स्वावलम्बन-परिश्रम की प्रवृत्ति रहती है और यह वर्ग अधिक जागृत भी रहता है क्योंकि यह अपने साथ राष्ट्रहित को भी समझता है। पोपप्रथा को वह अत्यन्त खतरनाक समझता था। क्योंकि विभिन्न देशों पर धर्म के नाम शासन चलाने के कारण वह स्वयं अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये राष्ट्रीयता खण्डित करता रहता और कलह-विग्रह पैदा करता। राजनीति में पोप को कोई स्थान नहीं होना चाहिये। उसका यह अभिमत अपने समय की घटनाओं के वल पर बना।

राज्य की श्रेष्टता सिद्ध करने के वाद मेकियावेल उसके विस्तार के सम्बन्ध में अपनी योजना बतलाता है। राज्य को क्रमशः प्रसरणशील होना चाहिये, उसकी सीमा-रेखा बढ़ते-बढ़ते दूसरे राज्यों को आत्मसात् करे और साम्राज्य-विस्तार द्वारा अपने वैभव तथा गौरव का परिचय दे। राज्य का केवल स्थिरीकरण या दृढ़ीकरण पर्याप्त नहीं है क्योंकि उसमें एकरूपता आ जाती है। स्वभावतः मनुष्य की महत्वकांक्षी है, चंचल है, उसका मन राकेट

की तीव्र गति से दौड़ता-फिरता है, पारे की तरह चण-चण में उतरता-चढ़ता है। नई भूमि पर आधिपत्य स्थापित कर नये उपनिवेश बसाना, शान्ति-सुरक्षा-व्यवस्था करना, साम्राज्य को अधिकाधिक बलशाली बनाना, दूरदर्शी राजा का लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये समुचित सैन्य-संगठन तथा कूटनीतिक प्रयोग (साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियाँ) भी करना चाहिये। इनके साथ कुछ आवश्यक कर्तव्यों का पालन राजा को करना चाहिये जिससे अशान्ति या उपद्रव की संभावना न रहे। प्रजा की सम्पत्ति और उत्तराधिकार-व्यवस्था में शासन को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये बल्कि उसकी पूर्ण सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिये। सम्पत्ति-अपहरण जघन्यतम अपराध उसके अनुसार है, मृत्यु-दण्ड भी उससे कम है। यातायात की व्यवस्था करना, घूमने-फिरने और भाषण की स्वतन्त्रता देना राजा के पक्ष की बातें हैं और ऐसा करने से प्रजा में व्यर्थ का असंतोष भी नहीं फैलने पाता। प्रचलित लौकिक धर्म तथा सामाजिक मर्यादा-परम्परा का पालन या आदर करना राज्य के हित में है। लोकानुरंजन के लिये राजा को अपने व्यक्तिगत लाभ-हानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। कराधान या राजस्व लेने में राज्य प्रजा पर कम से कम भार दे और सुविधा-पूर्वक उसे वसूल करे तो शक्ति बनी रहती है। जोर-जबर्दस्ती करने पर बगावत के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। साहित्य-कला का विकास तथा आकर्षक योजनाओं के मायाजाल में भटकी हुई जनता शासन की चातुरी से अपना ध्यान अनिवार्य विषयों से हटाकर अनावश्यक कार्यों में लगाये रखे तो उपद्रव की आशंका कम हो जाती है। संगीत-कला की भाव-लहरियों से जनता को अभिभूत कर उनके मस्तिष्क को निष्क्रिय बना देना शासन की क्षमता पर निर्भर है। धर्मनिरपेक्ष रहने के साथ ही राजा का कर्तव्य दृढ़ सैन्य-संगठन करना भी होना चाहिये। धर्माचार्यों को अधिक से अधिक दबाते हुये उसे निर्भीक स्पष्ट प्रवक्ताओं से सलाह लेनी चाहिये। किन्तु उसे चापलूसों, खुशामदखोरों तथा मुसाहिबों से बचना चाहिये।

शासक के जिन कर्तव्यों का उल्लेख मेकियावेली ने किया है उनकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। यह बात स्वयंसिद्ध है कि जो शासक या राजा स्वतः बुद्धिमान् तथा चतुर नहीं है वह अच्छी सलाह नहीं ग्रहण करेगा। राजा को स्पष्टतया यह घोषित कर देना चाहिये कि वह सत्य-प्रिय है और सत्य रक्षा के लिये किसी भी कदम तक जाने को तैयार है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी कल्लू-लल्लू जगधर अथवा ऐरे-गैरे-नत्थू खैरे (Any Tom, Dick, and Harry) उसके पास दौड़ आवें और

दिन रात उसे घेरे रहें। उसे तो बुद्धिमानों पर ही भरोसा रखना होगा और उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता विचार व्यक्त करने की देनी होगी। आत्म-प्रशंसा प्रत्येक को प्रिय लगती है, शासक इसका अपवाद नहीं। केवल तारीफ करने वाले राजा की आँखों पर रंगीन चश्मा लगाने का प्रयास करते हैं किन्तु राजा का कर्तव्य है अपनी प्राकृतिक आँखों से देखना। चापलूसी से अहंतुष्टि होती है, निर्णय में विकार आता है एक नशा-सा छा जाता है। इसलिये यह सबसे बुरी वस्तु है। राजा को स्वयं योग्यतम श्रोता होना चाहिये। (केवल अपनी ही रेंकने-वाला नहीं बल्कि दूसरों की सुनने वाला) लेकिन साथ ही उसे सजग, सबल, जिज्ञासु तथा अन्वेषक भी होना चाहिये। उसे जब कभी यह आभास हो कि सत्य को छिपाने की चेष्टा हो रही है तब उसकी क्रोधाग्नि भड़कनी चाहिये। लोकप्रिय शासक होना और प्रजा की जीवन रक्षा करना शासक का लक्ष्य है। इसी चरम लक्ष्य के लिये शासक का अस्तित्व है। सम्पत्ति की रक्षा करना भी राजधर्म ही है क्योंकि सम्पत्ति ही मानवधर्म का मेरुदण्ड है। इस दिशा में आर्थिक निर्णयिकत्व (Economic Determinism) के बीज हमें इन विचारों में मिलते हैं। राज्य में महिलाओं का सम्मान होना चाहिये और उनके प्रति किसी भी व्यक्ति में दुर्भावना न हो। राजा को स्वत: निर्मल, दृढ़चरित्र, उदात्त तथा संयमी होना चाहिये। चारित्रिक दुर्बलता के कारण राज्य का पतन हो जाता है। कामुकता राजा के लिये सबसे बड़ा अभिशाप है। शासक के लिये एक मौलिक प्रश्न और मेकियावेली ने उठाया—प्रेम अथवा भय किसके बल पर शासक राज्य करे? वैसे तो सामान्य उत्तर यह हो सकता है कि शासक दोनों के बल पर राज्य करे। किन्तु मेकियावेली भय की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए कहता है कि यदि राजा प्रेम न प्राप्त कर सके तो भय के कारण घृणा तो दूर ही रख सकता है। राजा को जनमत के अनुकूल उदार कृपण होना चाहिये। समय पर दयालु और समय पर क्रुद्ध होना चाहिये। विश्वास तब तक तथा वहाँ तक वह करे जिससे नुकसान न हो। किसी भी साधन से कीर्तिलाभ करे और अपने प्रति जुगुप्सा या घृणा न उत्पन्न होने दे।

संप्रभुता, विधि तथा सर्वशक्तिमान् विधि-निर्माता :

संप्रभुता के सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन करने का श्रेय मेकियावेली के पश्चाद्वर्ती बोदाँ तथा हाब्स को है। मेकियावेली ने शासन की आन्तरिक इच्छा तथा विजेता की भावना को अविभाज्य तथा अदेय माना है। शासक किसी वाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं है। और न वह किसी प्रकार के कर्तव्य-

अनुबन्ध से प्रभावित है। आन्तरिक संघ, शक्तियाँ सब उसके अन्तर्गत काम करती हैं और उन्हें राज्य के विरुद्ध जाने की अनुमति नहीं है। इसी तरह धर्म भी राज्य का बन्दी है। भय के कारण आज्ञापालन और कर्तव्य निर्वाह होने से राज्य भी भयावह है, उसकी शक्ति असीम है। स्वत: परिवर्तनवादी होने के कारण वह स्थायी तथा अखण्ड संप्रभुता की बात नहीं करता किन्तु राज्य को निष्कंटक तथा व्याघातरहित बनाने के प्रयत्नों पर जोर देता है। उसकी कल्पना से राष्ट्र राज्य की भी झलक मिलती है क्योंकि वह अपने युग के विभाजित तथा खंडित राज्यों की शिथिलता तथा अकर्मण्यता से परिचित था। स्वशासन योग्य जनता तथा शक्तिशाली, चतुर शासक का समन्वय करने के कारण वह राष्ट्र राज्य को भावना तथा यथार्थ में उपादेय मानता है। राष्ट्र राज्य छोटे-छोटे राज्यों, अंचलों तथा क्षेत्रों की एकसूत्रता से ही सम्भव हो सकता है। और इन सबका सूत्रधार प्रबल शासक ही है। उसके अन्तर्गत संप्रभुता एकात्मक (Unitary) लौकिक, धर्मनिरपेक्ष तथा स्वतन्त्र चेतना से संयुक्त है। इस भाँति शासक की सत्ता का महत्व बतलाते हुए* मेकियावेली निरंकुशता का प्रशंसक बन जाता है। संप्रभुता की इस देन का स्पष्टीकरण आगे चलकर हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वह सीमित संप्रभुता की आवश्यकता स्वीकार करता है और सतर्कता की सलाह देता है। हर्नशॉ के अनुसार राष्ट्र-राज्यों का जन्मदाता मेकियावेली ही है। राष्ट्रीयता की भावना उन दिनों प्रस्फुटित हो रही थी और मेकियावेली भी निश्चय ही राष्ट्रीयतावादी था। किन्तु भावुकता के प्रवाह में उसने कोई निश्चित योजना सामने नहीं रखी। सारांश में यह विचार रेखा अस्पष्ट तथा धूमिल है।

विधिपालन के मूल में भय का अस्तित्व मानने के कारण मेकियावेली विधियों को शासक के प्रभाव का माध्यम मानता है। राज्यविहीन समाज में विधियाँ न होने के पूर्ण अराजकता थी क्योंकि विधिनिर्माता शासक नहीं था। सफल राज्यनिर्माण तो एक ही व्यक्ति द्वारा किया गया जो शक्तिमान् विधि-निर्माता था। उसने शासन तथा विधि की सृष्टि से जनता में राष्ट्रीय चरित्र जागृत किया। नैतिक तथा नागरिक गुण उन विधियों से पनपे और फले-फूले। अराजक तथा पतित समाज का इस प्रकार पुनरुद्धार किया गया। जनता में नया विश्वास, जोश, आदर्श पाया गया। विधियाँ सब नागरिक हैं और वे सब शासक-प्रणीत हैं। विधानमन्डल की तरह वह किसी राजनीतिक संगठन

---

*Idealisation of absolute and ruthless power.

—G. H. Sabine (page 349)

की कल्पना तो नहीं करता किन्तु सर्वशक्तिमान् विधिनिर्माता को ही सर्वस्व मानता है। इस विधिनिर्माता को वह इतनी छूट देता है कि वह विधि-नैतिकता आदि सबसे परे हो जाता है। विधिनिर्माता की सूझ, बुद्धि तथा दूरदर्शिता के बल पर वह ऐसी विधियाँ चाहता है जो केवल राजनीतिक सुधार ही न करें बल्कि पूरे सामाजिक नैतिक ढाँचे (Social and Moral Order) को बदल डाले।

सुधारने की क्रिया में शासक के पास यदि सैनिकों का अभाव हो तो वह उसका ही दोष है। राष्ट्रीय सेना का पक्षपाती होने के साथ ही मेकियावेली सामान्य नागरिकों की शिक्षित तथा सुसज्जित सेना को राज्य के लिये अनिवार्य मानता था। उसके समय में राष्ट्रीय सेना राज्य सेना तथा भृत्य-सेना (किराये पर लड़नेवाली) थी और उनके अलावे विदेशी सेना भी काम में लाई जाती थी। इतिहास के अनुभवों से मेकियावेली ने जो सीखा उसके बल पर वह भृत्य-सेना तथा विदेशी-सेना का घोर विरोधी हो गया क्योंकि ये मौके पर काम नहीं आतीं। शासक को ऐसी लालची, स्वार्थी, कायर सेना से बचना चाहिये। रियासती या छोटी राज्य सेना भी अनावश्यक है, राष्ट्रीय सैन्य-संगठन ही एकमात्र उपाय है। यह संगठन राष्ट्रीयता की भावना तथा देशभक्ति के आदर्शों से प्रेरित रहता है। मेकियावेली राज्य के सक्षम वयस्कों को जो १७ से ४० वर्ष की उम्र के हों, सामरिक शिक्षण प्राप्त कर नागरिक सेना बनाने की सलाह देता है। उस तरह की व्यवस्था देने में उसके सामने इटली का एकीकरण आंतरिक संघर्षों का निराकरण तथा विदेशी आक्रमण का निवारण आदि उद्देश्य थे। युद्ध की कला के प्रति उसके मन में तीव्र आकर्षण है।

समीक्षा, रहस्य तथा आकर्षण :

अर्वाचीन इतिहास में अपने विचार-दर्शन के कारण मेकियावेली एक मोहक रहस्य बना हुआ है। उसे आधुनिक राजनीति का जन्मदाता माना जाता है। इस आधार पर कि नई वह अध्ययन-पद्धति, विचारशैली का प्रवर्तक था। इस प्रयोग में निरूपणात्मक, ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक, यथार्थ-वादी, वैज्ञानिक तथा सूक्ष्मदर्शी अन्तर्दृष्टि उसने प्राप्त की। राज्य की संगठित शक्ति, उसकी विस्तार नीति (Conscious Aolicy of Pggrandi-sement), राष्ट्रीयता, धर्मनिरपेक्षता, एकात्मक संप्रभुता, प्रतापी शासक

आदि के सम्बन्ध में उसका अनुदाय महत्वपूर्ण है। धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र को राजनीति से पृथक करके उसने समाज विज्ञान की सब से बड़ी सेवा की। वह स्वयं चरित्रवान, धार्मिक तथा सज्जन था किन्तु शासक को पूर्णतया व्यावहारिक बनाने के लिये वह उन्हें विपरीत गुणों की शिक्षा देता है। शासन तथा संप्रभुता के प्रति उसका दृष्टिकोण मर्यादित, उपयोगितावादी तथा यथार्थ वस्तुवादी था। मानव-स्वभाव का विवेचन करके उसने जेरेमी वेन्थम तथा अन्य उपयोगितावादी विचारकों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। व्यक्तिवाद की पुष्टि भी उसके विचारों से होती है। नागरिक विधियों के विषय में उसके विचार स्पष्ट हैं। हाब्स, हीगेल, बोसाङ्क्वे आदि ने उसके विचारों से लाभ उठाया। राज्य को मानवी तथा कृत्रिम संस्था बताकर उसने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नये विचार दिये जिनका अनुशरण हाब्स, लॉक, रूसो ने भी किया। नैतिकता के सम्बन्ध में भ्रान्तियों, रूढ़ियों तथा अन्धपरम्परा को दूर करके उसने लौकिकता की स्थापना की। इन सबके बल पर उसे विशुद्ध राजनीतिक प्रतिभा का प्रकाश-पुंज समझा जाता है। साथ ही उसे घोर निषेधवादी, भावुक देशभक्त, पक्का राष्ट्रवादी, सुलझा हुआ जनतन्त्रवादी, राजनीतिक प्रवञ्चक, आतंकवादी शासकों का विवेकहीन अनुगामी भी माना जाता है।*

डा० मरे के शब्दों में वह स्पष्टदर्शी अवश्य था किन्तु दूरदर्शी न था। सी० जे० फाक्स ने मेकियावेली की नैतिकता सम्बन्धी धारणाओं को खण्डित करते हुये यह कहा कि जो वस्तु नैतिक दृष्टि से अनुचित है वह राजनैतिक दृष्टि से कभी उचित नहीं हो सकती† प्रोफेसर जेन्जी तथा गीजर उसे देशभक्त बतलाते हुए भी राजनीतिक अपराध का समर्थक तथा असत्य, भ्रष्टमार्ग का अन्वेषक मानते हैं। किन्तु इन विचारों के विपरीत सुप्रसिद्ध इतिहासकार रेन्क तथा मीनेक उसके प्रबल समर्थक हैं और उसे राजनीतिक मानव (Political man) का संस्थापक मानते हैं। उसके विचारों की भ्रान्तियाँ कई तरह से स्पष्ट हो जाती हैं। मानव स्वभाव का चित्रण तथा दुष्ट, वासनामय समाज को सुधारनेकी चेष्टा आपस में बड़ा विरोधाभास प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रीयता तथा संप्रभुता की संकुचित परिभाषा से उसने आपसी कलह और निरन्तर

*"He is represented as an utter cynic. an impassioned Patriot an ardent naticnalist, a political Jesuit, a convinced democrate and an unscrulous seeker after the favour of despots"

—G . H. Sabine—page 350

†"What is morally wrong can never politically right".

प्रतिस्पर्धा के बीज बोये। आदर्श राज्य गणतंत्र को मानते हुये उसमें एकच्छत्र शासक को सर्वाधिकार वह देना चाहता है जिससे गणतन्त्र विकृत राजतन्त्र हो जाता है। आर्थिक समानता तथा जनतांत्रिक समाजरचना के बिना गणतन्त्र सफल नहीं हो सकता। इतना भले माना जा सकता है कि उसके राजनीतिक विचारों से उपयोगितावाद तथा सुख की खोज की धारणाएँ पुष्ट होती हैं। केवूर विक्टर इमानुएल, फ्रेडरिक आदि देशभक्तों ने मेकियावेली की विचारधारा से लाभ उठाया। भारत में ईसा से पूर्व चौथी शताब्दि में कौटिल्य के सुदृढ़ विचारों ने मेकियावेली से अधिक तर्क सम्मत तथा आकर्षक नीतियाँ स्थिर की थीं। लेकिन व्यावहारिक क्षेत्र में नीति, कहावत स्वयंसिद्धि (Axioms) या नुस्खे ज्यों के त्यों नहीं बल्कि देश, काल, स्थिति के अनुसार परिवर्तित किये जाकर यदि प्रयोग में लाये जावें तो ठीक हैं। अन्यथा चाहे कौटिल्य हों या मेकियावेली, एक रूढ़ अर्थ में पूर्वाग्रहसहित उनका दिनरात नाम लिया जाता है। यही कारण है कि मेकियावेली का नाम विभीषिका और जुगुप्सा का द्योतक हो गया। लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से यह निर्विवाद है कि वह अर्वाचीन राजनीतिक विचारधाराओं की गंगा प्रवाहित करने का महान् प्रयत्न करने वाला भगीरथ है।

५-थामस हाब्स

(१५८८-१६७६ ई०)

थामस हाब्स का नाम राजनीतिक विचारकों में प्रमुखता से लिया जाता है। वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली, ऐतिहासिक तथा भौतिकवादी समीक्षा, तर्कसिद्ध व्याख्या, सुतीक्ष्ण शैली, विचारोत्तेजक लेख तथा पक्षपात, पूर्वाग्रह सहित अपने सिद्धान्त के प्रति आस्था ये सब हाब्स की ही देन हैं। अनुबन्धवादी विचारकों में हाब्स, लॉक तथा रूसो के नाम एक साथ चलते हैं भले ही उनमें व्यापक मतभेद रहा हो। राजनीति के मौलिक तथा सर्वप्रथम प्रतिपादित सिद्धान्त के रूप में अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) विचारणीय है। इस सिद्धान्त को सामाजिक संविदा, प्रसंविदा, समझौता, इकरारनामा, सहमति आदि का सिद्धान्त भी कहते हैं। राज्य की उत्पति के कारणों की खोज अपने-अपने ढंग से जारी थी और राजा की आज्ञा मानने का प्रश्न भी भीषण रूप से उपस्थित था। पुनर्जागृति तथा सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप परिमार्जित ढंग से विश्वासनीय उत्तर देने की चेष्टा दार्शनिकों ने की। १३वीं शताब्दी में सेन्ट टामस एक्वीनास (१२२६-१२७४) ने अनुबन्धों के आधार पर समाज, राज्य, शासन की स्थिति स्वीकार की तथा यह सिद्ध किया की समाज सर्वोच्च है, शासन परिवर्तनशील है तथा राजा अनुबन्ध की शर्तों से बँधा हुआ है। धर्मप्रधान मध्ययुगीन विचारधारा में एक प्रबल प्रवाह और आया जब कुछ विद्वानों ने राज्य को ईश्वरप्रणीत तत्व मान लिया (Theory of Divine Origin of the State)। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि राज्य निर्माण मानवीय कृति या स्वीकृति न होकर सृष्टि-नियन्ता की अन्यतम अभिलाषा मात्र है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम शासक है जो ईश्वर के प्रतिनिधि (Vicegerent) के रूप में धर्मशक्ति तथा दंडशक्ति धारण करता है। धार्मिक सम्प्रदायों में रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट मत बने और प्रोटेस्टेन्ट के भी आगे ३ भेद हुए, प्यूरिटन (इंगलैंड) प्रेसबिटेरियन (स्काटलैंड) और ह्यूजनोज (फ्रांस)। सभी धार्मिक सम्प्रदाय ईश्वरीय सत्ता को तो मानते थे किन्तु अनुबन्धों की स्थिति के विषय में भी सतर्क थे। उनका अभिप्राय यह था कि राज्य दैवी संस्था है,

राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, राजभक्ति जनता का कर्तव्य है, लेकिन राजा भी धर्मरक्षा, सुरक्षा, सुव्यवस्था आदि कर्तव्यों से बंधा है। इस तरह धार्मिक आचार्यों या, समर्थकों ने अनुबन्ध का अस्तित्व स्वीकार करके उसका महत्व बढ़ाया। इंगलैंड में राजा के अधिकार तथा प्रजा की कर्तव्यपरायणता उबलते हुए प्रश्न थे। फ्रान्स में १५६२ से१५९८ तक धार्मिक गृहयुद्ध होते रहे जिनमें ह्यूजनोज तथा मध्यमवर्गीय जनता ने राजा, सामन्त, पादरी सबका कड़ा विरोध किया। ह्यूजनोंज के निरपेक्षता विरोधी सिद्धान्त 'अत्याचार के विरुद्ध प्रतिकार' (Vindicia Contra Tyrannos) नामक ग्रंथ में उपलब्ध हैं। इंगलैंड का राजा जेम्स प्रथम (१५६६-१६२५) स्वत: दैवी-सिद्धान्त का प्रतिपादक था। उसका पुत्र चार्ल्स प्रथम (१६२५-४९) अपने पिता से प्रभावित चार कदम और आगे बढ़ गया। संसद् मध्यवर्ग, व्यवसायी आदि कों दबाने लगा। क्रॉमवेल के नेतृत्व में गणतन्त्रवादियों ने विद्रोह शुरू किया और १६४२-४९ तक गृह-युद्ध चलता रहा। इसमें राज्य सत्ता के निरंकुश, अनुत्तरदायित्वपूर्ण रुप को खण्ड-खण्ड कर दिया गया। राज्य आज्ञा, लौकिक नियम. संसदीय विधि, प्राकृतिक अधिकार' धार्मिक मान्यताएँ इनके अन्तर्संघर्ष में हाब्स ने अनुबन्ध को विशुद्ध राजनितिक दृष्टिकोण से निरूपित किया। जान्स अल्थूसियस (जर्मन न्यायशास्त्री) ह्यूगो ग्रोशस (१५८३-१६४५) रिचार्ड हूकर (१५५३-१६००), आदि ने भी अनुबन्ध परम्परा पर विचार व्यक्त किये थे। ईश्वरीय नियमों से पृथक् होकर विवेकजन्य नियमों का पालन होने लगा और प्राकृतिक नियमों को समुचित संतुलित बुद्धि का आदेश (Dictate of right reason) माना गया। अनुबन्धवाद के अनुसार राज्य की प्रारम्भिक अवस्था, अनुबन्ध के पक्ष, राज्य की शर्तें, समाज का परिवर्तित रूप व्यक्ति की स्थिति आदि विषय सोच-विचार कर प्रस्तुत किये गये। हाब्स ने अपने सिद्धान्त का प्रयोग निर्बाध निरंकुश किन्तु उदार राज्य सत्ता (Benevolent Despotism) के समर्थन में किया। पूरा सिद्धान्त एक नमनीय गल्प की तरह है। कालान्तर में यह सिद्धान्त अस्वीकृत कर दिया गया किन्तु इसके प्रवर्तकों के विचित्र विचार आज भी पाठनीय हैं। हाब्स विचारों में व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, अनीश्वरवाद (Atheism) वैज्ञानिक भौतिकवाद (Scientific Materialism), सार्वभौम सत्ता आदि सिद्धान्तों के बीज हैं। राज्योत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित ईश्वरीय सत्ता को अलग कर मानवीय इच्छा से उद्भूत तथा निर्मित विशालकाय जन्तु (राज्य) की कल्पना करने का श्रेय हाब्स को है।

संक्षिप्त जीवन वृत्त तथा प्रभाव व परिस्थितियाँ :

इंगलैंड के इतिहास में स्पेन से युद्ध के अवसर पर ऐतिहासिक नौ-सेना (आर्मेडा Armada) का बड़ा महत्व है। ५ अप्रैल १५८८ में ब्रिटेन के दक्षिणी तट पर मेलबेसबरी (Malmesbury) नामक नगर में आर्मेंडा के आक्रमण-अभियान शुरू होने की अफवाह फैली। इसके कारण लोगों में भय-संचार हुआ और लोग यहाँ-वहाँ भागने लगे। ऐसी उपद्रवपूर्ण परिस्थिति में अवधि से पूर्व (Premature) ही हाब्स का जन्म वेस्टपोर्ट के सामान्य सामन्त (Vicar) के यहाँ हुआ। इस भाँति भय, आशंका तथा हाब्स सहोदर माने जाते हैं। शुरू से ही हाब्स डरपोक, संकोची, शांतिप्रिय था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद वह आक्सफोर्ड गया लेकिन वहाँ से अधूरी शिक्षा लेकर लौट आया। ग्रीक और लेटिन भाषाओं से इसका विशेष अनुराग था। केवेन्डिश वंश के अर्ल ऑफ डेवनशायर (Earl of Devenshire) का वह ट्यूटर बना और केवेन्डिश वंश (Cavendish Family) से उसके सम्बन्ध मधुर रहे। सन् १६४० की दीर्घ उन्मादी संसद के समय त्रस्त आ-शंकित होकर वह इंगलैंड से भाग खड़ा हुआ। भीषण गृहयुद्ध, रक्तपात, लूट-मार अग्निकांड, महामारी-प्लेग आदि यातनाओं तथा हलचलों से डरकर वह धार्मिक वृत्तिवाला बन गया। भ्रमण करके विद्याध्ययन करने के साथ-साथ वह चार्ल्स द्वितीय के ट्यूटर के रूप में काम करता रहा। जीवन के २० महत्वपूर्ण वर्ष उसने यूरोप में शिक्षा-सम्पर्क आदि में बिताये। यूरोप में वह दार्शनिकों, वैज्ञानिकों से परिचित हुआ। डेकार्टे, गेलीलियो, हार्वे आदि के प्रभाव से उसने वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय पद्धति को अपनाया। राजशास्त्र, गणित, विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्व, ज्यामिती आदि उसके अभिमत विषय थे। निगमन पद्धति के द्वारा सामान्य से विशेष की ओर जाने वाली अकाट्य सत्य-सिद्धि का प्रयोग करते हुये उसने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जिनमें 'लेवायथन' (Leviathan १६५१ ई०) प्रमुख है। अन्य ग्रन्थ डी सिवी (De cive-१६४२) डी कारपोरे पोलिटिको (De Corpore Politico-१६४०), एलीमेण्ट्स आफ ला (Elements of Law-१६५०) तथा गृहयुद्ध पर संवाद (A Dialogue on the Civil Wars-१६७६) हैं। विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन करके वह इंग्लैंड की अराजकतापूर्ण परिस्थिति में सुरक्षा तथा स्थायित्व का विधान करता रहा। राजतंत्र की विशेषताओं से प्रभावित होने के कारण वह उसे सर्वश्रेष्ठ घोषित करता हुआ एकच्छत्र निरंकुश सत्ता का हामी हो गया। १६७६ ई० तक वह जीवित रहा

लेकिन उनके विचारों का स्थायी प्रभाव उसके जीवनकाल में ही नष्ट होने लगा था।

तत्कालीन इतिहास तथा सामयिक घटनाओं का *हाब्स* पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन के गृहयुद्ध में विभिन्न मतधारायें थीं जो एक दूसरे से टकराती रहीं। स्टुअर्ट वंश के शासक अपने को ईश्वरीय प्रतिनिधि घोषित करते हुए दैवी सिद्धान्त के अनुयायी थे। इस तरह वे निरपेक्ष सत्ताधारी शासक बनना चाहते थे। दूसरी ओर संसदवादी जनता-व्यापारी-मध्यवर्ग राजशक्ति पर नियंत्रण रखना चाहता था। एक ओर प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) की अनिवार्यता पर जोर दिया जाता तो दूसरी ओर सामान्य लौकिक विधियों (Common Laws) का भी समर्थन करने वाले थे। जनतन्त्र के समर्थक अनुबन्ध की उपस्थिति बताते हुए राजा का विरोध करने का अधिकार मानते थे तो दूसरी ओर कालविनवादी तथा कैथोलिक मतावलम्बी पादरी आदि धर्म को सर्वोच्च स्थान देना चाहते थे। इन उहापोहों के बीच राजसत्ता की खोज करके सुव्यवस्था की अनिवार्यता सिद्ध करने का काम हाब्स ने किया। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों तथा संवेगों का अध्ययन करके हाब्स ने यह उत्तर दिया कि राजसत्ता, संप्रभुता तथा सुव्यवस्था मानवजीवन के लिये नितान्त अनिवार्य है। उस समय की समस्या के अनुरूप हाब्स ने उत्तर दिया और अपना ऐतिहासिक स्थान बनाया। विभिन्न विचारकों के सिद्धान्तों का अवलोकन करके हाब्स ने अपने विचार सुस्थिर किया और उन्हें बुद्धिसंगत किया। बेकन, डेकार्टे, गेलीलियो आदि से उसने गणित, भौतिकशास्त्र आदि का प्रभाव ग्रहण किया। भौतिक शास्त्र की विश्लेषण-नियोजन (Resolutive Composive) प्रणाली उसने अपनाई। हार्वे के रक्त-संचरण सिद्धान्त के द्वारा उसने प्राणिमात्र में गति की प्रधानता एक स्वयं-सिद्धि के रूप में प्रस्तुत की। हूकर के अनुबन्धवाद का वह अनुगामी बना। मेकियावेली के निरंकुश शासक की कल्पना उसे सर्वप्रिय थी। संप्रभुता के सम्बन्ध में जीन बोदाँ के विचार उसके सन्निकट थे और नैसर्गिक विधियों के लिए ह्यूगो ग्रोशस के विचार मौजूद ही थे। मार्सोलियो आफ पेडुआ की धर्मनिरपेक्ष सत्ता का सिद्धान्त भी उसे मान्य था। मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेदना, भाव, विचार आदि से अनुप्राणित गतिमय चेतनता का आकर्षक सिद्धान्त उसे ग्राह्य था। धार्मिक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों का निषेध कर उसने वैज्ञानिक ढंग से भौतिकवादी *व्याख्या* प्रचारित की। इस तरह हाब्स के राजदर्शन में विचारों का संचयनात्मक (Eclectic) रूप [illegible]

राजनीति की तार्किक तथा वैज्ञानिक व्याख्या हाब्स के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवायथन' में पाई जाती है। इस ग्रन्थ को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। मानव-खण्ड में मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों तथा प्रकृति का चित्रण किया गया है। प्राकृतिक अवस्था, जिसमें मनुष्य का जीवन अस्थायी आशंकापूर्ण तथा उद्वेलित रहता, युद्ध की विभीषिका की तरह निष्करुण भयावह थी। राज्य खंड में अनुबन्ध, संप्रभु शासक, राज्योत्पत्ति तथा नागरिक नीति पर विचार व्यक्त किये गये हैं। क्रिश्चियन कामनवेल्थ नामक खंड में धर्म का स्थान तथा राजनीतिक सत्ता का उल्लेख करते हुये यह सिद्ध किया गया कि शासक के ही आधीन दोनों को रहना चाहिये। अन्तिम खंड (On the Kingdom of Darkness) में विकृत राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुये यह सिद्ध किया कि संप्रभुता के अभाव या विभक्तीकरण में ही राज्य का पतन या विनाश होता है। विभाजित संप्रभुता, व्यक्तिगत विवेक-निर्णय, सम्पत्ति का पूर्णाधिकार, अन्य शासकों के प्रति आसक्ति, धार्मिक स्वतन्त्रता, सामाजिक विषमता, बड़े नगरों का विकास तथा ग्रामों की अवनति सैन्यशक्ति की प्रबलता, स्वतन्त्र निगम-निकाय-संघों की अभिवृद्धि आदि राज्य के विनाश के कारण हैं। 'लेवायथन' के इस चित्र खींचने में पौराणिक कल्पना का सहारा लिया गया। नश्वर देव (Mortal God) के रूप में राज्य का अनुमान किया गया। यह विशालकाय जलजन्तु की तरह वृहदाकार शक्तिशाली है। यह कल्पना विराट्-पुरुष की अद्वितीय कल्पना की तरह है जो सहस्रशीर्ष, सहस्राच्, सहस्रबाहु है। वह दीर्घकाय देव ही राजकीय शक्ति का आदिस्रोत तथा धर्म का संरक्षक-प्रदर्शक है। आलोचकों की दृष्टि में हाब्स युगवेत्ता है, लेवायथन युग-ग्रन्थ है और नश्वर देव युग-कल्पना है।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक स्थिति :

मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में हाब्स का मत है कि समस्त क्रिया-कलाप स्वार्थ भावना से प्रेरित तथा संचालित है। सामान्यतया सामाजिक तथा लौकिक व्यवहार में मनुष्य इस बात की सतत चेष्टा करता है कि उसकी सम्पत्ति वगैरह सुरक्षित रहे, उसका जीवन निर्बन्ध तथा निर्द्वन्द्व रहे और उसकी ऐषणाएँ वासनाएँ, क्षुधा आदि पूरी होती रहें। युगों से बुभुक्षित, तृषार्त मानव प्राणी अपनी अतृप्त अभिलाषाओं की संतुष्टि में अहर्निश संलग्न है। अवसर पाते ही सर्वग्रासी पिशाच की तरह टूट पड़ता है। अपने आपको जीवित रखने में

दूसरे को ध्वस्त करने से नहीं हिचकता। स्वार्थ-पूर्ति के लिए बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक सभी व्यापार केन्द्रित थे सहयोग का कोई स्थान जीवन में न था, यदि था तो वह स्वार्थ-सिद्धि के हेतु। जीवन-रक्षा के लिये प्रतिस्पर्धा होती थी। संघर्ष, आधिपत्य-स्थापना की चेष्टा, भोग-लालसा, धन, ज्ञान, यश की कामना, आपेक्षिक शौर्य आदि आवश्यक परिणाम थे इस मूल प्रवृत्ति के। हाब्स के अनुसार यह मूल प्रवृत्ति दो परस्पर विरोधी तत्वों के मिश्रण से बनी। एक ओर कामना-क्षुधा-इच्छा (Appetite) और दूसरी ओर वितृष्णा-कुण्ठा-अनिच्छा (Aversion)। मनुष्य की भूख कभी न मिटने वाली है—सेक्स की भूख, पेट की भूख, पैसे की भूख, कीर्ति की भूख, सत्ता की भूख, अनन्त काल से इतिहास के पन्नों को खून से रंगती चली आ रही है। यह ज्वाला! दया दाक्षिण्य; निःस्वार्थता आदि व्यर्थ बकवास हैं, इस नाम की कोई चीज है ही नहीं। मनुष्यों में असमानता या विषमता नैसर्गिक नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर किसी व्यक्ति या समूहविशेष का आधिपत्य आसानी से हो जाता। किन्तु प्राकृतिक दशा में सभी व्यक्ति समान हैं। कोई अधिक शक्तिशाली है तो कोई अधिक बुद्धिमान और सब मिलाकर करीब-करीब बराबर हैं। बराबरी में मनुष्यों में जब प्रतिद्वन्द्विता होती है तो एक दूसरे को विनष्ट किये बिना ही अपनी कीर्ति की स्वीकृति करा देना चाहते हैं। इस तरह निरन्तर संघर्ष चलता है। दोनों प्रतिद्वन्द्वी आहत होकर मौत के भयानक साये में छटपटाते हैं। यह निरीह, निस्सह अवस्था सर्वत्र व्याप्त है। निरन्तर संघर्ष के तीन प्रमुख कारण हैं। एक तो समान क्षुधा की तृप्ति के लिये अनवरत प्रतिस्पर्धा! एक दूसरे के प्रति भय, अविश्वास, तथा हीनता की भावना! तीसरा कारण है यशलिप्सा, मृत्युपर्यन्त अधिकाधिक शक्ति संचित करने की दुर्दम्य लालसा। जीवन की यह यथार्थ वास्तविकता (Objective Actuality) सभी संवेगों-आवेगों को जन्म देती है। मनुष्य पूर्णतया अहंकेन्द्रित है। मनुष्य की इन प्रवृत्तियों का चित्रण 'डी कार्पोरे पोलिटको' (१६४०) नामक ग्रन्थ में किया गया और ऐसे स्वार्थपरायण, लोलुप, कायर तथा पामर जनसमूह की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण लेवायथन में किया गया।

प्राकृतिक अवस्था राज्य के पूर्व की स्थिति है जिसमें मनुष्य को अराजक स्थितियों के बीच अपने को बचाना पड़ता है। एक तरह का काल्पनिक विवरण प्रस्तुत करते हुये हाब्स ने यह सिद्ध कर दिया कि ऐसी दशा में जीवन नारकीय, असह्य तथा दुर्वह भारस्वरूप रहा होगा। यह जीवन प्राकृतिक दशा

में हिंसाप्रधान है। सभी व्यक्ति आपस में लड़ते-भिड़ते हैं। उचित-अनुचित का विवेक नहीं है। न्याय-अन्याय का विचार कहीं है ही नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति कोई जानता नहीं। शक्ति न होने से कानून नहीं, कानून न होने से न्याय नहीं, न्याय के अभाव में सुरक्षा नहीं, सुरक्षा के बिना अस्तित्व नहीं, जीवन नहीं, यह भय आदिम अवस्था से चला आता है। इस चित्र में अति-रञ्जना नहीं है क्योंकि तथाकथित सभ्य मनुष्य भी समाज में एक दूसरे से भय खाता और किनारा करता है। एक देश दूसरे देश से सतर्क रहता है, कूटनीति छल-छद्म चलाता है, चुपके-चुपके युद्ध की तैयारियाँ करता है। शान्ति के नाम पर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त हर जगह चलता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निरन्तर चलने वाला युद्ध (Unceasing Strife and a State of War) मचा हुआ है। कुछ पाने पर मनुष्य अधिक चाहता है, फिर उससे भी अधिक और इस तरह प्राप्ति और आनन्दभोग अनन्त क्रम से बढ़ते चलते हैं। इस दशा में कोई किसी का अभिभावक नहीं, मित्र नहीं, रक्षक नहीं। सब एक दूसरे के भक्षक हैं, एक जीव दूसरे को साफ कर जाना चाहता है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें सभी एक दूसरे के विरोध में युद्धरत हैं। जीवन अवसाद पूर्ण, गतिरोधमय, निस्सार है। हर क्षण कच्चे धागे से लटकती तलवार सिर पर नाच रही है। शिक्षा, कला, संस्कृति, उद्योग-व्यवसाय कुछ भी सम्भव नहीं ऐसी हालत में। हाब्स के अनुसार जीवन एकाकी, निर्धन, विद्रूपात्मक, पाशविक तथा क्षणिक (Solitary, Poor, Nasty, Brutish, Short) था। यह दशा भारतीय ग्रंथों में वर्णित मत्स्य-न्याय के अनुसार थी जिसमें छोटी-छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियों के पेट में समा जाती हैं और फिर बड़ी मछलियों का पेट फोड़कर नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य अस्वस्थ, असुविधापूर्ण, एकाकी किन्तु स्वेच्छाचारी था। मनुष्य भेड़ियों की तरह खूंखार तथा हिंस्र था (Homo homini lupus; Man is Wolf to Man) सामान्य विधि अथवा राज-कीय नियम कानून न होने से बलप्रयोग, धोखा (Force and Fraud) प्रतिज्ञा भङ्ग, सब उचित माने जाते थे। समाज का भाव भी इन दिनों नहीं था। इतना होने पर भी व्यक्ति शान्ति, सुरक्षा चाहता था और इसके लिये सब-कुछ करने को तैयार था। यह समझ मनुष्य में एकाएक नहीं आई बल्कि वर्षों के प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर अनिवार्य रूप से प्रकट हुई। महाभारत में उस अवस्था का वर्णन है जब न राज्य था, न राजा, न दण्ड, न दण्ड देने

वाला कोई नहीं था, केवल पारस्परिक धर्म भावना थी ।* किन्तु यह वर्णन लॉक का समर्थन करता है।

प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक विधि :

प्राकृतिक अधिकार आदिकालीन 'अवस्था में मनुष्य की जीवन रक्षा के लिये नितान्त उपयोगी व्यवहार-स्वातन्त्र्य था जो प्रत्येक व्यक्ति में स्वभावतः निहित था। सवेग-प्रेरित मनुष्य अपने जीवन में इन अधिकारों की प्रबल अभिव्यक्ति करता था। लेकिन इसके साथ ही कुछ नैसर्गिक नियम भी थे जिनका पालन करने से प्राकृतिक अधिकार-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती थी। हाब्स ने इन नैसर्गिक नियमों में ऐसे चुने जिनका अभिप्राय था कि अपने लिये अकल्पनीय, अशोभनीय या अवांछनीय कृत्य दूसरों के लिये नहीं करना चाहिये। इसके साथ ही शान्ति-स्थापना का प्रयत्न- अधिकारों का विसर्जन करने की तत्परता, शान्ति-प्रयास में मुक्त सहयोग, अनुबन्धों की स्वीकृति आदि नियम भी बनते गये जो ऊपर से लादे गये नहीं बल्कि स्वतः संभूत नियम थे। भय, संभ्रम, मृत्यु की कठोर कालप्रेरणा से इनका परिपालन आवश्यक था। इस प्रकार के नियम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध या नियंत्रण का काम करते थे। अतएव पूर्ण स्वेच्छाचारिता तथा अनुत्तरदायित्व और प्रतिबन्ध के बीच एक कड़ी बन गई। इस आधार पर हाब्स ने प्राकृतिक अधिकार (Jus Naturale) तथा प्राकृतिक विधि (Lex Naturalis) का अन्तर स्पष्ट किया। इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि अधिकार (Right) तथा विधि (Law) में क्या भेद है। हर्नशॉ के अनुसार अधिकार में किसी कार्य के करने या न करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है जबकि विधि में एक निश्चित गति तथा आदेश है, इसलिये विधि और अधिकार का फर्क वैसा है जैसे कर्तव्य और स्वातन्त्र्य के बीच।† हाब्स ने अपने ग्रन्थ डी सिवे (De Cive) तथा एलीमेन्ट्स आफ लॉ में इसे स्पष्ट किया है।

---

*"नैव राज्यं न राजासीन्नच दण्डी न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥" महाभारत शान्ति पर्व अ० ५।६।१४

‡"Right consisteth in liberty to do or to forbear; whereas law determineth and bindeth to one of them; so that law and right differ as much as obligation and liberty",

—F.J.C. Hearn 'Shaw—Soical & Political Ideas of 16th, 17th Centuries.

आन्तरिक विषमता तथा प्रतिबन्धों को छोड़कर वाह्य-रूप से व्यवधानों का अभाव स्वतन्त्रता का द्योतक है। अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिये मनुष्य को जो उचित प्रतीत हो उसे करने की स्वतन्त्रता प्राकृतिक अधिकार देते हैं। किन्तु विधि इस स्वतन्त्रता की अपेक्षा कुछ स्वरचित अनुशासन या आत्मशासन अथवा नियंत्रण का संकेत करती है।* यह प्राकृतिक विधि संतुलित विवेक का उचित आदेश है जो शाश्वत जीवन रक्षा के हेतु नियमों का विधान या परिहार करता है। जिन बातों से जीवन रक्षा खतरे में पड़े या विनाश की संभावना हो उन्हें अस्वीकृत करते हुये प्राकृतिक विधि निषेधाधिकार का प्रयोग करती है। प्राकृतिक अधिकार की स्वच्छंदता मनुष्य को किसी से भी युद्ध के लिये प्रेरित कर सकती है किन्तु प्राकृतिक विधि मानो अन्तःकरण की पुकार की तरह उठकर ऐसा न करने को कहती है। प्राकृतिक अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं पर दावा कर सकता है, उन्हें प्राप्त कर सकता है। किन्तु प्राकृतिक विधि उसे अपना दावा कुछ मात्रा में त्याग देने को कहती है ताकि अवशिष्ट अधिकारों या दावों को सुनिश्चित ढंग से प्राप्त किया जा सके (More certain Realisation of the rest of his Claims)। प्राकृतिक अधिकारों के चलते ही प्राकृतिक अवस्था महायुद्ध की अवस्था बन गई जिसमें जीवन इच्छा आकांक्षा की संदिग्ध, संत्रस्त दशा का कोई पारावार नहीं। प्राकृतिक विधि विवेक-प्रसूत नियमों की तरह यह संदेह दूर कर जीवन सुरक्षित बनाती है। यह काम परित्याग से होता है, केवल एक व्यक्ति द्वारा नहीं बल्कि पूरे समाज के सभी व्यक्तियों द्वारा। सब मिलकर यह प्रतिज्ञा और घोषणा करते हैं कि वे अपने अमुक-अमुक अधिकार किसी व्यक्ति विशेष या समूह को सौंप देंगे और उसके आदेशों का पूर्णरूपेण पालन करेंगे। इस सर्वसाधारण तथा पारस्परिक त्याग के फलस्वरूप अनुबन्ध की शर्तें तैयार हो जाती हैं। वास्तव में देखा जाय तो प्राकृतिक विधि कोई आदेशात्मक विधि नहीं है। ये तो स्वार्थमय जीवन की उपसिद्धियाँ हैं जिसका सम्बन्ध आत्मरक्षा तथा बचाव से है।

सामाजिक अनुबन्ध तथा राज्य की उत्पत्ति :

प्राकृतिक अवस्था में सर्वनाश का ताण्डव होते देख सब व्यक्तियों ने अपने अधिकार त्याग देने की बात सोची। व्यक्ति ने प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहा कि "मैं शासन करने का स्वाधिकार अमुक व्यक्ति या सभा को इस शर्त पर दे सकता हूँ

---

*"Natural law implies primarily restraint rather than liberty." (W. A. Dunning vol. 2)

कि तुम भी इसी भाँति अपना अधिकार-समर्पण करो और उसकी आज्ञा हम सब मिल कर मानें।" यह अनुबन्ध सूत्र इस तरह बना और एक ऐसी शक्तिशाली संस्था राज्य के रूप में बनाई गई जो अपनी इच्छा तथा कृतियों में समूह की इच्छा तथा कृतियों को प्रतिबिंबित करती थी। इस अनुबन्ध में समय अथवा विचार (Consideration) आत्म-सुरक्षा था। इसमें राज्य अथवा शासकवर्ग समझौते का कोई विशेष पक्ष (Party) नहीं था। यह समझौता तो स्वयं व्यक्तियों का अपने ही बीच हुआ था और शासक इसमें शरीक नहीं था। इस लिये शासक न तो शर्तों को मानने के लिये बाध्य है, न व्यक्ति या व्यक्ति समूह की बात सुनने के लिये तैयार है। वह तो सर्वतंत्र स्वतन्त्र है। चूँकि प्राकृतिक अवस्था में समाज या संगठन कुछ था ही नहीं, व्यक्ति का व्यक्ति से ही समझौता हो सकता था। इसकी विशेषता यह थी कि व्यक्तियों ने शासक को अधिकार-समर्पण मुक्त भाव से बिना किसी शर्त के किया। इसलिये शासक की इच्छा के विपरीत जाने का कोई अधिकार व्यक्तियों के पास नहीं था। अधिक से अधिक व्यक्ति केवल आत्म-रक्षा का अपना अधिकार बनाये रख सकता था। इसके सिवाय सबसे बड़ी बात यह थी कि एक ही अनुबन्ध द्वारा समाज और राज्य दोनों का निर्माण हुआ। समाज और राज्य को एककालोद्भव मानने का अभिप्राय यह था कि राज्य के नष्ट होने पर समाज भी विनष्ट होता और प्राकृतिक अवस्था—अराजकतापूर्ण प्रलयंकारी स्थिति—फिर लौट आती। तब पुनः सर्वग्रासी-युद्ध, अशान्ति, संघर्ष का वात्याचक्र प्रारम्भ होता। इसलिये संक्षेप में यह बताया गया कि राजद्रोह समाजद्रोह है और क्रान्ति की बातें (शांतिपूर्ण या हिंसात्मक) बिलकुल निरर्थक हैं। राज्य की इस कल्पना से हाब्स का मन्तव्य था पुंजीभूत तेज तथा अलोकराशि की श्रेष्ठता स्थापित करना। जिस प्रकार समानान्तर दिशाओं से विकीर्ण होने वाली प्रकाश-रश्मियाँ अग्नितुल्य अंशुमाली में विलीन होती हैं अथवा वहीं से प्रारम्भ होती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति का आदि-अन्त, निर्माण-अवसान सब राज्य शक्ति पर ही अवलम्बित है। राजाज्ञा का पालन प्रत्येक व्यक्ति का अनिवार्य धर्म है। उल्लंघन करने का मतलब है मृत्यु को आमन्त्रण। इस अनुबन्ध के पीछे शक्ति है, सत्ता है, तलवार का बल है क्योंकि इस बल के बिना अनुबन्ध निकम्मा है। केवल शब्द-जाल से मनुष्यों की क्षुधा, महत्वाकांक्षा, क्रोध-वृत्ति तथा अन्य भावनाएँ नियन्त्रित नहीं हो सकतीं।* इसके लिये दण्डप्रदायिनी, निरंकुश, अप्रतिहत, अद्वितीय शक्ति

* "The bonds of words are weak to bridle man's ambition, avarice, anger, and other passions without the fear of some coercive Power."
—Leviathan Ch. XIV

चाहिये। इस शक्ति को धारण करने वाला संप्रभु शासक है। संप्रभुता (Sovereignty) उसका विभूषण है, असंख्य गुणोपेत संप्रभु वन्दनीय है। सप्रभुता किसी व्यक्ति में अथवा व्यक्ति-समूह (Assembly of men) में हो सकती है। संप्रभु व्यक्ति ही विशालकाय नश्वरदेव (लेवायथन) है। यह दीर्घकाय मानवदेव समाज और राज्य दोनों का प्रतीक है। उसकी अनुकम्पा से ही कला, संस्कृति, विद्या, व्यवसाय, यातायात, साहित्य, स्थापत्य, समय-ज्ञान, विश्व-ज्ञान आदि पैदा हुए हैं। अतएव सभ्यता तथा मानवता का जन्मदाता यह 'लेवायथन' ही है। इसके चौदह गुणों का उल्लेख हाब्स ने किया है ;—

(१) संप्रभु शासक या विशालदेव अनुबन्ध से परे है, उसका स्थान ऊँचा है।

(२) उसकी शक्ति सर्वव्यापी, असीम तथा अविभक्त है। केवल विवेक-ग्राह्य प्राकृतिक विधियाँ उसका मार्ग-दर्शन करती हैं।

(३) संप्रभु को दण्ड देना या हटाना प्रजा के अधिकार के बाहर की बात है।

(४) संप्रभु समस्त विधियों का आदिस्रोत है। कानून का संरक्षक, अभि-भावक, व्याख्याता सभी कुछ (Preserver, Defender, Protector and Interpreter of Law)।

(५) शान्ति, उद्योग तथा सम्पत्ति का विधाता संप्रभु शासक है। सम्पत्ति पर कर लगाना, जब्त कर लेना, उद्योग-श्रम आगे बढ़ाना, युद्ध घोषणा करना सब उसके अधिकार में हैं।

(६) वैयक्तिक स्वतन्त्रता अथवा अधिकार नहीं है।

(७) राजसत्ता का पूर्व, परिपक्व, अन्तिम सत्य तथा नियामक रूप संप्रभु ही है।

(८) अन्तर-बाह्य आक्रमण से रक्षा करना, शान्ति-सुरक्षा कायम रखना यह सब संप्रभु का कर्तव्य है।

(९) संप्रभु का आदेश ही कानून है। आदेश न मानना राजद्रोह है, दंडनीय है।

(१०) संप्रभु न्याय-विवेक-तर्क सबसे परे है। वह अविवेकी भले हो पर अन्यायी कभी नहीं हो सकता है।

(११) ईश्वर का पार्थिव रूप संप्रभु है। इसलिये उपासकों, धार्मिकों द्वारा पूजनीय है।

(१२) सर्वोच्च सत्ता, सम्मान तथा गौरव का प्रतीक है।

(१३) अल्प संख्यकों को विरोध या विद्रोह का कोई अधिकार नहीं। बहुमत को पूरा अधिकार है अल्पमत की अवहेलना अवमानना करने का।

(१४) संप्रभु के अधिकार अविभाज्य, अदेय, स्थायी, परिवर्तनहीन तथा अनुत्तरदायी हैं।

संप्रभु के गुणों का निरूपण करते हुये हाब्स राज्य के प्रशासकीय पक्ष में निरंकुशता (Governmental Absolutism) का समर्थन करता है। स्पष्टत: वह राजतन्त्र का समर्थक है क्योंकि यह राजतन्त्र न केवल पूर्ण वैधानिक है बल्कि सर्वश्रेष्ठ रूप भी है तथा इसमें अपेक्षाकृत अधिक लाभ तथा कम से कम हानि है। राज्य (Commonwealth) की उत्पत्ति के विषय में वह कहता है कि जब अपने संवेगों के बल पर मनुष्य एकत्रित होता है अथवा ऊपरी शक्ति द्वारा प्रेरित होता है तब संस्थापन अथवा आधिपत्य के द्वारा राज्य बनता है। इसमें असंख्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक व्यक्तित्व रहता है।

संप्रभुता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य :

संप्रभुता के वर्तमान युग में, तात्पर्य राज्य की सर्वोच्च अनियन्त्रित सत्ता है जो आभ्यन्तर, बाह्य दोनों प्रकार से अद्वितीय, निर्विरोध है। उसकी कुछ विशेषताएँ हैं—सार्वभौमता, निरंकुशता, असीमता, सर्वव्यापकत्व, अविभाज्यता, मौलिकता, विधिनिर्माण-क्षमता, अदेयता, स्थायित्व आदि। करीब-करीब ये विशेषतायें हाब्स के संप्रभु शासक में पाई जाती हैं। राजसत्ता (Sovereignty) की शाब्दिक व्युत्पत्ति (Superanus) शब्द से हुई जिसका अभिप्राय श्रेष्ठ या उत्तम होता है। इससे राजसत्ता सर्वश्रेष्ठ शक्ति हुई, अन्य शक्तियाँ उसके अन्तर्गत हैं। जो बोदाँ (१५३०-१५९६ ई०) नामक विख्यात फ्रांसीसी विचारक ने संप्रभुता की व्याख्या करते हुये उसे विधियों से अनियन्त्रित नागरिकों पर प्रयुक्त की जाने वाली सर्वोच्च शक्ति कहा था।* राज्य की व्याख्या में उसने यह कहा कि राज्य सर्वोच्च शक्ति तथा विवेक द्वारा शासित कई परिवारों तथा उनके स्वामित्व का सामूहिक प्रतीक है।† इन परिभाषाओं का प्रभाव

---

*"Sovereignty is supreme Power over citizens and subjects unrestrained by Law." —Jean Bodin

†A state is an aggregation of families and their common possessions ruled by a sovereign power and reason. —Jean Bodin

हाब्स पर काफी पड़ा। संप्रभुता के पूर्ववर्ती तथा हाब्स के सिद्धान्तों के बल पर ही संप्रभुता का अद्वैतवादी (Monist) सिद्धान्त आगे चल पड़ा जिसे जॉन आस्टिन (१७९०-१८५९) ने परिपुष्ट किया। हाब्स-लॉक-रूसो तीनों का अनुदान इस सिद्धान्त में महत्वपूर्ण रहा। हाब्स के अनुसार संप्रभुता निरपेक्ष, अविभाज्य, स्थायी, अदेय एवं अविभाज्य है। राजसत्ता का कोई भी कार्य अन्यायपूर्ण नहीं है, भले ही विषमतापूर्ण हो। राजाज्ञा न्यायसम्मत तथा विधि-सम्मत दोनों है। उसका हस्तक्षेप कार्यों और विचारों दोनों पर है। विशाल मानवदेव सर्वोच्च न्यायाधीश, सर्वशक्तिमान सेनापति तथा सर्वाधिकारी है। इस तरह संप्रभुता की सर्वप्रथम प्रामाणिक व्याख्या हाब्स ने की। संप्रभु के कार्यों का उल्लेख करते हुये हाब्स ने शिक्षा-प्रसार सम्बन्धी, शासन सम्बन्धी विधि निर्माण-सम्बन्धी तीन प्रमुख अंग बतलाये और निष्पक्ष, संतुलित समता-सम्पन्न शासन-तन्त्र पर जोर दिया। जनसंख्या के नियन्त्रण के लिये उपनिवेशों की स्थापना का उल्लेख भी उसने किया। राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्तियाँ करते समय योग्यता का ध्यान रखने की सलाह संप्रभु को दी गई। कुलीनतन्त्र या प्रजातन्त्र का हाब्स विरोधी रहा क्योंकि इनमें सुयोग्य, परिश्रमी, मेधावी व्यक्ति तथा परामर्शदाता नहीं होते और न गुप्त मन्त्रणा की क्षमता रहती है। इससे वह उदार किन्तु निरंकुश सत्ता का समर्थक है। राज्य की यह कल्पना पुलिस राज्य (Police State) को ही जन्म देती है।

नागरिक स्वातन्त्र्य का उल्लेखनीय स्वरूप हाब्स सामने नहीं रख सका। उसकी दृष्टि में राज्य की आज्ञा न मानना या अवज्ञा गुरु अपराध है। विद्रोही अथवा राज्य उलटने में षड़यन्त्र करने वाले व्यक्तियों को मौत के घाट उतारने का पूरा अधिकार शासक को है क्योंकि उन व्यक्तियों ने अपने उपद्रवी प्रकरणों से आत्महत्या की चेष्टा (Logical Suicides) है। यदि विरोधी या अल्पमत वाले किसी बात में सहमत हैं तो उन्हें अनुकूल आचरण करना चाहिये। यदि वे सहमत नहीं हैं तो वे प्राकृतिक अवस्था में है जहाँ न न्याय है, न विवेक, न सत्-असत्। इसलिये वे किसी सुरक्षा की अपेक्षा नहीं कर सकते। नागरिक स्वतन्त्रता का मर्यादित तथा राज्य-द्वारा स्वीकृत-प्रचलित नियम मानने के लिये हाब्स कुछ छूट अवश्य देता है। भय तथा आवश्यकता से मेल रखती हुई स्वतन्त्रता कामनवेल्थ में चल सकती है। इसलिये संप्रभु ने जिन बातों का निषेध नहीं किया अथवा जो बातें प्रारम्भिक अनुबन्ध में ही त्याज्य नहीं थी उन्हें करने की स्वतन्त्रता व्यक्ति को रह सकती है। हाब्स का इशारा यह कि राज्य में प्राकृतिक अधिकारों तथा राज्य-स्वीकृत अधिकारों

से पृथक् कोई अधिकार नहीं है। और व्यक्ति को नाममात्र के अधिकार जीवरक्षा के नाम पर हैं क्योंकि मुख्यतया जीवरक्षा का काम राज्य ही करता है। संप्रभु द्वारा निषिद्ध वस्तु तो दुष्प्राप्य ही हैं (Dead Seafruit) किन्तु दूसरी जीवरक्षा की बात स्फूर्तिदायक देन (Nourishing Gift) है। पाँच तरह की उन स्थितियों का उल्लेख हाब्स करता है जब व्यक्ति राजाज्ञा की अवहेलना कर सकता है। एक तो उस समय जब उसे अपने आपको समाप्त करने के लिये कहा जाय (Refuse to kill himself) उस समय वह आत्मघात से इन्कार कर सकता है। (२) अपने ऊपर होने वाले आक्रमण के प्रतीकार हेतु कोई भी काम कर सकता है। (३) किसी भी अपराध के अभियोग में जिसमें उसके जीवन-मरण का प्रश्न निहित है वह आत्माभियोक करने से विमुख हो सकता है। (४) कई अवस्थाओं में वह अनिवार्य सैन्य-संगठन में भरती होने से भी इन्कार कर सकता है बशर्ते कि अन्य उनका स्थान लेने को तैयार हों। (५) अराजकता की स्थिति में उपद्रवों, हलचलों के बीच समाज और राज्य दोनों प्राकृतिक अवस्था में गिर जाते हैं और इस घटना के फलस्वरूप (Ipso Facto) राज्य का दायित्व समाप्त हो जाता है, इसके साथ ही व्यक्ति भी पूर्ण स्वतन्त्र है, जीवरक्षा के नाम पर कुछ भी करने के लिये। हाब्स ने लेवायथन के अन्तिम परिच्छेद में यह भी व्यक्त किया है कि यदि कभी अन्यायपूर्ण विद्रोह सफल हो जाय तो प्रजाजन पुराने संप्रभु के प्रति आस्था अथवा राज्यभक्ति का परित्याग कर सकते हैं क्योंकि विद्रोह की अवस्था प्राकृतिक स्थिति का पुनरावर्तन है जिसमें न्याय-अन्याय कुछ नहीं है। इन विचारों से यह ज्ञात होता है कि हाब्स ने निरंकुशता की कालिमा के बीच एक क्षीण रजत-रेखा खींच दी है जो व्यक्ति को कभी-कभी आलोकित कर जाती है। किन्तु उसकी व्यवस्था में एक ओर जहाँ तर्क को प्रधानता है वहीं द्वन्द्वात्मक वितण्डावाद (Dialectic Sophistry) की भी झलक है। प्रशासकीय निरंकुशता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के बीच कोई स्थिर मार्ग निकालने में हाब्स असमर्थ रहा।

सर्वश्रेष्ठ शासनतन्त्र तथा विधि :

संप्रभुता कितने व्यक्तियों के पास रहती है इस आधार पर हाब्स ने परम्परागत ३ शासनतन्त्रों का अस्तित्व माना है—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र। इसमें सर्वश्रेष्ठ राजतन्त्र शासन ही है जो सब बुराइयों के लिये रामबाण (Panacea) है। मिश्रित व्यवस्था निन्दनीय है, सार्वजनिक हित में

कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र अवांछनीय तथा अव्यावहारिक हैं। स्वार्थ संघर्ष तथा प्रतिद्वन्द्विता की भावना इन शासनों में रहती है। निर्वाचन प्रणाली भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि उससे कटुता, विरोध यथा संघर्ष बढ़ता है। आनुवंशिक राजतन्त्र इसलिये सर्वोत्तम है। राजतन्त्र के कुछ गुणों का उल्लेख करते हुये हाब्स लिखता है कि —

१—राजा समाजहित तथा व्यक्तिहित का उचित समाहार करता है।

२—नीतियों में परिवर्तन (Fluctuation in Policy) का भय नहीं रहता और अधिक संगति, स्वतन्त्रता तथा एकरूपता का आभास होता है।

३—पक्षपात के दोष अथवा पद वितरण या नियुक्तियों में अनावश्यक ढङ्ग से प्रोत्साहन देने का भाव राजा में नहीं रहता। दूसरे शासनों में तो अन्धे को रेवड़ी ही बंटती रहती है और अधिक वैषम्यजनित कलह उत्पन्न होता है।

४— निर्वाचित या मर्यादित, नाममात्र का राजा वास्तव में कोई शासक ही नहीं होता। उत्तराधिकार द्वारा ही राजत्व ग्रहण किया जाता है।

विधियों के सम्बन्ध में हाब्स ने प्राकृतिक विधियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया। विधि की परिभाषा में हाब्स का कहना है कि दूसरों पर अधिकारपूर्वक आदेश देने वाले का शब्दमात्र ही कानून है।* जीवन में सामान्य आचार-व्यवहार की ओर प्रेरित तथा संलग्न करनेवाली विधि क्रियात्मक विधि (Positive Law) है जो सामान्य तथा ईश्वरीय दो तरह की है। सामान्य क्रियात्मक विधि संप्रभु के आदेशों के अनुरूप हैं और ईश्वरीय विधियों में मनुष्यमात्र की कोई प्रत्यक्ष सत्ता नहीं है। लौकिक नियम तथा प्रथाएं कानून का रूप तभी ले पाती हैं जब राजा अपनी मूक स्वीकृति उन्हें प्रदान करता है। प्राकृतिक विधियों को हाब्स जीवनरक्षा तथा शक्तिसंचय के लिये उपयोगी उपसिद्धियों के रूप में देखता है। ये केवल अलंकारिक कानूनमात्र हैं। जिसमें संप्रभु की व्यक्त-अव्यक्त, प्रत्यक्ष-परोक्ष, प्रकट-प्रच्छन्न सहमति, स्वीकृति तथा शक्ति (तलवार की शक्ति या बलप्रयोग) अन्तर्निहित न हो वह कानून नहीं केवल शब्दाडम्बर है। शासकीय कानूनों के साथ दण्ड-व्यवस्था का नियम भी अनिवार्य रूप से जुड़ा है। रीति-रिवाज, लौकिक नियम, नैतिकता, प्राकृतिक

---

*Law is the word of him that by right hath command on others.

—*Hobbes*

कानून सब संप्रभु से नीचे हैं, उसके विरुद्ध नहीं जा सकते। नागरिक विधि (Civil Law) राज्य द्वारा निर्मित तथा समर्थित क्रियात्मक विधि ही हैं। हाव्स के पहले सर एडवर्ड कोक (१५५२-१६३४ ई०) नामक विधिशास्त्री ने वेकन के उन विचारों का खंडन किया जिसमें उसने इंगलैण्ड के राजा को विधियों का स्रोत बताया था। कोक ने यह कहा कि विधियाँ प्रधान हैं और राजा भी विधियों को अमान्य नहीं कर सकता। सामान्य विधियों के व्याख्याता कोक के विचारों को हाव्स ने बिल्कुल नहीं स्वीकार किया। कोक ने विधियों को बुद्धि का संचित, कृत्रिम परिष्कार तथा पूर्णत्व बताया जो वकीलों, न्यायाधीशों से प्राप्त होता है। इसके विपरीत हाव्स ने विधियों को संप्रभु के संकल्पों द्वारा अभिव्यक्त उनकी ही बुद्धि का विकास बताया। इस प्रकार हाव्स की दृष्टि में विधियों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। राजप्रभुता ही सब कुछ है।

राज्य तथा धर्म-संस्थान :

राज्य की सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के बाद यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि कोई अन्य संस्था राज्य के मुकाबले खड़ी हो सकती है। जो भी संस्था, निगम, संवास, संघ है, सब राज्य के अन्तर्गत ही हैं, उसकी कृपापर आश्रित हैं। किन्तु हाव्स पूर्णतया अनीश्वरवादी नहीं है, वह धर्म के प्रति सजग सहिष्णु है, उसकी उपादेयता पर विचार करता है धर्म-ग्रंथ, गिरजाघर ईश्वरीय आदेश-विधान, धार्मिक संस्कार, रीति-रिवाज आदि सबके प्रति उसकी व्यक्तिगत श्रद्धा थी। किन्तु केवल इस कारण ही उन्हें समाज में प्राधान्य नहीं दिया जा सकता था। वे राज्य की मान्यता होने पर ही नियमपूर्वक चलते रहेंगे। मनुष्य के व्यक्तिगत विश्वास गोपनीय रहने पर तो स्वच्छन्द हैं किन्तु वाह्य आचरण पर राज्य का पूरा प्रतिबन्ध है। अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यवसायिक, शैक्षिक संघों की तरह धार्मिक संघ भी राजाधीन हैं। संप्रभु इन सब संघों का प्रधानाध्यक्ष है, अन्य कार्यकर्ता उसके कार्यवाहक हैं। संप्रभु की अनुमति के बिना धर्म संघों का कार्य अवैधानिक तथा दण्डनीय है। संप्रभु आध्यात्मिक तथा भौतिक क्षेत्रों में ईश्वरीय प्रतिनिधि के रूप में प्रधान का पद ग्रहण करता है। साधारणतया हाव्स धर्माचार्यों, पादरियों और उन कपोलकल्पित कथाकारों का विरोधी था जो जनता को भेड़ों की तरह हाँककर यहाँ-वहाँ स्वार्थ-सिद्धि करते और राज्य में हस्तक्षेप करते। रोमन साम्राज्य के प्रेत के रूप में वह इन सबको देखता था। यूरोप का पिछली ४-५

सदी का इतिहास मध्ययुग में धर्म की प्रबलता का इतिहास रहा जिसका भीषण संघर्ष राज्यसत्ता से होता रहा। हाब्स ने धर्म की दासता तथा हस्तक्षेप का पाश काट दिया। परिणामस्वरूप राजसत्ता को धर्मनिरपेक्ष रूप मिल गया। चर्च की परिभाषा करते हुये हाब्स ने लिखा कि ईसाई धर्म मानने वाले मनुष्यों का वह समूह जो एक संप्रभु के व्यक्तित्व के नीचे संगठित है और उस सप्रभु के आदेश पर प्रार्थनाओं के लिए एक स्थान पर एकत्रित होता है और बिना उसकी अनुमति के नहीं एकत्रित हो सकता। धर्म की रहस्यमय उक्तियाँ रोग-निवारक गोलियों की तरह हैं जो निगल जाने पर लाभ करती हैं और चबाने पर उनके पोषक-तत्व नष्ट हो जाते हैं। इस व्यंग्य का लक्ष्य हाब्स का यह है कि बिना तर्क-वितर्क या हिचकिचाहट के धर्म को अपना उपदेशात्मक (मात्र) काम करना चाहिये और राजनीति की क्रियाशील जिज्ञासा से परे रहना चाहिये। हाब्स के अनुसार दो सिद्धान्त निश्चित हो जाते हैं, एक तो यह कि बिना संप्रभु के आदेश के कोई चर्च वा धर्म-संघ सम्भव नहीं, दूसरे एंग्लिकन चर्च की कल्पना को हास्यास्पद बताते हुये वह कहता है कि सार्वभौम चर्च की कल्पना बिना वृहत्तर सार्वभौम राज्य के असम्भव है। चर्च के पदाधिकारियों को सतर्क करते हुये वह कहता है कि उनका पद सम्मान प्राधान्य केवल राजा की अनुकम्पा (Regis Gratia) से है। उनका भ्रम है यदि वे इसके लिये प्रभु की कृपा (Dei Gratia) खोजते हैं। इस तरह हाब्स धर्म को सर्वव्यापकता तथा सर्वज्ञता की खाल उतार देने का आदेश देते हुए चुप-चाप आध्यात्मिक प्रवचन, भजन-पूजन के मार्ग पर नतमस्तक, निमीलितनेत्र, ध्यानावस्थित होकर चलने की नेक सलाह देता है।

राज्य का विनाश और व्यक्तिवाद :

अरस्तू, मेकियावेली आदि विचारकों ने राज्य के लिये आदर्श-विधान करने के बाद उन सम्भावनाओं का उल्लेख किया जिनसे राज्य की जड़ें कमजोर या खोखली पड़ती हैं। इससे सतर्क-सजग शासक उनका निदान करके उन्हें दूर कर सकता है। हाब्स ने भी उन स्थितियों की ओर संकेत किया है जिनसे राज्य विनाश तथा ह्रास की ओर बढ़ सकता है। इस दृष्टिकोण में हाब्स के सामने इंग्लैण्ड की राजनीति तथा सामाजिक स्थिति का मार्मिक, हृदयद्रावी भयसंचारक चित्र सदैव बना रहता है। राज्य के अन्तर्गत विप्लव, उपद्रव, आन्दोलन, हत्या, तोड़-फोड़ आदि से वह बहुत घबराता था। इसलिये वह कभी यह नहीं चाहता कि स्टुअर्ट राजाओं को इन बुराइयों का सामना

करना पड़े। सबसे पहले वह संप्रभुता सिद्धान्त को अक्षुण्ण, अविभक्त, अहस्तान्तरणीय रखने की सलाह देता है। जहाँ यह शक्ति विभक्त हुई, जैसा कि इंग्लैण्ड में राजा और संसदवादियों के बीच हो चुकी थी, राज्य में पतन अवश्यम्भावी है। इसके कारण संघर्ष बढ़ता है और राज्य नष्ट होता है। दूसरी विभिन्न विचारधाराओं को प्रोत्साहन देने से भी विरोध बढ़ता और राज्य की शक्ति क्षीण करता है। व्यक्तिगत विवेक, विचार अथवा उचित-अनुचित-धारणा भी लाभदायक नहीं है क्योंकि इससे उच्छृङ्खलता को प्रश्रय मिलता है। सत्य, विवेक की सही कसौटी कानून है और उसके अनुसार ही चलना चाहिये। यह धारणा मूलतः भ्रान्त है कि संप्रभु मर्यादित अथवा विधिवत् आचरण करने के लिय बाध्य है। वास्तव में संप्रभु कानूनों का जनक-पोषक है, उनसे कहीं ज्यादा ऊपर है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्णाधिकार भी एक असंगत कल्पना है। राज्य चाहे तो किसी भी सम्पत्ति को हस्तगत कर सकता है। ऐसा करके वह जनहित ही करता है। इसलिये सम्पत्ति का व्यक्तिगत अधिकार राज्य की दृढ़ता के विरुद्ध है। शासनतन्त्रों की विभिन्नता तथा अन्य संविधानों के प्रति आकर्षण भी राज्य के पतन का कारण है क्योंकि उस समय दूसरी ओर दृष्टि रखने वाले लोग लक्ष्यभ्रष्ट होकर अपनी समस्याएं नहीं सुलझा पाते। धार्मिक स्वतन्त्रता की बात भी बहुत बड़ा विकार है। सम्पत्ति -नौकरी सम्मान आदि का वितरण करने में निष्पक्ष न्यायबुद्धि से काम लेना चाहिये तथा सम्भावित विषमता-ईर्ष्या-कटुता दूर करना चाहिये अन्यथा संघर्ष होने की सम्भावना है। छोटे-छोटे ग्रामों का ह्रास तथा बड़े शहरों का विकास भी स्वस्थ लक्षण नहीं है क्योंकि षड़यन्त्र, विप्लव, आतंक,संगठन आदि की सृष्टि केन्द्रीयकरण मानने वाले शहरों में ही होती है। सैनिकों को प्रोत्साहन देना तथा सेनापतियों को पूरी छूट देने से यह डर रहता है कि वे अपने हाथ सत्ता लेने का प्रयत्न न करें। इसलिये सैनिक शक्ति पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिये। अकाल, महामारी, बाढ़, अपराध आदि राज्य के पतन के लक्षण हैं। स्वतन्त्र व्यापारी संघों अथवा अन्य निगमों का अभ्युदय भी राज्य के लिये चैलेञ्ज हैं इसलिये राज्य उन्हें पूरी तरह अपने आधीन रक्खे। विनाश के बीज जहाँ हैं उनका ढूंढ़-ढूंढ़कर उन्मूलन करना और अपनी शान्तिनीति का प्रचार करना संप्रभु का परम कर्तव्य है। राजा का विनाश होने से अन्धकाराच्छन्न साम्राज्यमात्र रह जायेगा जो प्राकृतिक स्थिति की तरह विद्रावक, कुरूप तथा भयावह होगा।

हाब्स को व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रवर्तक भी माना जाता है। इसके अनुसार व्यक्ति किसी भी संघ या संगठन की अन्तिम इकाई है और उसका हित

ही सर्वोपरि है। व्यक्ति के स्वार्थ से भिन्न किसी संस्था का उद्देश्य न हो सकता है, न होना चाहिये। इस ध्येय से व्यक्ति की जीवन-रचा तथा सुख-शान्ति का संरचक राज्य पारस्परिक समझौते का परिणाम है और तब तक चलता जाता है जब तक वह अपने मूल-उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न है। इसके चलते ही व्यक्ति में राजभक्ति है, आदेशपालन है, आत्म-समर्पण है। अन्यथा विद्रोह के लिये व्यक्ति स्वतन्त्र है। इस तरह राज्य व्यक्ति की स्वार्थ-सिद्धि का साधनमात्र है। साध्य तो व्यक्ति ही अपने आप में है। प्राकृतिक अवस्था में भी व्यक्ति की अद्‌भुत, अगाध, अलौकिक शक्ति का प्रदर्शनमात्र है। एक ओर अराजकता है, और दूसरी ओर निरंकुश राजसत्ता। इनके बीच दोलान्दोलित व्यक्ति ही वास्तविक नियन्ता है। न कोई कर्तव्य है, न कोई अधिकार, केवल कुछ शर्तों की पूर्ति के बाद ही इनकी स्थिति है। इसलिये हाब्स की विचारधारा व्यक्ति-वादी मानी जाती है। इस विचारधारा के प्रति स्टुअर्ट राजा भी (जिनके लिये हाब्स ने क्या नहीं किया?) सशंकित थे क्योंकि निर्बन्ध, निरपेच राज्यभक्ति का उल्लेख कहीं नहीं किया गया। इसी प्रकार अन्य विचारों की भी कटु आलो-चना की गइ। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार राज्य एक अपरिहार्य विकार (Unmitigated Evil) है और हाब्स उसे कल्याणकारी नहीं दमन का साधन मानता है।

मूल्याङ्कन, अनुदाय तथा आलोचना :

हाब्स के विचारों को समर्थन मिलना तो दूर रहा, सर्वत्र उनकी तीव्र आलोचना की गई। समकालीन कोई भी पच उसकी तरफ न था। निरंकुश राजतन्त्र के समर्थक उसकी व्यक्ति-स्वेच्छा के सिद्धान्त तथा दैवी सिद्धान्त के निराकरण के कारण संदिग्ध थे। पार्लमेण्ट के समर्थक उसकी अमर्यादित अनुदार राजतन्त्र निष्ठा के कारण नाराज थे। धार्मिक विचारक उसकी धर्मविरोधी धारणा तथा व्यवस्था से क्षुब्ध थे। जनतन्त्रवादी उसे अनैतिक तथा विचार-भ्रष्ट मानते थे। व्यक्तिवादी विचारक राज्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मौलिक अधिकारों की घोषणा के अभाव में उससे भयभीत थे। तर्कवादी विचारक उसके सिद्धान्तों में बौद्धिकता की अतिशयता (Ultra-Rationalistic) से खिन्न थे। वैज्ञानिक उसकी बातों को भानमती का पिटारा समझते थे। मनोवैज्ञानिक उसके मनुष्य चित्रण को भ्रामक, अतिरंजित, त्रुटिपूर्ण मानते थे। विधिशास्त्री उसे संकीर्ण, अनभिज्ञ तथा उत्पीड़क मानते थे। लॉक और रूसो भी उसके विरुद्ध थे। इस भाँति किसी भी कोने से उसे सहानुभूति न मिली। फिर भी उसके

विचारों की छाप आने वाले युग में पड़ी और उसके विचारों का पुनर्मूल्यांकन ठीक ढंग से किया गया। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का विवेचन जब किया जाता है तो हाब्स का स्थान उसमें अवश्य ही ऊँचा है। संप्रभुता. विधि तथा प्राकृतिक दशा का चित्रण हाब्स की अपनी विशेषताएँ हैं। राज्यसत्ता का वास्तविक (De Facto) तथा वैधानिक (De Jure) रूप निश्चित करके हाब्स से अपना स्थिर दृष्टिकोण बनाया और कहा कि जो वास्तविक है वही वैधानिक है। व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, भौतिकवाद तथा अद्वैतवादी संप्रभुता के सिद्धान्तों का वह जन्मदाता है। उपयोगितावादी बेन्थम (१७४८-१८३२ ई०) ने हाब्स के दर्शन से यह निष्कर्ष निकाला कि मूलतः मानव प्रवृत्ति सुखाकांक्षी तथा लाभ चाहने वाली है। जान आस्टिन संप्रभुता की अद्वैतवादी कल्पना में उससे पूर्णतया प्रभावित हुआ। आदर्शवादी जर्मन दार्शनिक हीगेल (१७७०-१८३१) ने भी हाब्स की प्राकृतिक अवस्था के चित्रण को स्वीकार किया। स्पिनोजा, पफेनडर्फ आदि विचारकों ने अनुबन्धवाद के सम्बन्ध में हाब्स के विचारों से प्रेरणा ली है। आलोचक मरे (R. H. Murray) के शब्दों में 'हाब्सवाद नास्तिकता, भौतिकता; आततायित्व तथा उस युग की कल्पना द्वारा प्रसूत अन्य किसी वाद या विचार का पर्यायवाची है।' स्ट्रास के शब्दों में 'हाब्स आधुनिक राजदर्शन का जन्मदाता है क्योंकि कर्तव्यपालन तथा अन्धानुगमन के स्थान पर वह व्यक्ति-हित, जनहित को सर्वोच्च स्थान देता है। दूसरे आलोचक के अनुसार (प्यूरीटन पादरियों) हाब्स दुष्टता का मूर्तरूप है। नास्तिक, राजसत्तावादी, उच्छृङ्खल, विलासी मानवता का शत्रु और शैतान का जीता-जागता नमूना है। क्लेरेण्डन के मत में हाब्स इंग्लैण्ड की विधियों तथा प्रथा-परम्पराओं से पूर्णतया अनभिज्ञ है। किन्तु यह भी सत्य है कि क्रान्तिकारी राजनीतिक विचारों का जनक भी वह है, भले ही उसके विचारों की आलोचना कई तरह से की गई है। उसने ही सबसे पहले राज्य को कृत्रिम मानवीय संस्था का रूप दिया।

हाब्स का दर्शन मानवी प्रकृति के चित्रण में एकांगी, भ्रान्तिपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक सत्य के विपरीत है। यदि मनुष्य इतना स्वार्थी, जघन्य, पाशविक है तो राज्य की स्थापना, अनुबन्ध की बुद्धि, अधिकार-पूर्ति आदि कैसे सम्भव है? इसी तरह प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा अनुमोदित नहीं है। सर्वव्यापी महायुद्ध की कल्पना भी निराधार मालूम होती है। क्योंकि वह स्थिति यदि होती तो सृष्टि का अन्त दूर नहीं था। आदिम समाज की बात करते समय हाब्स परिवार, कुटुम्ब, कबीले रीति-रस्म जैसे उपयोगी

संस्थाएं भूल जाता है। समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र तथा इतिहास आदि के आधार पर विचार करने से ज्ञात होगा कि हाब्स बिलकुल गलत नींव पर खड़ा है। पूर्णतया स्वार्थी, आत्म-केन्द्रित तथा असामाजिक मान लेने पर तो व्यक्ति अनुबन्ध की कल्पना ही नहीं करेगा। अनुबन्ध में अधिकार-परित्याग की बातें भी विचित्र-सी हैं। एक तो लोगों ने बिना शर्त के अधिकार समर्पण किया और अपने आप को निरंकुशता से परिवेष्ठित कर लिया। दूसरे प्राकृतिक विधियों को भी मानते चला। लॉक ने अपनी आलोचना में कहा कि हाब्स का यह चित्रण किसी बिगड़े दिमाग की कल्पना मात्र है। रूसो ने प्राकृतिक मनुष्य का चित्रण असत्य तथा विरोधी माना क्योंकि हाब्स की बातों से मनुष्य केवल दानवता का अवतार बन जाता है जिसमें केवल दुर्गुण ही दुर्गुण हैं। ह्वान के अनुसार प्राकृतिक स्थिति से राज्य में आने का कायाकल्प मनुष्यों का ठीक उस तरह है जैसे कुछ क्षण पूर्व छूरी लेकर गला काटने वाले व्यक्ति आपस में भेंट-आलिंगन करने लगे हों। राजसत्ता की निरंकुशता का समर्थन भी अव्यावहारिक तथा अनुचित जान पड़ता है। निरपेक्ष अनियंत्रित संप्रभुता केवल शाब्दिक वस्तु है। नश्वरदेव का आधिपत्य स्वीकार कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का होम करना वैसा ही है जैसे बताशे के लिये मन्दिर गिराना। प्राकृतिक अवस्था में यदि हत्या का भय था तो कसाई दीर्घकाय का संरक्षण कैसे सुरक्षा दे सकता था? किसी दूरस्थित लोमड़ी या जंगली बिल्ली द्वारा आशंकित आक्रमण के भय से शेर के पास पहुँच कर आश्रय माँगना निरी मूर्खता नहीं तो क्या है? इस तरह हाब्स का चित्रण विकृत, अनैतिक, अप्राकृतिक है। इन सब विरोधाभासों के बावजूद हाब्स का राजनीतिक अनुदाय महत्वपूर्ण है। वास्तविकता का अनुगामी बनकर वह शासन के लिये दिशा-निर्देश करता है और अपने युग की गृह-युद्धजनित ज्वाला को शान्त करने की चेष्टा करता है। सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना साकार करने का श्रेय हाब्स को है और यही संप्रभुत्व आज की राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सब से अधिक विवादग्रस्त तथा जटिल प्रश्न है।

———

जॉन लॉक

(१६३२—१७०४ ई०)

अनुबन्धवाद हाब्स के बाद सर्वमान्य विचारधारा बन गई किन्तु राज्य की निरंकुशता का इससे मेल न बैठता था। इसलिये अनुबन्धवाद पर पुनर्विचार कर उसे उदार तथा संतुलित बनाने का कार्य लॉक ने किया। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसी विचार सारिणी का अवलम्बन लेकर लॉक ने दूसरी दिशाएँ ढूंढ़ निकाली जो हाब्स के निष्कर्षों के बिलकुल विपरीत थीं। हाब्स ने एक ओर जहाँ निरपेक्ष राजसत्तात्मक शासन का पक्ष लेकर अनुबन्ध को कठोर वास्तविकता दी, वहीं सीमित राजतन्त्र (Constitutional or Limited Monarchy) का सहचर तथा सहयोग बताकर लॉक ने उसे लचकदार बना दिया। हाब्स के ऊपर राजभक्ति तथा राजपक्ष समर्थक विचारों का स्थायी प्रभाव था जबकि लॉक विरोधी वातावरण से पूर्ण परिचित था। अपने समय में गृहयुद्ध, जनचेतना, संहारक संघर्ष आदि परिस्थितियों से परास्त होकर हाब्स ने निवारक उपायों का मार्ग ग्रहण किया और मर्ज को जड़-मूल से निकालना चाहा (भले ही मरीज के प्राण लेकर ?) किन्तु लॉक ने इतिहास की युग प्रवर्त्तक (Epochmaking) घटना रक्तहीन क्रान्ति का औचित्य सिद्ध करने में अपना सारा दर्शन लगा दिया। हाब्स के विचार उत्तेजक, दृढ़ तथा अनुदार थे परन्तु लॉक के विचारों में कोमल आत्म विश्वास के साथ प्रभावक गतिमयता थी। तार्किक तथा प्रवक्ता के रूप में लॉक कमजोर अवश्य पड़ता था किन्तु उसके विषय की महत्ता कम न थी। राज्य की उत्पत्ति बताने के साथ ही उसने यह स्पष्ट कर दिया कि समाज उसका पूर्ववर्ती है और सामाजिक अन्तश्चेतना के फलस्वरूप ही स्वाभाविक परिणति राज्य में हुई। हाब्स की तरह उसने स्वाभाविक मानव प्रवृत्ति, प्राकृतिक दशा, अनुबन्ध, व्यक्ति, समाज, राज्य सम्पत्ति आदि विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। चेस्टर मेक्सी के अनुसार उसका लक्ष्य राजसत्ता को ऊपर उठाना नहीं था बल्कि उसकी मर्यादित सीमा रेखा खींचना था। अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर लॉक ने चाहे जो लिखा हो, यह तो सत्य है कि यदि हाब्स और फिल्मर सरीखे विचारक आततायी शासन का खुला समर्थन न करते तो वह कुछ न लिख पाता। लॉक ने

यह स्वतः स्वीकार किया कि उसका उद्देश्य था नये राजा विलियम का अस्तित्व जनता की प्रत्यक्ष स्वीकृति के बल पर प्रतिष्ठित करना। आन्तरिक नैतिकता के प्रश्न पर लॉक ने जोर दिया जब कि हाब्स ने नैतिकता को दूर ताक पर रख दिया था। मनुष्य के अविभाज्य अन्तर्निहित अधिकारों की ओर भी लॉक ने सब का ध्यान आकर्षित किया। मनोवैज्ञानिक, अनुभूत्यात्मक तथा व्याप्तिमूलक चिन्तन के बल पर लॉक ने अपनी अध्ययन-पद्धति निकाली जिसके आधार पर व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी, प्रजातंत्रवादी, संसदवादी, अपने-अपने पक्ष मजबूत करते हैं। सारांश में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की गरिमा को राज्य के हाथों बन्धक (रेहन या गहने रखना) रखने का काम हाब्स कर चुका था, लॉक ने उसे मुक्त कर दिया और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य में नया जीवन डाला। स्वतन्त्रता की समस्या पर विचार करते समय उदार धैर्य तथा अन्वेषी बुद्धि का (Generous patience and Searching wisdom—Laski) परिचय लॉक ने दिया।

जीवन-वृत्त तथा ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि :

इङ्गलैण्ड के मध्यवर्गीय प्यूरिटन परिवार में जॉन लॉक का जन्म सन् १६३२ में हुआ। सन् १६४२-१६४६ के गृह-युद्ध में यह परिवार राजकीय पक्ष का विरोधी तथा संसदीय पक्ष का समर्थक था। लॉक का पिता संसदीय सेना में पदाधिकारी भी था। राजनीतिक कटुता तथा निरंकुशता का निरन्तर विरोध करते रहने से उदारवादी वातावरण उस परिवार में बना रहा। इसलिये बचपन के गहरे संस्कार जीवन भर उसे सहिष्णुता, नैतिकता, सहानुभूति से आप्लावित रख सके। मेधावी छात्र होने से लॉक ने आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा पास की और वहीं अध्यापन कार्य में नियुक्ति प्राप्त की। प्रसिद्ध विद्वानों तथा वैज्ञानिकों के सम्पर्क से उसने अपना दृष्टिकोण विस्तृत किया। कुशल व्याख्याता होने से तर्क-दृष्टान्त के सहारे विश्रब्ध वाक्शक्ति उसे प्राप्त हुई। ह्विग पार्टी के नेता लार्ड शेफ्टसबरी (Lord Shaftesbury) उन दिनों विख्यात विरोधी दल के प्रधान थे। उनके सम्पर्क से प्रभावित होकर लॉक उनका सहायक बन गया और सन् १६६७ से १६७५ तक उनके साथ अथक परिश्रम, अध्यवसाय, निष्ठा से काम करता रहा। राजनीति का व्यवहारिक ज्ञान लॉक को इस कार्य द्वारा ही प्राप्त हुआ। सन् १६७५-७६ तक क्षय रोग से पीड़ित होने के कारण वह फ्रांस चला गया और वहाँ के शान्त, एकान्त वातावरण में तटस्थ होकर राजदर्शन का संतुलित मूल्यांकन कर सका। सन्

१६७६-८३ तक वह इङ्गलैण्ड फिर से आया और सक्रिय राजनीति में योगदान देता रहा। शेफ्ट्सबरी पर राज्य की वक्र दृष्टि होने से लॉक भी उसका कोप-भाजन बना रहा, राजद्रोही माना जाता रहा। सन् १६८३-८८ तक वह हालैण्ड में रहा और राजनीतिक शरणार्थियों के बीच विचार-विनिमय करता रहा। यहाँ उसके निरपेक्षता-विरोधी विचारों को स्थायी पुष्टि मिली। ग्रन्थ-रचना का महत्वपूर्ण कार्य भी उसने यहाँ किया। सन् १६८८ में इंगलैंड की रक्तहीन स्वर्णिम क्रान्ति (The Glorious Revolution) हुई और वहाँ का शासक बदल दिया गया। इंगलैंड आकर लॉक ने इस क्रान्ति को ज़बर्दस्त समर्थन किया और सन् १६६० में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्रशासन-प्रबन्ध द्वय" (Two Treatises of Government) प्रस्तुत किया। सन् १६६५ तक अन्य ग्रन्थ मानव बुद्धि मीमांसा (Essay concerning human understanding) तथा सहिष्णुता-विचारपत्र (Letters on Toleration) भी प्रकाशित हो गये। उन ग्रन्थों में अनुभूतिमूलक ज्ञान की गम्भीर समीक्षा करते हुए लॉक ने नई दार्शनिक परम्परा का निर्माण किया, जो आज भी प्रशंसनीय है। प्यूरिटन विचारधारा तथा हूकर, फिल्मर, हाब्स, शेफ्ट्सबरी आदि की चिन्तनधारा का काफी प्रभाव लॉक पर पड़ा।

सन् १७०४ में ७२ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हुई। लॉक के पूर्व हाब्स के जीवन काल में इंगलैण्ड के गृह-युद्ध (१६४२-१६४६) में राजा-पक्ष तथा प्रजा-पक्ष (पार्लमेन्ट-पक्ष) का भीषण संघर्ष चलता रहा जिसमें स्टुअर्ट-वंशी राजाओं को नीचा देखना पड़ा। चार्ल्स प्रथम की हत्या कर दी गई और क्रॉमवेल के नेतृत्व में गणतन्त्र-व्यवस्था घोषित कर दी गई जो सन् १६५८ तक (क्रॉमवेल की मृत्यु तक) चलती रही। सन् १६६० में निर्वासित स्टुअर्ट-वंश के उत्तराधिकारी चार्ल्स द्वितीय को फिर से राजगद्दी पर बैठाया गया। किन्तु इसी समय सन् १६६० में ब्रेडा की घोषणा (Declaration of Breda) के अनुसार राजा को स्पष्ट आदेश दिया गया कि बिना पार्लमेन्ट की अनुमति के विधेयन-नियमन न किया जावे। चार्ल्स द्वितीय के बाद उत्तराधिकारी उसका भाई जेम्स द्वितीय (१६८५ से ८८ तक शासनारूढ़) आया। किन्तु वह अपने पूर्वज जेम्स प्रथम (दैवी-सिद्धान्त के प्रतिपादक) की तरह निरं-कुशतावादी था। पार्लमेन्ट का वर्चस्व निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका था और जेम्स द्वितीय की हस्तक्षेप नीति से ह्विग और टोरी दोनों दल अप्रसन्न थे। फलस्वरूप उसे भी पलायन करना पड़ा। संसद ने यह घोषणा की कि ब्रेडा की घोषणा एक पुनीत अनुबन्ध की तरह थी जिसका उल्लंघन करने के कारण

जेम्स द्वितीय पदच्युत कर दिया गया। फिर हालैण्ड से जेम्स प्रथम की कन्या मेरी से विवाहित राजकुमार विलियम को बुलाकर सन् १६८८ में राजपद पर अभिषिक्त किया गया। इस प्रकार बिना खून-खराबी के महत्वपूर्ण संवैधानिक परिवर्तन इंग्लैण्ड के इतिहास में हुआ जो रक्तहीन-क्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १६८९ में संसद् ने अपने विशेष अधिकार-पत्र द्वारा राजा के अधिकारों को सीमित कर दिया जो बिल आफ राइट्स (The Bill of Rights) के नाम से स्वीकृत हुआ। एक दूसरे नियम एक्ट आफ सेटलमेन्ट (The Act of Settlement) के द्वारा संसद् के अधीन कार्यकारिणी बना दी गई और सेना, कोष, विधि-निर्माण आदि पर संसद् का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया। इस प्रकार राजा नाममात्र का शासक बना और वास्तविक सत्ता संसद् के पास आ गई। तब से आज तक इंग्लैण्ड में संसद् प्रणाली अबाध गति से चली आ रही है और जनवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। इस क्रान्ति के दार्शनिक के रूप में लॉक के राजनीतिक तथा संवैधानिक विचार ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। राजनीतिक समस्या के रूप में लॉक को एक घटित तथ्य (Fait Accompli) को उचित तथा न्यायसगत सिद्ध करना था। सीमित राजतन्त्र के नाम से लॉक ने उसे आदर्श एवं अनिवार्य व्यवस्था माना। इसके विपरीत हाब्स की समस्या थी सुव्यवस्था लाना। इस प्रकार हाब्स का प्रतिपाद्य विषय (सुव्यवस्था-सुरक्षा-शान्ति) लॉक की वैचारिक पृष्ठभूमि थी। मनोविज्ञान की भाषा में लॉक का काम था औचित्य-सिद्धि (Rationalisation)। अर्थात् उसने राज्य की सीमित मर्यादा निर्धारित की और यह बताया कि वह सर्वथा उचित ही है। ऐसा उसने किया अपने समय की राजनीतिक परिस्थिति का ठीक-ठीक मूल्यांकन करके उसे प्रगतिशील बनाने के लिये।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक स्थिति :

लॉक का यह निश्चित मत है कि किसी भी, आदिम अथवा प्रागैतिहासिक अवस्था में मनुष्य केवल संवेग-संचालित प्राणी नहीं था। उनके पास विवेक की पूंजी थी जिससे न्याय, सत्य, नैतिकता का कोष कभी रिक्त नहीं होता। सामाजिकता तथा परस्पर सहयोग की भावना उसे हर हालत में अनुप्राणित किये रहती। विवशताजन्य परिस्थितियों तथा आपदाओं ने भले ही मनुष्य में कुप्रवृत्तियों की सृष्टि की हो लेकिन मौलिक रूप से सृष्टिकर्ता ने उसे विवेकवान्, सामाजिक, संवेदनशील बनाया है। नैतिकतापूर्ण नैसर्गिक नियम उसका जीवन सुखमय बनाते हैं। इन नियमों के अनुसार आचरण करने पर मनुष्य शान्तिप्रिय

स्वातन्त्र्य प्रेमी तथा भ्रातृभाव से प्रेरित सदाशयतापूर्ण जीव हो जाता है। उत्सर्ग, प्रेम, सत्यनिष्ठा, अहिंसा आदि उदात्त भावनाएँ उसके जीवन में लहर लिया करती हैं। समानता की भावना भी सर्वत्र व्याप्त है। समानता से अभिप्राय यह कि जीवनयापन, वैयक्तिक अधिकार तथा सम्पत्ति की सुरक्षा, ये बातें प्रत्येक व्यक्ति में बराबरी से थीं। इसलिये आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास की अदम्य, अजस्र भावना व्यक्तियों में न केवल अपने ही प्रति थी बल्कि समाज के अन्य दूसरे लोगों के प्रति भी थी। उसके विपरीत हाब्स ने मनुष्य की नींव स्वार्थ, अविश्वास, स्पर्धा, यशलिप्सा, हिंसा, आतंक, छल, कपट आदि कुत्सित वृत्तियों पर रखी। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य या तो आत्म-पीड़क (Masochist) होता है या पर-पीड़क (Sadist)। हाब्स ने मनुष्य को पर-पीड़क निरूपित किया जो दूसरों के दुःख से सुखी होता है, सोचता है चलो अच्छा हुआ, एक दुश्मन समाप्त हुआ या हो रहा है। लॉक ने मनुष्य को इस हद तक आत्म-पीड़क तो नहीं बनाया कि वह समस्त भौतिक ऐषणाओं तथा उपकरणों को छोड़कर वीतराग बन जाय अथवा मुमुक्षु के रूप में जप-तप यम-नियम-अनशन-फलाहार आदि की ओर झुक जाय। भौतिकवादी तो मनुष्य है ही लेकिन उसमें क्षमा, दया, सहानुभूति, सहयोग, सहिष्णुता आदि मानवीय गुण भी हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य परिश्रमी तथा उत्पादक होने से अपनी सम्पत्ति में अभिवृद्धि करता है। भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के साथ सम्पत्ति अर्जित करना, सुरक्षित रखना आदि उसकी विशेषताएँ हैं। सृष्टि में भूमि, पदार्थ, उत्पादन के साधन सभी कुछ हैं। लेकिन इनमें श्रम-शक्ति का सुहागा मिलाकर व्यक्ति सोने में सुगन्ध पैदा करता है। परिश्रम-पूर्वक प्रयोग करने से व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बन जाती है जिस पर उसका एकाधिकार है। धरती, आग, पानी, वनस्पति आदि सृष्टि की सर्वसामान्य तथा सर्वसुलभ वस्तु हैं। जिसने अपनी मिहनत से इन्हें अपनाया उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में ये हो गईं। मिहनत से मिलाने का मतलब यह हुआ कि अपने व्यक्तित्व का मिश्रण वस्तु के साथ किया गया। इस प्रकार यह एक नैसर्गिक अधिकार व्यक्ति का हो गया। तीसरी बात यह कि मनुष्य सर्वव्यापक नैसर्गिक नियमों का पालन करने तथा नैतिकता के नियमों को मानते थे। किन्तु यदि कहीं व्यतिक्रम या अतिक्रमण होता तो दंड की व्यवस्था आवश्यक थी, पीड़ित व्यक्ति स्वयं दण्ड दे सकता था और अपराधी को अपना दोष स्वीकार करना पड़ता था। अन्तःकरण की शुद्ध वृत्ति ही इस दण्ड व्यवस्था की निर्देशिका थी।

प्राकृतिक अवस्था मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल शान्तिपूर्ण थी। निसर्ग में भौतिक साधनों की प्रचुरता के साथ स्पर्धा या विद्वेष नहीं था। शान्ति, सद्भावना, सहयोग, सुरक्षा की यह प्राकृतिक दशा जीवन-विकास के किये सर्वथा उपयुक्त थी (A State of Peace, Goodwill, Mutual-Assistance and Preservation)। प्राकृतिक विधि तथा प्राकृतिक अधिकार प्रचलित थे, उनमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध न था। वैयक्तिक स्वतान्त्र्य, जीवन रक्षा तथा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार व्यक्तित्व के अन्तरंग गुण हैं और उनका समाज में वाह्य-आचरण होता है। सम्पत्ति के साथ के श्रम-सिद्धान्त मिलने से समाजवादी विचारों के बीज भी यहाँ मिलते हैं। लेकिन इस स्वातन्त्रता के साथ स्वच्छन्दता की छूट नहीं थी। विपरीत आचरण दण्डनीय था, तथाकथित राजकीय प्रतिबन्धों का पूर्ण अभाव था। उत्पादक श्रम की समाज में मान्यता थी। व्यक्ति निर्भीक होकर समाज के सामने सीना तानकर कहता कि 'जमीन मैंने जोती है, मैं काटूंगा' मैं बांटूंगा, फिर उस समय मुद्रा के अभाव में आर्थिक समानता सब जगह थी। विषमता तो चाँदी के टुकड़ों के साथ पैदा हुई। समता के इस साम्राज्य में धीरे-धीरे कुछ कठिनाइयों या असुविधाओं का अनुभव होने लगा। सबसे पहले यह अनुभव होने लगा कि प्राकृतिक विधि शुद्ध, स्पष्ट, विवेकपूर्ण, क्रियात्मक आदेश के रूप में निश्चित न थी। अध्ययन के अभाव में अथवा एकाङ्गी दृष्टिकोण के प्रमाद में व्यक्ति उनका सम्यक् अनुशीलन करने में असमर्थ था। बौद्धिक सामर्थ्य में विभिन्नता से अन्य धारणाओं में भी अन्तर पड़ जाता। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' अथवा 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' इस नियम के अनुसार लोग अपने-अपने ढंग से अपनी मरजी के अनुकूल नियमों की व्याख्या करते। इसीलिये नैतिकता तथा विधियों के स्थायी निश्चित लिखित मापदण्डों की आवश्यकता पड़ी। दूसरे, निष्पक्ष न्यायाधीश की नितांत अनिवार्यता स्वयं सिद्धि थी। अपराधी व्यक्ति यदि न्यायाधीश बनकर आत्म-दण्ड स्वीकार करे यह असम्भव था क्योंकि निसर्गतः मनुष्य में पक्षपात, आसक्ति, अनवधानता की बातें आ ही जाती हैं। यदि क्षतिग्रस्त व्यक्ति आक्रान्ता पर दण्ड देने की योजना करे और वह स्वयं कमजोर हो तो दूसरों से सहायता की याचना करना स्वाभाविक था। किन्तु दण्ड-विधान भी अस्पष्ट था। सर्वसम्मति से अपराधी घोषित व्यक्ति को दण्ड देने के लिये निष्पक्ष व्यवस्था आवश्यक थी। इसके अनुरूप न्यायपालिका तथा कार्यपालिका में भेद करना भी आवश्यक था। तीसरी बड़ी असुविधा थी प्रमाणित निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये शक्ति (सेना या पुलिस) का अभाव। क्योंकि इन

अभावों के कारण सत्यनिष्ठ व्यक्ति भी न्यायाकूल आचरण में बाधा पाता था। इन असुविधाओं का निराकरण करने के लिये ही मनुष्यों ने अनुबन्ध द्वारा इस प्राकृतिक स्थिति का अन्त कर व्यवस्थित समाज बनाने का विचार किया। यह एक सभ्य समाज था जिसमें कार्यकारिणी तथा न्यायप्रदायनी शक्तियाँ गठित की गईं। समाज के बहुमत पक्ष को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह स्थिति में सुधार लाने का यथायोग्य प्रयास करे। इसके फलस्वरूप अनुबन्ध की मान्यता हुई और समाज, राज्य दोनों बने। लॉक द्वारा प्राकृतिक स्थिति तथा मानव-प्रकृति का चित्रण हाब्स की अपेक्षा अधिक विश्वास-नीय, तर्क-सम्मत, युक्तिसंगत, ऐतिहासिक तथा वास्तविक है। सर हेनरीमेन, स्पेन्सर आदि विद्वानों ने प्राचीन विधि, व्यवस्था तथा रचना की शोध करते हुए लॉक ने इन विचारों का अनुमोदन किया और लगभग वैसे ही निष्कर्ष निकाले।

सामाजिक अनुबन्ध तथा राज्य-स्थापना :

प्राकृतिक स्थिति की असुविधाओं से राहत पाने के ख्याल से मनुष्य ने न्यूनतम प्रतिरोध (Line of Least Resistance) का मार्ग अपनाया। बाधाओं से सम्बन्धित कुछ अधिकार व्यक्ति ने सभ्य समाज को समर्पित कर दिये ताकि उसकी सामूहिक संतुलित बुद्धि से असुविधा सुविधा में बदल जाय। लेकिन कुछ अधिकार जो अदेय थे व्यक्ति ने अपने पास रखे, यथा जीवनाधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार,। इस त्याग के द्वारा व्यक्ति ने अधिकतर सुरक्षा तथा सुनिश्चत उपभोग (Greater Security and Secure Enjoyment) का लाभ पाया। एक ओर जहाँ हाब्स के अनुबन्ध में व्यक्ति सब कुछ देकर कुछ नहीं या आल्पमात्र प्रतिदान पाता है वहीं लॉक के अनुबन्ध में वह थोड़े से ही में बहुत कुछ पा जाता है। व्यक्तियों ने सभ्य नागरिक समाज को सबसे पहले नियम निर्धारण का अधिकार दिया जो विधायक शक्ति (Legislative) का पूर्वभास है। फिर उस समाज को अपराध निर्णय, दन्ड-विधान तथा नीति-क्रियान्वय के अधिकार भी सौंपे गये। इस समर्पण या हस्तान्तरण से न्यायपालिका (Judiciary) तथा कार्यपालिका (Executive) के रूप स्थिर किये गये। इन अधिकारों से सुसज्जित होकर समाज अधिक व्यवस्थाबद्ध हो गया और कालान्तर में उसने राज्य शासन की स्थापना की जो इन शक्तियों (विधायिनी, कार्यकारिणी तथा न्यायदायिनी) की संतुलित व्यवस्था करती। इसके साथ ही यह भी मान लिया गया कि बहुमत का

निर्णय ही सर्वमान्य होगा। इस प्रकार व्यक्ति ने आंशिक हस्तान्तरण द्वारा अनुबन्ध का सूत्रपात किया। पहले व्यक्तियों ने आपस में मिलकर नागरिक-समाज बनाया, फिर समाज ने सरकार बनाई और उसे केवल वे ही अधिकार दिये जो व्यक्ति ने समाज को सौंपे थे। व्यक्ति-समाज-विधान-सभा—कार्य-कारिणी—न्यायपालिका इस क्रम से अनुबन्ध के परिणाम विकसित हुये। इसी विकास-क्रम में अनायास ही राज्य की झलक दिखाई देने लगती है। इस अनुबन्ध के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह राजनीतिक अनुबन्ध है और किसी भी समाजिक प्राणी (मनुष्य) के लिये अनिवार्य है। यह मनुष्य कीं दूरदर्शिता का परिचायक है, विवेक की विजय का प्रतीक है। यह अनुबन्ध टूटने वाला नहीं (Irrevocable) है। दूसरी बात यह है कि इस अनुबन्ध में व्यक्ति सारे अधिकार नहीं छोड़ता, बल्कि मौलिक अधिकारों पर अपना स्वामित्व बनाये रखता है। तीसरी प्रमुख बात यह है कि व्यक्ति किसी संप्रभु-शासन या सरकार की स्थापना स्वत: न करके समाज के विशाल बहुमत पर इसका निर्णय छोड़ देता है। यह विशाल जनमत बाद में सरकार की स्थापना करके उस पर प्रशासन या सुशासन का दायित्व धरोहर के रूप में सौंपता है। इस प्रकार प्रन्यास (Trust) द्वारा समाज ने विधायिनी तथा न्याया-धिकारणी सरकार की स्थापना की जो संरक्षक राज्य (Trustee) के नाम से विख्यात हुई। समाज और उसका निर्माता व्यक्ति संरक्षणकर्ता या प्रन्यासकार (Trustor) था और समस्त सुविधाओं का भोक्ता (Benefi-ciary) भी वही था। संरक्षक राज्य का भोक्ता के प्रति कोई अधिकार नहीं होता, केवल कर्तव्य-प्रेरित अभिभावकत्व रहता है (वह सेवक है, स्वामी नहीं)। जिस काम के लिये अधिकार दिये गये उसकी पूर्ति में संलग्न रहना संरक्षक का पुनीत कर्तव्य है। यदि वह काम न हो या उसमें दुरुपयोग हो तो संरक्षक को अलग कर देने का अधिकार समाज को है। इस तरह अनुबन्ध मूल रूप से तो एक ही तथा प्रधान रहा जिसमें समान व्यक्तियों ने नागरिक सभ्य समाज की स्थापना का उद्घोष किया। सरकार बनाने के लिये कोई दूसरा अनुबन्ध नहीं किया गया क्योंकि लॉक के अनुसार अनुबन्ध में उभयपक्षीय समानता अपेक्षित है पर सरकार और समाज में यह समानता नहीं है। समाज उच्चकोटि की अवस्था है और सरकार उसके समकक्ष न होकर आदेशाधीन है। इसलिये यह सोचना भ्रान्तिपूर्ण है कि लॉक ने दो अनुबन्धों की सृष्टि की है। इस तरह का उल्लेख नहीं किया गया। कुछ लोगों के विचार से लॉक के पहले अनुबन्ध में व्यक्तियों ने समाज बनाया और

फिर दूसरे अनुबन्ध में उन्होंने संप्रभु राज्य बनाया और उसकी सीमाएँ निश्चित कीं। इस तरह से उसने मर्यादित राज्य की स्थापना की। किन्तु वास्तव में ऐसी अवधारणा नहीं की गई। लॉक का अनुबन्ध एक ही है, दो नहीं। अर्नेस्ट बार्कर ने इसका स्पष्टीकरण करते हुये कहा कि मानव इतिहास में एक ही सामाजिक अनुबन्ध हुआ, राजनीतिक स्वरूप उसका उपांग था। नागरिक समाज का जन्म हुआ अनुबन्ध के फलस्वरूप; राज्य तो प्रन्यास-अभिलेख (Trust-deed) के समय आया।

राज्य स्थापना के समय प्रतिबन्धों का जाल बिछा दिया गया। संप्रभुता या सार्वभौम सत्ता नाम की वस्तु अविदित रही। लॉक ने राजसत्ताधारी शब्द का प्रयोग ही नहीं किया। संरक्षक के रूप में सीमित सत्ता, निर्देशित कर्तव्य तथा विभाजित अधिकार के साथ राज्य अवतीर्ण हुआ। नैसर्गिक नियमों पर आधारित, सतर्क, सजग, नागरिक समाज अपने विस्फारित नेत्रों से इस नवोदित राज्य या क्रीड़ा-कौतुक को देखता रहा। जहाँ प्रमोद, अतिक्रमण या उल्लङ्घन की बात आई वहीं समाज के नेत्र रक्तिम हो उठे और सरकार पर कोप का प्रहार हुआ। नतीजा यह हुआ कि सरकार बदल दी गई, समाज ज्यों-का-त्यों रहा। मानव इतिहास एक ओर जहाँ समाज के नैरंतर्य का द्योतक है वहीं राज्य तथा सरकार के उत्थान-पतन का दिलचस्प किस्सा है। इस राज्य में व्यवस्थापिका सभा या धारा सभा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ क्योंकि विधि-निर्माण के द्वारा राज्य के नागरिकों की प्रबलतम अभिव्यक्ति इसके माध्यम से होती। जनता की अनुमति से ही संसद या पार्लियामेंट को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। इस विधान मण्डल को जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि की रक्षा-हेतु विधेयन करने का अधिकार दिया गया और उस मर्यादा के अन्तर्गत काम करने को कहा गया। इस प्रकार जनमत का अंकुश विधान सभा पर लग गया। प्राकृतिक विधियों के अनुरूप नियम बनाते समय इस बात का ध्यान विधान-सभा को रखना चाहिये कि स्थायी नियमानुकूल सुगठित कानून बनें। सम्पत्ति सम्बन्धी कानून सर्वस्वीकृत जनहितकारी, सर्वविदित तथा स्थायी होना चाहिये। बिना जनता की सहमति के राज्य मनमाने ढङ्ग से कर नहीं लगा सकता। तीसरी बात यह है कि विधान मण्डल अपने अधिकार हस्तांतरित नहीं कर सकता। क्योंकि वे अधिकार उसके अन्तर्निहित सर्वाधिकार नहीं वरन् दूसरों से प्राप्त निधि हैं। कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका विधान मण्डलों से अधिकार प्राप्त करती हैं अतएव उसके आधीन हैं। इस प्रकार सर्वाधिकारी व्यक्ति को बनाकर लॉक ने क्रमशः समाज, विधान मंडल, कार्यकारिणी तथा

न्यायपालिका के अधिकार से समन्वित राज्य की कल्पना की। किन्तु उसने अधिकारों के एकत्रीकरण या केन्द्रीकरण का विरोध किया। युद्ध, शान्ति, सन्धिसम्बन्धी कार्य, केन्द्रीय कार्य हैं जो कार्यकारिणी द्वारा सम्भव हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार विधान मंडल को दिया गया। न्यायपालिका और कार्यकारिणी संयुक्त रूप से काम करतीं थीं। शिक्षा-व्यवस्था तथा नैतिक प्रगति के नियम राज्य के कर्तव्यों में से न थे क्योंकि व्यक्ति स्वतः नैतिक, आस्थावान् था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पृथक् उल्लेख करते हुए लॉक ने शक्ति-विभाजन (Separation of Powers) का सिद्धान्त स्थिर किया जिसका वैज्ञानिक विवेचन आगे चलकर माण्टेस्क्यू (१६८६-१७५५) ने किया। इस प्रकार लॉक ने सीमित राजतन्त्र का समर्थन किया। राज्य को उसने जनसेवक या संरक्षक संस्था के रूप में बनाया जिसका स्वामी व्यक्ति था। जनस्वीकृति के आधार पर जनसेवा का लक्ष्य लेकर राज्य मनुष्यों द्वारा निर्मित साधन था। व्यक्ति की सुरक्षा, स्वतन्त्रता, रक्षा तथा संपत्ति को अक्षति बनाये रखना और नैसर्गिक नियमों को लिखित रूप में प्रचलित करना राज्य का प्रमुख कार्य था। यदि कोई सार्वभौम सत्ताधारी था तो वह व्यक्ति ही था भले ही वह परोक्ष तथा सुप्त सत्ताधारी हो। राज्य स्थापना के साथ ही लॉक ने राजनीतिक सतर्कता का प्रचण्ड समर्थन किया। बिना सतर्कता के राज्य पथ-भ्रष्ट होकर निरंकुश बन सकता है और लक्ष्य-भ्रष्ट होकर अराजकता का जनक भी बन सकता है। व्यक्ति को सतर्कता के साथ-साथ बहुमत की सतर्कता रहनी चाहिये क्योंकि सामान्य जनता से यह अपेक्षा करना कि वह सजग प्रहरी की तरह रहेगी दुराशामात्र है। सजग बहुमत रहने से अनियंत्रित जन बल पर भी नियंत्रण स्थापित होता है। आज के जागृति के युग में शाश्वत सतर्कता को ही स्वतन्त्रता की धात्री माना जाता है (Eternal Vigilance is the price of liberty)। सारांश में राज्य-स्थापना के प्रयास में लॉक ने प्रतिबन्धों का दर्शन (अनुबन्ध का नहीं ?) स्थापित किया। राज्य-सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाकर उसे सीमित राजतन्त्र किया और जनता पर प्रतिबन्ध लगा उसे बहुमत की स्वीकृति का रूप दिया। राज्य के विभिन्न अंगों तथा विधियों पर भी तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें विशिष्ट अधिकार दिये। इस प्रकार संप्रभुता की कल्पना लॉक को परेशान न कर पाई। हाब्स की तरह निरपेक्ष, निरंकुश, अविभाज्य, असीम, अदेय, सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता ढूंढने का प्रयत्न लॉक ने किया ही नहीं। उसका इस संप्रभुता पर विश्वास ही नहीं था। यदि वह किसी संप्रभुता का भक्त था तो वह विभाजित, खण्डित,

नियन्त्रित या सीमित संप्रभुता थी। संप्रभुता को इस तरह विभाजित करना उसका विनाश करना है। इसलिये लॉक ने सही माने में संप्रभुता स्वीकार नहीं की। व्यक्ति को संप्रभु मानने का अर्थ भी बड़ा टेढ़ा है क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष रीति से संप्रभु नहीं है। विधियाँ भी संप्रभु नहीं हैं क्योंकि वे सापेक्ष हैं और जन स्वीकृति पर अवलम्बित हैं। शक्ति-विभाजन आवश्यक सिद्धान्त बताया गया क्योंकि वैसा न करने पर विधान मण्डल के सदस्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिये कानून बनाने तथा उसे कार्य रूप में बदलने में अपने मुक्त आपको रख सकते थे। इस तरह वे सुविधा प्राप्त वर्ग की सृष्टि करते जो राज्य के आदर्शों के विपरीत है संक्षेप में, संप्रभुता की समस्या लॉक को अभीष्ट न थी।

क्रान्ति का अधिकार तथा व्यक्तिवाद :

राज्य में शासन को जो भी अधिकार प्राप्त हुए वे सामाजिक प्रन्यास के परिणामस्वरूप हैं। कुछ असुविधाओं को दूर करने के लिये व्यक्तियों ने सभ्य नागरिक समाज तथा राज्य को सीमित अधिकार देकर विरोध या विद्रोह करने का अधिकार नहीं खोया। विद्रोह का अधिकार वास्तव में रचनात्मक प्रक्रिया के अभाव में निषेध-मार्ग (Negative) द्वारा अभीप्सित अवस्था का परावर्तन करता है। व्यक्ति के जीवन, स्वातन्त्र्य तथा सम्पत्ति रक्षा के मूलभूत उद्देश्यों की पूर्ति न कर सकने पर राज्य के विरुद्ध कदम उठाया जाना स्वाभाविक है (हालांकि यह कदम बहुमत-समर्थित होना चाहिये)। कार्यपालिका के अधिकारों को सीमित करते हुए लॉक ने बताया कि संसद द्वारा निर्मित विधियों को कार्यान्वित करना उनका काम है, स्वेच्छाचारी शासन करने का अधिकार उन्हें बिलकुल नहीं। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब कार्यपालिका का विरोध बलपूर्वक समाज को करना पड़ता है। राजतन्त्र के अन्तर्गत राजा का निरंकुश शासन, संसद पर प्रहार, निर्वाचन में हस्तक्षेप, विदेशी सत्ता को आमन्त्रण, संरक्षण कार्य में असफलता आदि अक्षम्य अपराध हैं और राजा का तीव्रतम विरोध इन बातों पर हो सकता है। इस तरह राजा बनाम पार्लमेन्ट के संघर्ष में लॉक पार्लमेन्ट की मांगों को दार्शनिक ढङ्ग से स्वीकृत कराने में समर्थ हुआ लेकिन इसके साथ ही लॉक पार्लमेन्ट की निरंकुशता भी सहन नहीं कर सकता था। एक ओर जहाँ उसने स्टुअर्ट-वंश के राजाओं के स्वत्वाधिकार को न्यायरहित तथा विप्लवकारी बताया, वहीं संसद की शक्ति पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध नियम बनाना, मनमाने

ढङ्ग से अनैतिक, अहितकारी कानून बनाना, अपना अधिकार दूसरों को सौंपना, ये सब संसद् के संघातक थे। ऐसी स्थिति में संसद् को भङ्ग करने का अधिकार समाज को था। निरपेक्षता तथा निरंकुशता की ओर बढ़ने वाला राजा भी अन्यायी है, इसलिए जनता उसे पदच्युत कर सकती है। ऐसा नहीं हो सकता कि अपराधी निरंकुश राजा स्वयं न्यायकर्त्ता बन जावे (Himself the Offender and the Judge) जनता ही उसका न्याय करके कठोर से कठोर दंड दे सकती है। विशेषाधिकारों Privileges and Pereroga-tives) को जन्म सिद्धि मानने वाले राजा दिवास्वप्न की व्याधि से पीड़ित हैं। जनता बहुमत के बल पर एक झटके में उन अधिकारों को समाप्त कर सकती है। नागरिक-समाज को सदैव संवैधानिक उपायों द्वारा राज्य तथा अत्याचारी शासक का विरोध करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। शान्तिपूर्ण वैधानिक उपायों के अभाव में हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा प्रतीकार भी न्याय है। सरकार हटा देने या बदल देने से नागरिक समाज नहीं बनता-बिगड़ता। दूसरी सरकार खड़ी करने का उसे पूरा अधिकार है। सरकार से निर्दिष्ट दिशा में कार्य करने का दायित्व समाज द्वारा सौंपा गया है। उसकी अवहेलना करने पर नागरिकों को राज्य क्रान्ति का अधिकारी अवश्य है। स्मरणीय यह है कि केवल व्यक्तिविशेष क्रान्ति का अधिकार नहीं बल्कि समाज का स्पष्ट बहुमत ही निर्विकल्प रूप से क्रन्तिस्रष्टा हो सकता है। राजक्रान्ति का यह सिद्धान्त सन् १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसलिये राजक्रान्ति का दर्शन स्पष्ट समझ लेना चाहिये। संसद् ने, जो नागरिक समाज के बहुमत का प्रतिनिधित्व करती थी, सन् १६६० में ब्रेडा की घोषणा से राजा से यह वचन लिया कि वह संसद् के विपरीत नहीं चलेगा और निरंकुशता की ओर कदम नहीं रखेगा। कुछ समय तक इस प्रतिज्ञा का पालन राजा करता रहा किन्तु जेम्स द्वितीय निरंकुशता की ओर बे-लगाम अग्रसर होने लगा। संसद् ने जनता की भारी शक्ति के साथ उसे हटा दिया और विलियम तथा मेरी को राजा बनाया। इस तरह राज्यक्रान्ति फलीभूत हुई। यह क्रान्ति सर्वथा न्यायोचित, नियमानुकूल तथा सर्वजनप्रिय (बहुजनप्रिय) थी। एक प्रकार से लॉक राज्यक्रान्ति के सिद्धान्तों का अन्यतम दार्शनिक है।

लॉक पर व्यक्तिवादिता का आरोप लगाया जाता है। उसका उद्देश्य था राज्य की स्वच्छन्दता से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना। लेकिन इस उद्देश्य के नाम पर उसने राज्य की स्थिरता, सुदृढ़ता तथा संप्रभुता को व्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर बलिदान कर दिया। लॉक की व्यवस्था व्यक्ति-केन्द्रित

है। प्राकृतिक अधिकारों की आधार-शिला व्यक्ति है। ह्वान के शब्दों में व्यक्ति की संप्रभुता बनाये रखने के लिये ही उसके चारों ओर की वस्तुयें सजाई गई हैं।' प्राकृतिक अवस्था, सभ्य समाज, अनुबन्ध, शासनतंत्र तथा राज्यक्रान्ति ये सभी बातें व्यक्ति का ही गौरव बढ़ाने वाली हैं।

व्यक्ति के जीवन, स्वातन्त्र्य तथा सम्पत्ति के अधिकारों को वह अक्षुण्ण, अविच्छिन्न तथा अविभाज्य मानता है। प्राकृतिक अवस्था में भी वह व्यक्ति सुखी आनन्दवादी था। सभ्य समाज के सुरक्षापूर्ण वातावरण में वह आया अधिक शान्ति, सुख, सुविधा, सम्पत्ति, रक्षा की खोज में। उसकी इच्छा से ही समाज (Community) तथा राज्य का जन्म हुआ। समाज और राज्य को सीमित अधिकार ही मिले और उनका दुरुपयोग होने पर व्यक्ति को क्रांति करने का अधिकार मौजूद था। उसे न केवल असामान्य परिस्थितियों में विरोध करने का अधिकार था बल्कि सामान्य कानूनों को भी प्राकृतिक विधियों के मापदण्ड से अनुकूल-प्रतिकूल मानने का अधिकार था। हाब्स की अपेक्षा अधिक कट्टर व्यक्तिवादी लॉक था। प्रत्यक्ष रीति से व्यक्ति के अधिकारों को सर्वोच्च संरक्षण देना तथा एतदर्थ राज्य को सीमित करना उसके विचारों का प्रमुख उद्देश्य था। व्यक्ति को धार्मिक, साम्प्रदायिक तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का उसने समर्थन किया।

शासक अथवा राजा को उसने किसी लिमिटेड फर्म या कम्पनी के जिसके भागीदार (Shareholders) समस्त व्यक्ति हो, प्रबन्धकर्ता (Managing Director) की तरह माना। शेयर होल्डर्स जब चाहें उस प्रबन्धकर्ता को अलग कर सकते हैं। व्यक्तिवाद की इस तरह उपासना करते देखकर भ्रम हो सकता है कि लॉक उदार जनवादी था। वस्तुतः वह प्रजातन्त्र का नहीं, आर्थिक कुलीनतन्त्र का समर्थक था। इंगलैण्ड के शासकों का विरोध सम्पत्तिशाली वर्गों ने किया जो समानतावादियों (Levellers) के भी विरोधी थे। धनी वर्ग राजा को कठपुतली बनाकर अपने वर्ग का स्वार्थ साधन करना चाहता था। लॉक के विचारों ने इसी पक्ष की सहायता की। आर्थिक हितों को ऊपर रखने की उसने चेष्टा की। यथार्थ विधियों को उसने वास्तविक रीति से प्राकृतिक विधियों का ही विकास परिलक्षित किया किन्तु प्राकृतिक विधियां व्यक्तिवादिता के प्रतिकूल हैं। किन्तु लॉक का राज्य भी पुलिस शासन मात्र हैं, शान्ति, सुरक्षा के आगे कुछ भी नहीं। अल्पमत की अवहेलना के गम्भीर परिणामों की ओर

उसका ध्यान नहीं गया। व्यावहारिक रूप में व्यक्ति जब अदृश्य या नगण्य है, बहुमत असफल तथा असंगठित है, तब निरंकुश शासक ही धन-सत्ता-धर्म-दण्ड पर एकाधिकार जमा लेता है। व्यक्तिवाद का लॉक द्वारा यह समर्थन हमें कुत्सित परिधि में घुमाता है। नागरिक समाज और व्यक्ति दोनों एक साथ एक ही स्थिति में कैसे सत्ताधारी बन सकते हैं ?

राज्य और धर्म-सहिष्णुता तथा विश्वास-स्वातन्त्र्य :

धर्म के सम्बन्ध में लॉक से पूर्व दो विचारधारायें प्रचलित थीं। एक तो हाब्स की तरह निरंकुश राज्य का समर्थक दल था जो राज्य को सर्वाङ्गीण प्रभुत्वसम्पन्न बनाकर धर्म को उसके अधीन बनाना चाहता था। इसके विपरीत पोप, पादरी, सामन्त तथा धार्मिक पदधारियों का दल था जो धर्म को राज-शक्ति से परे मानता था, राजा को केवल प्रशासकीय अधिकार थे, धार्मिक नहीं। यूरोप का मध्यकालीन इतिहास इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मल्ल-युद्ध प्रस्तुत करता है। इसमें एक पक्ष के पास शासन की तलवार (Sword of the Imperium) थी जो दैवी कृपा से प्राप्त थी और दूसरे के पास पवित्रता की तलवार थी (Sword of the Sacerdotum) और वह भी भगवत्कृपा से आई थी (इन दोनों पक्षों के विपरीत एक दल ऐसा था जो दोनों तलवारों को एक ही शासक के दोनों हाथों के अस्त्र मानता था)। धार्मिक कट्टरता का वह युद्ध बहुत दिनों चलता रहा और शासन की प्रचंड, दुर्धर्ष शक्ति के आगे बेचारे पोप-पादरी परास्त हो गये। किन्तु धर्म तो केवल अधिकार, युद्ध अथवा सत्ता की वस्तु न थी। धर्म-संस्कार तथा पूजा-उपासना, विश्वास की नींव मानव स्वभाव में अनादिकाल से पड़ी थी। इसलिये उसका अनादर करना सम्भव नहीं था। लॉक ने अपने ग्रंथ 'सहिष्णुता विचार पत्र' (Letters on Toleration) में धर्म सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए यह सिद्ध किया है कि धर्म वास्तव में मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिकता का संबल है, विश्वास-बुद्धि हृदय की पावनतम अनुभूति है। इसलिये उसका व्यक्ति-गत जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक सहिष्णुता का प्रबल पक्षपाती होने के कारण लॉक का यह दृढ़ मत है कि व्यक्ति के विश्वास बलप्रयोग द्वारा परिवर्तित नहीं किये जा सकते। धर्म-परिवर्तन भी इसी तरह अन्याय-पूर्ण है। इसलिये राज्य को धार्मिक मान्यताओं का विरोध करने के बजाय उसे संतुलित तथा समीचीन बनाना चाहिये। यह कार्य हस्तक्षेप द्वारा सम्भव नहीं।

धार्मिक सहिष्णुता का आन्दोलन यूरोप के इतिहास में अपना महत्व रखता है। धर्मान्धता के कारण जनता पर किये गये अत्याचार-दमन (Persecution) की लोमहर्षक गाथा इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। हाब्स की प्राकृतिक अवस्था से किसी तरह कम भयावह चित्र वह नहीं है। राजाओं ने इसी धर्म की आड़ लेकर विरोधियों का उन्मूलन किया और अपनी निरंकुश सत्ता जमा ली। बर्बर जातियों के ऊपर धर्मावलम्बी प्रभुओं का शासन जब हुआ तो वह प्रयोग में और अधिक बर्बर सिद्ध हुआ। हत्या, षड्यन्त्र, धार्मिक फतवे, स्वर्ग-नर्क की कल्पना, मोक्ष का मोह, रौरव यातना का भय आदि कितने आविष्कार होते रहे और सत्ता की होड़ लगी रही। विभिन्न धर्मानुयायियों में भयानक संघर्ष होता रहा, धर्मयुद्ध (Crusades) तक किये गये। केथोलिकों ने अपनी ही बातें सर्वमान्य सत्य सिद्ध करनी चाही, मुसलमानों ने तलवार और कुरान की संगति सिद्ध की। नास्तिकों ने धर्म के विरुद्ध जिहाद कर दिया। इन सबका विरोध लॉक ने किया है। वह धर्म और राज्य के बीच समन्वय तथा सामञ्जस्य का पक्षपाती है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्र विचार-प्रदर्शन तथा सत्य-अन्वेषण का कार्य धर्म को राज्य के अन्तर्गत ही करना चाहिये। धर्म और राज्य का कोई मुकाबला नहीं है क्योंकि धर्मतंत्र का कोई भी अंग राजनीतिक वैधता से बद्ध या स्वीकृत नहीं है। शासनाधिकारी विधि के अनुसार काम करते हैं और विधि धर्म की ओर लक्ष्य नहीं करती। हाँ, यदि धर्म की आड़ में राज्यविरोधी कार्य हों या दमनात्मक उत्पीड़न हो तो राज्य बलपूर्वक उनका अन्त करने के लिये स्वतन्त्र तथा समर्थ है। किन्तु यह बलप्रयोग अन्तिम अवस्था के रूप में ही काम में लाना चाहिये। राज्य का कर्तव्य है कि व्यक्तियों को अपने विश्वासों के अनुकूल धर्म-पालन की छूट दे और उनके धर्माचरण में बाधा न डाले। शासक व्यक्तिगत रूप में किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो उसे प्रजा पर अपना धर्म लादने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये राजा का प्रमुख कर्तव्य इस दिशा में है धार्मिक-सहिष्णुता। धार्मिक सहिष्णुता की बात राबर्टब्राउन, रोजर विलियम, जान मिल्टन, रिचर्डसन आदि विद्वानों ने की और धार्मिक उत्पीड़न के विरोध में आवाज उठाई। उसी परम्परा में लॉक ने भी दार्शनिक ढङ्ग से इस प्रश्न पर गम्भीर विचार किया। संसार में धर्म के विभिन्न रूप हैं लेकिन उनका मूल उद्देश्य एक है, ईश्वर प्राप्ति या सत्य सिद्धि। एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के ये अनेक मार्ग हैं। अलग-अलग मार्गों से चलने वाले व्यक्तियों में विचार या कलह निरर्थक हैं। उनमें विवेकमूलक सहअस्तित्व आवश्यक है। इस-

लिये धार्मिक विद्वेषों का अन्त कर देना चाहिये। इंगलैण्ड, अमेरिका, हालेण्ड में इसी प्रकार उदारवादी विचार प्रचलित थे। हिन्दुओं की वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था भी बहुत कुछ इसी प्रकार है। किन्तु यह मत रूढ़िवादी दर्शन का पोषक है। आगे चलकर सुप्रसिद्ध ह्विग नेता एडमण्ड वर्क ने इस रूढ़िवादी दर्शन का समर्थन करते हुये कहा कि परस्पर विरोधी तथा बेमेल वर्ग या धर्म भी समाज में अपनी पृथक् स्थिति बनाये हुये देशीय या समाजगत एकता कायम रख सकते हैं। किन्तु इसके लिये उदार दृष्टिकोण, एक दूसरे को समझने की सहानुभूति-पूर्ण बुद्धि तथा मानवतावादी विचारधारा अपेक्षित है। १६ वीं सदी में रिचर्ड हूकर ने भी यह मत प्रकट किया था कि धार्मिक मतभेदों से सामाजिक एकता क्षीण नहीं होती। इसी दिशा में लॉक ने भी चिन्तन किया। किन्तु वह कुछ लोगों को सहिष्णुता का अपवाद मानता है, जिनके लिये धार्मिक सहिष्णुता वर्जित है अथवा बल प्रयोग सम्भव है। पहले तो नैतिकता मानवता के विरुद्ध आचरण करने वाले तथा समाज-कल्याण में बाधा पहुँचाने वाले व्यक्ति सहिष्णुता के पात्र नहीं। दूसरे वे व्यक्ति जो स्वयं कट्टरता से पीड़ित हैं, असहिष्णु हैं, राज्य से इस बात की आशा नहीं कर सकते। जो राजा दैवी-अधिकार के मद में अपने को ईश्वर-नियुक्त मानता है, उसके लिये भी उदारता नामक कोई वस्तु नहीं है। इस तरह लॉक ने धार्मिक सहिष्णुता की सिफारिश करते हुए मध्यमार्ग अपनाया है। जिससे व्यक्तिगत विश्वासों की बलि न होने पावे और धर्म भी राज्य की विश्रामदायिनी छाया में लोकमङ्गल करे।

सिद्धान्त-समीक्षा :

लॉक अपने पूर्ववर्ती विचारकों का ऋणी तो था ही, मौलिकता के अभाव में भी उसने समस्याओं का समुचित उत्तर ढूंढ़ा। व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, प्रजातन्त्र आदि सिद्धान्तों के बीज हमें उसके विचारों में मिलते हैं। निरंकुश राजसत्ता का कट्टर विरोधी होने से वैधानिक सत्ता (Constitutional-ism) तथा मौलिक अधिकारों का मुक्त समर्थन उसने किया। फ्रांस और अमेरिका की जनक्रान्तियों तथा आन्दोलनों पर उसके विचारों का प्रभाव पड़ा। सन् १७६५-७१ तक अमरीका स्वातन्त्र्य युद्ध के नेता तथा सन् १७८६ में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के प्रवर्तक, लॉक द्वारा प्रदर्शित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, जनमत स्वीकृति, बहुमत शासन, शक्ति विभाजन का सिद्धान्त आदि राजनीतिक तथ्यों से अवगत होकर कार्य करते रहे। अमेरिका के संविधानवेत्ता लॉक के 'प्रशासन-प्रबन्ध' नामक ग्रंथ को बाइबिल की

तरह पुनीत मानते रहे। फ्रांस के विधिशास्त्री सन् १६८८ की क्रांति के बाद ब्रिटेन को संवैधानिक प्रगति का आदर्श स्वरूप मानते आये। मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में भी लॉक ने अनुभूत्यात्मक (Empirical) ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान का स्रोत माना और यही विचारधारा आगे चलकर विभिन्न उपयोगितावादी विचारों की भी जननी बनी। श्रम-सिद्धान्त की स्थापना करके लॉक ने पूंजीवादी तथा समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं को एक नया दृष्टिकोण दिया। अपने-अपने ढङ्ग से रूढ़िवादी अर्थवेत्ता तथा साम्यवादी-समाजवादी इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हैं। समाज (Community) को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में लॉक का योगदान प्रशंसनीय रहा। समाजशास्त्रियों ने आज तो बड़ा विस्तृत अध्ययन करके समाज की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर दी है। न्यास सिद्धान्त के द्वारा लॉक ने राज्य को संरक्षक बताकर उसे अपना भूला हुआ कर्तव्य-पथ दिखलाया। उदारवादी दर्शन, व्यक्तिवादी शासन, समाजवादी अर्थ व्यवस्था जनवादी संस्थान, सुधारवादी धार्मिकता तथा रूढ़िवादी नैतिकता का स्रष्टा लॉक ही था जो न केवल राजनीतिज्ञ बल्कि एक महान दार्शनिक भी था। अपनी आदर्श शासन-व्यवस्था में वह राजतन्त्र तथा उच्चकुलीन सभा (House of Lords) का पक्षपाती है। उसके दर्शन का सार यह है कि परस्पर विरोधी तथा असंतुलित विषम वर्ग भी शान्तिपूर्ण वातावरण बनाये रख सकते हैं, सहिष्णुता के बल पर। मांटेस्क्यू, रूसो, वेन्थम, बर्क आदि लॉक के विचारों से प्रभावित थे। आज भी लॉक के सिद्धान्तों का समुचित आदर हैं और बिना तर्क-वितर्क के अथवा बिना पढ़े ही उनकी उत्कृष्टता स्वीकार कर ली जाती है। हाब्स की तरह वह प्रखर तार्किक तथा प्रकाण्ड विधिवेत्ता न था। हाब्स ने यथार्थ विधियों को प्राकृतिक विधियों का प्रतिबोधात्मक रूप माना या जबकि लॉक ने उन्हें उनका (प्राकृतिक विधियों का) विकसित रूप कहा। हाब्स बिना संप्रभुता के वास्तविक राज्य की कल्पना नहीं करता, (सभ्यता, नागरिकता, समाज सब उसके अन्तर्गत हैं) जबकि लॉक संप्रभुता के प्रश्न पर मौन रहकर सभ्य समाज के व्यक्तियों को सजग बनाने वाले प्रहरी का काम करता है। लॉक ने वैधानिक (De jure) तथा वास्तविक (De facto) सत्ता में सूक्ष्म प्रभेद किया है। रूसो ने लॉक के विचारों से प्रेरणा लेकर उसकी पृष्ठभूमि में जनवादी तथा लोकप्रिय संप्रभुता की सिद्धि की। इतना होने पर भी लॉक के विचारों में प्रत्यक्ष विसंगतियाँ अलक्षित नहीं की जा सकतीं।

प्राकृतिक दशा तथा मानव प्रकृति की भोगवादी चेतना का चित्रण करते समय लॉक अपने स्वजातीय सम्पत्तिशाली वर्गों की स्वार्थचेतना से प्रत्यक्ष प्रभावित है। सभ्य समाज के पूर्व प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को सद्गुणी तथा विवेकवान् मान लेने पर यह प्रश्न स्वाभाविक होता है कि उनमें असुविधाएं क्यों आईं और अनुबन्ध की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? रूसो के मतानुसार लॉक व्यक्ति के सभ्य समाज में उद्भूत सद्गुणों को प्राकृतिक दशा में मान लेने की भूल करता है। इस तरह की प्राकृतिक अवस्था अस्वाभाविक तथा अनैतिहासिक भी है। दूसरे लॉक अमेरिका की ओहियो नद के तट पर रहनेवाली आदिम जातियों की समाजरचना तथा निश्छल, निर्द्वन्द्व जीवन-दशा का कायल है और उसके अनुरूप प्राकृतिक दशा का चित्रण करता है। किन्तु ऐसा करने में वह यूरोप की यथार्थवादी स्थिति से आँखें मूंद लेता है। इसलिये ह्वान ने कहा कि यूरोप के विषय में लिखते समय वह ओहियो की ओर पलायन कर जाता है। नैतिकता, अधिकार-भावना, न्याय आदि प्रश्न समाज-सापेक्ष हैं और राजनीतिक अनुभवरहित व्यक्ति इनका मूल्यांकन ठीक से नहीं कर सकते। इसलिये केवल दण्डव्यवस्था के लिये राज्य की बात आगे लाना कुछ मतिविभ्रम-सा मालूम पड़ता है। असुविधाओं का निरूपण भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता।

समाज तथा राज्य के बीच अन्तर स्पष्ट करने में लॉक असमर्थ है और स्वकालीन तथा राजनैतिक, सामाजिक संस्थाओं का उपयुक्त विश्लेषण भी नहीं कर पाता। शिक्षा, नैतिकता, धर्म, संस्कृति आदि को राज्य से बाहर बताकर लॉक राज्य को केवल पुलिस-राज्य बनाता है, जनकल्याणकारी राज्य नहीं। केवल पुलिस राज्य अनावश्यक तथा परित्याज्य है। शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त चलाने के साथ ही वह कार्यकारिणी को अध्यादेश (Oridenance) बनाने का अधिकार देता है और लार्ड-सभा का समर्थन कर अपने आपको दकियानूसी सिद्ध करता है। लॉक का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण राज्य की दृढ़ता पर प्रहार करता है और अवज्ञाजनित आन्दोलनों को प्रश्रय देता है। इस तरह तो कोई राज्य नहीं चल सकता। संप्रभुता, राज्य के सामूहिक अधिकार तथा कर्तव्य और सापेक्षतापूर्ण समाज रचना के सम्बन्ध में लॉक को समुचित कल्पना नहीं थी। जनस्वीकृति का सिद्धान्त एक ओर तो बहुमत की बात मानने को कहता है और अल्पमत के विषय में उदासीन है वहीं व्यक्ति को भी विद्रोह के लिये उकसाता है। इस प्रकार वह बेमेल असंगतियों की गठरी लपेटे फिरता है।

श्रम-सम्पत्ति का सिद्धान्त भी दुधारी तलवार Double-Edged

Sword) की तरह था। इस सिद्धान्त को सी० एच० ड्राइवर ने जीवित बम की तरह बताया जो फूटने पर किसी को न छोड़ता। इससे पूंजीपतियों और समाजवादी वर्गों को प्रोत्साहन मिला और उन्होंने मनमाना शोषण किया। उच्च-वर्गों तथा कुलीनतन्त्रों ने इस सिद्धान्त की आड़ में सम्पत्ति का एकाधिकार पाया। लार्ड आक्टन ने लॉक को धनवानों के कुलीनतन्त्र का पोषक बताया। निर्धनों का उत्पीड़न इस प्रकार बढ़ा। दूसरी ओर मार्क्स तथा अन्य साम्य-वादियों ने इस सिद्धान्त के बल पर सम्पत्ति को शोषण की संज्ञा दी और पूंजी पतियों तथा सामन्तों का उन्मूलन करने की घोषणा की। श्रम-सिद्धान्त को कावेट, ग्रे, हाजस्किन, रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों ने भी अपने-अपने ढंग से अपनाया। लॉक की व्यक्तिवादिता कभी-कभी स्वेछाचारिता की ओर बढ़ जाती है और विचार-प्रौढ़ व्यक्तियों को वह राज्य की नागरिता स्वीकार-अस्वीकार करने का अधिकार तक दे देता है। इस भांति तो वह प्रत्यक्ष रीति से असामाजिक प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। विरोध का अधिकार भी एक तरह से मौखिक ही है क्योंकि उस विरोध की प्रक्रिया असाधारण रीति से जटिल है। ऐतिहासिक दृष्टि में लॉक के दृष्टान्तों तथा निष्कर्षों की पुष्टि नहीं होती। संक्षेप में, हर क्षेत्र से कुछ संग्रह कर लॉक ने विचारों की बे-मेल खिचड़ी पकाई। इतना होने पर भी उसका अनुदाय राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र के लिये हितकर सिद्ध हुआ। सीमित राजतन्त्र के विचार तो इङ्गलैंड तक सीमित रह गये और अनुबन्धवाद का पूरा सिद्धान्त त्याग दिया गया है। फिर भी इङ्गलैंड की जनजागृति तथा प्रगति के सूत्रधारों में उसका नाम उल्लेखनीय है। लास्की के अनुसार लॉक ने जनस्वीकृति या सहमति के सिद्धान्त को राजनीति में स्थायी स्थान दिया।

७—रूसो

(जोनजेक्स रूसो १७१२-१७७८ ई०)

प्रख्यात दार्शनिक रूसो क्रान्तिकारी विचारों का प्रणेता, सुलझा हुआ शिक्षाशास्त्री, आदर्शवादी, कल्पनाप्रधान समाजद्रष्टा, मानवतावादी, बौद्धिकता का भक्त तथा युग निर्माता साहित्यकार-कलाकार था। उसके स्वतन्त्र चिन्तन में राजनीति, समाजशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र, साहित्य आदि विषयों पर महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गये। फ्रांस की ऐतिहासिक राज्यक्रान्ति (१७८९ ई०) की पृष्ठभूमि में रूसो तथा उसके समकालीन वाल्टेयर (१६९४-१७७८ ई०) के उग्र प्रभावोत्तेजक सुधारवादी राजदर्शन की अनुकृति थी। क्रान्तिकालीन जननेता राबस्पिअर ने उसे क्रान्ति-देवता कहकर अभिनन्दित किया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद, प्रजातन्त्र तथा अद्वैतवादी जनप्रिय संप्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी लेखनी से नया समर्थन तथा दिशानिर्देशन मिला। अधिनायकतन्त्र के समर्थकों ने उसके विचारों से लाभ उठाकर अपने पक्ष की नीति स्वीकृत कराने में सफलता पाई। आधुनिक युग की उलझी हुई राजनीतिक प्रवृत्तियों तथा गुत्थियों के सूत्र हमें रूसो में मिल सकते हैं। अनुबन्धवाद को उसकी देन अद्वितीय रही। राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में अनुबन्धवाद भले ही मर गया हो लेकिन समाज के ऐतिहासिक-सामाजिक विश्लेषण में उसका महत्व कम नहीं है। और रूसो का मौलिक अनुदाय अनुबन्ध की सार्थकता सिद्ध करने में है। हाब्स और लॉक के विचारों की अपूर्णता तथा त्रुटियों को दूर करने का यथासम्भव प्रयास रूसो ने किया किन्तु स्वयं शुष्क बौद्धिकता के जाल में फंस गया। उसका जीवन भावुकता, कल्पना प्रवणता, कटुता तथा प्रतिक्रिया का असाधारण सम्मिश्रण है। साहित्य पुर्नजागरण तथा स्वच्छन्द भावात्मकता के कारण उन्मुक्त सौंदर्यवादी आन्दोलन (Romantic Movement) का जन्म हुआ जिसने क्लासिकल साहित्य के नीरस शब्दाडम्बर तथा दुरूह वस्तु-शिल्प से कविता-कला-रचना को स्वतन्त्र किया। इस साहित्यिक आन्दोलन में वाल्टेयर और रूसो का नाम अमर है। आने वाली दो शताब्दियों में यूरोप के विचार-जगत् पर रूसो का प्रभाव छाया रहा। प्रकृति की नैसर्गिक नयनाभिराम छटा की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित करके उसने प्रकृतिवादियों को नई सूझ दी।

सर्वव्यापी सामान्य इच्छा का अभिनव सिद्धान्त आविष्कृत करके रूसो ने राजनीति में स्थायी सावयव समाज की कल्पना बलवती की। प्राकृतिक अवस्था, लोकप्रिय संप्रभुता, विधि, सामाजिक स्वीकृति, क्रान्ति प्रशासन, क्रान्ति आदि विषयों पर रूसो के विचार निर्भीक, स्पष्ट तथा ईमानदार हैं। फ्रांस की राजनैतिक हलचल या उथल-पुथल के बीच स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व (Liberty, Eqality, Fraternity) के विश्व-मान्य नारों का उद्घोष इन्हीं मानवतावादी विचारों के बल पर हुआ।

व्यक्ति, कृति तथा परिस्थिति :

'जीन जेक्स रूसो का जीवन अभाव तथा आवारापना की आकर्षक गाथा है। स्विट्ज़रलेन्ड के स्वतन्त्र वातावरण में जिनेवा नगर में रूसो का जन्म एक निर्धन घड़ीसाज के घर हुआ। प्रारम्भ ही में मातृहीन् हो जाने के कारण वह उपेक्षित तथा स्नेहविहीन रहा। अपनी आर्थिक असमर्थता के कारण पिता उसे समुचित शिक्षा न दे सका। इतना ही नहीं जिनेवा का परित्याग भी उसे करना पड़ा। पेट भरने के लिये अल्पायु में रूसो को कठोर परिश्रम करना पड़ा। पादरी, शिल्पकार आदि के यहाँ वह नौकरी करने लगा किन्तु कहीं टिक न सका। फ्रांस आकर बुरी संगति से प्रभावित तथा आदत से लाचार वह पक्का धूर्त, उचक्का, लम्पट, चोर आवारा सब कुछ बन गया। विपरीत परिस्थितियों का विकार उसे पतन की ओर ले चला। किन्तु इससे अन्दर की आग न बुझी। मित्र वर्ग सदैव उसे सहायता देकर जीवित रखने का प्रयत्न करता रहा। एक धन सम्पन्न महिला भी उसे सहायता देती रही। पेरिस में उसका जीवन दरिद्रतापूर्ण तथा जर्जरित रहा। एक बार वेनिस में फ्रांसीसी दूतावास में उसे नौकरी भी मिल गई किन्तु अधिक दिन तक यह कायम न रह सकी। तथाकथित भद्र समाज से सम्बन्ध विच्छेद करके वह मजदूरों की गन्दी बस्तियों में जीवनयापन करने लगा। जीवन भर वह अविवाहित ही रहा किन्तु मधुशाला की दासी तथा अन्य से उसका अवैध सम्बन्ध बना रहा। आवारा, प्रताड़ित, पीड़ित होने पर भी रूसो बहुत करीब से जिन्दगी के हर पहलू देखता रहा। भावुकता की अक्षय निधि लेकर अपनी सहमी-डरी-भूखी आंखों से उसने समाज की कुरूपता तथा व्यक्ति के कोढ़ के धब्बे देखे। अनुभव की इस विस्तृत बहुमुखी पाठशाला में उसका अध्ययन चलता रहा। स्वाध्याय के बल पर उसने ज्ञान प्राप्त किया। सन् १७४४ से १७५६ तक फ्रांस में उसका जीवन बड़ा ही उच्छृङ्खल, पतित, निस्सार रहा। सन् १७४९ में फ्रांस की एक साहित्यिक संस्था

द्वारा प्रचारित निबन्ध-प्रतियोगिता में भाग लेने की उसे अनायास ही प्रेरणा हुई। क्रास-वर्ड या संवर्ग पहेली द्वारा धनराशि पा जाने की कामना करनेवाले प्रतियोगी की तरह उसने 'क्या कला और विज्ञान की प्रगति से चारित्रिक सुधार हुआ है या पतन ?' इस विवादात्मक विषय पर बिलकुल मौलिक, युगान्तरकारी तथा सनसनीखेज विचार करते हुए रूसो ने लिखा कि विज्ञान और कला की तथाकथित तरक्की से सभ्यता का ह्रास, नैतिकता का विनाश, चरित्र का पतन हीं हुआ है। फ्रांस के अहं-तुष्टिवाले बौद्धिक अभिजात्यों की धारणा के खिलाफ बिलकुल नया विचार प्रकट होने से चारों ओर हलचल मच गई। प्रतियोगिता में उसने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। यह घटना उसके जीवन में महत्वपूर्ण व परिवर्तनकारी है।

फिर तो सुप्त साहित्यिक प्रतिभा तथा बौद्धिक संचेतना जाग उठी। लेखक दूसरा निबन्ध 'मनुष्यों में विषमता का जन्म तथा आधार' इस विषय पर लिखा जिसमें राज्य के पूर्व प्राकृतिक दशा; समाज-राज्य का जन्म, सम्पत्ति पर आधिपत्य तथा संचय-भावना आदि प्रकरणों पर प्रकाश डाला गया। हाब्स, लॉक, ह्यूम (१७११-७६) आदि के विचारों से भिन्न तर्क उसने उपस्थिति किये। सूक्ष्म मानवी संवेदना, अनुभूतिपरक व्यावहारिक ज्ञान तथा जन्मजात अलौकिक प्रतिभा के समन्वय से रूसो का दर्शन जनप्रिय तथा सबल हो चला। सहिष्णुता, धर्म-बुद्धि संतुलन, अन्याय का प्रतिकार, विवेक-मार्ग आदि का प्रतिपादन वाल्टेयर ने किया था और लगभग वैसा ही आधार लेकर रूसो भी चल पड़ा। किन्तु जीवन की सच्ची और गहरी परख होने के कारण रूसों के विचारों में अधिक बल था। सन् १७५८ में उसने अर्थशास्त्र पर ग्रंथ लिखा जिसमें सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया गया और आदर्श राज्य के लक्षण बताये गये। सन् १७६२ में सामाजिक अनुबन्ध (The Social Contract) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा गया जो उसके समस्त राजदर्शन का सारभूत तत्व है। उसी समय शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ एमिल (The Emile) का प्रकाशन हुआ जिसकी धर्म-शिक्षा-विरोधी व्यवस्थाओं से क्षुब्ध होकर पादरियों तथा सरकार ने उसका अपमान किया। परिणाम स्वरूप उसे फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा' जिनेवा में भी उसे शरण न मिल पाई। इटली, जर्मनी, प्रशॉ आदि देशों में भटकते हुए उसने अपने शेष दिन बिताये। अन्तिम दिनों में उसने अपनी आत्मगाथा (The Confessions) लिखी। कुछ देशों जैसे कोर्सिका पोलेण्ड आदि के संविधान भी उसने अपने आदर्श राज्य-कल्पना के आधार

पर लिखे। १७५२ ई० में उसने जिनेवावासियों को महत्वपूर्ण पत्र लिखे जिसमें क्रान्ति की रीति-नीति समझाई गई थी और हत्या का विरोध किया गया था प्रवञ्चना, प्रलोभन प्रतारणा की अंधेरी-गलियों में भटकता हुआ सन् १७७८ में वह इस दुनिया से विदा हो गया। किन्तु यहां छोड़ गया वह जिन्दगी भर का लादा गया लबादा और अपनी फटी हुई गुदड़ी जिसमें असंख्य लाल (विचार रत्न) छिपे पड़े थे। एफ़० जे० सी० हर्नशाँ के अनुसार रूसो के व्यक्तिगत जीवन की प्रत्यक्ष झलक उसके ऐतिहासिक विश्लेषण तथा राजदर्शन में मिलती है। रूसो स्वतः उस महान बनचारी (The Noble Savage) की तरह जीवनयापन करता रहा जिसका विशद विवरण उसने अपने ग्रंथ में किया है। उसके स्वभाव में व्यक्तिगत जीवन की वेदना-कातरता, घोर अशान्ति, भग्न हृदय की भावुकता, अधैर्य, आत्म-नियंत्रण का अभाव आदि तत्व इस परिमाण में घुले-मिले कि वह प्रतिबन्ध लगाने वाली या नियमित बनाने वाली हर संस्था और परम्परा के ध्वस्त करने का मार्ग ढूँढ़ने लगा। मध्ययुगीन धर्मान्धता, दैवी निरंकुशता, सामन्तवादी व्यवस्था, सम्पत्तिजन्य वैषम्य, इनके बीच रूसो आया लेकिन अपने बौद्धिक दर्शन के पैने अस्त्र से सब पर बराबर प्रहार करता रहा। तमसाच्छन्न विचारधारा तथा अत्याचारी मनोवृत्ति के (against obscurantism and despotism) विरुद्ध भीषण प्रतिक्रिया के रूप में उसकी विवेकशील चिन्तनधारा (Rational Philosophy) प्रवाहित हुई। उसके पहले भी वाल्टेयर, मान्टेस्क्यू, दीदरे आदि विद्वानों ने इस विचार का सूत्रपात किया था। यह दर्शन जनसाधारण के अन्तस्थल तक पहुँचता था और उन्हे उचित समाधान देता था। बचपन से धार्मिक वृत्ति होने के कारण वह मनुष्य के कष्टों का कारण नैतिक अवनति ही मानता था तथा अपने मित्रों के आचरण के बल पर ही उसने यह माना कि स्वभावतः मनुष्य भला' सद्गुणी तथा उच्च है, समाज और उसके परिवेश में ही वह बुरा बनता है या बनाया जाता है। उसकी मनोवैज्ञानिक धारणा का यह आधार है। अपने विपन्न पिता से रूसो को एकमात्र मन्त्र मिला था कि स्वदेश को प्यार करो। इसका रूसो ने निश्चय पालन किया। उसके आदर्श राज्य में जिनेवा की शासन प्रणाली उचित मानकर चलाई गई है। मेकियावेली, बोदाँ, अलयू-सियस, हाब्स, लॉक, ग्रोस, एलगरनन सिडनी, पफेनडर्फ, फेनेलन, मान्टेस्क्यू आदि विचारकों का प्रभाव उस पर पड़ा। यूनानी और रोमन साहित्य का प्रभाव भी स्पष्टतया परिलक्षित है। स्पार्टा तथा रोमन संस्थाओं के प्रति उसका आकर्षण रहा। प्लूटार्क, लिवी, टेसीटस आदि के ग्रंथों का अध्ययन उसने किया। अपने सम-

कालीनों में डी० आर्गेन्सन, एब द सेन्ट पीयर; मेबली, मारेली, वाल्टेयर आदि से वह प्रभावित हुआ।

रूसो के पूर्ववर्ती कुछ विद्वानों की, जो विश्वज्ञानी (Encyclopaedis) कहलाते थे, यह धारणा थी कि मनुष्य विवेकी होने के कारण श्रेष्ठ प्राणी है और मानव-इतिहास निरन्तर प्रगति की ओर चलता है। रूसो ने (मेकियावेली से प्रेरित होकर) इसका तीव्र खंडन किया और बताया कि इतिहास में मानव का पतन ही हुआ। वर्तमान सभ्यता के आवरण में व्याधि-विकार आदि बढ़ते रहे। व्यापक, दुःख, दमन, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता समाज में फैली। इस विचार ने निराशा, निरीह, शोषित, पीड़ित किसानों तथा मध्यम वर्ग को जागृति का उद्बोधन किया। उन्होंने इसे अपनाया और संगठित होने लगे। दूसरे दार्शनिक यदि कुशलता की बात करते तो रूसो स्वतन्त्रता के गीत गाया करता। इस तरह उसकी विचारधारा साधारण जनता की अपनी वस्तु बन गई। भावातिरेक के कारण वह बुद्धि, तर्क, मस्तिष्क की जगह हृदय, सहानुभूति, सहज संवेगों को स्थान देते हुये भावना को ऊँचा बताता है। वह प्राचीन काल के सुखद, शांत, सरल, संघर्षहीन, स्वतन्त्र जीवन का प्रशंसक तथा सभ्यताजनित कुटिलताओं या जटिलताओं का विरोधी था। लेकिन अपने उदारवादी दर्शन के बल पर वह अन्त में प्रबुद्ध आततायित्व (Enlightened Despotism) का समर्थन करने लगता है।

यूरोप की अठारहवीं सदी को बौद्धिक युग (Age of Reason) कहा जाता है किन्तु उसका इतिहास अशान्ति, विप्लव दमन उग्रता तथा प्रतिक्रान्ति का दृश्य उपस्थित करता है। रूसो के जन्म काल में यूरोप और विशेषतः फ्रांस में विपरीत विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा था। बौद्धिकता अतिशय बौद्धिकता तथा बुद्धि शून्यता के चक्कर में दार्शनिक फँसे थे। राजा अत्याचार की ओर ठोस कदम उठा रहे थे। किसानों को भूमिहीन होकर सामन्तों और जमीन्दारों का दासत्व स्वीकार करना पड़ रहा था। धनिकों में विलासिता-वैभव की वृत्ति थी। शोषित निम्न वर्ग तबाह हो रहा था। धार्मिक संस्था—चर्च आदि षडयन्त्र के केन्द्र थे। शासन में चापलूसों और भ्रष्टाचारियों का बोलबाला था। व्यापारी मुनाफा कमाने में जुटे थे। चारों ओर सामाजिक अभाव असन्तोष था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में रूसो आया। उसके विचारों में युग के इन सारे अन्तर्विरोधों तथा विरोधाभासों (Paradoxes) का चित्रण हो पाया। "१८वीं सदी के युग चेतना को मान्टेस्क्यू के स्पष्ट पर्यालोचन तथा संतुलित तर्क के बजाय रूसो की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना तथा संदिग्ध

विवेचना अधिक आकर्षक और विश्वासनीय मालूम होती थी।''* यह भी एक युग-विडम्बना थी।

मानव-प्रकृति तथा प्राकृतिक अवस्था :

अतीत के पृष्ठों पर किसी समय मनुष्य की जीवनगाथा लिखी गई होगी। इतिहास में उसका प्रमाण नहीं लेकिन कल्पना द्वारा उसका आभास मिल सकता है। मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति सृष्टि की उत्पत्ति के समय से कैसी बनी यह भी विचारणीय प्रश्न है। हाब्स ने व्यक्ति को स्वभाव से दानव-तुल्य तथा दुष्ट-प्रकृति माना। लांक ने मनुष्य को उदार, सदाशयता से प्रेरित, सद्वृत्ति का पुञ्ज मान लिया। रूसो राज्य के पूर्व मनुष्य की स्थिति का निरूपण करने में लॉक का आधार लेता है। मनुष्य स्वभावतः भोला (Simpleton) है। उसे किसी बात की चिन्ता नहीं, जीवनयापन प्रकृति की विश्रामदायिनी गोद में होता रहता है। सर्वत्र विचरण करते-करते शिकार, कन्दमूल आदि उसे मिल जाते हैं। विवाह, वस्त्र, घर, सम्पत्ति, भाषा आदि की कोई समस्या न थी। मनुष्य बुद्धि या तर्क विवेक के बजाय भावनाओं से (Instinct, Impulse, Feelings) संचालित था। भावों की तीव्रता से जीवन-सुरक्षा तथा सुख-प्राप्ति की ओर लोग निस्संकोच बढ़ते। करुणा की भावना से अभिभूत होकर दुःखों या पीड़ाओं से द्रवित हो जाते। व्यापक स्वतन्त्रता तथा समानता का साम्राज्य सर्वत्र फैला था. अनुभूति या भावना के बल पर। चिन्ता रहित, संतुष्ट, सुख-शान्ति-प्रिय, परोपकारी, जनसेवी, आत्म-निर्भर मनुष्य सृष्टि या प्रकृति के पोषक, सक्रिय गुणों का प्रतीक था। अन्य अनुबन्धवादियों यथा हाब्स, लॉक, ग्रोशस आदि ने बुद्धि की स्फूर्ति से ही प्राकृतिक विधि, दशा अनुबन्ध तथा समाज आदि की कल्पना की है। उनके विपरीत रूसो मनुष्य को केवल भावना-संचालित प्रगतिशील प्राणी मानता रहा। विशुद्ध प्राकृतिक अवस्था में स्वच्छन्द विहार करनेवाला मनुष्य उदार तथा महान् था। उसे जङ्गली कहना आसान था क्योंकि वह पहाड़-जङ्गलों में ही अधिवास करता। लेकिन जङ्गली होते हुए भी वह सज्जन तथा नेक था। लॉक ने मनुष्य की प्रारम्भिक दशा में सम्पूर्ण नैतिकता की, जो बाद की वस्तु है, कल्पना की थी।

---

*"His fancies, fallacies and quibbles often appealed more strongly than the sober observation and balanced reasoning of Montesquie to the zeitgeist of the later 18th Century".

—W. A. Dunning.

रूसो ने इसे स्वीकार नहीं किया और यह माना कि न्याय-अन्याय, सत्य असत्य, उचित-अनुचित के द्वन्द्व में प्राकृतिक मनुष्य को पड़ने का न अवकाश था, न स्वभाव। यह मनुष्य हाब्स द्वारा समर्थित अहं-प्रेरणा से परे था। लॉक द्वारा प्रशंसित नैतिकता की गुण-सूची से अपरिचित था, वह तो अपूर्व आनन्द वादी तथा परमप्रसन्न जीव था जिसे न कर्तव्य-बोध था, न बन्धन। उसकी भौतिक इच्छायें अनायास ही प्राकृतिक सम्पन्नता से पूर्ण हो जाती थीं। इन मनुष्यों का जीवन निश्चय ही प्रकृति की सर्वोत्तम कृति के रूप में अनुकरणीय था।

प्राकृतिक अवस्था, रूसो के अनुसार, भय चिन्ता से मुक्त थी। उसे युद्धरत दशा या अनैतिक शैतानी हालत मान लेना भ्रान्ति है। वस्तुएं सर्वसुलभ थीं और स्पर्धा का नाम न था, इसलिये युद्ध तो असंभव थे। सामाजिकता अथवा यूथ-वृत्ति मनुष्य में भावनाप्रधानता के कारण थी। अच्छे-भले वनचारियों के कारण यह प्राकृतिक अवस्था अवश्य ही सुखद तथा उत्कृष्ट रही होगी। रूसो ने अपने पुरस्कृत निबन्ध में यह कल्पना की कि समाज की आदिकालीन अवस्था श्लाघ्य, स्वर्णिम तथा वास्तविक समानता (Substantial Equality) पर आधारित थी। कला-विज्ञान, आविष्कार तथा वर्तमान सभ्यता के उपकरणों ने उस अवस्था को धूमिल तथा धूसरित कर दिया। 'विषमता की उत्पत्ति' शीर्षक ग्रन्थ में उसने मनुष्य की उत्पत्ति का इतिहास लिखते हुए अवनति की दुःखद गाथा भी बताई। परिव्राजक की तरह स्वच्छन्द निर्द्वन्द्व घूमनेवाले वनचारी ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार सहज स्नेहवश या अस्थायी आवास की तरह जमाया। धीरे-धीरे उसका स्थायी आवास वहाँ बन गया, आनेवाली सन्तानों तथा परिवार-सदस्यों के लिये एक सुनिश्चित आश्रम तथा विश्राम स्थल।* दूसरे सदस्यों ने, जो सहज बुद्धि से प्रेरित निष्कलंक निरहंकार निश्छल प्राणी थे, व्यक्तिविशेष के इस अधिकार को निस्संकोच मान लिया क्योंकि वादविवाद, आपत्ति या विरोध उनकी प्रकृति से परे थे। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह प्रक्रिया बढ़ती गई और हरी घास के नीचे सम्पत्ति का सर्प विचरने लगा। उसी दिन से विषमता का जन्म हुआ। मेरा और तेरा (Meum and Teum) यह विभेद पैदा

---

*मनुष्य की जमीन के साथ आसक्ति आदिम-युग से रही है। इसीलिये वेदों में "माता भूमिः, पुत्रोऽहं पृथिव्याः" इस सूक्ति की जनप्रिय कल्पना की गई है। रूसो का वनचारी भी प्रकृति-परिव्राजक से धरतीपुत्र बन गया।

हुआ और बढ़ता ही गया। सम्पत्ति, उत्पादन के औजार तथा नये आविष्कार, भौगोलिक परिस्थिति की विभिन्नता, शारीरिक क्षमता स्वामित्व आदि कारणों से मनुष्यों के गिरोह बनने लगे। घर, कुटुम्ब, कबीले, सम्पत्ति, इन सबसे प्राकृतिक समानता का अन्त हो गया। एक विकृति-सी सारी दशा पर छा गई और उस दिन से मनुष्य सहज आराम या सुख-शान्ति से हाथ धो बैठा। इतने पर भी यह दशा सभ्य-समाज से तो अच्छी ही थी क्योंकि मनुष्य में आत्म-संतोष की झलक दिखाई देती थी। मनुष्य अराजनीति भले रहा हो पर असामाजिक नहीं था और इसीलिये उसने अपनी भावना को भ्रष्ट नहीं होने दिया। लेकिन अधिक दिन तक यह स्थिति न रह सकी। आकस्मिक संयोगवश एक दिन सभ्य-समाज के संस्थापक का बिगुल बज उठा और सर्वत्र एक-सी प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का तूर्य बज उठने पर मध्यवर्ती प्राकृतिक दशा का अन्त होकर तथाकथित सभ्यवर्गीय सभ्यता का जन्म हो गया।

कृषि का आविष्कार महत्वपूर्ण किन्तु आकस्मिक घातक घटना (Fatal Chance) थी। उसने व्यक्ति की धारणाओं में आमूल परिवर्तन कर दिया। सभ्यसमाज का संस्थापक महानुभाव कौन था इसका कोई न ऐतिहासिक प्रमाण है न कोई पुष्टि। रूसो ने अपने ग्रन्थ में यह लिखा कि सर्वप्रथम जिस व्यक्ति ने भूमि के टुकड़े को घेरकर दूसरों को अज्ञानतावश अपना स्वामित्व मानने के लिए बाध्य किया वही मनुष्य सभ्यसमाज का संस्थापक है। फिर तो संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, षडयन्त्र, दमन, अत्याचार, अपराध सबकी सृष्टि हुई। जीवन कलुषित हो उठा। पाशविक बल का नग्न ताण्डव होने लगा। अराजक स्थिति पैदा हो गई। लोगों ने सोचना-विचारना, गूढ़ मंत्रणा करना शुरू कर दिया। विवेक मनुष्य के पास क्या आया, वह विवेकभ्रष्ट हो चला। फिर उसका शतशः विनिपात या पतन हुआ। श्रद्धा, विश्वास, सहजबोध की जगह शंका, तर्क, कल्पना तथा बौद्धिक दुरूहता पैदा हो गयी। समय के फेर से धनिकों ने समाज पर एकाधिपत्य जमाया और निर्धनों पर मनमाना अत्याचार किया। हत्या, खूनखराबी, शोषण, भुखमरी, गरीबी से समाज जर्जरित तथा खोखला हो गया। इस भयानक पतन के चित्रण में तत्कालीन फ्रांस की विघटित, विशृङ्खलित दशा तथा स्वानुभूत घटनाचक्र का आभास मिलता है। धार्मिक शिक्षा के कारण रूसो यह मानकर चलता है कि स्वर्ग से बहिष्कृत आदम और उसकी संतान पार्थिव नरक में असंख्य यातनाओं से पीड़ित होकर छटपटाते रहते हैं। इस नारकीय यंत्रणा से मुक्त होने के लिये ही अनुबन्ध का

सहारा लेकर राज्य की स्थापना की गई। इस चित्रण की स्वाभाविक प्रतिक्रिया तो यह हुई कि दलित-शोषित वर्गों में अपनी हीनावस्था के प्रति क्षोभ हुआ तथा अत्याचारियों के प्रति घृणा, अमर्षपूर्ण संघातिक घृणा पैदा हुई। अपने शिक्षाग्रन्थ 'एमिल' में रूसो ने इसी आधार पर यह बताया कि ईश्वरकृत मनुष्य पवित्र होते हुये भी सभ्य समाज के चक्कर में फँसकर पापी हो जाता है। सामाजिक अनुबन्ध (The Social Contract) नामक ग्रंथ में रूसो ने प्रारम्भ ही में यह घोषित किया है कि मनुष्य स्वतन्त्रचेता होकर पैदा हुआ लेकिन बाद में दासत्व की जन्जीरों से वेष्टित हो गया। रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के इस तरह कुल तीन प्रकार माने हैं। सबसे पहले आदिम प्राकृतिक दशा जब मनुष्य निपट जंगली था। फिर मध्यवर्ती प्राकृतिक दशा जब असमानता का प्रारम्भ और अविष्कार आदि से संचयन वृत्ति बढ़ गई। अन्त में दमन-अत्याचारपूर्ण, चौर वृत्ति की पोषिका अन्तिम अवस्था, जो असह्य थी। इस तरह मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर (From bad to Worse and Still Worse) थी। इस कुचक्र को रोकने के लिये ही सामाजिक अनुबन्ध को अवधारणा हुई। इसी समय उसने प्रकृति की ओर वापिस (Back to Nature) चलने का नारा दिया। इसका यह अभिप्राय नहीं कि रूसो सुधारवादी, पुरातनपंथी या पुनर्जागरण (Revivalism) का समर्थक था। वह यह तो मानता था कि समाज में आगे बढ़े हुये रथ को पीछे लौटना सम्भव नहीं। किन्तु वह प्रकृति सुलभ सौन्दर्य, सरलता, सहानुभूति का अनन्य उपासक था। 'विवेक तथा तार्किक बुद्धि को वह प्रकृति प्रतिकूल मानता है।' † प्राकृतिक दशा के सम्बन्ध में रूसो ने यह दावा नहीं किया कि निश्चित ही कभी किसी जगह वैसी दशा रही होगी। अनुमान से वह उस दशा की कल्पना करता है। इन विचारों में आगे चलकर वह संशोधन-परिवर्तन करता है जिसके कारण कई असंगतियाँ पैदा हो जाती हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि रूसो अपने आपको

---

*"Man is born free but everywhere he is in chains"
—Social Contract

†"Reason and Nature and antithetic and incompatible with each other". (W. A. Dunning) The State of reflection is contrary to nature; "the man who mediates is a depraved animal".

पक्षपात या पूर्वाग्रह के बजाय विरोधभास का प्रेमी बताता है।* अपनी समस्या का उल्लेख करते हुये रूसो ने कहा कि वह स्वतन्त्रता तथा सुव्यवस्था का समन्वय ढूँढ़ना चाहता था जिससे सामूहिक या समष्टिगत व्यक्तित्व को यथार्थ रूप से इच्छानुकूल अभिव्यक्ति मिले। किन्तु इसका समाधान निकालने में यह सैद्धान्तिक हठवादी हो गया जो जीवन की विभिन्न जटिलताओं से अनभिज्ञ तथा कार्य-सम्पादन में असमर्थ होने के कारण सादगी का बाना ताने था।

सामाजिक अनुबन्ध तथा राज्य स्थापना :

प्राकृतिक दशा बिगड़ने पर सब लोगों ने मिल कर इलाज निकालना चाहा। परम्परागत अनुबन्ध की कल्पना की गई और प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ समझौता किया। स्पष्ट असंदिग्ध भाव से व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष प्रणाली के द्वारा सबके सामने प्रस्ताव रखा कि हममें से हर व्यक्ति अपना जीवन, साधन, संबल सब कुछ एकत्रित करके सामान्य सदिच्छा (General Will) के सर्वोत्कृष्ट नेतृत्व में रख कर हर एक को इस श्रेष्ठ सम्पूर्ण भाग का अविभाज्य अङ्ग माने।

इसका मतलब यह हुआ कि क, ख, ग, घ अलग-अलग व्यक्ति दृढ़-निश्चय के साथ सभा में आये और सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि वे अपना सर्वस्व-समर्पण एक ऐसी आदर्श तथा सर्वमान्य संस्था को कर दें जो क+ख+ग+घ है अर्थात प्रत्येक से सम्पृक्त है। यह आदर्श संस्था सबका केवल योग या एकीकरण नहीं है बल्कि उससे कहीं ऊपर की वस्तु है। पृथक् व्यक्तित्व तथा सामूहिक अस्तित्व का अद्भुत समन्वय इस प्रक्रिया से हुआ। इस व्यवस्था से प्रत्येक आश्वस्त था क्योंकि वह सुरक्षित तथा सुविधा-पूर्ण था। यह संचित भावराशि विभिन्न तत्वों के संघात से रासायनिक प्रभाव द्वारा नये गुण-रूप-गन्ध-स्पर्श वाली वस्तु बन गई, उसका अलग व्यक्तित्व भी बन गया। वेदान्त की भाषा में इसे आसानी से इस तरह समझाया जाता है कि समष्टि एक पूर्णता की द्योतक है; व्यक्ति भी अपने आप पूर्ण है, दोनों का आदान-प्रदान इस प्रकार होता है कि पूर्णत्व अपने आप बना रहता है। इस तरह के अनुबन्ध का परिणाम यह हुआ कि साँप (विकृत स्थिति की विघ्न-बाधा) मर गया और लाठी भी बनी रही। सामान्य सदिच्छा (General will) का

---

*"I like better to be a man of paradoxes than to be a man of prejudices."
— Raussau

शुभ्र आलोक सारे समाज में फैला और राज्य-कलश उससे जगमगा उठा। अनुबन्ध के फलस्वरूप ही राजनैतिक समाज या राज्य की स्थापना रूसो मानता है। इस नये अविष्कार से हर व्यक्ति प्रफुल्लित है और अधिक आत्म-परितोष विश्वास तथा सुरक्षा के साथ मानकर चलता है। चूंकि प्रत्येक ने सबके सामने सर्वस्व समर्पण किया है इसलिये किसी ने किसी को कुछ नहीं दिया है और चूंकि जैसा अधिकार समर्पण हुआ वैसा हरएक को प्राप्त भी हुआ इसलिये जो कुछ दिया गया उससे कहीं ज्यादा अधिक सुरक्षा तथा सुदृढ़ता से लाभ भी हुआ। वास्तविक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यह नियम दुर्भेद्य कवच था। यहाँ वहाँ बिखरे हुए असंख्य लोग (Multitudes किसी अज्ञात चुम्बकीय आर्कषण से खिचकर सामूहिक एकता के चिरस्थायी प्रतीक बन गये। जागरूक जनसमाज तब से राजनैतिक प्रबुद्ध समाज (Bodypolitic) बन गया। समर्पण, आत्मीकरण तथा उन्नयन की इस रोमांचकारी प्रक्रिया में सृष्टि का रहस्यमय तत्व उद्घाटित होता है। यह सामान्य इच्छा ही सर्वोच्च है, संप्रभुता से वेष्टित है, शक्ति-संतुलन-समादर का पुनीत प्रतिष्ठान है।

अनुबन्ध की इस कल्पना में रूसो ने हाब्स तथा लॉक के विचारों का आधार लेकर उनका खण्डन भी किया है। हाब्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता का समर्पण करता है, दीर्घकाय के चरणों पर फिर निराधार, विवस्त्र होकर दीर्घकाय का आजन्म दास बना रहता है। इस तरह का आत्मसमर्पण कायरता ही नहीं आत्मघात है, दासता है, जीवित मौत है। ऐसा अनुबन्ध न्यायसंगत तो है ही नहीं, असम्भव भी है। जहर का पौधा लगाकर व्यक्ति उसे स्वयं नहीं काटता। फिर तो अपना खुद का गला काटना कैसे संभव था ? इस प्रकार का समर्पण तो केवल प्रमादी या विक्षिप्त पागल ही कर सकता था जिसके द्वारा राज्य स्थापना हास्यास्पद है। इतना अवश्य है कि हाब्स के प्रत्यक्ष समर्पण का सिद्धान्त मानकर रूसो ने प्रत्यक्ष जनतंत्र की कल्पना की और उसका राज्य हाब्स के निरंकुश राजसत्ताधारी राज्य की तरह नहीं बल्कि सर्वप्रिय जनसत्ताधारी राज्य था। ऐसे राज्य में नागरिक सामूहिक नैतिक सदिच्छा में अपना ही विचारों, संकल्पों की झलक पाते हैं। ऐसे ही श्रेष्ठ राज्य में आदर्श प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है। व्यक्ति के लिये यह चरम साधना का फल अनायास ही उपलब्ध हो गया है।

अपने अनुबन्ध में लॉक के प्रतिनिधि-सिद्धान्त का विरोध करते हुए रूसो निर्वाचन प्रणाली के दोष बतलाता है। उनके अनुसार ब्रिटेन की जनता केवल

निर्वाचन के समय स्वतंत्र होती और सामान्यकाल में फिर पदारूढ़ दल की दासता में बँध जाती थी। प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था में अपनी सुरक्षा, स्वतंत्रता आदि के लिये परमुखापेक्षी होना पड़ता है और फिर प्रतिनिधि भी असंख्य कमजोरियों या बुराइयों का बन्डल है सामन्तवाद की यह घृणित प्रथा व्यक्ति का दम घोटती है। इसलिये जिनेवा के प्रत्यक्ष जनतन्त्र से प्रेरित, यूनानी-रोमन प्रत्यक्ष शासन का प्रशंसक, रूसो सभ्य समाज की प्रतिनिधि-सभा या विधान सभा का विरोध करता है। दूसरे लॉक ने व्यक्ति को विवेकवान्, नैतिक, सद्वृत्तिशील माना है और इसलिये राज्य के कर्तव्य में से नैतिकता, शिक्षा आदि को वह अलग रखता है। व्यक्तिवाद की युगानुकूल विचारधारा से प्रेरित लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति पर सर्वाधिक जोर लगाया और राज्य को नीचे पटक दिया। किन्तु रूसो ने इसका तीव्र खण्डन किया क्योंकि यह मूर्खनीति (Penny wise and Pound foolish) थी। यूनानी राजदर्शन से प्रभावित रूसो ने राज्य की अनिवार्य सत्ता पर आस्था प्रकट की और कहा कि राज्य के बिना व्यक्तित्व का विकास, समाज की प्रगति, न्याय-वितरण आदि असम्भव हैं। नागरिक कर्तव्य-ज्ञान, नैतिकता, आत्मोन्नति आदि बातें राज्य के माध्यम से ही हो सकती थीं। इस प्रकार व्यक्तिवाद का निराकरण करते हुए रूसो ने सर्वजन-भोग्य राज्य की उपयुक्त व्यवस्था दी। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मार्ले के शब्दों यह कहा जा सकता है कि हाब्स के मूलाधार तथा लॉक के निष्कर्षों का कुतूहलवर्धक मिश्रण रूसो ने प्रस्तुत किया। हाब्स से वास्तविक संप्रभुता की कल्पना लेकर रूसो ने उसे लॉक द्वारा प्रतिपादित शक्ति के मौलिक स्रोत से समन्वित करके सार्वभौम जनता की विशाल मूर्ति गढ़ डाली।

अनुबन्ध द्वारा निर्मित राज्य राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित चमत्कार है। इसमें व्यक्तियों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध तो है ही, राज्य की सत्ता भी आदर्श रूप है ऐसा राज्य ही अनुबन्ध का अभीष्ट था जो व्यक्ति को आदर्शोन्मुख करके प्रगतिशील बनावे—परम्परागत पतन के गर्त से उबार कर सही रास्ते ले चले। इसके लिये रूसो ने राजनीतिक समाज की सावयव कल्पना की और मनुष्य शरीर की अवयवी वास्तविकता से उसकी तुलना की। शरीर के विभिन्न अंगों की तरह राज्य का कार्य भी नियमानुसार चलता हैं। विधि-निर्माण वाला अंग शरीर के शीर्षस्थान के समान है। कार्यकारिणी, न्यायपालिका बाहु तथा मस्तिष्क की भाँति हैं। कृषि-उद्योग-वाणिज्य पेट की तरह

हैं। राजस्व या कर रक्त-संचार की तरह है। इस प्रकार की तुलना में सामाजिक अनुबन्ध का सामाजिक अवयववाद के साथ समन्वय कर दिया गया और अनुबन्धजनित अवयववाद की स्थापना की गई। * रूसो का राज्य जनप्रिय तथा सत्ताधारी है। हाब्स की राज्य निरंकुश, नश्वर, दीर्घकाय द्वारा संचालित था। लॉक का राज्य संरक्षक या सेवक की भाँति सरबराकार (प्रन्यास से नियुक्ति) की तरह था। इसके विपरीत रूसो का राज्य सावयव था जिसका सुव्यवस्थित संचालन विभिन्न अंगों के स्वास्थ्य तथा सुगठन पर निर्भर था। दूसरी ओर विभिन्न अंग भी केवल राज्य द्वारा पोषित होकर स्वास्थ्यप्रद बने रह सकते थे। संगठन यह यंत्र 'सबके लिये एक और एक के लिये सब' (One for all and all for one) की तरह दृढ़ था और इसके राज्य अपने नागरिकों के लिये सजग, सतर्क, सचेष्ट रह कर काम करता था। दूसरी विशेषता राज्य की यह थी कि सामान्य इच्छा के माध्यम से सत्य, जन कल्याण तथा सामूहिक विकास की अभिव्यक्ति होती है। सावयविक एकता का प्रतीक यह सामूहिक इच्छा ही थी। इसके अनुसार व्यक्ति अपना हित राज्य-हित में निहित तथा सुरक्षित समझता। यदि कोई भ्रमवश या धृष्टता के कारण राज्यादेश या सामूहिक इच्छा का अनादर करता है तो उसे बाध्य किया जा सकता है वैसा न करने के लिये। राज्य की बहुमुखी शक्ति अपने अविभाज्य अंग (व्यक्ति) की अवहेलना नहीं कर सकती। जिस तरह काँटा गड़ने या घाव हो जाने पर अंग विशेष या शरीर में पीड़ा होने पर भी उपचार किया जाता है और रोग निर्मूल कर दिया जाता है (क्योंकि आँख की छोटी किर-किरी भी दुःखदायी है) उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति राज्य की स्वतन्त्र सावयविक चेतना के विरुद्ध जाकर कार्य करता है और दासत्व का उपक्रम करता है तो उसे ऐसा नहीं करने दिया जायेगा। उसका इलाज अवश्य किया जायगा। राज्य उसे सामूहिक इच्छा के सामने नतमस्तक करके स्वतन्त्र होने को बाध्य करेगा। स्वतन्त्रता का यह विरोधाभास (Paradox of being forced to be free) केवल इसलिये है कि नागरिक का दासत्व कभी भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता राज्य हित में।

---

* मोशियो फोली (M. Fouillee) ने Contractual Organism के द्वारा समाज को परस्पर-आश्रित सदस्यों का संघ बताया जिनके सम्बन्ध आंशिक रूप से जन्म, परिस्थिति और आंशिक रूप में स्वयंस्फूर्त अनुबन्ध द्वारा निश्चित होते हैं।

रूसो का राज्य प्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि उस राज्य की आत्मा 'सामान्य इच्छा' स्वभावतः जनवादी है। यह आदर्श राज्य है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर सकता है और दासत्व-पाशों को विगलित कर देता है। रूसो सामाचार पत्रों, राजनीतिक दलों, व्यवसायी संघों का विरोधी था क्योंकि ये सब मनुष्य को भूल-भूलैया तथा प्रवंचना में छोड़ देते हैं। इनके विपरीत सामान्य शिक्षा की व्यवस्था राज्य का पवित्र धर्म है। कृत्रिम संघों तथा दलों में शरीक होने से नागरिक आस्था विभक्त हो जाती है और राज्य की सावयविक एकता खण्डित होती है। राज्य और नागरिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध में बंधे रहें और इनके बीच कोई दीवार न हो यह रूसो की मंशा थी। यदि दल या संघ हों तो उनका अस्तित्व तथा प्रभाव नगण्य हो अर्थात् संख्या में वे अधिक हों लेकिन राजनीतिक जीवन में उनका असर न हो। सरकार का संचालन चाहे जितने व्यक्तियों द्वारा हो; राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र (अल्पतन्त्र) या जनतन्त्र, सरकार का मेरुदन्ड तो जनशक्ति ही है जो सामान्य इच्छा आदर्श समष्टिगत पूर्णता (As a Corporate Whole) के रूप में प्रकट होती है। प्रतिनिधि व्यवस्था के विरोधी होने के कारण रूसो प्रत्यक्ष जनवाद का हामी है। राज्य में कार्यपालिका चाहिये ताकि निश्चयों का क्रियान्वय हो सके। यही सरकार है जो नागरिकों के सामने उत्तरदायी है। इसके स्वरूप से रूसो को कोई मतलब नहीं क्योंकि यह गौण है, प्रधान तो सामान्य इच्छा है। सच्ची स्वतन्त्रता या अनुशासन अपने बनाये हुए नियमों का पालन करने तथा आत्म-शासन करने में है। इसलिये राज्य के नागरिक, रूसो के अनुसार, अपनी ही इच्छा के विशुद्ध परिष्कृति रूप का पालन करते हैं। प्रत्यक्ष जनवाद के खतरों से परिचित होने से रूसो सतर्कता तथा शिक्षा को अनिवार्य गुण मानता है। उसने नागरिकों के लिये जो आदर्शमंत्र दिया वह यह कि 'प्रत्येक शान्तिपूर्ण दासता या गुलामी से बाधा-कण्टकमय खतरनाक स्वतन्त्रता को वरण करे।' नागरिकों को यह आदर्शवादी उद्बोधन देते समय हमें देशमान्य सुभाष बाबू का स्मरण आता है जिन्होंने कोहिमा-इम्फाल के मैदान में आग बढ़नेवाली 'आजाद हिन्द सेना' को यह मूल मंत्र दिया कि 'आजादी की घास गुलामी की रोटी से हजार दर्जे बेहतर है।'

राज्य-कल्पना में रूसो स्पार्टा को सुगठित राजसंघ (Solid, Political Phalanx) मानता था। रोम उसके लिये स्वतन्त्र नागरिकों का नमूना था। कालविन का जिनेवा धर्म प्रधान स्पार्टा था। किन्तु इनके आभिजात्यतंत्रीय रूप

को पृथक् कर रूसो ने जनवादी गणतन्त्र की स्थापना की। उसका राज्य एक-से ढांचे में बना है (Stereotyped) जिसमें सबको एक-सा मापदण्ड मानकर चलना पड़ता है। उस मापदण्ड का विरोध करने से पतन अवश्यम्भावी था।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त :

सामाजिक अनुबन्ध द्वारा जिस राजनीतिक समाज का अस्तित्व बना उसमें सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों की अन्तरात्मा (Self या Moi) से निर्मित शक्ति है जिसका विवेचन रूसो ने विस्तारपूर्वक किया है। सामान्य इच्छा के सिद्धान्तों का आगे चलकर बहुत खण्डन-मण्डन हुआ। जर्मनी के आदर्शवादियों में काण्ट, हेगल, फिक्टे, हम्बोल्ट, नीत्से आदि ने अपने देश के अनुकूल निष्कर्ष निकाले जो अधिनायकवाद का समर्थन करते हैं। इंगलैंड के आदर्शवादियों में टी० एच० ग्रीन०, बोसान्के, ब्रेडले आदि ने सामान्य इच्छा के आधार पर ही यह निरूपित किया कि शक्ति के बजाय इच्छा ही राज्य का आधार है। (Will, not force, is the basis of the state)। अनुबन्धवाद के शब्दों में आदर्शवादी अर्थ भरकर रूसो ने इस समान इच्छा के सिद्धान्त को दुरूह तथा आन्तरिक विरोधाभासी बना दिया है। किन्तु पूरे आदर्शवाद की सबसे बड़ी देन रूसो की ही है। अनुबन्धजात राजनीतिक जन-समूह के व्यक्तिगत इच्छाओं का सामूहिक रूप है। इच्छा का आधार स्वार्थ या अनुराग है। व्यक्ति हमेशा अपने स्वार्थ या अनुराग के अनुकूल ही इच्छा करता है। सामान्य इच्छा के बिना समाज या राज्य की कल्पना आदर्शहीन तथा अव्यवहारिक होगी। सामान्य इच्छा का कार्य ही 'विधि' का रूप (Law या Loi) ग्रहण कर सकता है।

इच्छाप्रधान मनुष्य की भावनाएँ दो तरह से प्रेरित होती हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि दो प्रकार की इच्छाएँ मनुष्य के भावजगत् में शासन करती हैं। एक तो उत्तेजक इच्छा(Actual will) जो भावनाप्रधान है। और दूसरी यथार्थ इच्छा (Real Will) जो सुसंस्कृत है। इन दोनों का भिन्न-भिन्न रूप-गुण है। उत्तेजक इच्छा क्षणिक, संकुचित, आत्मपरक, तुच्छ, खण्डित, विवेकहीन, मांसल संघर्षमूलक, अशिष्ट, भ्रान्त तथा आत्मविरोधिनी है। इसमें मैं और तुम का ही नहीं बल्कि 'मैं' और 'मुझसे अच्छा' इनका भी तीव्र संघर्ष चलता है, जो संकीर्ण स्वार्थ और आत्मविनाश की ओर ले जाता है। इस इच्छा के चलते समाज में अराजकता या भयावह स्थिति

पैदा होती है। लेकिन इसके विपरीत प्रत्येक मनुष्य में एक दूसरी इच्छा भी है जो विवेकशील, स्थायी, कल्याणकारक, पूर्ण सुसंगठित तथा स्वार्थहीन है। बुद्धि-विवेक सम्भावना पर आश्रित या यथार्थ इच्छा है जो जन सामान्य का हित चिन्तन करती है और सदैव व्यक्ति, समाज दोनों का उपकार करती है। सरांश में इच्छा के दो पक्ष हैं, एक काला, कुरूप तथा कालिमामय, दूसरा उजला, निखरा, आलोकमय। इस दूसरे पक्ष के कारण ही मनुष्य में सद्विवेक या मानवता का अधिवास है। व्यक्तियों की इस यथार्थ इच्छा का सामूहिक रूप में सङ्गठन करके समन्वयात्मक ढङ्ग से उसे संवारना सामान्य इच्छा का काम है। सामान्य इच्छा (General will या Volonte generale) समाज के समष्टिगत पक्ष को प्रतीक बनकर समान्य कल्याण की सर्वविदित अवचेतना (Common Consciousness of the Common good) कहलाती है। एक तरह से यह यथार्थ इच्छाओं का संगठन, समन्वय या एकीकरण है। लेकिन एक भ्रान्ति का निवारण जरूरी है। यह समझना गलत होगा कि सब की यथार्थ इच्छाओं का योग मात्र ही सामान्य इच्छा है। इसी प्रकार बहुमत को भी सामान्य इच्छा मान बैठना उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि सामान्य इच्छा समष्टि के अनुरागों या हितों का सामान्य चिन्तन करती हैं और केवल सामान्य लोगों द्वारा नहीं निश्चित होती। सामान्य इच्छा, बहुमत की सामान्य इच्छा से इस दिशा में पूर्णतया भिन्न है कि बहुमत की इच्छा सामूहिक स्वार्थों का षडयन्त्रमात्र हो सकती है। किसी गांव के सब व्यक्ति संगठित होकर यह इच्छा करें कि उन्हें धन प्राप्त करना है, और इसके लिये सर्वसम्मति से सामूहिक रूप में डाका डालने की योजना बना डालें तो यह समान्य इच्छा नहीं है क्योंकि यह नैतिक पतन की द्योतक है उसी तरह पाठशाला के सब विद्यार्थी नुमाइशी गाड़ी देखने या खेल के बहाने कक्षा से गोल होने (Play Truant) का एकस्वर से अभिप्राय व्यक्त करें तो यह सामान्य इच्छा नहीं है क्योंकि यह अन्ततोगत्वा छात्रों के लिये अहितकारी है इसी प्रकार सब की इच्छा (Will of all या Volonte de tous) भी केवल इच्छाविकृति हो सकती है। इस तरह रूसो ने राजनीतिक समाज की साधारण तथा 'एकमेव द्वितीयोनास्ति' की तरह एकमात्र इच्छा (Simple and Single Volition) को निष्क्रिय या निस्तेज नहीं बल्कि प्राणवान्, सक्रिय, शक्तिमान् तथा जागृत सवस्थिति की तरह बतलाया है। सब का केवल इकट्ठा किया हुआ ढेर नहीं बल्कि सबको (Carporate Whole) उदात्त भावना का सारभूत तत्व ही सामान्य इच्छा का पर्याय है।

यह सामान्य इच्छा ही संप्रभुता की धात्री है और इसका स्वरूप सर्वभौम तथा सार्वजनीन है। यह सामान्य इच्छा अदेय, अविभाज्य, स्थायी, कल्याणकारी शाश्वत, प्रेरक, निरपेक्ष, नैतिक तथा मधुर है। बुद्धि-विवेक से निःसृत यह इच्छा प्रतिकूलताओं से परे, विरोधों से मुक्त होने के कारण एकता की सुदृढ़ नींव रखती है। मनुष्य की कल्याण-कामना शाश्वत वृत्ति है और सामान्य इच्छा उसकी अभिव्यक्ति है। एक तरह की अखण्डता या नैरन्तर्य इस सामान्य इच्छा में है। स्थायी होने के कारण यह समाज-रचना राज्य व्यवस्था तथा संस्थाओं को स्थिरता प्रदान करती है। जनसमूह के भावोद्रेक या राजनीतिज्ञों की सनक में नहीं बल्कि जनता की नैतिक बल में इस सामान्य इच्छा का आवास ढूंढ़ना चाहिये। * इसलिये प्रेरित होकर रूसो ने जनता की आवाज को परमात्मा की आवाज माना ("Vox Populi vox dei-voice of the people is the voice of God")। यह सामान्य इच्छा हमेशा उचित रहती (Always right will) है क्योंकि नैतिकता पर आश्रित है। किसी घटना या अवसरविशेष पर निर्णय का व्यतिक्रम भले हो जावे लेकिन नैतिक पतन इसमें असम्भव है।† जिस प्रकार व्यक्ति अपना जीवन दूसरे को दे नहीं सकता उसी तरह संप्रभु भी अदेय है। दूसरे इसका प्रतिनिधित्व भी नहीं किया जा सकता और इसलिये प्रत्यक्ष जनतन्त्र की श्रेष्ठता स्थापित होती है। चूंकि प्रत्यक्ष जनतन्त्र बड़े राज्यों में सम्भव नहीं है इसलिये रूसो दस हजार नागरिकों के समाज को राज्य के लिये आदर्श मानता हैं। इसमें इसका तर्क यह है कि राज्य बड़ा होने से स्वतन्त्रता कम हो जाती है। दस हजार लोगों में प्रत्येक संप्रभु है और दस हजार के एक हिस्से का अधिकारी है। किन्तु एक लाख का समूह होने पर एक व्यक्ति को एक लाख में से केवल एक भाग आता है इसलिये उस परिणाम में स्वतन्त्रता कम होती है।

सामान्य इच्छा के बल पर जो निष्कर्ष या परिणाम निकाले गये हैं वे भी उल्लेखनीय हैं। सब से पहले यह प्रत्यक्ष ध्वनित होता है कि राजनीतिक समाज या राज्य संगठित शरीर रचना की तरह सावयव है। दूसरे यह सावयव राज्य

---

*" It should be locked for directly neither in the tempest of popular feeling nort in vagaries of statesmen but in character of the people." —Dr. E Asirvatham

†" It may make errors of judgment but cannot morally vicious."

नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित है, चैतन्य तथा कल्याणकारी है। सब की सुरक्षा तथा हित-साधना सामान्य इच्छा में ही है। विधियों का स्रोत भी यही है। प्रत्येक व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत है, उससे बाहर नहीं, इसलिये उसके कार्यों पर इसका नियंत्रण स्पष्ट है। सबसे अधिक न्यायशील तथा उचित इच्छा का शासन (Rule of the Most Just and Most Right) इसके द्वारा चलता है। विराट्स्वरूप होने के कारण यह न्यायशील तथा कर्तव्य-परायण है। अन्त में यह सामान्य इच्छा निसर्गतः, लोक कल्याण की ओर अग्रसर होती है। इस विवेचन में सत्यांश है और सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक विज्ञान में स्थायी महत्व रखता है। इसके द्वारा राज्य के आदर्शों का स्वरूप निश्चित होता है और दिशाएँ स्पष्ट होती हैं। व्यक्तित्व का सहज प्रक्षेप आत्मोत्सर्ग की भावना, देशभक्ति, संगठन भावना तथा कार्य क्षमता की ओर प्रेरित करने वाली सामान्य इच्छा है। इस विषय पर ग्रीन, बोसान्के, हाबहाउस के विवाद बड़े दिलचस्प और ज्ञानवर्धक हैं।

सामान्य इच्छा की आलोचना :

रूसो का यह सिद्धान्त राजनीतिक वादविवाद में कई समय पड़ चुका है। रूसो के तर्क में न केवल त्रुटियाँ हैं बल्कि मूल आधार ही गलत हो गया है। इसमें अंकगणित की सहायता से स्वतन्त्रता का विभाजन करने और सामान्य इच्छा को एक लघुत्तम अंश सिद्ध करने की चेष्टा की गई है जो सर्वथा अनुपयुक्त है। वस्तु स्थिति यह है कि गणित की गणना से राजनीति के प्रश्न नहीं हल होते। रूसो की बात मानने का प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह निकला कि स्विस नागरिक जो प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का अनुभव करते हैं ब्रिटिश या भारतीय नागरिकों से सैकड़ों गुना अधिक आजाद या संप्रभु हैं। यह पूरी धारणा हास्यास्पद है। दूसरी बात यह है कि सामान्य इच्छा का विचार बड़ा संकीर्ण तथा अस्पष्ट है (Too Abstract and Narrow)। सामान्य लोक-कल्याण की बात भी इसी प्रकार अज्ञात या अज्ञेय है क्योंकि इस बहाने एक व्यक्ति भी अपनी इच्छा को लोक भावना का प्रतिबिम्ब मान सकता है। समष्टि-चेतना के फलस्वरूप समूहवाद (Collectivism) की स्थापना होती है जो आगे चलकर राज्य की निरंकुशता (State Absolutism) में बदल जाता है। राज्य की मशीन भी अपर्याप्त तथा त्रुटिपूर्ण है। व्यक्ति को बलात् स्वतंत्र करने की इच्छा से रूसो व्यक्ति-स्वातंत्र्य छीन लेता है और उसे सामान्य इच्छा का अनुकरण करने के नाम पर दास-तुल्य भी बना लेता है। इस कार्य से हाब्स से कम निरंकुश या व्यक्ति-

वादी वह नहीं हैं। इसलिये उसके सिद्धान्त को अन्तर्मुखी हाब्सवाद का विलोम (Inverted Hobbesism) भी कहते हैं जिसमें सामान्य इच्छा निरंकुश शासक की जगह ले लेती है। कुछ आलोचकों ने रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को सिरकटे दीर्घकाय की संज्ञा दी है जिसमें केवल राजा नहीं है बाकी विभीपिका पूरी तौर पर मौजूद है। (Rousseau's General Will is Hobbes' Leviathan with its Head Chopped off) रूसो को चित्रण में अतिरंजित व्यक्तिवाद, संप्रभु की भ्रान्त कल्पना तथा गणित की ठग-विद्या शामिल है। प्रतिनिधिमूलक सामान्य इच्छा न मानने के कारण रूसो राजनीति से अनभिज्ञता प्रकट करता है। वास्तव में आज विश्व के सभी प्रजातान्त्रिक देश प्रतिनिधिमूलक हैं और प्रतिनिधि संस्थायें महत्वपूर्ण हैं। शिक्षित जनमत तथा चैतन्य सर्वसहमति (Consciously Created Consensus) ही आज राजनीतिक में प्रधानता रखते हैं और इनका निर्णय विभिन्न रूपो से होता है। इसी तरह बहुमत की इच्छा और सामान्य इच्छा के सम्बन्ध में रूसो के विचार स्पष्ट नहीं हैं। व्यावहारिकता की दृष्टि से यह स्थिति खतरनाक है। कभी तो कहा जायगा कि बहुमत मानना होगा (Majority must be obeyed) और कभी यह आवाज आयेगी कि बहुमत मूर्ख है (Majority Consists of Fools) इसका मतलब यह हुआ कि जब जैसा जमेगा वैसा चला जायेगा। इसका घातक परिणाम भी हो सकते हैं और हुए हैं। इटली, जर्मनी के तानाशाह मुसोलिनी, हिटलर आदि अपनी इच्छा को ही जनमत. बहुमत का प्रतिनिधि मानते रहे और फासिज्म को जन्म दिया। रूसो की सामान्य इच्छा समझने के लिये मोजेस या लाइकरगस की (अथवा शुक्र, मनु, या याज्ञवल्क्य की) जरूरत पड़ती है और इस तरह रूसो के समस्त विचार अजीबोगरीब भूलभुलैया में व्यक्ति को भटकाते रहते हैं।* अन्त में यह एक धूम्रावरण या धोखाधड़ी (Smokescreen or Camouflage) का काम करती है। सामान्य इच्छा के विषय में यह अक्सर कहा जाता है कि यह न तो सामान्य है और न इच्छा, बल्कि निराकार, निराधार, अमूर्त चिन्तन है। यह एक प्रवञ्चना, मृगतृष्णा या वहम है (Rousseau's general will is the will—O'—the Wisp. It is neither general' nor will, but a mere abstraction) इसके बावजूद भी इस स्थिति

---

*"It is impossidle to trace the subsequent labyrinthine ramificatocns of Rousseauism." —H. J. Tozer

से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सामूहिक जीवन, सामान्य इच्छा तथा लोक-कल्याण की भावना का अपना स्थान है। आर्थिक प्रजातंत्र, समुचित प्रतिनिधित्व, सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य (भारत की तरह) तथा वर्गहीन समाज की कल्पना इस सामान्य इच्छा पर आधारित हैं।

संप्रभुता, विधि तथा शासन :

रूसो ने सामान्य इच्छा को ही संप्रभुता का स्वामी माना है। जनकल्याण की ओर प्रयत्नशील रहने के कारण संप्रभुता लोकप्रिय है. प्रजातन्त्रात्मक है। सबसे पहले रूसो ने ही सिद्ध किया कि समाज के पूरे लोग संप्रभु हैं। हाब्स, जोन बोदाँ आदि विचारकों ने केवल निरंकुश शासक को ही संप्रभु माना था और लॉक ने संप्रभुता को सीमित मानकर विचार किया था। सामान्य इच्छा वैधानिक संप्रभु (De Jure) है इसलिये केवल वास्तविक संप्रभु (De facto) होने से काम नहीं चलता, उसकी जनस्वीकृति भी चाहिये सामान्य इच्छा का प्रयोग होने के कारण संप्रभुता अदेय तथा अहस्तान्तरणीय है। संप्रभुता का सामूहिक व्यक्तित्व अपना है और वह अविभाज्य है। रूसो की संप्रभुता विकारहीन, अविभाज्य, अदेय, अप्रतिनिधिमूलक और अविनाशी है। प्रत्यक्ष जनतंत्र का समर्थक होने के कारण रूसो की यह धारणा है कि संप्रभुता का प्रयोग पूरी जनसभा के द्वारा होना चाहिये। बिना जनसभा के सामान्य इच्छा ध्वनित न होगी।

इस सम्बन्ध में रूसो का एक स्पष्टीकरण भी है कि सामान्य इच्छा सर्व-सम्मत ही हो यह जरूरी नहीं है। किन्तु प्रत्येक आवाज पर ध्यान रखना चाहिये; केवल संख्या के बजाय सामान्य हित ही इच्छा का साधारणीकरण करता है। व्यक्तियों का अपना स्वार्थ विशिष्ट इच्छा का प्रतीक है। रूसो का यह दृढ़ विश्वास है कि सत्ता तो दी जा सकती है, पर इच्छा नहीं और इसलिये संप्रभुता का प्रतिनिधित्व करना असम्भव है। संप्रभु यह तो कह सकता है कि मैं अमुक व्यक्ति की तरह इच्छा करता हूँ किन्तु यह नहीं कह सकता कि कल वह व्यक्ति जैसी इच्छा करेगा वैसी मैं भी करूँगा क्योंकि भविष्य इच्छा को बांध नहीं सकता। केवल आदेश-पालन करने से इच्छा का निराकरण हो जाता है और आज्ञाकारी राष्ट्र जनता का नैतिक बल खोकर राजनीतिक समाज को नष्ट कर देता है। चूंकि सामान्य इच्छा आन्तरिक गुण के कारण सर्वमान्य है इसलिये संप्रभु के कार्य और जनता के कार्यों में उद्देश्यों की एकता

है। (Sovereignty is only another name for a generalised Collective Volition of the content) संप्रभुत्व पर आत्म-नियन्त्रण भी है।

विधियों के सम्बन्ध में रूसो यह कहता है कि सब व्यक्तियों का सब के लिये सामान्य विषय से सम्बन्धित विधान है। विधि-निर्माण न तो व्यक्ति विशेष के लिये हैं, न कार्य विशेष के लिये। व्यक्ति की सत्ता, पक्षपात, संकीर्णता आदि की कोई गुंजाइश इसमें नहीं है। व्यापकता के आधार पर ही कानून बनता है अन्यथा वह निरा आदेशमात्र रह जाता है। कानून की मर्यादा केवल व्यापक स्वरूप दर्शाने की है, उसके बाहर वह जा नहीं सकता। राजतन्त्र की स्थापना कानून की लक्ष्य भले हो पर वंश या व्यक्ति विशेष को उत्तराधिकार या सर्वाधिकार देना उसकी शक्ति से परे है। गणतान्त्रिक व्यवस्था जिसमें निर्वैयक्तिक कानूनों का पालन हो वैधानिक तथा श्रेष्ठ व्यवस्था है। सच्चे विधि निर्माता आवश्यक हैं सही रूप में कानून की व्यापकता का उद्घाटन करने की लिये। न्यूमा, लाइकरगस, सोलन, मोजेस, कालविन आदि की तरह प्रख्यात दार्शनिक ही कानून का सही अर्थ में निर्माण कर सकते हैं क्योंकि सामान्य-इच्छा पहचानने की अद्वितीय बौद्धिक क्षमता तथा प्रतिभा इनमें ही है। प्रतिनिधित्व का विरोधी होने के नाते रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की जनसभा द्वारा निर्णय अभीष्ट मानता है इस विधि का व्यक्ति हित से विरोध नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति हित व्यापक जनहित में समाहित है और जनहित की सामान्य इच्छा (विधि) की आत्मा है। इस तरह के राज्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर काफी हद तक प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है विद्रोह करने का अधिकार भी जनता को नहीं है।

किसी को मृत्यु दंड यदि दिया जाय तो वह स्वीकार करना होगा क्योंकि इसीके लिये उसे सुरक्षा दी गई थी कि समय पड़ने पर वह वापिस ली जा सकती है (It is expedient for the State that you should die) इस तरह जीवन राज्य द्वारा किसी शर्त पर दी गई देन है। रूसो ने स्वतन्त्रता तथा सत्ता का विवेकपूर्ण सम्मिलन कानूनों के माध्यम से कराया (Rational cociliation between Liberty and Authority)। मान्टेस्क्यू से आगे जाकर उसने प्राकृतिक कानून तथा राज्यकृत कानून का अन्तर स्पष्ट किया और यह बताया कि व्यक्ति द्वारा संरचित कानून राज्य के संरक्षण में नागरिक तथा राजनीतिक रूप

ग्रहण कर लेते हैं और व्यक्ति को पहले से कहीं अधिक सुरक्षा तथा लाभ देते हैं। परम्परा (Conventions) के प्रति भी उसका आकर्षण है और उसकी अनिवार्यता मान कर चलता है। हाब्स और आस्टिन कानून को आदेश मात्र (Command) मानते हैं जो व्यक्ति के सभी कार्यों और निर्देशों को निश्चित करते हैं। मान्टेस्क्यू जहाँ सुनिश्चित, ऐतिहासिक, प्रयोगात्मक, आगमनात्मक या व्याप्तिमूलक विधि मानता है, वहाँ रूसो आदर्श युक्त, आगमनात्मक, तात्विक तथा काल्पनिक विधि मानता है।

राज्य और शासनतंत्र का अन्तर रूसो ने स्पष्टतया निरूपित किया है। राज्य के अन्तर्गत संप्रभु के आदेश से शासन एक आधीनस्थ संस्था के रूप में बना। राज्य पूरे समाज का सूचक है जो अनुबन्ध द्वारा बना और सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति करता रहा। शासन तो केवल व्यक्ति या व्यक्ति समूह का सूचक है। जो समाज द्वारा आदेश पाकर सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने में तत्पर है। शासन का अभिप्राय एक ऊँची शक्ति द्वारा कार्यकारिणी को अधिकार दिया जाना है जो उस ऊँची शक्ति द्वारा परिवर्तित, सीमित या समाप्त किये जा सकते हैं। शासनतंत्र का वर्गीकरण करते हुए रूसो ने राजतंत्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र ये यीन विभेद माने हैं और मिश्रित शासन के नाम से अलग वर्ग भी स्वीकार किया है। वह स्वतः प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थक था। लेकिन भौतिक तथा भौगोलिक वातावरण के अनुकूल शासन में परिवर्तन का सुझाव भी देता है। प्रजातन्त्र श्रेष्ठ तो है लेकिन उसमें सतत सजगता (Constant Vigilance) की आवश्यकता है। आभिजात्यतन्त्र के ३ भेद (प्राकृतिक, अनुवंशिक, निर्वाचित) मानते हुए निर्वाचिय अभिजात्य को सर्वश्रेष्ठ मानता है। गेम्बेटा ने यह स्वीकार किया है कि रूसो स्वतः आभिजात्य का प्रशंसक रहा (Rousseau at bottom was an Aristocrat)। शासन की सत्ता के प्रति आसक्ति स्वाभाविक जानकर रूसो शासन तन्त्रों के विकार की सम्भावनाएँ भी बतलाता है।

धर्म, शिक्षा, क्रान्ति सम्बन्धी विचार :

रूसो हाब्स की तरह धर्म को राजधानी मानता है। ३ तरह के धर्म उसने बताये हैं। एक तो व्यक्ति का धर्म जो आन्तरिक विश्वासों पर स्थित, गिरजा-पूजा-अडम्बर से रहित, ईश्वरीय नियमों पर आधारित, सहजधर्म (Simple religion of the Gospel) है। दूसरा नागरिकधर्म जो राष्ट्रीय

तथा वाह्य है, संस्कारों, रुढियों तथा विधियों से निश्चित है (with rites and dogmas prescribed by Law)। तीसरा पुरोहितों-पादरियों का धर्म जो दो तरह के प्रधान, दो देश, दो कानून देता है और परस्पर विरोधी कर्तव्यों के आवर्त में डाल देता है। इन सबमें दोष हैं और इसलिये राज्य को नागरिक विश्वासों का धर्म, जो सामाजिकता तथा सज्जनता पर बना है, चलना चाहिये।

रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार 'एमिल' में मिलते हैं। शिक्षा का उद्देश्य वह मनुष्य की निर्वासित प्रकृति का पुर्नसंस्थापन मानता है (Effectual Rehabilitation of Human Nature) बचपन से युवावस्था तक वह गृह शिक्षा तथा नागरिक शिक्षा का प्रतिपादन करता है जो मनुष्य की अविभाज्य आन्तरिक प्रकृति को मुखरित कर सके। अपने समय की शिक्षा व्यवस्था का घोर विरोध करने के कारण रूसो को बहुत कड़े विरोध का सामना करना पड़ा था। उसने यह लिखा था कि तत्कालीन शिक्षा द्विधा-विभक्त मनुष्य का निर्माण करती है जिसके पास न प्राकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक आश्रय है।

सारांश में इसके विचार पूरी तरह से क्रान्तिकारी थे और वह बिलकुल नई तथा नकारात्मक प्रणाली का पक्षपाती था।

क्रान्तिकारी रूसो हत्या या मारकाट का पक्षपाती नहीं था जैसे उसके सन् १७५२ में जिनेवावासियों को लिखे गये पत्रों से प्रकट होता है। वैसे तो उसके सिद्धान्तों की अनिवार्य परिणति क्रान्ति में ही होती थी किन्तु वह उस सम्बन्ध में कोई सुपरिचित दर्शन न बना सका। राबस्पीयर, मिराब्यू, मेरेट, सीइज, काउथन, सेन्टजस्ट, आदि क्रान्तिकालीन नेताओं ने जनप्रिय शासन का आधार गुण तथा आतंक माना। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति में हत्या, दमन, लूट, विनाश अपनी चरमसीमा पर थे। रूसो क्रान्तिवादी जेकोबिन दलों का प्रधान कहा जाता था (The Grand Pontiff of the Jecobins) लेकिन वास्तव में रूसो के वक्तव्यों का गलत अर्थ लगाकर क्रान्ति का रूप विकृत कर दिया गया। रूसो के विचारों से प्रेरणा लेकर यह घोषणा की गई थी कि मनुष्यों को स्वतन्त्र करने के लिये उनके पूर्व संस्कारों, दुर्गुणों और तरीकों को विनष्ट करना होगा इतना तो अवश्य था कि केवल बौद्धिक वाग्विलास न करके रूसो ने जन साधारण के जीवन में प्रवेश किया, उनकी सुप्त अन्तश्चेतना को जगाया और दलित-शोषित जनता की उदासीनता-तन्द्रा-अकर्मण्यता दूर कर दासता

की जंजीरें तोड़ने का आह्वान किया। फिर तो जो होना था वह होकर रहा। उसका नाम क्रान्तिकारियों में जोश भरता रहा। एक स्वयंसेवक ने तो यहाँ तक कहा कि रूसो क्रान्ति का दर्शक नहीं, प्रणेता है। उसके लेखों ने ही क्रान्तिकारियों को जागृत किया। क्वीनेट (Quinet) ने उसे विचारों तथा भावनाओं में क्रान्ति से ओत-प्रोत माना और मुक्त व्यक्तियों के अग्रनेता कहा नेपोलियन ने यह स्वीकार किया कि रूसो के बिना क्रान्ति हो ही नहीं सकती थी। सेण्ट जस्ट ने उसे 'क्रान्तिकारी व्यक्तित्व' कहा। मर्सियर (Mercier) ने उसे निरंकुशता के दैत्य को उलट देनेवाली शक्ति बताया। जोसेफ शेनियर (Joseph Chenier ने लिखा कि मनुष्य ने अपना अधिकार-पत्र खो दिया था, रूसो ने उसे ढूंढ़ निकाला और कब्जा दिलाया। लेमरटिन ने उसे समाज का महान् किन्तु घातक काल्पनिक माना और सामाजिक अनुबन्ध को क्रान्ति का मौलिक ग्रंथ कहा। इन तरह रूसो की क्रान्तिकारी विचारधारा सर्वव्यापी प्रकाश भरती रही।

सिद्धान्त-समीना :

रूसो का सिद्धान्त कई तरह के अनमेल, अस्पष्ट, संदिग्ध, जटिल तथा असम्बद्ध विचारों का पुलिन्दा है। सामाजिक अनुबन्ध के सम्बन्ध में उसका कथन यह था कि उसे ठीक-ठीक समझने वाला व्यक्ति निश्चत ही उससे अधिक बुद्धिमान था। कभी आदर्शवाद और कभी विरोधात्मक यथार्थवाद-इन्हीं के बीच वह टकराता रहा और उसके विचारों में विरोधाभास के तत्व बहुतायत से पनप गये। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आगे चलकर व्यक्तिवाद और अधिनायकवाद सरीखी परस्पर विरोधी और असंगत विचारधाराओं का पोषण करता है। मृगमरीचिका की तरह उसकी बातें तथ्यहीन तथा निस्सार मालूम होती हैं। इतिहास, व्यवहारिक राजनीति, संस्था, जलवायु आदि का समुचित ज्ञान न होने से उसका विशलेषण एकाङ्गी है। केवल वैधानिक रूप पर विचार करने से वह वास्तविकता के अन्य स्वरूपों को भूल जाता है। आदर्श स्वतन्त्रता के व्यापक रूप का पक्षपाती होने पर भी रूसो उसे सब देशों में सम्भव नहीं मानता और कहीं कहीं उसे सीमित भी कर देता है। कानून के सम्बन्ध में उसके विचार इतने व्यापक हैं कि एकदम आकाश नापने का प्रयास करते हैं। इस क्रिया से तो मानवीय मूल्यों और कार्यों की उपेक्षा होती है। अपनी संकीर्ण दृष्टि में वह पुराने छोटे राज्यों को, जिनमें प्रत्यक्ष जनतन्त्र कभी था, अपना आदर्श मान बैठता है। प्रजातन्त्रात्मक जनमत के साधनों यथा, स्थानीय शासन, केन्द्रीकरण,

यातायात के साधन, प्रेस, प्रचार, उपक्रम, परावर्त, निषेधाधिकार, जनमत-प्रभाव आदि से वह अनभिज्ञ है और शायद इसीलिये प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था के विरुद्ध है . हाब्स की तरह रूसो भी निरंकुशता की ओर बढ़ता है। अन्तर केवल इतना है कि व्यक्ति की निरंकुशता के स्थान पर वह बहुजन-समाज की स्वेच्छाचारिता स्थापित कर देता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ढोल पीट कर सामान्य इच्छा के नाम पर उसने उसका बलिदान कर दिया। एक ओर तो वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को वैषम्य की जननी तथा दुःख-दारिद्रय, दासता का मूल-कारण मानता है पर अपने अन्तिम दिनों में वह यह मानने लगता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त करना असम्भव ही नहीं अनुचित भी है। पहले जनवाद का प्रचण्ड समर्थक रहा लेकिन अन्त में राजतन्त्र तक को स्वीकृति देने लगा। नकारात्मक शिक्षाप्रणाली से प्रारम्भ कर कोर्सिका, पोलैण्ड के संविधान में राज्याधीन शिक्षा का समर्थन वह करता है। दासता को भी एक स्थान पर वह उचित मानने लगता है। कला के विरोध में रहकर भी वह कला-निर्माण करता है। जनता जनार्दन की श्रेष्ठता का दावा तो वह करता है लेकिन नागरिक धर्म से उसे बांधकर सीमिति बना देता है। व्हॉन के अनुसार रूसो व्यक्तित्वका भी विरोधी है क्योंकि वह केवल स्वीकृत दिशा में ही बढ़ सकता है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सामाजिक अनुबन्ध' में वह प्रारम्भ मे बतलाता है कि मनुष्य जन्मना स्वतन्त्रचेता था किन्तु अभाग्यवश सर्वत्र वह जंजीरों से जकड़ गया। पूरी व्याख्या कर लेने के बाद यह मालूम होता है कि अन्त में रूसो एक जंजीर और पहना देते हैं—(नागरिकधर्म के नाम पर)। बार्कर ने रूसो को व्यक्तिवाद का प्राण माना है क्योंकि उसके ग्रंथो में सभ्य समाज का विरोध, नैसर्गिक स्वतन्त्रता की भक्ति, अराजकतावादी का स्वागत तथा प्राचीनता और अतिप्रचीनता की प्रशंसा की गई है। राज्य की एकता और स्वातन्त्र्य-विषयक सिद्धान्तों का व्यावहारिक संतुलन व सामञ्जस्य करने में वह असमर्थ रहा। संप्रभुता के सम्बन्ध में उसके विचारों में भ्रामक द्वन्द्वात्मक चिन्तन के उपहास नमूने हैं (Fantastic Feats of Pseudo-Dialectics) सावयव राज्य तथा सामान्य प्रकृति के निरूपण में कहीं-कहीं बालसुलभ प्रगल्भता, कुतर्क और बुद्धिहीनता का प्रमाण भी मिलता है (Amazing medley of bad logic and utter puerility in his Exposition)। सभ्यता तथा सम्पत्ति पर प्रहार करते समय उसके विचार भावों में समाजवादी थे लेकिन झुकाव उनका अराजकतावाद की ओर था। और उसके अस्पष्ट विचारों की छाया ग्रहण कर धूर्त नेताओं ने उसके सिद्धान्तों

को और भी खतरनाक बना डाला। टेन (Taine) ने सामाजिक अनुबन्ध के विचारों को मिलावट की शराब कहा है (Adulterated Brandy)। काण्ट, फिक्टे, हीगेल आदि जर्मन दार्शनिकों ने राजनीतिक आदर्शवाद के नाम पर नई व्याख्या की और सामान्य इच्छा को अधिक पुनीत (Consecrated) बनाया। सरांश में रूसो के विचारों में सिद्धान्त और व्यवहार की गहरी खाई है जो पाटी न जा सकी। सामाजिक व्याधियों के निदान और उपचार में कोई मेल नहीं दिखाई देता। त्रुटिपूर्ण दर्शन, ऐतिहासिक भ्रान्ति, धार्मिक दृष्टिकोण की असंगति, वैयक्तिक जीवन की कटुता, अनुपयोगी आदर्शों की सृष्टि आदि के कारण रूसो रहस्यवादी अधिक बना दिया गया। वास्तव में वह अद्वितीय प्रतिभाशाली व्यक्ति था जिनमें उन्मुक्त, विभ्रामक कल्पना, उत्तेजनापूर्ण, आकर्षक विचार-प्रवाह, उन्मादक चिन्तन और दार्शनिक शक्ति की भावमयी अनुकृति है। आलोचना तथा आक्रमण करने की धुन में उसने यह कभी नहीं सोचा कि नया समाज बनाना (New Social Order) कितना कठिन कार्य है और इसलिये व्यावहारिकता से कोसों दूर वह रहा। उसके शाब्दिक प्रस्ताव, रूढ़िवादी विचार, अनुपयुक्त प्रमाण राजनीति की अपेक्षा धार्मिकता की छाप लिये हुए हैं। फिर अस्पष्ट, अमूर्त नुस्खों के बल पर गणित की प्रक्रिया द्वारा स्वयंसिद्धियों की स्थापना सम्बद्धता तथा औचित्य का भ्रम पैदा करती हैं। प्रत्यक्ष विरोधाभासों के लिये उसके पास विचित्र तर्क है। बेबुनियादी तत्वों से वह खींच-खाँच कर बेमेल, गलत नतीजे निकालता है और उन्हें भी प्रामाणिक तथा सार्वभौम लक्ष्य मान बैठता है'। इनके बावजूद भी रूसो युग प्रवर्तक दार्शनिक है और उसकी देन अपूर्व है।

८–जेरेमी बेन्थम

(१७४८–१८३२ ई०)

फ्रांस की राज्य क्रान्ति (१७८६ ई०) के असफल होने पर 'स्वतन्त्रता' समता, भ्रातृत्व' के सारे सिद्धान्त हवा में उड़ गये, नेपोलियन का आतंककारी शासन आ गया, यूरोप में युद्ध और स्पर्धा का वातावरण बन गया, सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया, जनता जहाँ की तहाँ पड़ी रही। उसी समय विचारकों का ध्यान अमेरिका की राज्य क्रान्ति (१७७४ ई०) की ओर भी आकर्षित हुआ जिसमें बिना प्रतिनिधित्व के कर ग्रहण तथा विधेयक का विरोध किया गया, (No Taxation and Legislation without reperesentation) व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार माना गया, उपनिवेशवाद का अन्त कर अमेरिका की स्वाधीनता स्वीकार की गई, १७८७ ई० का नया संविधान अमेरिका की जनता की स्वातन्त्र्य आकांक्षाओं का मूर्त रूप होकर सामने आया, । इन दोनों क्रान्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करके इंगलैंड में एक ओर टाम पेन और गाडविन की तरह क्रान्तिकारी, अराजकतावादी विचारक हुए दूसरी ओर ब्लेकस्टोन की तरह विधिवेत्ता। इनके बीच प्रतिक्रियावाद से प्रभावित एडमण्ड बर्क के सामयिक सुविधामूलक विचार थे जो यथा स्थिति (Status quo) के समर्थक थे। यूरोप में भी क्रान्ति की प्रतिक्रिया भीषण रूप से हुई थी और लोग नये राजदर्शन का आधार ढूंढ़ रहे थे। (मार्क्विस बोनाल्ड, जोसेफद मीस्तर, बना हेलर (Continental Reactionary Thinkers) प्रतिक्रियावादी विचारक थे। ऐसी स्थिति में उपयोगिता वाद का जन्म प्रभावशाली राजनीतिक दर्शन के रूप में इंगलैंड में हुआ और बेन्थम उसका सर्वप्रथम प्रवक्ता बना। उन्नीसवीं सदी की इस प्रमुख विचारधारा का अस्पष्टीकरण करने वाले बेन्थम, जेम्समिल, जान आस्टिन, जानस्टुअर्ट मिल आदि इंगलैंड के विद्वान् विधिशास्त्री थे। उपयोगितावाद ने नैराश्य तथा कुंठा से पीड़ित योरोपीय समाज को लोकमंगल तथा सार्वजनिक उद्धार का नया मंत्र दिया। उपयोगितावाद के सामने सामूहिक दृष्टि से व्यापक सुख लाने का सिद्धान्त रखा गया जो 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' (Greatest Good of the Greatest Number) के नाम से विख्यात है। वस्तुओं का मूल्यांकन करने तथा सिद्धान्तों (सामाजिक, आर्थिक, राजनीति) को कसौटी पर कसने के लिये यह नया मापदण्ड इसलिये ढूंढ़ा गया कि सार्वजनिक कल्याण की भावना अधिकाधिक फलवती हो। यह दृष्टिकोण व्यावहारिक,

अनुभूतिमूलक, आनन्दवादी होने के साथ ही लाभदायक भी था। मनुष्य की कल्पना स्वतन्त्र इकाई के रूप में की गई और उसके सामने उपयोगिता की एक कसौटी दे दी गई जिससे वह सबको नाप सकता था।

राजनीतिक उपयोगितावाद कोई सर्वथा नवीन धारा नहीं थीं क्योंकि बेन्थम से पूर्व उसका सूत्रपात हो चुका था। यूनानी दर्शन में सुखवादियों (Epicureans) की परम्परा थी जो जीवन का चरम लक्ष्य सुखानुभूति मानते थे। उसके बाद लॉक (१६३२—१७०४ ई०) और ह्यूम ने (१७११-१७७६ ई०) मनोविज्ञान के आधार पर सुख-प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित किया। रिचर्ड कम्बरलेण्ड (१६७२ में प्राकृतिक विधि पर प्रबन्ध लिखा), फ्रांसिस हन्चेसन*, प्रीस्टले आदि ने भी इस पर प्रकाश डाला। उपयोगितावादी विचारक स्वतः सुधारक, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तथा प्रभावशाली व्यक्ति थे इसलिये व्यवहारिक राजनीति में उन्हें प्रर्याप्त सफलता मिली। सर हेनरीमेन ने यह स्वीकार किया कि १६ वीं सदी के सुधारों में बेन्थम की छाप स्थायी तथा गहरी पड़ी थी। अपने युग की राजनीति में उपयोगितावादियों ने तरह तरह के संशोधन, परिवर्तन कराये और औद्योगिक श्रमिकों तथा मध्यमवर्गीय जनता के लाभ के लिये कई कानून भी पास कराये। औद्योगिक संरचण कानून, चार्टिस्ट आन्दोलन, सुधार बिल, निर्धनों का कानून, कार्न लॉ आदि उपयोगितावादियों के हस्तक्षेप से ही बन सके। पार्लमेण्ट में प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर भी उन्होंने वयस्क मताधिकार का आन्दोलन चलाया और पार्लमेंट को व्यापक (Broad based) बनाने का प्रयत्न किया। वैसे उपयोगितावाद को ब्रिटिश उदारवाद में फ्रांस और जर्मनी के विचारों का रासायनिक मिश्रण कहा जा सकता है। बेन्थम का दर्शन परम्परागत आचारशास्त्र का विषय था जो हेलवेशियस से प्राप्त होने के कारण फ्रांस की उग्रवादी विचारधारा से प्रभावित था।† इसी समय आर्थिक प्रश्नों पर थी गम्भीरतापूर्वक विचार हुआ था।

---

*फ्रांसिस हचेसन ने सबसे पहले 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' इस सूत्र का प्रयोग किया।

†हेलवेशियस ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'मानव' (Man) लिखा जो १७७२ में प्रकाशित हुआ। वह जर्मन डच था किन्तु फ्रांस में रहने लगा था। हालवाश (Halbach) (१७२३—१७८९) ने भी सुखवाद का आधार ढूंढ़ते हुए विशाल विश्व समाज (Great World Society) की कल्पना की थी। फ्रांस के भौतिक अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) का प्रभाव भी उस समय तीव्र था।

उदार राजनीतिक दर्शन की तीन स्थितियाँ इस समय दृष्टिगोचर होतीं थी। एक तो बेन्थम का दर्शन जो विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, आचारशास्त्र के समन्वय से सुव्यवस्थित उग्रवाद (Well-Systematised Radicalism) बना था; दूसरा जान स्टुअर्ट मिल के नेतृत्व में उदार विचारों का संशोधन और व्यावहारिक प्रयोग, तीसरा ग्रीन और दूसरे आदर्शवादियों द्वारा पुर्नसंगठन के प्रयत्न। इन विचारों में व्यक्तिवादी परम्परा सुरक्षित रखी गई।

उपयोगितावाद के मूलाधार आचारशास्त्र से ग्रहण किये गये हैं। सुखवाद (Hedonism) का परिष्कृत, परिवर्धित रूप यह है जिसके आधार पर यह माना जाता है कि मनुष्य को सुख-दुःख का विकल्प रहता है और स्वभावतः वह सुखान्वेषी होता है। दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह दृष्टिकोण मान्य है क्योंकि मनुष्य में आत्म-विषयक (Self regarding) तथा परविषयक (Other-regarding) चिन्तन की प्रवृत्ति मौजूद है। इन दोनों का सामञ्जस्य बुद्धि या तर्क के बल पर बैठाना व्यवहार-पटुता की परिचायक है। व्यक्ति का आत्मपरक एकाङ्गी अनुभव (Individual's Subjective Experience) सुखदायक नहीं है इसीलिये अनुभूतिमूलक साधारणीकरण (Empirical generalisation) के द्वारा सामान्य सुख (General or Common good) की कल्पना की गई है। राजनीति में इसका प्रयोग करते समय राज्य तथा उसके आदेशों का पालन एकमात्र उपयोगिता के तर्कसम्मत आधार पर किया जाता है। उपयोगितावाद व्यवहारवादी दर्शन (Pragmatic Philosophy) होने के नाते नैतिकता और वैज्ञानिकता का मिश्रण करता है; गम्भीर अध्ययन, पर्यवेक्षण, परीक्षण, तुलनात्मक समीक्षण, अनुसंधान आदि का प्रयोग करता है; भौतिक सुखवाद का लक्ष्य निर्धारित करते हुए जीवन को निश्चित स्वरूप तथा दिशा देता है। अनुबन्धवाद का खंडन करके उपयोगितावाद ने राजनीति में अपने पैर जमाये; उसमें सहानुभूतिपूर्ण मानवतावाद का पुट होने से परिस्थितियों के अनुकूल समाधान प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता थी। एक ओर कल्पनावादी तथा आदर्शवादी निगमनात्मक प्रणाली का उपयोग करते, दूसरी ओर उपयोगितावादी आगमनात्मक तथा अनुभूतिमूलक पद्धति मानते। व्यावहारिक होने से उन्होंने आचारशास्त्र, राजनीति को मिलाया, आनन्दवाद की कल्पना की; व्यक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए उसके सार्वजनिक सामाजिक पक्ष पर जोर दिया, समाज में नये-नये सुधारों के बीज बोये और राज्य को विधियों से नियन्त्रित किया। व्यक्तिवाद का समर्थन करते हुए आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप

(Laissez Faire) तथा मुक्त व्यापार (Free Trade) की नीति का परिपादन किया गया । 'अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिकतम सुख' के आधार पर बेन्थम ने कानून, शिक्षा, न्याय, प्रशासन, जेल, संसद्, उद्योग, आदि के सुधारों की नई योजनाएँ प्रस्तुत की जिनका इंग्लैन्ड में स्वागत हुआ । उपयोगितावादी विचारधारा का वास्तविक प्रवर्तक जेरेमी बेन्थम था क्योंकि उसने ही सर्वप्रथम इस सिद्धात की व्यवस्थित व्याख्या की और उसे प्रयोगात्मक स्वरूप दिया । उसने देश की दशा सुधारने के उपायों पर ही प्रकाश नही डाला बल्कि अपने प्रयत्नों से निश्चित उन्नति करके बताई । उसकी सफलता का मूल कारण था व्यापक मानवतावादी आधार । उसके सिद्धान्त विदेशों में भी मान्य हुए और कुछ समय तक उसके नाम की बड़ी धूम रही (जैसा हर नये विचारक के साथ सामान्यत: होता है ।) विधि-संहिता बनाने में उसका अनुदाय महत्वपूर्ण रहा है । केवल आत्म-तुष्टि या अहंवाद (Egoistic) के घोंघे से व्यक्ति को निकाल कर परोपकारवादी (Altruistic) वायुमंडल में लाने का श्रेय उसे ही है । सहानुभूतिपूर्ण तथा संवेदनशील होने के साथ बेन्थम परोपकारवादी भी था । ग्राहम वेलेस के अनुसार उसने जो कुछ लिखा उसे सोच-समझ कर, और जैसा सोचा वैसा उसने लिखा भी । राजनीति में उसका स्थायी महत्व आज भी है, भले ही उपयोगितावाद का ह्रास हो गया हो ।

जीवन, रचना, समस्या :

उपयोगितावाद के संस्थापक जेरेमी बेन्थम प्रतिष्ठित वकीलों की खानदान में पैदा हुये । उनके पिता और पितामह अच्छे कानूनदां थे । जेरेम बेन्थम का जन्म १५ फरवरी, १७४८ ई० को लन्दन में हुआ । सम्पन्न परिवार में उसे शारीरिक, बौद्धिक विकाश की पूरी सुविधा मिली । उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद कानून का विशेष अध्ययन उसने किया । उसके पिता की यह अकांक्षा थी कि उनका पुत्र जेरेमी बेन्थम न्याय विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी, लार्ड चांसलर, बने । बेन्थम मेधावी, परिश्रमी, उदार तथा जनवादी था । आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त कर "लिकन्स इन" (Lincoln's Inn) से उसने बैरिस्टरी पास की । उच्च परीक्षाओं में उसे अपूर्व सफलता मिली लेकिन उसने नौकरी करना स्वीकार न किया । अपने युग का वह बौद्धिक आश्चर्य था, प्रकाण्ड विद्वान था । वकालत का पेशा प्रारम्भ में उसने किया (क्योंकि वह खानदानी पेशा था) लेकिन कुछ समय बाद उसे छोड़ दिया । उसने यह देखा कि मुकद्मों, अदालतों

ओर कानूनों में असंख्य त्रुटियाँ है उनके रहते न्याय-व्यवस्था निरर्थक-सी है। उसे पूरा विश्वास हो गया कि उसके जमाने के अंग्रेजी कानून रहस्य, फरेब, औपचारिकता के बोझ मात्र थे और देश के लिये उपयोगी बिलकुल न थे।* उसने इन कानूनों में संशोधन और परिवर्तन कराने का निश्चय किया। विधियों के सुधार का महत्वपूर्ण आन्दोलन उसने चलाया और उसे सफलता मिली। समाज कल्याण (Social Welfare) की समस्याओं में बड़ी अभिरुचि थी। अपने विचारोंको उसने नियमित रूप से लेखबद्ध किया और यह कहा जाता है कि वह प्रतिदिन कुछ न कुछ लिखने का नियम वर्षों पालता रहा। उसके विचार-ग्रंथ ११ भागों (Volumes) में प्रकाशित हुये। यूरोप का भ्रमण करने पर बेन्थम को फ्रांस के उपयोगितावादियों से बड़ी सहायता मिली और उनके अनुसार उसने अपने विचारों में स्पष्टीकरण तथा परिवर्धन किया। ह्विग दल के नेता लार्ड शेलबर्न उसके ग्रंथों से बहुत प्रभावित थे और उसे राजनीति में आगे लाने का प्रयत्न करते रहे। शेलबर्न की परिचय से उसे पिट, रोमिली, केमडन, डयूमांट आदि राजनितिज्ञों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उसके विचारों का प्रभाव दूर-दूर देशों तक फैला। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका, भारत, मेक्सिको, चिली आदि देशों के लिए उसने विधिसंहिता (Legal Code) बनाने या संकलित करने का प्रयत्न किया। वह जातीय, वर्गीय विभेदों में विश्वास नहीं करता था और सार्वभौम तथा सर्वजनोपयोगी नियमों में विश्वास रखता था, इसलिये विदेशों के लिये कानून बनाने में कठिनाई नहीं हुई। भारतीय जागृति के अग्रचेता राजा राममोहन राय से भी उसका पत्र-व्यवहार था। लार्ड विलियम बेन्टिक ने बेन्थम से प्रेरणा ग्रहण करके ही भारत में सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया था। उच्चकोटि के सुधारक होने के साथ-साथ सहृदय, भावप्रवणता, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, विशाल दृष्टिकोण आदि के कारण वह लोकप्रिय था और उसके विचारों का सम्मान होता था। प्रत्येक क्षेत्र से उसे समर्थन तथा सहयोग मिला क्योंकि ऐसे सुधारक की समाज को अत्यधिक आवश्यकता थी। ८४ वर्ष के दीर्घकालीन जीवन में बेन्थम ने उपयोगितावाद के साथ-साथ उदार सुधारवाद की नींव दृढ़ की। मौलिकता या

---

*In spite of Blackstone's eulogies of the British constitution and British Laws, Bentham was convinced that the English laws were a meas of obscurities, fictions and fromalities, unsuited to England of his day.

—History of European Political Philosophy by D. R. Bhandari—Page 330

क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का अभाव उसमें भले रहा हो लेकिन उसकी सदाशयता तथा सद्भावना पर शक नहीं किया जा सकता। समाज की त्रुटियाँ हर क्षेत्र में फैली थीं, जहाँ दृष्टि जाती कोई न कोई कमी महसूस होती, उसे ठीक करने के लिये मन में विचार आता, फिर उसे आत्म-विश्वास के साथ वह व्यक्त करता था। ६ जून, १८३२ ई० में बेन्थम की मृत्यु हुई। उपयोगितावाद की परम्परा उसके बाद भी सफलतापूर्वक चलती रही।

बेन्थम ने सबसे पहले सामयिक पत्र-पत्रिकाओं (यथा लन्दन रिव्ह्यू, वेस्ट मिस्टर रिव्ह्यू आदि) में निबन्ध लिखे जिससे उसका अभ्यास बढ़ा और उसे प्रसिद्धि मिली। १७७६ ई०-१८२४ ई० के भीतर उसकी सभी महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुईं। १७७६ ई० में सबसे पहले उसने शासन सम्बन्धी विचारों पर ग्रंथ (Fragments on Government) लिखा। यह ग्रंथ ब्लेक-स्टोन की आलोचना में लिखा गया और इसमें वकालत पेशे की भी आलोचना की गई। दूसरा ग्रंथ १७८६ ई० में न्याय और व्यवस्था के सिद्धान्तों की प्रस्तावना के रूप में (Introduction to the Principles of Morals and Legislation) लिखा गया जिसमें उसने अपने दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट किये है और उपयोगिता की परिभाषा दी है। दंड व्यवस्था में सुधार करने तथा कानूनों का रूप कल्याणकारी बनाने के लिये उसने अपने सिद्धान्त कई ग्रंथों में लिखे हैं। इनमें से 'दंड तथा पुरस्कार सिद्धान्त" (Theory of Punishment and Rewards), दीवानी और दंड सम्बन्धी कानूनों पर व्याख्यान (Discourse on Civil and Penal Legislation), विधिसंहिता तथा जन-शिक्षा पर निबन्ध (Papers on Codification and Puplic Instruction) आदि हैं। १८२७ से १८३२ के भीतर विभिन्न कानूनी तथा संवैधानिक पुस्तकें (Constitutional Cods) भी उसने लिखीं। सूदखोरी के सम्बन्ध में भी उसका एक ग्रंथ है (A Defence of Usury) और सामाजिक बुराइयों के लिये 'गलतियों का ग्रंथ' (Book of Fallacies) भी प्रसिद्ध है। उसके ग्रंथों का प्रचार तो काफी हुआ ही, विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुआ बहुत-सी प्रकाशनीय सामाग्री उसकी मृत्यु के बाद प्राप्त हुई। बेन्थम का अनुदाय लिखित साहित्य के रूप में प्रचुर तथा समृद्ध है। लिखने में उसने व्याप्तिमूलक तथा अनुभूतिपरक पद्धति का अवलम्बन किया और समस्याओं का व्यावहारिक हल ढूंढ़ने में तत्परता बताई। प्रारम्भ में बेन्थम का प्रभाव बहुत कम था क्योंकि ब्रिटिश मस्तिष्क नवीनतावादी नहीं है और उग्रता-विरोधी है।

(British dislike of Innovations and Reaction against Excesses)। लेकिन धीरे-धीरे उसका प्रभाव बढ़ने लगा और यहाँ तक बढ़ा की रिकार्डो, मिल, आस्टिन, जार्ज ग्रोट आदि उसे अपना गुरु मानने लगे।

बेन्थम का युग औद्योगिक क्रान्ति का परिवर्तनशील युग था। औद्योगिक क्रान्ति ने यांत्रिक कुशलता, उत्पादन-वृद्धि, जीवनोन्नति, नये व्यवसाय, बड़े पैमाने के औद्योगीकरण आदि का प्रारम्भ किया किन्तु दूसरी ओर उसके गंभीर परिणाम भी हुये। गृहोद्योग का विनाश, बेकारी, मजदूरो और बे-जमीन खेतिहरों की संख्या-वृद्धि, शोषण-उत्पीड़न- अत्याचार आदि का बोलबाला हो गया। चिमनियों से लगातार धुआँ फेंकनेवाली फैक्टरियाँ उत्पादन बढ़ाने में लगी रहतीं और हड्डियों का ढाँचा लिए कमजोर श्रमिक अपने जीवन की आहुति देते, चिमनी बच्चे (Chimney Sweep) ऊपर चढ़ते-चढ़ते गिर पड़ते और फैक्टरियों से मालिकों, लोहे के पुरजों को अपना लहू भेंट करते। मजबूत विशालकाय कारखानों के पास ही मजदूरों की गन्दी, तंग, अन्धेरी झोपड़ियाँ थीं जिनके बदबू, बीमारी, लाचारी की लपटें निकलतीं। तिजोरियों में धन भर कर सोने की सांकल लगानेवाले व्यवसायी कुबेरपति एक ओर थे तो दूसरी ओर अधनंगे, सूखे भूखे, घिनौने मजदूरों की टोली थी। औद्योगिक क्रान्ति इस तरह विषमता का विष सब जगह फैला रही थी। उसी समय फ्रांस की राजक्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व का नारा (Shibboleths) उठाया, अमेरिका के क्रान्ति ने वैधानिक परिवर्तनों का दरवाजा खोल दिया। प्रजातन्त्र की दुहाई दी जाने लगी और अतिशय व्यक्तिवाद की जगह उदारता और मानवता की चर्चा होने लगी। हर क्षेत्र में कमी थी, त्रुटि थी, हर जगह सुधार की जरूरत थी।

बेन्थम ने इस युग के अभाव की पूर्ति का काम किया। सुधार लाने के पहले उसने उन सिद्धान्तों को ढूंढ़ा जिनके बल पर तत्कालीन समाज, संवास, संस्कृति तथा संस्था की आलोचना या परीक्षा की जा सकती थी। उसने उपयोगिता की कसौटी तो रखी ही, पर साथ ही ऐसे मूल्य या मापदन्ड (Standards or Norms) भी स्थिर किये जो सच्ची परख दे सकते थे और समाज-सुधार तथा कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे। 'न्याय और व्यवस्था के सिद्धान्तों की प्रस्तावना' (An Introduction to the Principles of Morals and Legislation) नामक ग्रंथ में उसने यह घोषित किया कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुख इन दो संप्रभुओं के आधीन रख

छोड़ा है। ये दोनों ही हमारे कर्तव्य, अकर्तव्य का निर्धारण करने की क्षमता रखते हैं। हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करते हैं इस मनोवैज्ञानिक सत्य के बल पर बेन्थम ने अपने युग की समस्या का विश्लेषण किया और उसे सुधारा। जीवन का सार सुख-प्राप्ति और दुःख निवारण है, इसका प्रयोग उसने व्यक्ति ही नहीं राज्य के लिये भी किया। यही कारण है कि उसने राज्य के रचनात्मक और निषेधात्मक रूपों तथा कार्यों का स्पष्टीकरण किया। ऐतिहासिक प्रणाली या विश्लेषण की उसने कभी चिन्ता नहीं की। उसके अनुसार अतीत के खण्डहर नहीं बल्कि वर्तमान परिश्रम की नींव पर ही नया समाज खड़ा होगा।

उपयोगिता और आनन्दवाद :

उपयोगिता का अर्थ समझाते हुए बेन्थम ने कहा कि यह व्यक्ति के सुख में वृद्धि या कमी, कार्य का औचित्य-अनौचित्य, आनन्दायिनी या आनन्द-विनाशिनी शक्तियों की स्थिति आदि के निर्णय करने का प्रभावशाली सिद्धान्त है। यह केवल व्यक्ति के जीवन के नहीं शासन के कार्यों से भी सम्बन्ध रखता है। मनुष्य के कार्य सुख-दुख पर आश्रित हैं। और यही सुख-दुख उपयोगिता (Utility) हैं उपयोगी वस्तु सुख देती है या सुख का कारण बनती है। दुःख देने वाली वस्तु अनुपयोगी है, हानिकारक है। सारे भौतिक कार्य उपयोगिता से ही निर्धारित होते हैं। निर्विवाद रूप से, बेन्थम के अनुसार, इस कसौटी का महत्व स्वीकार करके जीवन में मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे उसके सुख में वृद्धि होती रहे। राज्य की ओर देखने का यही दृष्टिकोण है। व्यक्ति की भौतिक सुख-वृद्धि का कारण राज्य है, समाज की सुख-वृद्धि भी वह करता है। और जब तक ऐसा है तभी तक वह उपयोगिता है, अन्यथा राज्य का विघटन हो जाना चाहिये। न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, अच्छा-बुरा' सुन्दर-असुन्दर सबकी परख उपयोगिता के आधार पर होती है। उपयोगिता व्यक्तिगत और सामाजक होती है, लेकिन बेन्थम उनके विवाद में न पड़ कर सामान्य उपयोगिता को ग्रहण करता है। एक तरह से यह सिद्धान्त सापेक्षता का सिद्धान्त या परिणामवादी है। अपने आप में कोई चीज न भली है, न बुरी, कोई मनुष्य न सज्जन है, न दुर्जन, अच्छे या बुरे वे उसी प्रसङ्ग में है कि उनकी उपयोगिता (सुखवृद्धि की क्षमता) कितनी है? व्यापक सांसारिक अनुभवों ने यह निश्चित रूप से तय कर दिया है कि सुख की खोज मनुष्य का श्रेयस्कर सनातन व्यापार है और दुख से बचना उसका स्वाभाविक प्रयत्न है। फिर भी संसार में सुख कम और दुख सर्वत्र व्याप्त क्यों है? इसका अनुचिन्तन ही बेन्थम की सार्वजनिक समस्या थी। और उसने उन सब कारणों को ढूंढ़ने की और ढूंढ़कर हटाने की चेष्टा की

जिनसे जीवन दुःखमय, कष्टमय, संघर्षमय हो जाता है। मन की मौज या आनन्दवाद की कल्पना शरीर तथा आत्मा का स्वाभाविक गुण हैं क्योंकि विपरीत गुण वे हो नहीं सकते। इसे बचाना वास्तव में मानवता की रक्षा है। इसका प्रयोग राज्य द्वारा होने पर अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का सिद्धान्त निकलता है जो सुख तथा व्यक्ति की अत्यधिक मात्रा (Quantity) पर जोर देता है। व्यक्ति के लिये सुख-दुःख कासामान्य मापदन्ड है पर राज्य तथा समाज के लिये मात्रात्मक सुख (अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख) ही एकमात्र मापदन्ड है। सुख के साथ नैतिकता का प्रश्न भी जुड़ा है। नैतिक कार्य आनन्दवर्धक है अनैतिक कष्टवर्धक। इसका आशय यह हुआ कि नैतिकता की परीक्षा आन्तरिक नहीं वाह्य आचार पर निर्भर है। वेन्थम के सिद्धात मनोविज्ञान का आधार लेते ही हैं पर जीवन की यथार्थता के भी परिचायक हैं। वास्तव में मनुष्य के सारे कामों का मूल या लक्ष्य सुख ही है।*

वेन्थम ने सुख-दुख का निर्णय करने के लिये एक मापतौल किया। अर्थात् आनन्दवादी तुला पर सुख-दुख की मात्रा में कमी-बढ़ती की जानकारी प्राप्त करने के लिये उसके पास सूत्र है। मापतौल के लिये यह आवश्यक है कि सुख-दुःख के भेद मात्रात्मक हों गुणात्मक नहीं। वेन्थम के अनुसार भेद मात्रात्मक हैं। जुआ खेलना या साहित्य पढ़ना दोनों आनन्ददायक हैं। वेन्थम के अनुसार इनके उत्पन्न आनन्द की मात्रा में ही केवल अन्तर है। एक स्थल पर वेन्थम ने यह कहा कि सुख की मात्रा बराबर होने से बच्चों का खेल कविता पाठ की तरह ही है। (Quantity of pleasure being equal, pushpin is as good as poetry) इस सिद्धान्त की आगे चलकर कटुमय आलोचना हुई और जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३ ई०) ने मात्रा के साथ गुणों के भेद भी स्वीकार किया। सुख की मात्रा नापने के लिये आनन्दवादी आधार या माप चक्र (Felicific calculus) ढूंढ़ते समय वेन्थम ने गणित तथा दूसरे मापदण्ड का सहारा लिया है। कुछ कारणों से सुख या दुख की मात्रा में अन्तर हो सकता है। सुख-दुःख का सहारा ढूंढ़ने के लिये वेन्थम ने ५ आधार निश्चित किये हैं। वे हैं भौतिक या प्राकृतिक या नैसर्गिक, लौकिक,

---

*वेदान्तियों या साहित्यिकों की परिभाषा में इस 'रस' या सूक्ष्मतम तत्व कहा जाता है जिसका स्थूल वाह्य रूप सुख ही है। "रसो वैसः। स ह्येवायंल्लब्ध्वाऽनन्दी भवति।" इस सूत्र में मनुष्य की सहज प्रवृत्ति रस ग्राहकता या सुख के मूल की खोज में है। चार्वाक तथा एपीक्योरस के सिद्धान्तों में भी यही भाव दूसरे रूप में है।

राजनीतिक या वैधानिक, नैतिक और धार्मिक। अर्थात् इन पाच प्रकार के स्रोतों से सुख -दुख प्रवाहित होते हैं। उदाहरणार्थ यह कल्पना कीजिये कि पाला पड़ने या अधिक वर्षा होने से फसल नष्ट हो गई, पशु मर गये, अनाज का अभाव हो गया; जीवन खतरे में पड़ गया। इसका कारण प्राकृतिक है। क्योंकि मनुष्य का इन शक्तियों पर कोई वश नहीं। यदि दहेज या बिरादरी की पञ्चायत को संतुष्ट करने में सब अनाज खत्म हो गया, भूखों मरने की नौबत आई तो यह लौकिक कारण है। यदि अत्यधिक कर या टैक्स देना पड़े और पड़ोस में हुए उपद्रवों के लिये सामूहिक जुर्माना देना पड़ा अथवा भूमिधर के नाम से दसगुना या अठगुना लगान पटाना पड़ा और घर खाली हो गया, पेट पर पत्थर पड़ गया तो यह राजीतिक कारण है। मन ही मन पश्चाताप होने या दूसरों के प्रति किये गये पाप की भावना का परिमार्जन करने के लिये कष्ट को आमन्त्रण देना नैतिक कारण है। भाग्यवादिता, पूर्वजन्म और धार्मिक विश्वासों के बल पर ग्रह का फेर या सुख-दुख की स्थिति का निर्णय धार्मिक है। इन सभी कारणों में हमें सुख-दुख की मात्रात्मक अनुभूति ही होती है। लोगों को कभी-कभी यह भी आभास होता है कि उन्हें कम या अधिक दुख या सुख एक अथवा अधिक कारणों के संयोग से हो रहा है।

सुख-दुख की मात्रा का अन्तर सात तरह के कारणों से जाना जा सकता है ऐसी धारणा बेन्थम की थी। नामभेद के कारण वे अलग-अलग हैं पर वास्तव में उपयोगिता (Utility) नामक एक वस्तु के एक अंग हैं। इन सात कारणों में तीव्रता(Intensity), अवधि (Duration), निश्चय-अनिश्चय (Certainty or uncertainty) समीपता या दूरी (Propinquity or remoteness), उर्वरता (Fecundity), शुद्धता (Purity) और विस्तार (Extent) इन कारणों का प्रयोग करके हम न केवल सुख-दुःख तौल सकते हैं बल्कि धार्मिक, आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक विश्वासों तथा मूल्यों का निर्णय भी करते हैं। बेन्थम ने इस प्रकार के बड़े चार्ट (सूचियाँ या मानचित्र) बनाये हैं जिनसे इन कारणों के आधार पर भौतिक तथा लौकिक वस्तुओं की उपयोगिता आंकी गई है। सुख-दुःख के दो मूल प्रकार बेन्थम ने लिये हैं। एक सरल और दूसरा जटिल। सरल या सामान्य सुखों की गणना करके उसने १४ सुख बताये हैं, इन्द्रियसुख धन, नैपुण्य या कुशलता, मैत्री, यश, शक्ति, धार्मिकता, दया, क्रूरता, (कुछ व्यक्तियों को परपीड़न या क्रूरता में सुख मिलता है उन्हें पीड़क (Sadist) कहा जाता है) स्मृति, कल्पना, आशा, सम्पर्क सहायता। इसी प्रकार उसने

१२ प्रकार के दुःखों की गणना भी की है—दरिद्रता, हीनभावना, हिचकिचाहट, शत्रुता, अपयश, अधार्मिकता, निर्दयता या क्रूरता, दया, स्मृति, कल्पना, आशा, सम्पर्क (कभी-कभी कुछ कारणों से सुख भी होता है और दुःख भी जैसे दया करने से सुख या सन्तोष की अनुभूति भी होती है पर अत्यधिक दया करके लुट जाने या बेघरबार हो जाने का दुःख भी होता है। इसीलिये कुछ नामों का समावेश दोनों सूचियों में दिखाई देता है।) इस प्रकार की तालिका बनाने के बाद बेन्थम ने मिश्रित सुख-दुःख की कल्पना भी की है। इसके बाद उसने सुख-दुःख का अधिक व्यापक अन्तर बताने के लिये शारीरिक रचना, संवेदनशीलता, चरित्र, शिक्षा, जाति, वर्ण, लिङ्ग आदि ३२ लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण किया। बेन्थम के मानचित्रों को देखकर प्रसन्नता तो होती है पर पहाड़ों की पुस्तक (अथवा Logirithimic Tables) की याद आती है। क्योंकि कौन-सा कार्य करना चाहिये इसका निश्चय करने के लिये बेन्थम की यह राय है कि अलग-अलग कारणों के उत्तर के अनुसार प्रत्येक के लिये निश्चित अंक देकर उनका पूरा योग (टोटल) करने से जिस पक्ष में अधिक अंक मिलें वही काम करना अच्छा है या अपेक्षाकृत अच्छा है। यह पूरी प्रक्रिया जटिल ही नहीं, भ्रामक तथा कपोलकल्पित भी है। इस प्रकार का निर्णय करने में गणित की बारीकियाँ तो लगाई जाती हैं। किन्तु परिणाम संदिग्ध ही रहता है. क्योंकि गणित की तरह निश्चितता तथा यथार्थता (Accuracy and Exactitude) मानसिक या सामाजिक प्रतिक्रिया में कदापि संभव नहीं। मेक्कन के अनुसार राजनीति में अंकगणित का प्रयोग उतना ही निरर्थक है जैसे अंकगणित में राजनीति। दूसरी बड़ी कमी बेन्थम की यह है कि वह अन्तःकरण की प्रवृत्ति या विवेक को भी खींच-खींच कर समाप्त कर देता है, कुछ निर्धारित मात्राओं या अंकों का उन्हें अनुगामी बना देता है। यह प्रयोग न तो व्यावहरिक है, न उचित। उसकी आलोचना में आर० एच० मरे (R. H. Murray) ने यह कहा कि व्यक्ति में जब आत्मा या विवेक नहीं है तो समष्टि में भी वह नहीं है। बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कार्लाइल ने व्यङ्ग्यात्मक रूप से यह कहा कि बेन्थमवाद निकृष्टतम आत्मतुष्टि अथवा पाशविक संतोष का दर्शन (Pig-Philosophy) है। केवल भौतिक सुख की खोज में दिन-रात लगे रहना उस बुद्धिमान् की याद दिलाता है जो भड़कीले कपड़ों या आभूषणों के लिये आत्मा बेच देना स्वीकार करता है या अखण्ड दासत्व मान लेता है। इस विषय का उल्लेख आगे भी किया जावेगा।

समाज, शासन, सम्प्रभुता :

व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा सुख-दुःख की समीक्षा करने के बाद बेन्थम सामाज के विकास तथा राजनीतिक संगठन पर अपने विचार व्यक्त करता है। अनुबन्धवाद या सामाजिक समझौते (Social Contract) का पूरा विरोधी है क्योंकि उसके अनुसार राजनीतिक समाज, राज्य, अधिकार, कर्तव्य आदि सब समझौते या सहमति से नहीं उत्पन्न हुए। इनके उत्पन्न होने चलने और सफल होने में वर्तमान रुचि तथा उपयोगिता (Present interest and utility) की भावना प्रबल रही है। व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध होने से व्यक्ति की उपयोगिता समाज में जाकर समूह की उपयोगिता हो जाती है। समूह (Community) का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है क्योंकि वह सदस्यों का संघातमात्र है। समूह के पास झूठा या प्रवंचक शरीर (Fictitious body) है क्योंकि सदस्यों के हित के सिवाय उसका कोई अन्य हित नहीं है। इस उपयोगिता को बेन्थम ने 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' कहा है जो आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है। समाज के सामने प्रत्येक व्यक्ति एक है, एक से अधिक नहीं। इसी आधार पर वह न्याय, शासन, सुधार का हकदार है। सामाजिक उपयोगिता के ख्याल से ही राज्य का जन्म हुआ। मानव जाति को उसकी अनिवार्य आवश्यकता है, सुख-संवर्धन इसके द्वारा ही सम्भव है। राज्य स्वतः अपने लिये नहीं बल्कि समाज-कल्याण के लिये उत्पन्न हुआ है। मनुष्य राज्य तथा राज्य की आज्ञा शिरोधार्य करता है इसलिये कि उसकी सुख-प्राप्ति का मार्ग निष्कंटक हो। एतदर्थ वह विधियों का पालन करता है। इस प्रकार वह आज्ञा पालन की आदत (Habit of obedience) पैदा कर लेता है। जिस समूह में इस प्रकार की आदत या आदतें बनती जाती हैं वह राजनीतिक समाज कहाने लगता है। यह आदत उपयोगिता से उद्भूत है, अस्तित्व के लिये अनिवार्य है। यह आदत ही समाज और राज्य का आधार है न कि अनुबन्ध ! मनुष्य की बुद्धि में यह बात रह-रहकर उठती है कि आज्ञापालन की आदत डाल लेने से अशांति या उपद्रव की आशंका कम हो जाती है और यदि यह आदत न हो तो हमेशा डर बना रहता है।* बेन्थम ने सावयव सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया किन्तु

---

*"Men obey the laws of the state because they know that the probable mischiefs of obedience are less than the probable mischiefs of disobedience" —Bentham

इतना अवश्य मानता था कि राज्य का कार्य विभिन्न अङ्गों को पुष्ट करना है व्यक्तियों की आवश्यकता पूर्ति करना है जिससे सब को सुख मिले। इसके लिये राज्य लाभदायी सार्वजनिक कानून बनाता है।

शासन के सम्बन्ध में बेन्थम ने तत्कालीन व्यवस्था तथा संविधान के आधार पर अपने मत निश्चित किये। बेन्थम से पहले कतिपय विधिशास्त्रियों (Jurists) ने, जिनमें ब्लेकस्टोन प्रमुख था, यह घोषित किया था कि ब्रिटिश शासन सर्वगुणसम्पन्न तथा दोषमुक्त है। वास्तविकता इससे भिन्न थी क्योंकि शासन की त्रुटियों का पक्ष भी प्रबल था। बेन्थम ने उनकी ओर सरकार और जनता का ध्यान आकर्षित किया। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि इस युग में राजनीतिक चेतना का विकास अधिकाधिक हो रहा था। वैज्ञानिक उपकरणों तथा शीघ्र यातायात के साधनों ने विचार-प्रचार तथा जन-सम्पर्क की सुविधाएँ बहुत दी थीं। फलस्वरूप नई-नई शक्तियाँ विचारधारा के क्षेत्र में आ रही थीं। मौलिक रूप से व्यक्तिवादी होते हुए भी बेन्थम सामाजिक संगठित चेतना के विकास का पक्षपाती था और यह चाहता था कि पूरे समाज का सामान्य स्तर ऊपर उठे। इसीलिये उसने एकतंत्र या आभिजात्यतंत्र का समर्थन नहीं किया। उसकी आस्था गणतन्त्रात्मक शासन में थी। अपने युग के ब्रिटिश संविधान की अलोचना करते हुए बेन्थम ने उसे धनिक वर्गों से प्रभावित राजतन्त्र (Aristocracy ridden monarchy) कहा ऐसे राजतन्त्र के वह विरुद्ध था। राजनीतिक दृष्टि से वह जनतंत्रवादी था। हालांकि जनतंत्र का पूर्ण विकास उस समय नहीं हुआ था और उसका जनतन्त्र धनिक बनने की आकांक्षा का जनतन्त्र (Arisdemo aristocratic democracy) था उपयोगिता के सिद्धान्त के साथ अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की स्थापना अभीष्ट है तब राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र सीमित ही नहीं बाधक हैं। जनतन्त्र और लोकसत्ता का ही इस सिद्धान्त के साथ सामञ्जस्य बैठता है। राजतन्त्र में राजा के अपने स्वार्थ-सधान से लिये (या अपनी महत्वाकांक्षा के नाम पर) सब कुछ करता है, कुलीनतन्त्र में स्थिर स्वार्थों तथा सकुचित वर्गों का ही लाभ होता है। व्यापक लाभ तो जनतन्त्र में ही सम्भव है। "सब का लाभ" (या सर्वोदय ?) इस सिद्धान्त की कल्पना बेन्थम यों नहीं करता, यह भी विचारणीय है। इसमें अव्यावहारिकता या असम्भाव्य प्रयोग का भाव तो है साथ ही प्राकृतिक विषमता का सिद्धान्त भी गुप्त रीति से छिपा हुआ है। ब्रिटिश विचारों की व्यक्तिवादी परम्परा का यह उदाहरण है। शासन में सुधार

जाने के लिये उसने वयस्क मताधिकार (Adult Franchise or universal manhood Suffrege) गुप्त मतदान, प्रत्यक्ष निर्वाचन, संसद् के वार्षिक अधिवेशन, उचित प्रतिनिधित्व, प्रजातांत्रिक प्रणाली आदि का प्रयोग आवश्यक बताया। इन सुधारों की माँग जनता में उठ रही थी और इंग्लैण्ड में संगठित रूप से इनके लिये प्रयत्न करने वाली संस्थाएँ थीं। बेन्थम ने इनका औचित्य सिद्ध करते हुए शासन को धीरे-धीरे प्रजातांत्रिक मार्ग पर बढ़ने की सलाह दी। संसद् के दो सदनों की प्रणाली को वह अनावश्यक तथा खर्चीली मानता था और इसलिये उच्च सदन (House of Lords) का विरोध करता था। प्रजातन्त्र में शासक और शासित के सामान्य हित होते हैं और प्रजातांत्रिक सरकार अधिक कुशलता, सुरक्षा, मितव्ययिता के साथ काम करते हुए जनता का वर्चस्व बनाये रखती है। बेन्थम के समय में राज्य के कल्याणकारी रूप (Welfare state) की कल्पना स्पष्ट नहीं हुई थी, क्योंकि उसके चिन्तन का मूलाधार समष्टिगत नहीं, व्यक्तिगत था। इसका अभिप्राय यह था कि शासन का प्राथमिक कार्य शांति, सुरक्षा या व्यवस्था बनाये रखना है (यह कार्य पुलिस राज्य के कार्य की ही तरह है।) व्यापार, उद्योग, कृषि आदि में वह शासकीय हस्तक्षेप के विरुद्ध था। मुक्त व्यापार तथा अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति उसने प्रोत्साहित की। उसके मतमें वाणिज्य-व्यापार आदि के क्षेत्रों में निजी साहस (Private or Individual Enterprise) का अधिक महत्व था और सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) की कल्पना तक नहीं की गई थी। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण ही वह सूदखोरी या महाजनी (Usury) जैसी घातक प्रथा को भी न्यायसंगत बताता है और राज्य से इस सम्बन्ध में अहस्तक्षेप की आशा करता है। आर्थिक क्षेत्र में मुक्त प्रतिद्वन्द्विता का वह समर्थक था जिसके परिणामस्वरूप पूँजीवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद आदि की व्यापक धारणाएँ मजबूत होती थीं। वैसे तो उसने उपनिवेशवाद का विरोध किया और यह कहा कि उन्हें स्वतंत्र कर देना चाहिये लेकिन सुनिश्चित आर्थिक आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय नीति चलाने का स्पष्ट रूप उसके सामने नहीं रहा। राज्य द्वारा अहस्तक्षेप का मतलब यह नहीं कि राज्य निष्क्रिय, अकर्मण्य या [illegible] है। अहस्तक्षेप से उसका अभिप्राय [illegible] की नीति ([illegible]) का [illegible] [illegible]

के आधार पर ही प्रयुक्त होते हैं। जहाँ हस्तक्षेप की आवश्यकता हो वहाँ अहस्तक्षेप की बात करना कायरता ही नहीं अनैतिकता भी है। श्रमिकों, निर्धनों अपाहिजों आदि की रक्षा के लिये राज्य को हस्तक्षेप करना ही चाहिये। वह निर्धनों को निःशुल्क शिक्षा देने तथा आर्थिक सहायता देने का समर्थन करता था। स्वास्थ्य, बीमा, बचत, निर्धनों का सुधार आदि विषयों में उसने राज्य के रचनात्मक पक्ष का उल्लेख किया था। अहस्तक्षेप इस प्रकार तटस्थता का दृष्टिकोण था जिससे व्यक्तिगत क्षेत्र को उत्साह तथा उपक्रम मिलता रहे। दूसरे राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति या रक्षा करने के लिये स्तुत्य है। सारांश यह है कि हस्तक्षेप का प्रयोग बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ करना चाहिये। इस तरह का राज्य और शासन व्यक्तिवादी तथा उपयोगितावादी है।

संप्रभुता के सम्बन्ध में बेन्थम ने अद्वितीय, अप्रतिद्वन्द्वी, अद्भुत, सर्वोच्च सत्ता का उल्लेख नहीं किया क्योंकि राज्य की अनन्त शक्ति या उच्चतम सत्ता में उसका विश्वास नहीं है। राज्य की शक्ति क्षमतायुक्त अवश्य है और वह अपने आदेशों के द्वारा जिन विधियों का निर्माण करती है उनका महत्व बहुत ऊँचा है। विधेयन की क्षमता को ही संप्रभुता कह सकते हैं। लेकिन यह भी उपयोगिता की कसौटी पर कसी जाती है। इस तरह की संप्रभुता अनिश्चित तथा सीमित है। लोकमत तथा जनतन्त्र संप्रभुता की मर्यादा हैं। यदि विशाल जनमत किसी विधि का विरोध करता है तो संप्रभु का यह कर्तव्य है कि उसे कानून का रूप कदापि न दे। प्राकृतिक अधिकारों और कानूनों या ऐसे निश्चित कानूनों में जो व्यक्ति को समझौते आदि से प्राप्त हों बेन्थम को सार नहीं दिखलाई देता। प्रकृति स्वतः अमूर्त और अव्यक्त है और प्राकृतिक कानून एक विरोधाभास है। कानून तो केवल ईश्वरीय या मानवीय हो सकते हैं। प्राकृतिक अधिकार ऐसा मनुष्य को कोई नहीं है जिसके भंग होने पर दंड न मिले। व्यक्ति के अधिकारों को निश्चित तथा साकार करने वाली शक्ति ही संप्रभुता है। संप्रभुता अपने आदेशों या कानूनों द्वारा ही अधिकारों का अनुमोदन या संरक्षण करती है। इसलिये राज्य की संप्रभु शक्ति को व्यक्ति के अधिकार मानने के लिये विवश नहीं किया जा सकता। इसका मतलब केवल इतना ही है कि संप्रभु के विरुद्ध व्यक्ति को अधिकार नहीं है। नागरिकों को कर्तव्य पर प्रेरित करना संप्रभु का कार्य है और कभी-कभी इसमें अप्रिय प्रसंग आने पर भी यह कार्य करना ही पड़ता है। बेन्थम के इस विवेचन से यह ध्वनि निकलती है कि व्यक्ति राज्य के सामने कुछ नहीं है, उसे प्रतिरोध का अधिकार नहीं है,

उसे केवल अन्ध-बधिर-दीन की तरह राज्य की आज्ञा माननी चाहिये । यह निष्कर्ष पूर्णतः भ्रान्त तथा संदेहजनक है । बेन्थम आज्ञा-पालन और कानून के प्रति आदर का भाव व्यक्ति से उसी हद तक चाहता है जहाँ तक उसे लाभ हो, उपयोगिता की पूर्ति हो । यदि कानूनों की उपयोगिता नष्ट हो जावे, उनसे हानि होने लगे तो ऐसी स्थिति में प्रतिरोध करना ही होगा । यह प्रतिरोध सामान्य से लेकर क्रान्ति तक का रूप ग्रहण कर सकता है पर प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगिता का दृष्टिकोण रहना लाजिमी है । नागरिक का वैधानिक कर्तव्य है कानूनों का पालन करना लेकिन वहीं तक जिससे उसे प्रतिरोध करने की अपेक्षा आज्ञापालन में अधिक लाभ होता रहे । लेकिन बेन्थम यह भी स्वीकार करता है कि राज्य से बड़ी (भीतर या बाहर) कोई दूसरी शक्ति नहीं है जो राज्य को ही किसी अधिकार के मानने, न मानने के लिये बाध्य कर सके । इस तरह बेन्थम संप्रभु को असीमित अधिकार, (Unlimited Powers) देता है । उसके अनुसार "संप्रभु के अधिकार, भले ही अनन्त न हों, पर अनिश्चित होने ही चाहिये बशर्ते कि स्पष्ट परम्परागत तरीकों से उसे सीमित न किया गया हो ।" इस परिभाषा में संप्रभु के असीमित तथा अनिश्चित अधिकारों का व्यापक दायरा खींचा गया है और साथ ही परम्परागत तरीकों की भी रक्षा की गई है संप्रभु पर यदि प्रतिबन्ध हो सकता है तो वह जनवादी हितों पर आधारित सामूहिक प्रतिरोध की संभावना है जिसे वह स्वयं समझ सकता है ।

विधि, अधिकार, दंड-व्यवस्था :

संप्रभु की इच्छा विधियों के रूप में प्रकट होती है और इसलिये उनकी मान्यता है । संप्रभु के निश्चित आदेशों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा पालन में ही उसका और सब का कल्याण निहित है अर्थात् विधियों की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है इसलिए उनका पालन होना चाहिए । प्राकृतिक विधियों को अस्वीकृत करते हुए बेन्थम ने दो ही विधियाँ मानी हैं—एक तो दैवी और दूसरी मानवी । दैवी विधियाँ या तो रहस्यमय हैं या ज्ञानातीत हैं और उनका स्वरूप भी निश्चित नहीं है (Unascertainable) इसलिये मनुष्यकृत विधियों का निश्चित रूप राज्य के लिये आवश्यक है । संप्रभु का प्रधान कार्य विधेयन या विधि-निर्माण है । विधि की परिभाषा, हाब्स की परिभाषा से मिलती-जुलती, बेन्थम ने इस प्रकार की है—'विधि संप्रभु की इच्छा का आदेशों की तरह अभिव्यक्तीकरण है जिससे राजनीतिक समाज के सदस्य

उसका स्वाभाविक पालन करते हैं।* विधियों के लक्ष्य के विषय में बेन्थम ने बताया कि वे चार प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं—सुरक्षा (Security), वस्तुता (Substance), आधिक्य या समृद्धि (Abundance) और समानता (Equality)। विधियों की उपयोगिता जांचने के लिये यह देखना आवश्यक है कि उनसे नागरिक को यथेष्ट सुरक्षा मिलती है या नहीं? जीवन की आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं या नहीं? यदि मिलती हैं तो कम या अधिक मात्रा में? नागरिकों में पारस्परिक समानता का भाव उत्पन्न होता है या नहीं यदि उपर्युक्त परीक्षण में विधियां सफल हैं तो स्थायित्व और सर्वमान्यता के कारण वे निश्चय ही व्यक्ति और समाज के सुख में परिवृद्धि करेंगी। विधियों का प्रचार व्यापक रूप से होना चाहिये और हर सम्भव प्रयत्न से उसके सभी पक्ष जनता को समझा दिये जावें। यह इसलिये कि कानून की अनभिज्ञता का प्रश्न न उठे। सर्वसाधारण द्वारा पालित होने पर विधियों में स्थायित्व तथा प्रभाव आता है और अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख का लक्ष्य पूरा होता है। विधियों की मान्यता के साथ वह स्वतन्त्रता और क्षमता का भी भक्त है। विधियों का वर्गीकरण उसने चार भागों में किया—अंतर्राष्ट्रीय, संवैधानिक, नागरिक या शासकीय, दण्डसंहिता सम्बन्धी विधियां। राजनीति और न्यायशास्त्र का स्पष्टीकरण भी उसने किया। विधि और न्याय की पूरी समस्या का हल आगे चलकर जान आस्टिन (१७६०-१८५६ ई० The province of jurisprudence defined नामक ग्रन्थ में) ने सफलतापूर्वक किया। विधियों में सुधार का आन्दोलन बेन्थम ने बड़ी तेजी से चलाया क्योंकि उसके समय के कानून जटिल, पेचीदे और दुरूह थे। उसने सबसे पहले उपयोगी कानूनों के संहिताकरण (Codification) की ओर जोर दिया जिससे क्रमबद्ध कानून सरल, सुबोध भाषा में जनता के सामने आ सकें। सस्ते संस्करणों द्वारा उनके प्रचार की बात भी उसने कही। बेन्थम के अनुसार अच्छे कानून के ६ लक्षण होते हैं। पहले तो कानून जनता की आशा-आकांक्षा या विवेक बुद्धि के विपरीत नहीं होना चाहिये। ऐसे कानूनों के प्रचलन से सामाजिक संतुलन बिगड़ता है और विद्रोह की मानसिक पृष्ठ-भूमि तैयार होती है। दूसरे कानूनों का ज्ञान जनता को होना चाहिये। इसके लिये प्रचार, उपक्रम, जनमत-निर्माण आदि का आश्रय लेना चाहिये। पूरी जानकारी होने से कानून का भय जाता रहता है।

---

* Law as the expression of the sovereign will, in the from of a command of a political society which gets the natural obedince of its members.
—Benthem

तीसरे कानूनों में विरोधाभास न हो और उपयोगिता का लक्ष्य धूमिल न होने पाये। चौथे, कानूनों को सरल, स्पष्ट, सुबोध भाषा या भाषाओं में बनाना चाहिये जिससे जटिलता या कुटिलता न उत्पन्न हो। पाँचवें, विधियाँ व्यावहारिक हों क्योंकि अव्यवहार्य कानूनों का तिरस्कार होने लगता है। छठवें, कानूनों का पालन पूर्णरीति से होना चाहिये और कानून भंग के लिये पूरी दण्ड-व्यवस्था भी रहनी चाहिये। कानून तोड़ कर बच जाना समाज में अराजकता का प्रथम चरण है। फौजदारी कानूनों की बेन्थम ने कटु आलोचना की क्योंकि उसमें मानवता की उपेक्षा थी, क्रूरता तथा पाशविकता का प्रयोग था और अधिक परिमाण में दण्ड देने की व्यवस्था थी। बेन्थम के अनुसार फौजदारी कानूनों के निर्माण में मनुष्य तथा परिस्थिति का ध्यान रखना चाहिये और अपराध से अधिक दंड-विधान नहीं होना चाहिये। कानूनों के द्वारा व्यक्ति को कार्यों की ओर प्रेरित किया जाता है। इससे कानूनों के पीछे बल, सुदृढ़ता, प्रभाव (Effectivity) स्वीकृति (Sanctions), तथा दण्ड भय रहता है जिसके कारण मनुष्य साधारणत: कार्यों में गल्तियाँ नहीं करता। दण्ड, भय तथा कार्य के पीछे स्वीकृति के चार प्रकार प्राकृतिक, राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक, बेन्थम ने बताये हैं। इनमें राजनीतिक दण्ड भय सबसे अधिक शक्तिशाली और आतंक-जनक है।

अधिकारों की व्याख्या करते हुए बेन्थम ने कहा कि वे मनुष्य के सुखमय जीवन के नियम-उपनियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों के द्वारा मान्यता दे दी गई है। अर्थात् कानून-सम्मत अधिकारों के अस्तित्व की ही वह चर्चा करता है। व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को व्यर्थ की बकवास (Simple nonsense or meaningless) कहता है और इस तरह अनुबन्ध-वादियों का प्रत्यक्ष खंडन करता है। प्राकृतिक अधिकार की तरह प्राकृतिक विधि की कल्पना भी निरर्थक है। अधिकार कभी प्राकृतिक नहीं होते बल्कि विधि-सम्मत होने से उत्पन्न होते हैं और उपयोगिता के बल पर जीवित रहते हैं। इस प्रकार उसने प्राकृतिक अधिकार के स्थान पर उपयोगिता को प्रतिष्ठित किया। अधिकारों का निश्चय सामाजिक पृष्ठ-भूमि में आवश्यकताओं और परिस्थितियों के बल पर होता है। अधिकारों के साथ ही कर्तव्य का उल्लेख भी आवश्यक है क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अधिकार और कर्तव्य की अधिक व्यवस्थित विवेचना ग्रीन तथा अन्य आदर्शवादियों ने की है। बेन्थम ने दो तरह के अधिकार माने हैं; एक तो वैधानिक और दूसरे नैतिक। वैधानिक अधिकारों से बाह्य आचरण के क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया जाता है। नैतिक अधिकार

आन्तरिक आचरण का विषय है। इन अधिकारों के साथ कर्तव्यों का भी समावेश है क्योंकि कर्तव्यों के अभाव में अधिकार निर्जीव रहेंग। बेन्थम के पहिले टामपेन और गाडविन आदि दार्शनिकों ने अधिकारों का प्रश्न उठाया और मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार तथा प्राकृतिक विधि का अनुशीलन किया। उनके विचारों में दार्शनिकता के साथ तर्क-युग (Age of Reason) की छाप थी। बेन्थम ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया और उनके सिद्धान्तों को दूर ही रखा। सारांश में, सच्चे अधिकार वही हैं जिन्हें कानून का संरक्षण मिल चुका है। अधिकारों की रक्षा और समाज का कल्याण व्यवस्थापक (Legislator) के कुशल हाथों में सौंप दिया गया है। बेन्थम के अनुसार यह व्यवस्थापक ही विवेक और विधि के हाथों से आनन्दवाद का वस्त्र तैयार कर सकता है।* अधिकारों के साथ जागृति (Enilightenment) की भावना का वह प्रशंसक है। उसका विश्वास था कि व्यक्तिगत स्वार्थों और अधिकारों के बीच स्वाभाविक सामञ्जस्य (Natural Harmony) ढूंढ़ा जा सकता था।

दंड व्यवस्था एक ओर तो कानूनों की रक्षा करती है और दूसरी ओर उनका पालन सम्भव बनाती है। अपराधी व्यक्ति किसी न किसी रूप में कानून की मर्यादा का उल्लङ्घन करता है और ऐसा करके वह संप्रभु की इच्छा के विपरीत जाता है या उसे चेतावनी (Challenge) देता है। यदि संप्रभु इस समय मौन है या सत्ता अकर्मण्य है तो अपराध भीषणतम रूप धारण करके सारी व्यवस्था चौपट कर देंगें। व्यक्ति की सुख-प्राप्ति की साधना स्वप्न बन जायेगी और सारी मानवता धूल में मिल जायेगी। दण्ड विधान की सफलता इस बात में है कि उससे समाज कल्याण का लक्ष्य कहाँ तक पूरा होता है। दंड देकर समाज कल्याण करना यह बात निषेधात्मक (Negative) मालूम होती है लेकिन वास्तव में यह विधायक कार्यक्रम है। बेन्थम ने दो सिद्धान्त दंड सम्बन्धी स्थिर किये। पहला यह कि अपराध की मात्रा के अनुसार दंड मिले अर्थात् ऐसा न हो कि सुई की चोरी के लिये प्राणदंड और जीव हत्या के लिये अदालत उठने तक की सजा दी जावे। अपराध और दंड में अनुपात और औचित्य का विचार अवश्य रखना चाहिये। दूसरा यह कि दंड देने का अभिप्राय व्यक्ति का सुधार और समाज पर अच्छा प्रभाव लाना है। दण्ड के पीछे भय की

---

*" As Benthem says the legislator can tear the fabric of felicity by the hands of reason and of law"

—G. H. Sabine—Page 652

भावना तो रहती ही है लेकिन वह भय इस रूप में हो कि व्यक्ति स्वाभाविक रीति से उचित कार्य करने की आदत डाले और दण्ड का प्रश्न ही न उठे। इंग्लैण्ड में समकालीन दण्ड-व्यवस्था अमानुषिक थी। दण्ड-शास्त्र (Penology) में एक युग ऐसा था जब दाँत के बदले दाँत तोड़ना और आँख के बदले आँख निकालना (Tooth for Tooth and Eye for an Eye) सामान्य प्रतिशोध का सिद्धान्त था। इंग्लैण्ड में भी दंड सम्बन्धी कानून बड़े भयावह थे। बेन्थम ने उनमें शीघ्र सुधार का आन्दोलन किया और उसमें पर्याप्त सफलता पाई। कुछ ही महीनों में इंग्लैण्ड में जाली सिक्के (Counterfeit Coins) तथा करेन्सी नोट बनाने के अपराध में एक सौ से अधिक व्यक्तियों को मृत्युदंड दिया जा चुका था। जेलों की हालत बदतर थी और वे साक्षात् नरक के द्वार थे। उनमें सुधार का आन्दोलन शुरू हो चुका था। बेन्थम के अनुसार जेल पश्चात्ताप तथा सुधार के आवास होने चाहिये जहाँ से अपराधी दस नम्बरी या दागी (Confirmed or Hardened Criminal) अपराधी होकर नहीं बल्कि जीवन में नये सिरे से ईमानदारी के साथ चलने की प्रतिज्ञा लेकर बाहर आये। उसने आदर्श जेल का एक मानचित्र भी बनाया जिसमें उसने पेनआप्टिकन (Panopticon) नामक आदर्श इमारत की कल्पना की। यह इमारत चक्राकार थी और इसके बीच में जेल का गवर्नर अपने शीशे के कमरे से चारों ओर कैदियों की बैरकों का निरीक्षण करता था। कैदियों की दिनचर्या सुधारने के साथ-साथ गवर्नर उचित उपचार, आवश्यकता पूर्ति आदि की व्यवस्था भी करता था।* बेन्थम स्वतः इस प्रयोग के लिये जेल का गवर्नर होना चाहता था किन्तु उसकी अभिलाषा पूरी न हुई। उसका दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा, संयम, नियन्त्रण आदि से बड़े से बड़े अपराधी सुधारे जा सकते हैं। उसके अनुसार अपराधियों को उद्योग, कला-कौशल, हस्तोद्योग, शिल्प आदि सिखाना चाहिये जिससे वे जीवनोपयोगी व्यवसाय प्राप्त कर सकें। अवकाश के समय उन्हें धार्मिक, नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिये। दूषित व्यवस्था से समाज में अशान्ति और उपद्रव निरन्तर गन्द होते जाते हैं और लोग सुख-सुविधा का अनुभव करते हैं।

दण्ड देते समय इन्हीं बातों पर अच्छी तरह विचार करना चाहिये। अपराध

---

*आधुनिक जेल अधिकतर इसी प्रकार के बनते हैं जिनमें एक अष्टकोणीय चक्कर (Octagon) बना रहता है, चारों ओर बैरक रहते हैं और बीच के

की मात्रा, परिस्थितियाँ, उद्देश्य (Motive or Intention) हानि, अवस्था आदि का ध्यान रखते हुए दंड विधान करने से उचित अनुपात और संतुलन कायम रहता है। अपराध तथा दण्ड का निर्माण भी उसने उपयोगिता के आधार पर किया। दण्ड स्वयं एक अप्रिय वस्तु है, बुराई है, पीड़ा जनक है, उसे उसी समय देना चाहिए जब अत्यन्त आवश्यक हो, जब उससे अधिक बुराई दूर होती हो। दण्ड चेतावनी स्वरूप हो, निष्पक्ष, प्रकट तथा सब के बीच हो। क्षमा करने से अपराध को प्रोत्साहन ही मिलता है। उसने दण्ड के नियम, लक्षण आदि भी अपनी तालिकाओं में बताये। आचारशास्त्र और मनोविज्ञान का अध्ययन करके ही दण्ड व्यवस्था निर्धारित करने के पक्ष में वह था।

सुधार-योजनायें तथा व्यक्तिवाद .

बेन्थम अपने युग का महान् सुधारक था। उसके सुधारवादी विचारों में उदारता, उपयोगिता, मानवता, बुद्धि-विवेक और व्यावहारिकता थी। विभिन्न क्षेत्रों में उसने सुधार की योजनायें प्रस्तुत की जिनका स्थायी प्रभाव पड़ा। जिस ओर उसका ध्यान गया कुछ न कुछ कमी उसे नजर आई, उसे दुरुस्त करने के लिये उसने अध्ययन-मनन किया और एक योजना सामने रख दी। बेन्थम के इस दृष्टिकोण में डेनमार्क के युवराज हेमलेट की जिज्ञासा छिपी है जिसका उल्लेख शेक्सपियर ने किया है। हेमलेट अपने युग को विसंगतियों और त्रुटियों का युग मानता था और अपने आपको उनका सुधारक। (Times are out of-joints, orcursed spite, That I were born to set it right) लेकिन जहाँ हेमलेट सोचने-बिचारने में ही समाप्त हो गया वहाँ बेन्थम ने ठोस योजनायें लाईं और काम किया। उसके प्रमुख सुधारों का क्षेत्र कानून, न्यायप्रणाली, दण्डव्यवस्था (जेल, सजा आदि) आर्थिक राजनीतिक, शिक्षा सम्बन्धी आदि थे। उनमें से कुछ का उल्लेख पीछे हो चुका है। कानून तथा दण्ड व्यवस्था की सुधार योजनाओं का सर्वत्र स्वागत किया गया और इन्हें स्वीकृत भी किया गया। न्याय-व्यवस्था में उसके जमाने में वकीलों का पेशा निकृष्ट कोटि का था और न्याय बहुत महँगा, दीर्घकालीन, अनुपातहीन, जटिल था। उसके अनुसार न्याय क्रय-विक्रय की वस्तु हो गई थी और पक्षपात तथा भ्रष्टाचार (Favouritism, Graft and Illegal gratification) का बोलबाला था। न्यायालयों के स्वरूप, संगठन, अधिकार क्षेत्र आदि अस्पष्ट तथा अनिश्चित थे। महीनों या बरसों इस बात का ही

निर्णय नहीं होता था कि मुकदमा कहाँ, किस अदालत में चले ? वादी-प्रतिवादी के बीच कोई निर्णय आसानी से नहीं हो पाता था। न्यायाधीश के पास पहुँचने के पहले ही वकीलों और दलालों द्वारा मामले उलझाये-सुलझाये जाते थे। इस तरीके की कड़ी आलोचना करते हुये बेन्थम वकील और मजिस्ट्रेट के सम्मिलित षड्यन्त्र को एक लाभप्रद कम्पनी कहता था जिसमें अपने स्वार्थ के लिए जनता का गला घोंटा जाता, न्याय की हत्या की जाती थी। अर्थात् इस युग में अदालतें थीं, मजिस्ट्रेट थे, अफसर थे, लेकिन यदि कोई चीज नहीं थी तो वह न्याय। बेन्थम ने इसका विरोध किया और अदालतों की रूप-रेखा स्पष्ट की। न्याय को सस्ता, शीघ्र, सरल बनाने के लिये उसके सुझाव मान्य हुए। सर्वप्रथम उसने ही निष्पक्ष पंचों द्वारा फैसले (Jury System) का विधान किया जिसका प्रयोग आज भी महत्वपूर्ण मुकदमों में होता है। आर्थिक सुधारों में बेन्थम अपने समय की आर्थिक विचारधारा का समावेश करना चाहता था। आर्थिक क्षेत्रों में वह एडमस्मिथ तथा अन्य प्रख्यात अर्थशास्त्रियों का अनुयायी था और अर्थ व्यवस्था को राष्ट्र के सामान्य हित में उपयोगी तथा लाभप्रद बनाना चाहता था। इस सम्बन्ध में मुक्त व्यापार, कृषि-वाणिज्य को प्रोत्साहन, निजी उद्योगों की वृद्धि, टेक्सों में कमी, अहस्तक्षेप की नीति (Laissez faire economy), श्रमिकों को संरक्षण, फेक्टरियों में सुधार आदि का वह समर्थक था। राजनैतिक दृष्टि से वह जन तन्त्रवादी था और कानूनों को मान्यता चाहता था। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकार उसने स्पष्टतया स्वीकृत नहीं किये लेकिन इतना अवश्य कहा कि यदि किसी बड़ी बुराई या अन्याय को दूर करने के लिये प्रतिरोध करना पड़े तो वह न्याययुक्त है, जायज है। संप्रभुता को उसने सैद्धान्तिक रूप में सर्वोच्च तथा असीमित माना लेकिन व्यावहारिक रूप में उसे निर्दिष्ट, सीमित तथा उपयोगिता-प्रतिबन्धित मानता था। उसकी शिक्षा सुधार योजना में कोई मौलिकता न थी क्योंकि वह यूनानी शिक्षा व्यवस्था के अधिक करीब था। उसने निर्धनों या निम्नश्रेणी के व्यक्तियों के बच्चों के लिये अलग और मध्यमवर्गीय-उच्चवर्गीय बालकों के लिए अलग शिक्षा-प्रणाली बनाई। निर्धनों या अनाथों को उसके अनुसार, अच्छी आदतें सिखानी चाहिये जिससे उनका स्वभाव-सुधार हो। चरित्र निर्माण की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। कला-कौशल व्यवसाय शिल्प यथा जीविका उपार्जन करने के उपाय भी उनके सामने रखने चाहिए। उनके लिए व्यावसायिक विकास (Vocational development) ही प्रमुख है, आवश्यकता पड़ने पर ही बौद्धिक विकास पर जोर देना चाहिए।

उच्च तथा मध्यम वर्ग के लिए बौद्धिक विकास ही सब कुछ है क्योंकि वे समाज की उच्चतम अनुभूतियों के प्रतीक हैं। उनके लिये धार्मिक, नैतिक या औद्योगिक शिक्षा आवश्यक नहीं है। भाषाओं के ज्ञान के साथ, समाजविज्ञान, विज्ञान आदि का समावेश होना चाहिये। विषयों का चयन सावधानी से करना चाहिये और बुद्धि, अवस्था आदि का ध्यान रखकर उन्हें पढ़ाना चाहिये। सरल विषयों को पहले पढ़ाना चाहिये और कठिन विषयों को बाद में लेना चाहिये। उसकी प्रणाली में यह पद्धति भी थी जिसमें उच्चकक्षा के योग्यता प्राप्त विद्यार्थी नीचे की कुछ कक्षाओं को पढ़ाते थे (Monitor System)—मानीटर एक तरह से पूरी क्लास का नायक भी होता और उपशिक्षक के रूप में उसकी स्थिति है। बेन्थम ने जनशिक्षा (Mass Education) पर भी बल दिया। उसके समय में शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों की विपरीत धारणाएँ थीं और उसका प्रचार भी बहुत कम था। शिक्षा राज्य के कर्तव्यों में से न होकर धार्मिक संस्थाओं या उदार धनिकों का काम माना जाता था। सबके पहले उसने ही शिक्षा को सर्व-साधारण के लिये उपयोगी घोषित करते हुए राज्य का प्राथमिक कर्तव्य निर्धारित किया। शिक्षा के लिये राज्य से न केवल आर्थिक सहायता ही मिलनी चाहिये बल्कि हर सम्भव प्रयत्न से जनता को शिक्षित बनाना राज्य का काम है। शिक्षा से ही सुखानुभूति में सहायता होती है और व्यक्ति-समाज-राज्य की पारस्परिक स्थिति, जीवन के उद्देश्य आदि समझ में आते हैं। भारत में भी लार्ड मेकाले के युग में शिक्षा सम्बन्धी जितने सुधार हुए उनमें बेन्थम के सुझावों को असली रूप दिया गया। बौद्धिक शिक्षा के साथ उसे विविध-रूपीय बनाने में बेन्थम ने सहयोग दिया। बेन्थम के विचारों का प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि उसके समय में ही और बाद में भी सुधार विधेयकों (Reform Bills) की धूम मच गई। स्थानीय प्रशासन (Local Administration), निर्धनों के लिये कानून (Poor Law), सार्वजनिक स्वास्थ्य के कानून, सेविंग्ज बैंक या अन्य सुधारों की जो लहर उठी उसके मूल में बेन्थम के सामयिक, उपयोगी विचारों की प्रेरणा थी। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि उन्नीसवीं सदी के लगभग प्रत्येक सुधार-कार्य में बेन्थम की छाप पड़ी हुई है।

बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों में व्यक्तिवाद की स्पष्ट छाप लगी है क्योंकि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को संसार का श्रेष्ठतम उपहार मानता है। व्यक्ति-वादियों के लिये राज्य एक अनिवार्य बुराई है क्योंकि राज्य के रहते स्वतन्त्रता

पर किसी-न-किसी मात्रा में नियन्त्रण रखना ही पड़ता है (भले ही यह नियंत्रण उदात्त आत्म-स्वार्थ (Enlightned Self-interest) के लिये क्यों न हो ?)। इसका मतलब यह कि राज्य को कभी-कभी अप्रिय कर्तव्य का भी पालन करना पड़ता है और व्यक्ति का सुधार करना पड़ता है। व्यक्ति को स्वतन्त्रता, समानता का जन्म-सिद्ध अधिकार है लेकिन प्रत्येक अधिकार कर्तव्य के माध्यम से व्यक्त होता है और कानूनों द्वारा संरचित रहता है। राज्य स्वतन्त्रता का नियंत्रण यदि करता है तो बहुत कम करता है और वह भी इसलिये कि नियंत्रित स्वतन्त्रता, अनियंत्रित स्वतन्त्रता से अधिक लाभप्रद या श्रेयस्कर है। इस प्रकार यदि राज्य कोई बुराई भी है तो वह अल्प-मात्रा में है (Lesser-evil) तथा दूसरी बुराइयों के निवारणार्थ है। विधियों के द्वारा नियंत्रण करने में राज्य को न्यूनतम विधेयन करना चाहिये क्योंकि बहुत अधिक कानून बनाना प्रत्यक्ष तथा सतत हस्तक्षेप है। नागरिक स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा राज्य में तभी सम्भव है जब कानून का शिकंजा कमजोर रहे। कानून यदि बिलकुल न हो तो अराजकता होगी, अव्यवस्था फैलेगी, सभ्य जीवन असम्भव हो जावेगा। बेन्थम ने विधियों वा राज्य-नियमों की तुलना औषधि से की है। मनुष्य के लिये आदर्श स्थिति आरोग्य की है। किन्तु कभी-कभी औषधियों का प्रयोग आरोग्य लाभ के लिये करना पड़ता है क्योंकि जाने-अनजाने कुछ विकार शरीर में आ ही जाते हैं। इन विकारों को यदि समय पर न रोका गया तो उसके भयानक परिणाम हो सकते हैं जैसे किसी छोटे घाव या चोट की उपेक्षा की जावे तो कभी-कभी वह सड़कर नासूर भी बन सकता है और सारे शरीर में विष फैल सकता है जिससे प्राणान्त हो जाये। लेकिन औषधि लेनी पड़े तो वह कम से कम हो तो ज्यादा अच्छा। अधिक औषधि-प्रयोग स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। लगातार 'फ्रूट साल्ट' या 'क्रूशेन साल्ट' आदि लेने की आवश्यकता पड़े तो यह समझना चाहिये कि पेट की व्यवस्था गड़बड़ है। इसलिये विधियों की न्यूनता तथा अल्प मात्रा समाज के स्वस्थ विकास के लिये सहायक है। विधि निर्माण में संलग्न राज्य का यह भी दायित्व है कि व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता का अपहरण न हो। विधि बनाते समय राज्य के पास यह विचार रहना चाहिये कि विधि का लक्ष्य उन बुराइयों या दुर्व्यवस्था को रोकना है जिसे सारा समाज बुरा कहता है। हत्या, डकैती, मारपीट, चोरी आदि सभी ही जघन्य, असामाजिक बुराइयाँ हैं। लेकिन सूदखोरी, जुआ खेलना शराब पीना आदि व्यक्तिगत कमजोरियाँ हैं और इनके कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है (इस प्रसंग पर टी० एन० ग्रीन के विचार भी देखिये।)

विधि बनने के बाद उल्लंघन करने वाले को दण्ड देना आवश्यक है लेकिन दण्ड देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अपराध करने और दण्ड देने में अधिक नुकसान किस स्थिति में है। यदि किसी ने रात्रि में बिना बत्ती के साइकल चलाई तो क्या इतने मात्र के लिये उसे एक माह का सश्रम कारावास देना चाहिये ? क्या साइकल की बत्ती व एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता बराबर हैं ? इस प्रश्न का उत्तर साफ 'नहीं' में देते हुए बेन्थम कहता है कि जेल भेजना तभी आवश्यक है जब अपराध गुरुतर हो और बिना जेल भेजे सुधार सम्भव न हो । अपराधी व्यक्ति को जेल भेजना राज्य का अप्रिय कर्तव्य है। अधिक व्यक्ति यदि जेल भेजे जावें तो इसका अर्थ यह है कि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता बचाने के मूल कर्तव्य में असफल रहा है।* स्वतन्त्रता की परिभाषा व्यक्तिवादियों की तरह ही उसने की । उसके अनुसार स्वतंत्रता निषेधात्मक है, प्रतिबन्धों का अभाव है। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष पुलिस राज्य है जिसमें बहुमत अथवा प्रजा के हित चिन्तन का प्रश्न ही नहीं उठता। बाहरी आक्रमण से बचाव और आन्तरिक शान्ति का पालन ही एकमात्र उद्देश्य रखने से राज्य में तटस्थ आचरण की वृत्ति आ जाती है। इसका प्रत्यक्ष तथा घातक परिणाम अहस्तक्षेप अथवा ,जो होना है होगा' इस तरह का उपेक्षापूर्ण भाव। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद आन्तरिक विषमता, दरिद्रता तथा संकटपूर्ण स्थिति का मुख्य कारण इस प्रकार की व्यक्तिवादिता ही थी। उपयोगितावादियों ने यदा-कदा हस्तक्षेप का सुझाव दिया वह भी परिस्थिति देख कर । बेन्थम ने प्राकृतिक तथा बहुमूल्य उपयोगिता (या सुख !) की रक्षा के लिये राज्य का कार्य सीमित-संकुचित कर दिया । उपयोगिता का नैसर्गिक अपरिवर्तनशील विशेषता के मोह में बेन्थम व्यक्तिवाद के दायरे में घुस पड़ा। व्यक्तिवाद की अधिक संगत व्याख्या जान स्टुअर्ट मिल ने की और उसे उपयोगितावाद के संपृक्त करा दिया।

---

* इस अभिप्राय का अधिक रोचक स्पष्टीकरण भारत की स्वाधीनता आन्दोलन के समय हुआ। सत्याग्रह-आन्दोलन के समय ब्रिटिश सरकार को लाखों व्यक्तियों को जेल भेजना पड़ा अर्थात् सरकार की असफलता प्रमाणित हो गई। सामूहिक गिरफ्तारी से सरकार की स्थिति कमजोर होती है। लेकिन बेन्थम को शायद ही इस स्थिति का पूर्णाभास कभी हुआ हो ?

अनुदाय और समीक्षा :

बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त ने जीवन के एक प्रमुख तत्व का उद्घाटन किया और प्रत्येक वस्तु का निर्णय करने के लिये एक ठोस आधार सामने रखा। मनुष्य की सुखवृद्धि में सहायक क्रियाओं को मान्य करते हुए उसने उपयोगिता का ही तर्क सामने रखा। उसके अनुसार वह अच्छा शासन है जिसमें सुचारु रीति से काम चलता है, उपयोगी विधियाँ चलती हैं और सार्वजनिक कल्याण का प्रयत्न होता रहता है। *बेन्थम को इस बात से कम प्रयोजन है कि शासन राजतंत्र है, कुलीनतंत्र या गणतंत्र। वह तो यही जानना चाहता है कि उपयोगिता की दृष्टि से कहाँ तक वे लक्ष्यपूर्ति (सुख निर्माण तथा सुखपूर्ति) में सफल हैं ? जनता भी केवल उद्देश्यों की पूर्ति से सरोकार रखती है और तरीकों के पीछे विवाद नहीं करती। बेन्थम ने उपयोगितावाद के केवल व्यावहारिक पक्ष का ही प्रदर्शन किया, उसे कोई दार्शनिक आधार न दे सका। यह काम जान स्टुअर्ट मिल ने किया। इंग्लैंड की जैसी स्थिति थी यदि उसमें बेन्थम की तरह सहृदय विचारक न होता तो आज उसे सभ्य राष्ट्रों की कोटि में बैठने का अवसर शायद ही मिलता। अपने समय के समाज को सर्वथा सुखी बनाने के साधन उसने ढूँढ़े और एक रूप जनता तथा सरकार के सामने रखा। यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी योजनायें ही एकमात्र साधन न थीं अथवा है कि उनसे सम्पूर्ण सुधार हो सकता था। लेकिन यह श्रेय बेन्थम को अवश्य है कि उसने अपने युग की सड़ी-गली या जैसी भी व्यवस्था हो उसकी औचित्य-सिद्धि का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उसकी स्पष्ट गलतियाँ (Glaring defects) बताकर उन्हें सुधारने की चेष्टा की। उपयोगिता का सिद्धान्त तर्क तथा बुद्धि की कसौटी पर भी खरा था और इसलिये बौद्धिक वर्गों में यह सफलतापूर्वक प्रवेश कर गया। स्वार्थ-प्रेरित सामान्य वर्ग तो उसे ही रामबाण समझ बैठे थे। सरकार के कार्यों पर भी प्रकाश डालकर बेन्थम ने उसका उपकार ही किया और समाज के भीतर अनुसन्धान, उपक्रम, उत्साह, साहस आदि का संचार किया। इस कारण प्रत्येक कोने से बेन्थम का नाम फैला और उसकी बातों का असर हुआ। विदेशों में भी बेन्थम का नाम जनप्रिय

"For forms of Govt. let fools contest
What'er is best administered is best"

अलेक्जेण्डर पोप की इन दो पंक्तियों ने इस भाव को अच्छी तरह व्यक्त किया है।

हो गया क्योंकि शासकों ने अलग-अलग देशों में उसके बताये हुए तरीकों के अनुसार प्रयोग किये।

सन् १७९२ में वेन्थम को टामपेन के साथ सम्मानित नागरिकता प्रदान की गई जिसमें उसकी लोकप्रियता का प्रमाण मिलता है। दूसरे देशों से भी उसे उचित सम्मान, निमन्त्रण आदि मिले। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में वेन्थम को सफलता मिली अध्ययन-क्षेत्र में वेन्थम की प्रतिभा अद्वितीय थी। उसने मनोविज्ञान और आचारशास्त्र को नये रूप दिये। उपयोगिता का सहारा लेकर अन्य समाज विज्ञानों का भी स्पष्टीकरण किया गया। इतिहास की उसने उपेक्षा की। राजनीति, अर्थशास्त्र, विधि-शास्त्र आदि के अध्ययन में उसने गम्भीरता और ग्राहकता का परिचय दिया। ये सभी विषय उस समय विकसित हो रहे थे। मनोविज्ञान के आधार पर उसने ऐसा यन्त्र बनाया जिससे मनुष्य की प्रेरक शक्तियों से आदि स्त्रोत, सुख-दुःख का प्रमापीकरण सम्भव हो सके। इसके बाद ही विधिनिर्माण का कार्य सहज हो जाता है। उपयोगितावाद एक सदी से अधिक समय तक मान्य रहा और उससे प्रत्यक्ष लाभ भी हुए। सुधारों की योजना ने तो निश्चित ही समाज का बड़ा उपकार किया। लेकिन राजनैतिक परिवर्तन की गति इन प्रयोगों से शिथिल ही रही और पूंजीवादी व्यवस्था को एक नया सहारा भी मिल गया। वेन्थम के विचारों में भौतिकता और आत्म-तुष्टि को ही स्थान था और इसी कारण उसकी आलोचना भी अधिक की गई। लेकिन उसने आध्यात्मवाद का न तो विरोध किया और न कभी उसकी निरर्थकता प्रमाणित करने की चेष्टा की। आध्यात्म से पहले वह भौतिक सुख-सन्तोष आवश्यक मानता था और इसीलिये धार्मिक-नैतिक विचारकों के पाखण्ड के विरुद्ध वह खड़ा हो सका। धार्मिक-नैतिक विचारकों ने अपने दर्शन का दुरुपयोग भाग्यवादिता के समर्थन में किया और विषमता की जड़ें मजबूत कर दीं। वेन्थम ने उन्हें खोदकर उनमें उपयोगितावाद का मठा डाला। उद्योगपति तथा पूंजीपति उसे अपना हितचिन्तक मानते थे, श्रमिकों के लिये वह मसीहा था। सरकार का वह आलोचक मित्र था और जनता का प्रतिनिधित्व भी करता था। सुधारक होने से उसका प्रत्येक क्षेत्र में आदर सम्मान था। इस तरह अधिकतम सुख की तरह अधिकतम सम्मान का मंत्र भी उसके पास था। यह गुरुमन्त्र उपयोगितावाद था जो ब्रिटेन का बरसों युग-धर्म रहा। बुद्धिजीवियों में वेन्थम का स्थान बहुत ऊंचा था और बाद के विचारक उससे प्रभावित हुए। उपयोगिता का आदर्श रखकर सभी क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई और औद्योगिक क्रान्ति के आश्चर्यजनक लाभ समाज के सामने आये। वेन्थम ने बहुत लिखा, बहुत

कुछ किया, आने वाले युग का मार्ग दर्शन किया। उसकी स्थिति पेशेवर सलाह-कार की हो गई जो प्रत्येक आगन्तुक को बिना निराश किये लौटाता था। उसकी विशेषता यह थी कि समाज की प्रत्येक इकाई को उसने उपयोगी बताया था और प्रत्येक व्यक्ति में समानता का दृष्टिकोण रखता था। प्लेटो की धर्मभावना में भी प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग निर्धारित कार्य करते रहने की सलाह दी गई थी और बेन्थम ने बहुत-कुछ उसका ही अनुसरण किया। बेन्थम की वह घोषणा महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक एक गिना जायेगा और एक से अधिक कोई नहीं (Each to count for one and no one for more than one)। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानता में इस तरह उसकी दृढ़ आस्था है। राजनीति, अर्थशास्त्र में बेन्थम का स्थान महत्वपूर्ण है विशेषतः संसद में प्रतिनिधित्व बढ़ाने, वयस्क मताधिकार, गुप्तमतदान, वार्षिक अधिवेशन, न्यायविधि सुधार, राष्ट्रीय शिक्षा, निर्धन तथा दरिद्र जनता का उद्धार आदि कार्यों में उसका योगदान गौरवपूर्ण रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय विधियों में सुधार की उसने योजना प्रस्तुत की। स्त्रियों के मताधिकार का प्रश्न उसने मजबूती से नहीं उठाया। प्रेस की स्वतन्त्रा का वह प्रबल समर्थक था। प्रशासनिक व्यय में भारी कमी करने तथा बचत या मितव्यता का पालन करने की सलाह उसने दी। सारांश में, उसका अनुदाय उल्लेखनीय था, प्रभाव अनुपेक्षणीय और स्थान श्लाघनीय था।

बेन्थम के उपयोगितावाद का दूसरा पहलू उसके विचारों का खोखलापन पेश करता है और उसके सिद्धान्तों की व्यर्थता प्रमाणित करता है। राजनीति में इन सिद्धान्तों की कटुतम आलोचनाएं समय-समय पर हुई हैं। वैसे सिद्धान्त रूप में बेन्थमवाद स्वीकार नहीं है पर प्रयोग में उसका स्वरूप हर जगह दिखाई देता है। बेन्थम का उपयोगितावाद केवल मात्रात्मक सुख मानता है, गुणात्मक नहीं, यह एक भयावह स्थिति है। खेल-कविता (Pushpin-Poetry) सूत्र से बेन्थम सुखों की जाँच करने के लिये एक ही तरह का माप लेकर बैठ गये हैं। इस सूत्र का अभिप्राय यह हुआ कि गिल्ली डंडा खेलने या सिनेमा देखने में यदि अत्यधिक सुख हो तो वे पुस्तक पढ़ने या लिखने से कम महत्व-पूर्ण नहीं हैं। उपयोगितावादी यह तर्क करेंगे कि सभी वस्तुएँ संसार की अपने में महत्वपूर्ण हैं, हर एक का महत्व अपने-अपने प्रसङ्ग में है। लेकिन केवल मात्रा का मानना नितान्त भ्रामक तर्क है, अव्यावहारिकता है, बौद्धिक विभ्रान्ति है। बेन्थम की इस अपूर्णता का मिल ने खण्डन किया और उसके सिद्धान्तों में सुधार भी किया। मिल का यह कथन महत्वपूर्ण है कि शूकरवत्

संतुष्टि या पूर्णतुष्टि का जीवन बिताने की अपेक्षा सुकरात की तरह असंतुष्ट: विद्वान् होना अधिक श्रेयस्कर है। (It is better to be a Socrates dissatisfied than a pig satisfied) सुकरात का असंतोष व्यापक मानसिक असंतोष, बौद्धिक प्रयास, मानसिक हलचल का द्योतक है जिसमें आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा ज्ञानपिपासा छिपी है। शूकर-तुष्टि-दर्शन (Pig Philosophy) केवल भौतिक अथवा ऐन्द्रिय सुख की परितृप्ति को सर्वस्व मानता है (लेकिन इच्छाओं या वासनाओं का प्रबल ज्वार नहीं रुकता, तृप्ति कभी नहीं मिलती और भौतिकता की लहरों में थपेड़े खाता हुआ मनुष्य डूब जाता है—'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा: की तरह हम स्वत: जीवन से हार मान बैठता हैं !)। इस सिद्धान्त में न तो कोई सार है न प्रामाणिकता। इसलिये बेन्थम का दर्शन पूर्णरूपेण अग्राह्य है। दूसरे बेन्थम ने उपयोगिता का सूत्र वस्तुओं में लगाया जो अधिकांश जड़ वस्तुएँ हैं, मनुष्य की तरह संचेत्य प्राणी में उसने उसका प्रयोग बुद्धिपूर्वक नहीं किया। उसकी उपयोगिता निरी जड़ता या भौतिकवाद का पोषण करती है, व्यक्तिवाद को उभारती है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ-चिन्तन में लीन होकर समाज की उपेक्षा करने लगता है। उपयोगिता का व्यक्तिवादी रूप इसलिये भयानक है कि वह सामूहिक चेतना, इच्छा, अभिव्यक्ति अथवा जीवन को बिलकुल तिरोहित कर देता है। मनुष्य को उपयोगिता के हाथों कठपुतली मानना असत्य ही नहीं, अनुचित भी है। बेन्थम का मनोविज्ञान भी इसी तरह अनेक भ्रान्तियों, त्रुटियों का आगार है। केवल सुख-दुख की चर्चा करना वास्तव में जीवन का अप्रत्याशित ढंग से सरलीकरण (Oversimplification) है। फिर जीवन में सुख-दुख की गति अनिश्चित-सी है। सुख-दुख के बाहर और भी ऐसे गुण, तत्व या भावनाएँ हैं जो केवल उपयोगिता का आवरण नहीं स्वीकार करतीं। देश भक्ति, शौर्य, मातृत्व, वात्सल्य बलिदान, करुणा, औदार्य और ऐसे कई उदात्त गुण उपयोगिता पर कदापि नहीं आश्रित हैं। सत्य और धर्म की रक्षा व्यक्ति सूली तक चढ़ जाता है। बुद्ध, ईसा, गांधी आदि महानतम सत्यान्वेषी थे और इन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग उपयोगिता नहीं बल्कि विशाल मानवता के दृष्टिकोण के किया। बेन्थम के अनुसार चीजों को नापने के लिए एक ही गज (Yardstick) से काम चल जाता है जबकि दूसरे विचारक यह मानते हैं कि ऐसी कोई जादू की लकड़ी दुनियाँ में नहीं है। त्रुटिपूर्ण मनोविज्ञान के साथ ही बेन्थम आचारशास्त्र की भी असंगत व्याख्या करता है। फिर राजनीति में अंकगणित और बाँट-तराजू का प्रयोग निष्फल ही

नहीं हास्यास्पद भी है। इसके सिवाय उपयोगितावाद के नाम से पूँजीवाद और सनातनी शिथिलता का भी समर्थन किया जा सकता है। बेन्थम का सूत्र 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' न केवल रहस्यमय है बल्कि संदेहजनक भी है। अधिकतम व्यक्तियों की कोई संख्या तो है नहीं, यदि कोई प्रभावशाली राजा या शासक हुआ तो वह अपने आपको ही अधिकतम व्यक्तियों का प्रतीक मान सकता है और अपने सुख को ही सर्वस्व समझ सकता है। इस तरह एक दानवी स्थिति (Diabolic monstrosity) पैदा हो जाती है। बेन्थम की अस्पष्टता, मूकवृत्ति तथा संदिग्ध व्याख्या के कारण व्यावहारिक क्षेत्र में अनुचित तरीकों का प्रयोग भी सम्भव हो जाता है। यह अवश्य है कि उसने जागरूक व्यवस्थापक की महत्ता बताई है लेकिन धनिकों के प्रभाव में यह व्यवस्थापक खरीदा जा सकता है और अधिकतम व्यक्ति की जगह अल्पसंख्यक या मुट्ठीभर पूंजीपतियों का शासन या विधि-नियम चल सकता है। बेन्थम की सुधार योजनाओं में भी कोई नवीन प्रक्रिया नहीं नजर आती है बल्कि अनमने भाव से (Half heartedness) विचार करने का भाव लक्षित होता है। इसलिये ग्रन्थों और विचारों की बड़ी-से-बड़ी ढेरी लगाने पर भी बेन्थम को प्रथम कोटि के विचारकों की पंक्ति में रखने में कुछ हिचकिचाहट होती है। 'क्या है ?' और 'क्या होना चाहिये ?' इनका भेद ठीक-ठीक से निर्धारित करने में बेन्थम पूर्णतया असफल रहा। उसने अपना सिद्धांत यह चला दिया कि "जो है, सो ठीक है।" उपयोगिता का सापेक्षिक मूल्य स्थिर करने की चेष्टा उसने नहीं की। समाज में समान की जगह विरोधी स्वार्थों का जहाँ निरंतर संघर्ष बना रहता है वहाँ बेन्थम के सिद्धांत अधिक सहायक नहीं होते। फिर भी इसके महत्व और बेन्थम की सार्वदेशिकता से इंकार नहीं किया जा सकता। उसके सिद्धांतों से 'एक के लिये सब और सब के लिए एक' का सिद्धांत आगे चलकर निकला। आदर्श की कोरी दुहाई देने के बजाय उपयोगिता की आंशिक सत्यता मानने में ही जन कल्याण है।

६—जॉन स्टुअर्ट मिल

(१८०६-१८७३ ई०)

यूरोपीय समाज में उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अप्रत्याशित परिवर्तन हुए इन परिवर्तनों ने समाज का आर्थिक, राजनीतिक ढाँचा बदल डाला, नये मूल्यों की सृष्टि की, मनुष्य को कुशलता और सुखानुभूति की ओर बढ़ाया। उपयोगितावाद इस युग की देन थी जिसके प्रभाव में राज्य कार्य करने लगा। बेन्थम के विचारों ने उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद का समर्थन करके समाज में सुधारों का युग प्रवर्तित किया। इन सुधारों का सामान्य जनता ने स्वागत किया क्योंकि एक ओर उत्पादन, समृद्धि, शक्ति तेजी से बढ़ी जा रही थी, दूसरी ओर मनुष्य का (विशेषतः मध्यमवर्गीय और श्रमिकों का) जीवन-स्तर गिरता जा रहा था। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसे सांस्कृतिक पश्चाद्गामिता अथवा 'विकासपथ का पिछड़ापन' कहते हैं। इस दशा के रहते सभ्य समाज, नागरिक जीवन, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कुछ भी सुरक्षित नहीं रह सकता था। इसलिये मनुष्य की परिपक्व तथा सम्पन्न बुद्धि ने सुधारों के द्वारा उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। बेन्थम की सुधार योजनाओं से समाज और सरकार को बल मिला, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक प्रगति संभव हो सकी। लेकिन उपयोगितावाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह केवल व्यावहारिक या अवसरवादी सिद्धान्त था, उसका कोई तार्किक अथवा दार्शनिक आधार न था। इस पक्ष की ओर बेन्थम का ध्यान तो न गया पर उसके बाद जॉन स्टुअर्ट मिल ने यह कार्य पूरा किया। उपयोगिता के दार्शनिक पक्ष की व्याख्या करने के साथ ही उसने उन भ्रान्तियों और असंगतियों का निराकरण किया जो आलोचकों ने फैला रखी थीं। मिल के संशोधन या परिवर्धन के कारण उपयोगितावाद में अधिक जोर आ गया और मिल को संशोधित उपयोगितावाद (Revised, amended. modified or expurgated utilitarianism) का प्रवर्तक कहा जाता है। बेन्थम के बाद सुधारों की परम्परा रुकी नहीं, बल्कि तेजी से चलने लगी और मिल का तरह सम्पन्न, आकर्षक बुद्धिजीवी ने उसमें अमूल्य सहयोग दिया। मिल ने बेन्थम के विचारों को अधिक सुडौल, आकर्षक तथा चिकना बनाया।

उपयोगितावाद के फलस्वरूप संसदीय सुधारों का आन्दोलन भी सफल हो रहा था। मिल ने उपयोगिता के साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पक्ष लेकर उदारवाद की परम्परा-रक्षा की ओर प्रतिबन्धरहित मुक्त वातावरण तथा क्रियाशीलता का प्रचण्ड समर्थन किया। इसे नकारात्मक तथा व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता भी कहते हैं। मिल के समर्थन से उपयोगितावाद गिरते गिरते सँभल गया और उसे कुछ वर्षों तक और अपना प्रभाव दिखाने का अवसर मिला। अन्यथा यह निश्चित था कि उपयोगितावाद की अकाल मृत्यु हो जाती। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ ही मिल ने प्रजातन्त्र, प्रनिनिधिमूलक शासन, संसदीय सुधार, महिलाओं को स्वतन्त्रता आदि को भी प्रोत्साहन दिया। अपने विचारों में मिल ने 'विचार, अन्वेषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' का पूरा परिचय दिया और बौद्धिक ईमानदारी (Intellectual honesty) के साथ काम किया। उसके दृष्टिकोण में वास्तविकता (Objectivity), निर्भीकत तथा मानवता का आग्रह था। मिल्टन के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'एरोपेजिटिका' की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये लिखित ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय निबन्ध माना जाता है। मिल का ग्रंथ 'स्वतन्त्रता पर' (On Liberty) सामाजिक मूल्यों के पुनर्नवीकरण के साथ वैसा ही आकर्षण उत्पन्न करता है और राजनीति पर स्थायी महत्व का ग्रन्थ है। पुराने उदारपन्थ तथा उपयोगितावाद में उत्साह, आत्म विश्वास, नैतिकता की कमी होने लगी थी और बुद्धि का स्थान रूढ़ि (Dogma) ने ले लिया था। ऐसे समम में मिल के विचारों में कुण्ठा नैराश्य तथा पराजय की मात्रा Degree of disillusionment) मिलना स्वाभाविक ही है। मिल महान् व्यक्तिवादी भी था क्योंकि वह व्यक्ति को ही अन्तिम सत्य (Ultimate Reality) मान कर चलता था। व्यक्तिवाद की संस्थापना करते हुए मिल ने अनुबन्धवाद को पूर्णतया तिरस्कृत कर दिया और यह सिद्ध किया कि समाज समझौते पर आधारित कदापि नहीं है (Society is not founded on a contract) को मिल को अपने पिता जेम्स मिल के विचारों से बड़ी प्रेरणा मिली और प्रतिनिधिमूलक शासन (Representaive Govt.) सम्बन्धी विचार उसे अपने पिता से ही मिले। (जेम्स मिल बेन्थम के सुप्रसिद्ध अनुयायी थे और साहचार्यमूलक मनोविज्ञान (Associationist Psychology) के विशेषज्ञ थे।) लेकिन प्रगतिशील विचारों की दौड़ में वह बेन्थम और अपने पिता से बहुत आगे निकल गया। उसके समय में डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त प्रकाश में आ चुके थे (१८५६ ई० में डार्विन का ग्रन्थ 'जीवधारी की उत्पत्ति' (Origin

of species) छपा था)। हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३) के जीवशास्त्रीय अनुसन्धान और आगस्ट काण्टे (१७९०-१८५७) समाजशास्त्रीय विवेचन से भी वह प्रभावित हुआ। इन सब का समन्वय वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये करने में सफल हुआ। बेन्थम की अपेक्षा मिल के विचारों में अधिक स्थायित्व, तर्कसंगति, मौलिकता और विश्वसनीयता है। बेन्थम की मात्रात्मक सुख की एकाङ्गी धारा को मिल के गुणात्मक सुख के विवेचन से पूर्ण बनाया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सुखानुभूति का सार्वजनिक मंगल के साथ मिल ने अधिकाधिक समन्वय किया। मिल का यह विश्वास था कि सुख की स्वीकृति बाह्य और आन्तरिक दोनों होती है जबकि बेन्थम केवल बाह्यरूप की ही कल्पना करता था। मिल ने अपने पिता और बेन्थम के विपरीत स्वतंत्रता को व्यक्तिगत अधिकार (Personal right) के रूप में ग्रहण किया जो मौलिक अधिकार का ही एक रूप है मिल ने तो यहाँ तक कहा कि मानवता की सारी शक्ति एक असहयोगी की आवाज नहीं दबा सकती और ऐसा कहने में उसने 'अधिकतम सुख के सिद्धान्त' को एक कोने में छोड़ दिया और प्रबुद्ध व्यक्तिवाद का रूप धारण कर लिया। वास्तव में वह सोचने, विचारने, खोजने और जानने के अधिकारों को विवेकपूर्ण जीव के अविभाज्य नैतिक गुणों के रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार मिल ने पुरानी परम्परा को झटका भी दिया। मिल ने समाज-विज्ञान (Social Sciences) के अध्ययन की पद्धति में मौलिक सुधार भी किये। आनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा स्त्री-स्वतन्त्रता का भी उसने उल्लेख किया। इंग्लैण्ड में प्रधान मंत्री ग्लेडस्टोन ने यह कहा कि जब संसद में मिल बोलते तो ऐसा लगता कि हम किसी संतपुरुष की वाणी सुन रहे हैं। मिल का महत्व संसद में हमेशा रहा। उसके आर्थिक विचारों में समाजवाद की पृष्ठभूमि छिपी है क्योंकि वह श्रमिकों की समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन करके उनके अधिकार बतलाता है। मिल की महानता और महत्ता उसकी मौलिकता या नवीनता के कारण है।

परिचय, प्रभाव, पद्धतिः

जान स्टुअर्ट मिल का पिता जेम्स मिल (१७७३-१८३६ ई०) अपने युग का सुप्रसिद्द बेन्थमवादी विचारक था जिसने उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए सुधारकों का साथ दिया। जेम्स मिल भारत में व्यापार करने वाली ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक महत्वपूर्ण पद पर काम करता था। बेन्थम और जेम्स मिल ने यह निश्चय किया था कि अपने लड़के को ऐसी विशिष्ट शिक्षा

देंगे जिसमें वह उपयोगितावाद के प्रचारक बने। जान स्टुअर्ट मिल का जन्म २० मई १८०६ ई० को हुआ, जेम्स मिल का वह प्रथम पुत्र था। पूर्व-प्राथमिक शिक्षण की व्यवस्था इस बालक के लिये ३ वर्ष की आयु से ही की गई। घर पर ही उसके पिता ने नियमित शिक्षण का कार्य प्रारम्भ किया। पाँच वर्षों के इस शिक्षण में उसे ग्रीक, अंगरेजी, गणित आदि की शिक्षा दी गई। फिर उसे लेटिन तथा अन्य साहित्य पढ़ाया गया। प्रारम्भ से ही वह कुशाग्र बुद्धि तथा मेधावी था; आठ वर्ष की आयु में ही उसने प्लेटो के ग्रन्थ पढ़ डाले। आगे चल कर उसने तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विषयों का अध्ययन अपने पिता द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार किया। पिता तथा शिक्षक के नाते जेम्स का अनुशासन और नियंत्रण सतर्कतापूर्ण था। किशोरावस्था में उसे सर सेमुएल बेन्थम के साथ फ्रांस भेज दिया जहाँ उसे पर्याप्त अवकाश रहा और स्वतन्त्रता मिली, साथ ही भौतिक, जीव, वनस्पति आदि शास्त्रों का वैज्ञानिक अध्ययन भी उसने किया। वहाँ से लौटकर उसने सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री जान आस्टिन (१७९०-१८५९ ई०) ने उसे रोमन ला तथा अन्य कानूनों की शिक्षा दी। इसके बाद उसे विभिन्न सभा-सोसाइटी में अपना परिचय बढ़ाने, प्रभाव जमाने के लिये भेजा गया। वहीं उसे भाषण देने और वक्ता बनने का अभ्यास भी हुआ। छोटी उम्र में इतनी अच्छी तथा व्यवस्थित शिक्षा पाकर मिल अपने पिता के सहायक के रूप में 'इंडिया आफिस' में एक पद पर नियुक्त हो गया। इस नौकरी में रहते हुए उसने अपनी साहित्यिक गति-विधि बनाये रखी और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजता रहा। उसके विचारों का अच्छा प्रभाव पड़ा और उसके लेख भी दिलचस्प होते थे। इंडिया आफिस में उसका काम राजकीय पत्र व्यवहार करना था। उसकी लेखनी अद्वितीय थी, प्रारूप बनाने की योग्यता अद्भुत थी। १८५६ में उसने कम्पनी की ओर से पार्लमेण्ट को एक आवेदन-पत्र बनाकर भेजा जिसका प्रारूप ऐतिहासिक महत्व रखता है। उसके शिक्षण में, जो कृत्रिमता से बोझिल था, शारीरिक विकास की ओर कम ध्यान दिया गया था। १८२६ में वह काफी रुग्ण हो गया। बीमारी की हालत में उसे सुप्रसिद्ध स्वच्छन्दतावादी कवि वर्ड्सवर्थ और कालरिज की रचनाओं से प्रेम हो गया। कुछ समय बाद १८३० ई० में उसका परिचय श्रीमती टेलर नामक उच्चवर्गीय महिला से हुआ जिसने उसके जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाये। श्रीमती टेलर धनाढ्य, संभ्रांत परिवार की महिला थीं। अपनी सहृदयता, बौद्धिक प्रतिभा, तीक्ष्ण बुद्धि, गुणग्राहकता आदि के लिये वह

प्रसिद्ध थीं। उसके गुणों का मिल पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि अपने परिवार तथा मित्रों के द्वारा विरोध होने पर भी उसने उस महिला से १८५१ ई० में विवाह कर लिया। इतना तीव्र आकर्षण और अनुराग होने पर यह परिणय स्वाभाविक था। इस महिला के कारण ही मिल के विचारों में मानवता का विनम्र प्रभाव पड़ा। वास्तव में यह संपर्क दो अद्भुत शक्तियों और प्रतिभाओं के बीच था। दुर्भाग्य से श्रीमती टेलर की मृत्यु विवाह के ७ वर्ष बाद ही सन् १८५८ ई० में हो गई। मिल ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'लिवर्टी' अपनी पत्नी के नाम ही समर्पित की। विधुर मिल की वेदना का अनुमान लगाना कवियों के ही काम है। फ्रांस के एविगनन नामक नगर में जहाँ उसकी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मिल ने अपनी पत्नी की कब्र के पास ही एक छोटे मकान में जीवन के अन्तिम दिन बिताये। १८६५ से १८६८ ई० तक वह पार्लमिएट का सदस्य भी रहा और उसके वक्तव्य वहाँ बड़े ही महत्वपूर्ण रहे। शासकीय और विरोधी दलों में उसका सम्मान बराबर था। पार्लमिएट में रह कर उसने आयरलैण्ड के भूमि सुधार, मजदूरों के हित तथा स्त्री मताधिकार के लिये बराबर आन्दोलन किया। उसके विचारों और कार्यों को प्रगतिशील या क्रान्तिकारी उदारवाद भी कह सकते हैं। ८ मई १८७३ ई० को एविगनन में ही उसकी मृत्यु हो गई। मिल का जीवन रहस्य और आकर्षण का मनोरम संगम-स्थल है। प्रखर बौद्धिक प्रतिभा, आन्दोलनकारी क्षमता, स्नेही, संवेदनशील हृदय, (सहानुभूति और वेदनाकातरता), अदम्य स्वातन्त्र्य वृत्ति, लेखन तथा भाषण कुशलता, इन सबका सुन्दर समन्वय उसके जीवन में हुआ। उसके जीवन में बौद्धिक स्थिरीकरण (Indoctrination) की भीषण प्रतिक्रिया हुई क्योंकि बचपन से ही उसे पिटे-पिटाये मार्ग पर बेरहमी से चलाया गया। फलस्वरूप उसकी उन्मुक्त आकांक्षा रोमान्स और पूर्ण बौद्धिक स्वातन्त्र्य के माध्यम से प्रकट हुई। वह उदार, निर्भीक तथा स्पष्टवादी था, नये समाज का स्वप्नद्रष्टा था।

मिल ने अपने जीवन में कई महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक निबन्ध, समस्यामूलक सैद्धान्तिक ग्रन्थ, व्यक्तिगत संस्मरण आदि लिखे। संपूर्ण रूप से संकलित उसका साहित्य काफी सम्पन्न है। उसके महत्वपूर्ण ग्रन्थ दो ही माने जाते हैं, एक तो "स्वतन्त्रता पर" (On Liberty) जो सन् १८५६ ई० में पांच वर्षों के अथक परिश्रम के बाद लिखा गया और दूसरा प्रतिनिधिमूलक शासन पर विचार (Considerations on Representative Govt.)

जो १८६० ई० में प्रकाशित हुआ 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Political Economy) के नाम से प्रामाणिक पाठ्यग्रन्थ का प्रणयन उसने १८४८ ई० में किया था। उसकी अर्थशास्त्रीय धारणाओं का प्रभाव फेबियन विचारकों पर पड़ा। सबसे पहले १८३८-४० ई० में 'लन्दन एण्ड वेस्टमिन्स्टर रिव्यू' में उसके दो मौलिक निबन्ध बेन्थम तथा कालरिज पर लिखे गये जो अपनी बौद्धिक उत्तेजना तथा न्यायप्रियता के लिये प्रसिद्ध थे। १८४३ ई० में उसने तर्क शास्त्र की प्रणाली (The System of Logic) पर अपने विचार लिखे। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मिल ने व्यक्तिमूलक तथा अनुभूत्यात्मक तर्क-पद्धति में महत्वपूर्ण सुधार किये थे। उसको 'उपयोगितावादी तर्कशास्त्र' का निर्माता भी कहते हैं। आर्थिक क्षेत्र के विवादास्पद प्रश्नों की भी छान-बीन उसने की। १८६३ ई० में उसके अपने विचार उपयोगितावाद पर प्रबन्ध (Trertise on Utilitarianism) के नाम से प्रकाशित हुए। कुछ समय बाद हेमिल्टन के दार्शनिक विचारों की उसने आलोचना की। १८६६ ई० में उसकी पुस्तक "महिलाओं का दासत्व" (Subjection of Women) निकली जो उसकी निश्चित विचारधारा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रचार ग्रन्थ है। मृत्यु के बाद महत्वपूर्ण पत्र (Letters), आत्मकथा (Auto-biography) तथा तीन धार्मिक निबन्ध (Three essays on Religion) प्रकाशित हुए।

मिल पर प्रारम्भ से ही अपने विद्वान पिता जेम्स मिल और उनके मित्र जेरेमी बेन्थम का स्थायी प्रभाव पड़ा जिसके कारण उपयोगितावाद की विचारधारा उसे पैतृक विरासत के रूप में मिली। उसकी शिक्षा प्रणाली आकर्षक, व्यवस्थित तथा उच्चस्तरीय थी। उचित शिक्षा-दीक्षा, संरक्षण-संवर्धन ने उसके व्यक्तित्व को अच्छी तरह निखार दिया। सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री जान आस्टिन का राजनीतिक क्षेत्र में तथा अर्थशास्त्रियों में एडमस्मिथ, रिकार्डो, मालथस, एडम फार्गूसन आदि की 'आर्थिक उदारतावाद' (Ecconomic Liberalism) की व्यापक विचारधारा का प्रभाव भी उस पर था। उसकी पत्नी श्री मती टेलर ने उसके जीवन को आमूल प्रभावित किया और उसे मानवतावाद (Humanism) की ओर मोड़ा। आंग्ल तथा फ्रेंच साहित्य की विभिन्न काव्यधारा तथा साहित्यिक विशेषता का वह भक्त था। ऑगस्ट काम्टे ने उसकी चिन्तनधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया। सेन्ट साइमन के काल्पनिक समाजवादी विचारों से भी वह परिचित था। इन बहुमुखी प्रभावों

के बावजूद मिल की मौलिकता छिपी नहीं है। उसका दृष्टिकोण समन्वयात्मक तो था ही, नवीनता का भी प्रेमी था। उसका सबसे महत्वपूर्ण योग है समाज-विज्ञान की नई अध्ययन पद्धति।

प्रारम्भिक उतारतावादी तथा उपयोगितावादी विचारकों की बुनियादी कमजोरी यह थी कि उन्होंने समाज के संस्थागत स्वरूप तथा संस्था के ऐतिहासिक विकास की पूर्णरूपेण उपेक्षा की थी। उन्होंने नैतिक तथा आर्थिक आचार प्रक्रिया समझाने के लिये सार्वभौम मनोवैज्ञानिक कारणों का सहारा लिया जैसे सुनिश्चित स्वार्थ भावना (Calculated Self-interest) आदत आदि) लेकिन यह सार्वभौम सत्य वे भूल गये कि किसी भी समाज में इन कारणों से प्रेरित कार्य ऐतिहासिक अवस्था, विकासवादी विचार तथा संस्थामूलक विशेषता से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। चिन्तनधारा की इस एकाङ्गी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ तो रूसो ने किया लेकिन हीगेल ने उसे गतिशील बनाया। हीगेल के विचार 'ऐतिहासिक विकास समझने की कुंजो' थे। इसी समय वर्डसवर्थ और कालरिज की नई स्वच्छन्दवादी धारा का अभ्युदय हुआ। कालरिज ने भावगुम्फित कल्पना (Esemplastic Imagination) का आविष्कार किया जिससे विचारों को व्यापकता, ग्राह्यता तथा बल मिला। सामाजिक प्रगति की चिन्तन करने के लिये टरगो (Turgot) तथा कान्डोरसे (Condorcet) के विचारों से प्रेरणा लेकर ऑगस्ट कान्टे ने समाजशास्त्रीय दर्शन (Sociogical interpretation) की स्थापना की। मिल ने इसे स्वीकार किया। इस तरह कालरिज की काव्यधारा और कान्टे की समाजधारा का प्रभाव मिल पर पड़ा। इसका विवेचन मिल ने अपनी आत्मकथा में किया है। "मनाव मस्तिष्क सम्भावित प्रगति की निश्चित दिशा में चलता है जिसमें कुछ बातें आगे-पीछे आती रहती हैं। इस गति या नियम मे सरकार या सुधारक कुछ हद तक ही परिवर्तन कर सकते हैं, अनिश्चित या अमर्यादित सीमा तक नहीं। राजनीतिक संस्थान और उनकी समस्यायें निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं (Relative, not absolute)। मनुष्य की प्रगति की अलग-अलग अवस्था में अलग-अलग संस्थाएं न केवल होंगी, बल्कि होनी चाहिये। शासन सदैव समाज की सर्वोच्च शक्ति में रहता है या उस ओर जाता है और वह सर्वोच्च शक्ति कौन सी है या होगी यह संस्थाओं पर आश्रित नहीं है बल्कि संस्थाएं ही उस पर आश्रित हैं। किसी भी सामान्य या राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्त में मानव प्रगति की पूर्व कल्पना अनिवार्य है और यही बात इतिहास में भी लागू है'—(आत्मकथा)

लेकिन यह भी सत्य है कि मानवप्रगति की निःशर्त स्वीकृति का नियम तार्किक विभीषिका का प्रतीक है। मिल ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया। उसने काम्टे की ऐतिहासिक साधारणीकरण (Historical Generalisation) की धारा का विवेकपूर्वक अनुशीलन किया। इस नियम के अनुसार ज्ञान की ३ स्थितियाँ निरूपित की गई हैं, धर्ममूलक (Theological), तत्वमूलक (Metaphysical) और (Scientific) इनके साथ ही सैनिक, वैधानिक औद्योगिक व्यवस्था का गहरा सम्बन्ध है। इस नियम में धीरे-धीरे अनुभव के आधार पर ज्ञान परिपक्व होता है। मिल ने विशुद्ध अनुभूति-मूलक पद्धति का परित्याग करके आगमन और निगमन का समन्वय किया। मिल में आशावादिता तो अवश्य थी लेकिन पूर्णत्ववादी (Perfectionist) वह न था। अध्ययन-पद्धति के सम्बन्ध में मिल ने ४ तरह के भेद किये—रासायनिक पद्धति रेखागणित की पद्धति, भौतिक पद्धति और ऐतिहासिक पद्धति। पहली दो पद्धतियों का प्रयोग सामाजिक विज्ञान के लिए लाभदायक नहीं है। भौतिक और ऐतिहासिक पद्धति से राजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों का उत्तम अध्ययन हो सकता है। इन दोनों के समन्वय को समाजशास्त्रीय पद्धति भी कह सकते हैं जिसमें आगमनात्मक और निगमनात्मक पद्धतियों का सम्मिश्रण है और मनोविज्ञान का प्रयोग है। इसकी विशेषता यह है कि आग्रह या कट्टरता के बिना भी मिल युक्तिपूर्वक अपने विचारों की अकाट्य प्रामाणिकता सिद्ध करता है।

मिल के मूल विचारों को संक्षेप में व्यक्त करने के लिये उसके निष्कर्षों पर ध्यान देना होगा। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार वेन्थम की तरह स्पष्ट तथा निस्संदिग्ध हैं। 'समाज अनुबन्ध पर आधारित नहीं है।' यह विश्वास वेन्थम की तरह मिल का भी था। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये ही शासन का निर्माण हुआ है। शासन सार्वजनिक कल्याण का लक्ष्य पूरा करता है। राजनीतिक संस्थान तथा समुदाय मनुष्य की इच्छा तथा अभिरुचि की पूर्ति करते हैं और उन पर ही आश्रित हैं। शासन को प्राप्त होने वाले अधिकार जनता के सहयोग पर अवलम्बित है। राज्य का उद्देश्य है मानव समाज के बीच गुण और बुद्धि की वृद्धि करना और सार्वजनिक उपयोगिता की सिद्धि करना। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व्यक्तित्व-विकास की पहिली और अन्तिम सीढ़ी है। राज्य का कर्तव्य स्वातन्त्र्य-रक्षा है। एक-एक व्यक्तित्व से सारे विश्व का सर्वतोमुखी मनोरंजक व्यक्तित्व बनता है और सृष्टि सार्थक होती

है। उपयोगिता के आधार से पूर्ण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण समर्थित होता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिल के विचारों का सारभूततत्व है। इसका विवेचन करने में मिल ने अपनी प्रगाढ़ प्रतिभा का परिचय दिया है।

स्वतन्त्रता—सिद्धान्त, साधन, समीक्षा :

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल ने अपनी निष्पक्ष, निडर बौद्धिकता का परिचय दिया। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन करनेवालों में मिल का नाम अग्रगण्य है। उपयोगितावाद की धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता और व्यक्तिवाद का समर्थन करते समय उसने ऐतिहासिक विकास की ओर ध्यान दिया। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य उन्नति कर सका, इसका मूल कारण क्या था ? मूल कारण थे व्यक्ति का अदम्य उत्साह, अपरिमित बुद्धि, अशेष शौर्य और अथक परिश्रम। व्यक्ति में जब तक ये भावनाएँ कूट-कूटकर भरी रहती हैं उसमें बढ़ने की प्रेरणा रहती है। मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा प्रकाश तभी फैलता है जब उसे इन गुणों को प्रदर्शित करने के अवसर बराबर मिलते रहें। जीवन में ऐसे अवसर मिलने ही चाहिए जिससे संतुलित व्यक्तित्व और बौद्धिकता के सम्पर्क से दक्षता और श्रेष्ठता प्रमाणित करने की सुविधा मिले। क्योंकि प्रतिभावान् या सुयोग्य व्यक्ति आखिर समाज के लिये ही एक देन है। मिल की यह घोषणा युग की माँग थी। उन दिनों इङ्गलैण्ड में जनतान्त्रिक भावनाओं का विकास हो रहा था। संसदीय प्रणाली का विधिवत् प्रयोग करने में शासन तरह-तरह के नियम-उपनियम बनाता जा रहा था। अनेक विधियों और अधिनियमों से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था। *इसका आशय यह था कि शासकीय लौह-पाश में व्यक्तित्व को जकड़ा जा रहा* था। इससे तो प्रजातन्त्र की भावना ही समूल नष्ट होती थी। इसलिये मिल ने सभी प्रतिबन्धकारी कानूनों का विरोध किया। व्यक्तित्व-विकास का अभिप्राय मिल का यह नहीं था कि समाज विरोधी प्रवृत्तियों को भी खुलकर खेलने का मौका दिया जावे। उन पर तो प्रतिबन्ध होना ही चाहिये और वह भी सामाजिक उपयोगिता तथासुरक्षा के ख्याल से। मनुष्य में एक ओर जहाँ अखण्ड स्नेह, सहयोग, सद्भावना का आधार है वहीं कुछ पाशविक वृत्तियाँ भी समय-समय पर जोर मारती हैं इन पाशविक वृत्तियों को दबाना उचित है क्योंकि उससे स्वतन्त्र कार्य की बाधा दूर होती है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय पूर्ण निषेधात्मक (प्रतिबन्धों का अभाव) न होकर विधायक था (बाह्य कार्य स्वतन्त्रता)। स्वतन्त्रता इसलिये दी जानी चाहिये कि उससे व्यक्ति को अपने सामाजिक कर्तव्य और

उत्तरदायित्व का बोध रहता है और उनके पालन से सामाजिक प्रगति का न्याय रक्षित रहता है। मिल ने अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी पुस्तक में यह घोषणा की कि उसके सिद्धान्त निश्चित तथा उन्नत सामाजिक अवस्था के लिये हैं। प्रजातांत्रिक देशों में जहाँ राज्य प्रगतिशील, जनता जागरूक, शासन दक्ष हो, वहीं उसके सिद्धांत लागू हो सकते हैं। पिछड़े देशों में अथवा असङ्गठित, अपरिपक्व स्थिति वाले व्यक्तियों में इसका प्रयोग वर्जित है। उसी प्रकार पराधीन, विकृत भ्रष्ट, अपराधी लोगों के लिये भी इस स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। पिछड़े देशों में तो निरंकुश शासन ही ठीक है क्योंकि वहाँ उन्नति के लिये बल प्रयोग तथा दमन आवश्यक है और उनसे सामाजिक उपयोगिता ही पुष्ट होती है। स्वतन्त्रता के सिद्धान्त उसी स्थिति में व्यवहार्य हैं जबकि व्यक्तियों ने स्वतन्त्र और समान स्तर पर निष्पक्ष वाद-विवाद द्वारा (By Free and equal Discussion) आत्मशासन या आत्मोन्नति करने का निर्णय करने की योग्यता प्राप्त करली हो। इस योग्यता के अभाव में किसी न किसी प्रकार का आततायित्व अप्रासङ्गिक न होगा। बार्कर के अनुसार मिल ने स्वतन्त्रता को वाह्य कार्य करने की स्वतन्त्र भावना (Conception of Liberty as External Freedom of Action) से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक मौलिकता के विकास की ओर (Free play ef Spiritual Originality) बढ़ाया। लेकिन सरकार इस स्थिति को मानने के लिये तैयार नहीं थी, इसीलिये मिल को प्रचार और आन्दोलन का मार्ग ग्रहण करना पड़ा। उसने मानवता के मानसिक स्वास्थ्य (Mental well being) पर ध्यान देते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि विचारों की तथा विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। डेविडसन ने मिल के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते हुए यह बताया कि स्वतन्त्रता की कल्पना में केवल बौद्धिकता का जाल ही नहीं फैलाना चाहिये बल्कि व्यक्ति की भावना-आकांक्षा-रुचि को पूरा स्थान देना चाहिये। इसका अभिप्राय यह नहीं कि बौद्धिकता का विरोध हो या स्वतन्त्रता का अपहरण किया जावे। दूसरी बात यह कि सामाजिक कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति के दृष्टिकोण को भी महत्व दिया जावे। व्यक्ति की मनोदशा, आकांक्षा, उपयोगिता, क्षमता आदि का ध्यान रखने से मनुष्य का कल्याण करने में उत्साह वृद्धि होती है। जीवन में विविध उद्देश्य, बहुमुखी प्रगति तथा आध्यात्मिक एकता के लिये व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मिल की व्यक्तिनिष्ठा इस प्रकार प्रकट हो गई है · तीसरी बात उसने यह कही कि उन विधि, नियम, अधिनियम, परम्परा आदि का विरोध

करना चाहिये जिनसे विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में विघ्न उपस्थित होता हो। ऐसे कानूनों को गलाघोंटू या काले कानून कहा जाता है। मिल के सिद्धान्त में यह खूबी है कि मिल स्वयं व्यक्ति को अलग-अलग आधार पर मूर्ख तथा स्वार्थी कहता था और सामूहिक रूप में उसे अधकचरा (Mediodre) मानता था। लेकिन सामूहिक आतंक (Collective Tyranny) का वह विरोधी था इसलिये किसी भी रूप में स्वतन्त्रता का पक्ष लेना चाहता था। स्वतन्त्रता की बुनियादी रूपरेखा जो मिल ने खड़ी की वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता थी, न कि समूहों की स्वतन्त्रता या दार्शनिक स्वतन्त्रता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के दो आधारों का उल्लेख मिल ने किया, एक तो विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought of Experession) और दूसरे कार्य की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)। स्वतन्त्रता का समर्थन वह स्वाभाविक आवश्यकता के बल पर करता है, फिर समाज में उसकी उपयोगिता निरूपित करता है। स्वतन्त्रता की उपयोगिता का यह तकाजा है कि व्यक्ति के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप हो अर्थात् व्यक्तिवाद और अहस्तक्षेप (Laissez faire) के सिद्धान्त अपने आप निकलते हैं। इसके सिद्धान्त प्रकारान्तर से प्रजातन्त्र के विरुद्ध स्वतन्त्रता का समर्थन (A Defense of liberty against democracy) करते हैं क्योंकि प्रजातन्त्र में अधिकतर यह देखा जाता है कि जनता बुद्धिजीवियों से दूर ही रहती है। लेकिन यह स्थिति मिल नहीं स्वीकार कर सकता, इसलिये वह श्रमिकों से अपेक्षा करता है कि वे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का अनुसरण करें।

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मानव प्रगति के लिये अनिवार्य है, सत्य का सम्यक् परीक्षण इनके बिना असम्भव है। मिल के अनुसार व्यक्ति के मत सत्य, मिथ्या, अर्धसत्य, अर्धमिथ्या इनमें से एक होते हैं। सत्य विचारों को दबाने का अर्थ है समाज के लिये उपयोगी तत्व का दमन करना क्योंकि सत्य का ज्ञान मानव का महानतम कल्याण है। इसकी अनुपस्थिति में समाज न केवल अंधेरे में भटकता है बल्कि गलत मार्ग पर चला जाता है। इसलिये सत्य के प्रकट करने के सम्भव उपाय का स्वागत समाज और राज्य को करना चाहिये। इस स्वतन्त्रता को चरम सीमा पर पहुँचाते हुए मिल ने यहाँ तक कहा कि समाज में एक ही धुनवाले सनकियों को भी इस स्वतन्त्रता का पूरा अधिकार है। जिस समाज में इनकी बात नहीं सुनी जाती वह स्वस्थ समाज नहीं है क्योंकि यह कोई नहीं जानता कि सनकी कब कौन-सी बात कह जाय जिससे

सत्य का अनावरण हो अथवा उसमें सहायता मिले। * अक्सर यह देखा जाता है कि धुनवाले व्यक्ति ही किसी नवीन विचारधारा को जन्म दे पाते हैं। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के पक्ष में मिल का तर्क विचारणीय है। कभी-कभी यह होता कि युग की प्रचलित विचारधारा भ्रान्त पथ पर हो। और उसे नवीन मार्ग पर लाने के प्रयास स्तुत्य हों। ऐसी स्थिति में नये विचारों का दमन नहीं करना चाहिए। क्योंकि 'पुराना ही अच्छा और नया बुरा' यह विचार भ्रामक है। समाज की रूढ़ मान्यताओं के विपरीत नया जीवन-दर्शन प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति सनकी न होकर संत या महापुरुष होते हैं जैसे सुकरात, ईसा आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है। सुकरात और ईसा नवीन विचारधारा के प्रवर्तक हैं, सत्य का अन्वेषण करने वाले पुरुषार्थी थे। सत्ताधारियों ने उनके विचारों का दमन करने के लिये हर सम्भव उपाय काम में लाया, उन्हें प्राणदण्ड तक दिया। लेकिन मानवता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन महात्माओं की बानी सत्य थी और सत्ताधारी पथभ्रष्ट थे। आने वाले युग ने ईसा को अवतारी पुरुष माना और उनके धार्मिक प्रवचन को शिरोधार्य किया। सुकरात के ज्ञानदर्शन का लाभ प्लेटो, अरिस्टाटल ने उठाया और आज भी उसे यूनानी दर्शन का आदि गुरु माना जाता है। जिन्हें शासकों ने तिरस्कृत किया, जहर पिलाया, सूली पर लटकाया, वे ही भविष्य के निर्माता, मनीषी, महापुरुष सिद्ध हुए। इसलिये सनकी कहकर विचारों का दमन करना सर्वथा अनुचित है। मिल ने डाक्टर जान्सन के इस मत का खण्डन किया कि सत्य हर स्थिति में (चाहे दमन भी क्यों न हो ?) प्रकट होकर ही रहता है। डा० जान्सन के अनुसार दमन और विरोध सत्य के प्रकाश को और अधिक ज्योतित कर देते हैं! किन्तु इतिहास इस बात का खण्डन करता है। सुधार, प्रगति, क्रान्ति की विचारधारा रोकने का कुफल यह तो होता है कि समाज पिछड़ जाता है। इस ओर जो काम शीघ्रता से होना चाहिये था उसमें अनावश्यक विलंब होता है। इस संबंध में मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६ ई०) का उदाहरण देते हुए मिल ने कहा कि यदि उसके पहले होने वाले धार्मिक सुधार आन्दोलन को बेहरमी से न कुचला जाता तो बहुत सम्भव था कि महत्वपूर्ण सुधारवादी धाराएँ पहले ही सफल हो जातीं और लूथर का काम अधिक आसान हो जाता।

---

*No society in which eccentricity is a matter of reproach can be in a wholesome state. —J. S. Mill

यह तो ध्रुवसत्य है कि दमन अथवा अन्य किसी भी उपाय से किसी भी सत्यवादी विचारधारा का अन्त नहीं हो सकता। लेकिन कठिनाइयाँ, व्याघात अथवा व्यवधान अवश्य ही पैदा किये जा सकते हैं इनके द्वारा होने वाला विलम्ब समाज के लिये, मानवता के लिये हानिकारक है। इसलिये सत्य का मार्ग अवरुद्ध न करके विचार, भाषण-स्वातन्त्र्य द्वारा उसे अधिकाधिक पुष्ट करना चाहिये। दूसरे महत्वपूर्ण बात यह है कि सत्य के कई रूप या पहलू होते हैं जो एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। एकाङ्गी सत्य के पक्षधर संकुचित दृष्टिकोण के कारण अपने विचारों को ही एकमात्र सत्य मान बैठते हैं पर इससे बहुत नुकसान होता है। प्रत्येक विचार के सत्यांश ग्रहण करने की वृत्ति रहने से समाज का उपकार होता है। सत्य की ठेकेदारी का दावा कोई व्यक्ति या वर्ग नहीं कर सकता। इसलिये उसका प्रकाश चारों ओर से आने देने के लिये कानून और दिल की खिड़कियाँ सदैव खुली रहनी चाहिये। विचार-विमर्श वाद-विवाद आदि से सत्य के निष्कर्ष तक पहुँचने में आसानी होती है ('वादे वादे जायते तत्वबोधः' इस नियम के अनुसार) सत्य को समझना, मिथ्या से उसका विभेद करना और अन्त में अलग-अलग अंशों में विभाजित सत्य को एकत्रकर, समन्वित कर उसका स्वरूप निश्चित करना किसी भी सत्य साधक या शोधक का प्राथमिक कर्तव्य है। और राज्य को इस कार्य में पूरी-पूरी सहायता करनी चाहिये। विविध रूपों में प्रकट होने वाले विविध सत्य का समन्वय करना (सर्व-धर्म-सम्मेलन नहीं बल्कि समन्वय) विचारों की श्रेष्ठतम उपयोगिता की प्राप्ति है। इसके लिये स्वतन्त्र तर्क, विचार-विनिमय, भाषण-संभाषण आवश्यक हैं। तीसरी बात मिल ने यह कही कि प्रचलित और मान्य विचारधारा कभी-कभी रूढ़ (Dogmatic) हो जाती है और उसमें सत्य रहने पर भी उसके अनुयायी तर्क करने या विचारों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने से इन्कार करते हैं। ऐसी स्थिति में अंधविश्वास या अंधपरम्परा की उत्पत्ति होती है जो प्रगति के लिये घातक है। तर्क से बुद्धि में तीक्ष्णता आती है, सत्य की परख होती है, मानवकल्याण होता है, अंधभक्ति से विवेक कुण्ठित होता, व्यर्थ का मोहजाल फैलता है और सत्य तिरोहित होता जाता है। इसलिये तर्क-पथ सर्वोत्तम है। मिल ने एक उत्कृष्ट बुद्धिजीवी की तरह इस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वास्तव में वही विचार सत्य सिद्ध होता है जो तर्क के संघर्ष में विजयी हो, क्योंकि जो वस्तु योग्य रहती है वही जीवित रहती है। यह सिद्धान्त मिल ने प्राणिशास्त्र से ग्रहण करके राज्य द्वारा विचार, भाषण, तर्क लेख आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये प्रयुक्त किया। इस सम्बन्ध में

मिल ने प्राचीन धर्माचार्यों तथा धर्मानुयायों का उदाहरण दिया है। प्राचीन काल में धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासु लोग बराबर तर्क करके शङ्का-समाधान किया करते थे इसलिये उनके सिद्धान्तों में स्थिरता, तीक्ष्णता और सत्याचरण का भाव था। अपने विश्वासों की रक्षा में प्राणोत्सर्ग करना वहीं शोभनीय है जहाँ विश्वास तर्क की कसौटी पर खरे साबित हुए हों। अतएव अन्ध-विश्वास की जगह सच्ची श्रद्धा और अदम्य आत्म-विश्वास करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता का वातावरण अपेक्षित है। फिर मिल विचारधाराओं के पारस्परिक संघर्ष अथवा विचार-मन्थन को भी आवश्यक समझता है।

स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगानेवाले अधिकारी कभी-कभी यह घोषित करते है कि हानिकारक बातों के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाने से स्वतन्त्रता की हत्या नहीं होती और ऐसा करके राज्य अपने कर्तव्य की पूर्ति करता है। लेकिन इस बात को मिल नहीं स्वीकार करता (यदि कोई बात मिथ्या, हानिकारक या अपकारी है तो वह व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के विरुद्ध है इसलिये वह स्वयं चल सकने में अयोग्य है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। मिथ्या का पर्दा-फाश अपने आप हो जाता है इसलिये प्रतिबन्ध अनावश्यक है। इसी प्रकार अर्द्ध सत्य पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये। कभी-कभी यह होता है कि समष्टिगत विचार जो बहुधा मूढ़ता या जड़ता के प्रतीक हैं, गलत सिद्ध होते हैं और एक विशिष्ट व्यक्ति की बातें जो शेष से भिन्न हैं, समाजोपयोगी कार्य कर जाती हैं। इसलिये प्रतिबन्ध का मतलब हुआ कि उस एक व्यक्ति का मुँह बन्द कर देना। जिस प्रकार एक व्यक्ति चाहे जितना निरंकुश हो समाज के विचार नहीं रोक सकता उसी प्रकार समाज भी एक व्यक्ति के विचार नहीं दबा सकता। नकारात्मक स्वतन्त्रता की कल्पना करते ही मिल उसके विधायक पक्ष का विवेचन भी करता है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मिल की तर्क प्रणाली अन्य प्रणालियों से भिन्न है। उसके अनुसार वस्तु की अनुभूति या व्याप्तिमूलक ज्ञान ही सब कुछ नहीं है, उसका परीक्षण और समर्थन स्वतन्त्र तर्क से भी होना चाहिये। इस प्रक्रिया से दूसरों की बताई चीजों को ग्रहण या कण्ठस्थ करना पर्याप्त नहीं है बल्कि अपना स्वतन्त्र चिन्तन या तर्क करते हुए उन निष्कर्षों पर पहुँचना श्रेयस्कर है। मिल के इस कथनानुसार पाठ्यपुस्तकों, अध्यापकों और नेताओं द्वारा की गई आलोचना सूक्ष्म व स्वतन्त्र तार्किक विवेचन के बाद ही ग्राह्य है।

कार्य की स्वतन्त्रता :

वैचारिक स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण वाह्य पक्ष कार्य है । दृष्टि, संकल्प, सृष्टि ये मनुष्य के अविभाज्य अंग हैं और कार्यों द्वारा मनुष्य अपना अनुदाय समाज को देता है । यह अनुदाय उसके व्यक्तित्व का मानवीय तत्व है, साथ ही सामाजिक प्रगति का अन्यतम साधन है । आविष्कार करने वालों ने अपने निभृत एकांत के किये कार्य को सारी सृष्टि के लिये उपयोगी बना दिया । यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक केवल सोचता ही है पर आचरण में दूसरों की आज्ञा ही मानता है तो वह जीवित दास (Slave) है क्योंकि उसके मन और शरीर पृथक् हैं, वह अपूर्ण मानव हैं । सोचने-समझने बोलने और कार्य करने की आजादी एक ही प्रधान तत्व की सीढ़ियाँ हैं, इनमें से कोई हटाई नहीं जा सकतीं । स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन वैसा ही है कि पक्षी उड़ना तो चाहता है, पर पंख नहीं है । कार्य-स्वतन्त्रता में मर्यादा का अन्वेषण मिल ने अवश्य किया है और वह राज्य के हस्तक्षेप की सीमायें निश्चित करना चाहता है । मनुष्य के कार्यों के दो पक्ष हैं एक स्वकीय या व्यक्तिगत (Self-regarding) और दूसरा सामाजिक या परकीय (Other-regarding) उन कार्यों पर मिल के अनुसार प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये जो पूर्णतय व्यक्तिगत हैं और जिनका सामाजिक प्रभाव नहीं या नगण्य है । शराब-पीना ऐसा ही व्यक्तिगत कार्य है, बशर्ते कि वह एकान्त में हो, और मिल उसके लिए छूट देता है । इसका आशय यह नहीं कि मिल मद्यपान का प्रचारक है । वह मद्यनिषेध ही करता है पर कानून के द्वारा नहीं बल्कि आन्तरिक संकल्प और संघर्ष के द्वारा । लेकिन सार्वजनिक रूप से यह स्थिति मान्य नहीं है । व्यक्तिगत उत्तरदायित्व जीवन के आन्तरिक और वाह्य दोनों पक्षों के लिये है और इसलिये आचरण सम्बन्धी सजगता आवश्यक है । मिल के इस विवेचन में व्यक्ति की कार्य-सम्बन्धी स्वतन्त्रता और राज्य के प्रतिबन्ध या हस्तक्षेप के बीच बहुत थोड़ा ही अन्तर है । ऐसा व्यक्तिगत कार्य जो पड़ोसी या अन्य लोगों की स्वतन्त्रता में बाधक बने निषिद्ध है और राज्य को उसमें हस्तक्षेप करना ही होगा । यदि कोई व्यक्ति अपने घर में आग लगा ले और दूसरों को ललकार कर कहे कि आप लोग बुझाने वाले कौन होते हैं तो यह कार्य स्वतन्त्रता नहीं मूर्खता का द्योतक है क्योंकि उसके घर की आग पड़ोसियों का घर जला सकती है । सामाजिक क्षेत्र या पक्ष वाले कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप करना ही पड़ता है । लेकिन व्यक्तिवादी मिल इस हस्तक्षेप को वहीं तक उचित मानता है जहाँ तक उससे असामाजिक कार्यों को रोका जा सके । व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्षेत्रों में विभेद

करने के पश्चात् मिल ने कार्यों की स्वतन्त्रता को चरित्र निर्माण तथा सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बताया। चरित्र-निर्माण में व्यक्तिगत अनुभव तथा परीक्षण के बाद किया गया संकल्प कार्यरूप में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों लाभ देता है। बुरी आदतों या क्रियाओं को रोकने के लिये राज्य को परोक्ष रीति से हस्तक्षेप करना चाहिये। इन परोक्ष रीतियों में निवारणात्मक उपाय, शिक्षा-प्रचार, प्रोत्साहन, चित्र-प्रदर्शन आदि हैं। मिल की योजना के अनुसार मद्यनिषेध के लिये कानून बनाकर सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती, और न राज्य को ही मधुशाला बन्द करानी चाहिये। मद्यनिषेध तब सफल होता है जब शराबी मधुशाला के पास जाकर अपने शीशे-पैमाने फोड़ दे, आत्म-संघर्ष और विचार-मन्थन द्वारा यह निश्चय कर ले कि उसे शराब छोड़ देनी है, क्योंकि वह हानिकारक है। उसी प्रकार जुआ खेलने की समस्या को भी दूर करना चाहिए। लेकिन इन प्रसंगों पर मिल व्यक्ति से उस बात की आशा करता है जो साधारणतः असम्भव है। ('विकार हेतौ सति विक्रयन्ते येषां न चेतांसि त-एव धीरा' इस परिभाषा के अनुसार उच्चकोटि के धीर और श्रीमान् पुरुष ही शायद भ्रष्ट नहीं हो पाते, सामान्य व्यक्ति से यह आशा व्यर्थ है।) मिल का तात्पर्य यह है कि चरित्रगठन के लिये आन्तरिक संघर्ष अधिक लाभदायक है। उसी प्रकार मिल प्रथा, परम्परा, सामाजिक रूढ़ियों के नियन्त्रण से व्यक्तित्व को मुक्त करना चाहता है क्योंकि इनसे विकास दब-सा जाता है (Constricted)। यह बहुधा देखा जाता है कि मुक्त, स्वस्थ तथा स्वतन्त्र वातावरण के अभाव में व्यक्ति का जीवन सामाजिक संस्कारों (या कुसंस्कारों ?) और परम्परागत आचारों में उलझा हुआ घुटने लगता है। एकान्त, सीमित, संकुचित जीवन (Cabined, Cribbed, Confined) समाज कल्याण की भावना के विरुद्ध है। मिल ने अनुसन्धानकर्ता तथा आविष्कारक को अधिक श्रेय दिया है क्योंकि वह नवपथ-प्रदर्शक होता है। जनसाधारण विमूढ़ सामान्यता का पर्याय है और अद्वितीय प्रतिभावान् प्रदर्शक (Genius) जनसाधारण से पृथक् रहना चाहता है। समाज और राज्य का कर्तव्य है कि अभूतपूर्व प्रतिभा वाले व्यक्तियों को प्रोत्साहन दे। सारांश में, मिल कार्यों की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते समय व्यक्तिगत विभिन्नता तथा विविधता (Diversity) पर जोर देता है। भावहीन समरसता या एकरूपता (Dull and dead uniformity) का वह घोर विरोधी है। लेकिन विविधता का अभिप्राय बहुरूपियापन या अश्लीलता-प्रदर्शन नहीं है। यूरोपीय समाज से मिल को यह शिकायत थी कि उसमें एक ही आकार-प्रकार के व्यक्ति गढ़े जाते थे।

इसीलिये वह राज्य द्वारा शिक्षा का भी विरोधी था क्योंकि वह बच्चों को एक निश्चित सांचे में ढालती थी। मिल के विचार से प्रगतिशील होने के लिये यह आवश्यक है कि अलग-अलग धाराओं का समन्वय करने की सामर्थ्य हो।

मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की पर्याप्त आलोचना दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्ष की ओर से की गई है। स्वतन्त्रता और उसके पीछे तर्क की दीवार खड़ी करने के प्रयास में मिल स्वतः भावावेश में बह गया और दीवार उठाने के बजाय नींव ही खोदता रह गया। मिल के विचारों में सबसे बड़ा यह दोष है कि वह असामान्य, सनकपूर्ण चिन्तन (Eccentricity) को अनावश्यक महत्व देता है। सनकी व्यक्ति अथवा उनके साथी किसी असाधारण विकार या अपसामान्यता (Abnormality) से ग्रस्त रहते हैं, विक्षिप्त होने के साथ विकृत मस्तिष्क के भी होते हैं। उनको यदि स्वतन्त्रता दे दी गई तो समाज में संगति (Social harmony) का अभाव हो जायेगा। दार्शनिक तथा बौद्धिक पक्ष से मिल का यह विचार उचित नहीं है कि बिना तर्क और अनुभव के कोई सत्य स्वीकार नहीं करना चाहिये। यह तो एक घोर संशयवादी (Sceptic) की स्थिति है जो "मैं हूँ या नहीं हूँ' इस द्वन्द्व में ही गर्क रहता है। संसार में ऐसे कई क्षेत्र तथा विषय हैं जहाँ तर्क सदैव काम नहीं देता ('नैषा तर्केण मतिरापनेया' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार कहीं-कहीं क्या अधिकांश क्षेत्रों में श्रद्धा या विश्वास रखना ही पड़ता है !)। अक्सर यह देखा जाता है कि तर्क-वितर्क में उलझने वाले कुतर्क ही करते हैं और व्यर्थ के वितण्डावाद में अपनी शक्ति क्षीण करते हैं। मिल का व्यक्तिगत और सामाजिक पक्षों में कार्य-विभाजन का सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि कार्यों के सम्बन्ध में इस तरह की सीमा-रेखा कब, कहाँ कितनी खींची जानी चाहिये, इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। जुआ खेलना या शराब पीना व्यक्तिगत कार्य अवश्य है लेकिन क्या इन के सामाजिक दुष्परिणाम नहीं दिखाई देते ? शराबी या जुआड़ी स्वयं पतित होकर अपने परिवार को भी संकटपूर्ण स्थिति में डाल देता है। इनके लिये मिल ने आत्म-संघर्ष का पाठ पढ़ाया वह भी व्यर्थ-सा ही है क्योंकि उससे सुधार की अपेक्षा परेशानी ही अधिक होती है। आज के युग में इन सब सामाजिक बुराइयों या विकृतियों का निदान वैज्ञानिक ढंग से होता है और ऐसी परिस्थितियाँ राज्य के परिश्रम से उत्पन्न की जाती हैं जिनसे ऐसे विकार सदा के लिये दूर हो जावें।* अर्नेस्ट

*इस सम्बन्ध में जिज्ञासुओं को (Sin and Science by Dyson Carter) डायसन कार्टर की 'पाप और विज्ञान' विषयक पुस्तक पढ़नी चाहिये।

बार्कर ने मिल को अमूर्त व्यक्तिवाद और खोखली स्वतन्त्रता का ढोल पीटने वाला कहा है। अधिकारों की स्पष्ट कल्पना और धारणा के अभाव में स्वतन्त्रता अमूर्त रूप लिये रहती है। मिल को सामाजिक पूर्णता (Social whole) का स्पष्ट आभास नहीं था जिसमें राज्य बनाम व्यक्ति (State vs. Individual) का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है मिल ने सापेक्षिक स्वतन्त्रता का उल्लेख न करके भावुकता का ही परिचय दिया है। उसकी स्वतन्त्रता बौद्धिक अधिक और व्यावहारिक कम है। लेकिन इन आलोचनाओं के बावजूद मिल की कल्पना मनोरंजक तथा प्रभावक है। व्यक्तिवाद के पक्ष में एक ही महत्वपूर्ण दलील मिल के ग्रन्थ के रूप में है। आज प्रत्येक सभ्य देश में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की स्वीकृति के रूप में स्वतन्त्रता को ठोस रूप दिया गया है। स्वतन्त्रता की भावना आज न केवल विचार, भाषण, कार्य तक ही सीमित है वल्कि उसका विशदीकरण हो गया है। अन्तःकरण की स्वतन्त्रता (Freedom of Conscience), धार्मिक-सांस्कृतिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति-जीवन की स्वतन्त्रता, संघ बनाने, विचरण करने की स्वतन्त्रता, संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था आदि की कल्पना आज प्रत्यक्ष रीति से साकार हो गई है। प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट की चार स्वतन्त्रता (Four Freedoms) का सिद्धान्त विख्यात है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता पर अधिक गम्भीर, विस्तृत, वैज्ञानिक विवेचन आज प्राप्य है। लेकिन मिल को इसके प्रारम्भिक प्रचार तथा समर्थन का श्रेय अवश्य है। मिल का स्वतन्त्रता-सम्बन्धी ग्रन्थ न केवल राजनीतिक महत्व रखता है वल्कि साहित्यिक विशेषता या शास्त्रीयता भी।

प्रतिनिधिमूलक शासन तथा राज्य के कार्य :

मिल के युग में प्रजातन्त्रवाद की प्रवृत्तियाँ बड़ी मजबूती से उभर रही थीं और ब्रिटिश संसद का महत्व दिनों दिन बढ़ता जाता था। जनता में जागृति आने के फलस्वरूप राजनीतिक दलबन्दी वगैरह का जोर भी बढ़ता जाता था। लेकिन साथ ही शासन की गम्भीर त्रुटियाँ और संसद का उच्च-वर्गीय अधिनायकत्व चिन्ता के विषय थे। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थन करने के बाद मिल ने अपना ध्यान ऐसे शासन की ओर केन्द्रित किया जिसमें व्यक्ति का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव हो और प्रजातांत्रिक नियमों के अनुसार प्रत्येक योग्यता-प्राप्त व्यक्ति इसका अवसर पा सके। सच्चा प्रजातन्त्र तो वह है जिसमें सभी नागरिक प्रत्यक्ष रीति से शासन कार्य में भाग लें। लेकिन यह सम्भव नहीं है। प्राचीन यूनान में नगर-राज्यों की सीमित जनता इस तरह

की व्यवस्था चला सकती थी लेकिन क्षेत्रफल, जनसंख्या आदि के विस्तार से यह प्रयोग असम्भव हो गया। मिल यह स्वीकार करता है कि सबसे अच्छा आदर्श शासन वह है जिसमें सर्वोच्च नियंत्रण-शक्ति, संप्रभुता पूरे समाज की योगात्मक इकाई में निहित हो; प्रत्येक व्यक्ति इस संप्रभुता के निर्माण में योग ही न दे, बल्कि समय आने पर सार्वजनिक पद ग्रहण कर शासन में भाग ले और अपना कर्तव्य पूरा करे। लेकिन यह प्रयोग सम्भव नहीं है इसलिये सर्वोत्तम शासन प्रतिनिधिमूलक (Representative Govt.) ही होना चाहिये। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अनिवार्य परिणाम प्रतिनिधि-शासन है और वही प्रजातन्त्र का सच्चा स्वरूप है। इस शासन में संप्रभुता राज्य के नागरिकों द्वारा निर्वाचित सभा या संसद में निहित रहती है। लेकिन व्यक्ति को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की छूट रहती है क्योंकि संसद केवल कुछ विषयों पर ही नियंत्रण कर सकती है संसद में निर्वाचित प्रतिनिधि न केवल क्षेत्रीय आधार पर बल्कि सामूहिक रूप से जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे। मिल अपने गुरु आस्टिन की इस बात से तो सहमत था कि प्रत्येक राजनीतिक समाज में निश्चित उच्चाधिकारी या संप्रभु (Determinate Political Superior or Sovereign) होना चाहिये लेकिन उसे वह प्रतीकात्मक ही मानता था। उसके अनुसार संसद इस प्रकार की संप्रभुता की द्योतक है। लेकिन संसद का कार्य (जो प्रतिनिधिमूलक संस्था है) केवल परीक्षण और नियंत्रण करना (Scrutiny and Control) है; वह सक्रिय विधेयन (Active Legisation) अथवा सक्रिय प्रशासकीय हस्तक्षेप (Active Administrative Interference) नहीं कर सकती। प्रतिनिधि व्यवस्था की उपयोगिता के सम्बन्ध में आगे चलकर श्रेणी समाजवादी विचारधारा ने (Guild Socialism) अनेक आपत्तियां प्रस्तुत कीं। लेकिन आज व्यावहारिक रूप से यह व्यवस्था सर्वत्र प्रचलित है। जन-तंत्र का अभिप्राय ही प्रतिनिधि, निर्वाचन, मताधिकार आदि है। मिल के युग में प्रजातन्त्र में उग्रता (Radical Democracy) की भावना पनपती जा रही थी। मिल स्वयं जनतांत्रिक आतंक (Democratic despotism) को राजतंत्रीय या कुलीनतंत्रीय आतंक से अधिक भयावह मानता था। अतिशय जनतन्त्र (Extreme democracy) से समस्त व्यक्तितत्व के विलुप्त हो जाने का डर है। प्रतिनिधिमूलक शासन के सम्बन्ध में मिल ने दो तरह के खतरों से आगाह किया है। पहला खतरा अज्ञानता और अयोग्यता है, क्योंकि संसद अथवा विधान मण्डल में धन, सत्ता,

धूर्तता, स्वार्थ आदि के बल पर प्रतिनिधि घुस जाते हैं और न्यस्त स्वार्थों का समर्थन करते हैं (प्रजातंत्र के इस खतरे का विवेचन अधिक विस्तार से आगे किया गया। प्रजातन्त्र को अयोग्यता का तन्त्र (Cult of Incompetence) कहा गया। निर्वाचनों में धनिकों असामाजिक तत्वों और दलालों आदि द्वारा किये जाने वाले कार्य भी प्रजातन्त्र के लिये चुनौती हैं।) इसलिये प्रतिनिधि के रूप में केवल बुद्धिवान्, विवेकी, सुशिक्षित, उदार, सहृदय, परोपकारी, व्यापक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति ही भेजे जाने चाहिये, क्योंकि वह प्रतिनिधि जनता की सामूहिक बुद्धि का प्रतीक है। दूसरा खतरा उस प्रभाव का है जो सार्वजनिक कल्याण के विपरीत हो और कतिपय स्वार्थी धाराओं से बँधा हो। प्रतिनिधि शासन में संख्या या बहुमत (Numerical Majority) को अधिक प्रश्रय दिया जाता है जो सामूहिक विमूढ़ता (Collective Mediocrity) का प्रतीक है। बहुधा बहुमत का विशाल यन्त्र या रथ (Steam roller or juggernaut) अल्पसंख्यकों और बुद्धिजीवियों को अपने पहिये के नीचे चूर-चूर कर देता है। यह स्थिति समाज के लिये बहुत ही खतरनाक है। निर्वाचन प्रणाली में यह दोष देखा जाता है कि संसद् अथवा विधान सभा में कभी-कभी संयोगवश किसी दल को अधिक स्थान प्राप्त होते हैं पर उसके अनुपात से मतों की संख्या कम रहती है। समान प्रतिनिधित्व के प्रति यह एक तरह का अन्याय है। प्रजातन्त्र की सफलता का मूलमंत्र वयस्क मताधिकार है क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति शासकीय कार्य में योगदान करता है और समाज का संगठित दृष्टिकोण सामने आता है। प्रजातन्त्र अथवा अन्य शासन के विषय में यह कहा जाता है कि जनता जैसी होती है वैसी ही सरकार बनती है (People get the type of govt. they deserve)। अर्थात् जनमत के बल पर ही सरकार का निर्णय होता है इसलिये जनमत का महत्व सर्वापेक्षा अधिक है। लेकिन वयस्क या बालिग मताधिकार के साथ ही बुद्धि, शिक्षा, योग्यता प्रतिभा आदि के आधार पर एक से अधिक मत देने की व्यवस्था (Plurality of Votes) होनी चाहिये। साधारणतः प्रत्येक वयस्क को एक मत देने का अधिकार है लेकिन अधिक से अधिक पाँच मत तक किसी सुयोग्य व्यक्ति को दिये जा सकते हैं। इस प्रथा से, मिल के अनुसार, अवांछनीय तत्वों को बहुतायत से प्रवेश न मिल सकेगा और बुद्धिजीवियों के मत वजनदार तथा प्रभावक होंगे। व्यक्ति की योग्यता के अनुसार इस प्रकार मतों की संख्या निश्चित हो जानी चाहिये। अल्पसंख्यकों तथा योग्य व्यक्तियों के निर्वाचन के लिये बह

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation) का सुझाव देता है। इसके अनुसार उम्मीदवारों में मतों का विभाजन तथा वितरण होता है और निश्चित संख्या पाने पर प्रत्येक उम्मीदवार विजयी घोषित कर दिया जाता है। इस सिद्धांत की खोज सबसे पहले थामस हेयर (Thomas Hare) ने की थी और यह प्रथा हेयर पद्धति (Hare system) के नाम से विख्यात थी। इस पद्धति को वह प्रशासन के सिद्धान्त तथा प्रयोग में श्रेष्ठतम प्रगति के रूप में स्वीकार करता था। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा तथा महत्ता दर्शाते हुए मिल बहुलवाद के प्रवर्तकों में से (One of the progenitors of modern pluralism) एक माना जाता है। मिल गुप्त मतदान (Secret ballot) के विरुद्ध था क्योंकि मतदान को वह एक नैतिक उत्तरदायित्व मानता था जिसमें गोपनीयता अवांछनीय थी। स्त्रियों को मताधिकार देने का वह सबसे बड़ा समर्थक था। संसद सदस्यों को वेतन दिये जाने के वह विरुद्ध था। उसने इंगलैण्ड के राजतन्त्र पर अपनी राय नहीं दी लेकिन उच्च सदन को वह उपयोगी संस्था मानता था जिसमें विधेयकों के प्रारूप तैयार किये जा सकते थे। इसके साथ ही वह शासन द्वारा आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में हस्तक्षेप के विरुद्ध था। मिल के अनुसार संसद-केवल कुछ महत्वपूर्ण विधियों का निर्माण करती है और संतुलन, सुरक्षा आदि का काम करती है। बाकी सभी काम व्यक्ति आपस में ही कर लेते हैं, उन्हें अधिक कानूनों की आवश्यकता नहीं है। जितने अधिक कानून होंगे उतना अधिक स्वतन्त्रता का अपहरण होगा। मिल का व्यक्तिवाद यहाँ स्पष्ट हो जाता है। हस्तक्षेप नीति (laissez faire) का समर्थन करते हुए उसने कहा कि मनुष्य अपने हित के कार्य रुचिपूर्वक करता है, अपने स्वार्थों के प्रति सजग रहता है, इसलिये आर्थिक और सामाजिक मामलों में उसे अधिक से अधिक छूट मिलनी चाहिये। उपयोगितावादी मिल इस सम्बन्ध में व्यक्ति को राज्य से अधिक महत्व देता है। दूसरी बात यह कि मनुष्य स्वतः काम करते-करते अनुभववृद्ध, स्वावलंबी तथा कुशल होता है, इसलिये राज्य-मुखापेक्षी होना ठीक नहीं। नागरिकों को अपना कार्य अपने निर्णय के आधार पर ही करना चाहिये। तीसरी बात यह कि सरकारी कार्यों में व्यापकता, केन्द्रीकरण, नौकरशाही, लालफीता आदि के कारण व्यक्तिगत उत्साह मर जाता इसलिये सरकारी कार्य कम से कम हों तो अधिक अच्छा होगा। राज्य की बहुमुखी योजनाएं और सर्वग्रासी वृत्ति से न व्यक्ति को लाभ है, न समाज को, इसलिये अहस्तक्षेप की नीति का पालन होना चाहिये। हस्तक्षेप एक विकार है, उसी तरह जैसे राज्य एक आवश्यक विकार है, इसका उपयोग जितना कम

करना पड़े उतना श्रेयस्कर है। मिल के अनुसार वह शासन सर्वोत्तम है जो सब से कम या बिलकुल नहीं नियन्त्रण करता (that govt. is best which administers or governs least)। राज्य का लक्ष्य शांति स्थापित करना है जिससे सत्य-सिद्धि हो सके। सत्य-सिद्धि के लिए विचार, भाषण, लेख की स्वतन्त्रता चाहिये। कार्य की स्वतन्त्रता चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व विकास के लिये आवश्यक है।

राज्य के कार्यों का उल्लेख करते समय मिल ने अपना व्यक्तिवादी दर्शन बड़ी मजबूती से चालाया है। राज्य का एकमात्र कार्य उसके अनुसार ऐसे स्वस्थ, स्वतन्त्र वातावरण का निर्माण है जिसमें विचारमंथन, सत्यान्वेषण, अनुभववृद्धि, चरित्र-निर्माण आदि की क्षमता हो। पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना इनकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह राज्य का रचनात्मक कार्य है। इसके साथ ही निषेधात्मक कार्य भी राज्य का है और वह है व्यक्ति अथवा समाज पर प्रतिबन्ध लगाना। यह कब और कितना लगाया जावे इसका स्पष्टीकरण मिल ने किया है। प्रतिबन्ध के लिये राज्य विधियाँ बना सकता है लेकिन वे कम से कम हों। पहला प्रतिबन्ध राज्य उस स्थिति में लगा सकता है जब सामाजिक अव्यवस्था, अराजकता, अशान्ति फैलने का डर हो। ऐसे समय में हस्तक्षेप न्यायपूर्ण तथा सामयिक व लाभकर है। इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों की मर्यादा भङ्ग होने पर भी राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिये। उदाहरण के लिये विद्यार्थियों की परीक्षा के समय पड़ोस के कुछ सज्जन मध्यरात्रि में माइक्रोफोन पर गाना चालू कर दें या दूसरा कोई अध्याय प्रारम्भ करें जिससे छात्रों की पढ़ाई में बाधा हो, तो इस कार्य को रोकना राज्य का कर्तव्य है। गाने-बजाने वाले सज्जन इस दशा में अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहे हैं और ऐसा करके कई लोगों को नुकसान पहुँचा रहे हैं। इसके सिवाय युद्ध, विप्लव, उपद्रव, आर्थिक-राजनीतिक संकट, आकस्मिक विपत्ति अथवा आपात स्थिति के समय राज्य द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध उचित हैं। मिल के अनुसार राज्य को केवल निम्नलिखित कार्यों से सरोकार रखना चाहिये और शेष व्यक्ति की मर्जी पर छोड़ देना चाहिये। एक तो बाह्य तथा आन्तरिक आक्रमण से देश को बचाना, इसके लिये फौज रखना। दूसरे सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था करना, इसके लिये पुलिस रखना। तीसरे, अत्यन्त उपयोगी और कम से कम कानून बनाना, इसके लिये विधान मण्डल रखना। चौथे, विधियों के विरुद्ध काम करने वालों को दण्ड देना और इसके लिये

अदालतें तथा न्यायाधीश रखना। पाँचवें, व्यक्ति को उसका महत्व बताना, इसके लिये प्रचार करना। इन कामों को छोड़कर शेष व्यक्ति अपेक्षाकृत अच्छी तरह से कर सकता है। राज्य एक काम और करता है, वह है चेतावनी देने या आगाह करने का काम। इसके अनुसार वह सम्भावित दुष्परिणामों की ओर इशारा करता है (लेकिन मिल का व्यक्तिवादी, तार्किक नागरिक उसे मानने के लिये बाध्य नहीं ?) इस प्रकार के कार्य-विवेचन ने राज्य का दायरा संकुचित बना दिया और कल्याणकारी राज्य की कल्पना विकृत कर दी। अहस्तक्षेप नीति के कारण ही उपद्रव-आतंक-दमन बढ़े, पूंजीवाद पनपा, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद की जड़ें जमीं। मिल के वक्तव्य में हस्तक्षेप घातक है, अहस्तक्षेप अकर्मण्यता का सूचक है, इसलिये दोनों विकल्प निरर्थक हैं। आज के युग में राज्य के कार्यों का दायरा इतना विस्तृत हो गया है कि शायद ही कोई कार्य उससे बच सके। शिक्षा के सम्बन्ध में मिल ने इतना ही कहा कि राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिये बाध्य करे अर्थात् अनिवार्य शिक्षा का प्रचलन कर दे। शेष कार्य नागरिक, अभिभावक, शिक्षक तथा विद्यार्थी पर छोड़ देना चाहिये। शिक्षा पद्धति और उसके तत्वों में हस्तक्षेप करना राज्य के लिये ठीक नहीं। राज्य के द्वारा किसी प्रकार की बौद्धिक स्थिरता का वह विरोधी था।

संशोधित उपयोगितावाद—

बेन्थम के प्रमुखतम शिष्य होने पर भी जान स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद के सम्बन्ध में बेन्थम से अलग दृष्टिकोण रखता है। वैसे तो उपयोगिता, सुख-दुःख, मापचक्र आदि के सम्बन्ध में बेन्थम और मिल की धारणाएं एक-सी हैं। लेकिन विशेष विवरण प्रस्तुत करते समय मिल अपने विचारों में अधिक स्पष्ट, यथार्थवादी और सही है। एक ओर जहाँ बेन्थम का व्यक्तिवाद अपूर्ण तथा एकांगी है, नीरस तथा उत्साहहीन है, वहीं मिल अपने व्यक्तिवादी दर्शन को स्वतंत्रता से पुष्ट (विचार, अभिव्यक्ति, कार्य आदि की स्वतन्त्रता) करता हुआ उत्साहपूर्ण, स्वस्थ वातावरण तैयार करता है। उदारवादी दोनों हैं लेकिन बेन्थम जहाँ सुख के वितरण में मुक्तहस्त है, वहीं विधियों के मामले में कृपण हो गया है, मिल के साथ ऐसी बात नहीं है। उसके लिये व्यक्तिगत सुख अभीष्ट है, सामाजिक कल्याण सर्वोत्तम है और विधियां न्यूनतम हैं। आन्दोलन तथा सुधारवादी दृष्टिकोण से बेन्थम के विचारों में अधिक गतिशीलता, स्थायित्व, निर्भीकता और बौद्धिक ईमानदारी है। लेकिन मिल में

विरोधाभास और असंगति है। स्वतन्त्रता की व्याख्या में दोनों के दृष्टिकोण नकारात्मक ही हैं लेकिन मिल, बेन्थम की अपेक्षा अधिक विधायक हो गया है। सार्वजनिक सुख की सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता के उपभोग के लिये बेन्थम वाह्य दण्ड को पर्याप्त समझता था, लेकिन मिल के अनुसार आन्तरिक और वाह्य दोनों दण्ड का ध्यान रखना चाहिये। सार्वजनिक कल्याण की भावना व्यक्तिगत कल्याण की विरोधाभासिनी नहीं है। राष्ट्रीयता और अन्त-र्राष्ट्रीयता की तरह ये दोनों भावनाएँ अवस्था-विशेष की सूचिका हैं। आर्थिक सिद्धान्त का निरूपण करते समय मिल अपने गुरु वेन्थम के विचारों से बहुत आगे बढ़ जाता है। मिल के अनुसार मुक्त प्रतिस्पर्धा (जो व्यक्तिवाद और अहस्तक्षेप नीति पर आधारित है।) के बजाय उत्पादन के क्षेत्र में सहकारिता का अधिक महत्व है। बेन्थम ने सहकारिता की कल्पना नहीं की। मिल के अनुसार शिक्षा का महत्व स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु है, जबकि बेन्थम उसे उपयोगिता का मापदण्ड बताता है: इस तरह मिल बौद्धिक स्वतन्त्रता का प्रचारक है और बेन्थम परम्परावादी (traditionalist) है। प्रतिनिधि-मूलक शासन की कल्पना करने में मिल को सफलता मिली और इसके आवश्यक उपकरणों या साधनों के सम्बन्ध में वह बेन्थम से अधिक सजग है। वयस्क मताधिकार, आनुपातिक प्रतिनिधित्व आदि के सम्बन्ध में इसके विचार बेन्थमवाद से आगे हैं। उपयोगिता की दृष्टि से जनतांत्रिक व्यवस्था में मिल के साधन अधिक लाभकर हैं। गुप्त मतदान पर दोनों के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में बेन्थम के विचारों में किये जाने वाले परिवर्तनों में मिल की छाप है। बेन्थम ने उपयोगितावाद में मात्रात्मक सुख (quantitative pleasure) की ही कल्पना की थी। उसके सूत्र (Pushpin-poetry) के अनुसार बच्चों के खेल और काव्य-पाठ में कोई अन्तर ही नहीं दिखाई देता। केवल सुख की भौतिक मात्रा पर जोर देना उसका लक्ष्य है। यह स्थिति विशुद्ध जड़वाद या स्थूल तृप्ति की है। इसके विरोध में (अथवा यह कहिये कि इसकी पूर्ति करते हुए!) मिल ने गुणात्मक सुख (qualitative pleasure) का उल्लेख किया। मात्रा और गुण के सम्पर्क से ही सच्ची सुखानुभूति हो सकती है। सुख में उच्चतर, निम्नतर का भेद है और सुसंस्कृत व्यक्ति का सुख मूढ़ के सुख से भिन्न है। ('सबसे भले वे मूढ़ जिन्हें न व्यापे जगत गति' इस न्याय से तो धैर्यधन गदहा भी परम संतुष्ट जीव है। लेकिन व्यक्ति के लिये यह सुख वांछनीय नहीं!) इसका स्पष्टीकरण मिल ने अपने सुप्रसिद्ध वक्तव्य में किया है 'असंतुष्ट मानव संतुष्ट पशु या शूकर

की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। परम संतोषी मूढ़ की अपेक्षा असंतुष्ट विद्वान् या सुकरात की तरह दार्शनिक होना अधिक गौरवशाली है। इस प्रकार मिल ने गुणात्मक भेद की चर्चा करके बेन्थम के विचारों को पूर्ण बनाया। मिल का उपयोगितावाद उसके व्यक्तिवाद और जनतंत्रवाद की तरह अमिश्रित है। मिल की विचार-पद्धति, अध्ययन-प्रणाली, लेखन-शैली आदि बेन्थम से अधिक आकर्षक और वैज्ञानिक है। महिला मताधिकार और उनके स्वातन्त्र्य का समर्थक व प्रवक्ता मिल के मुकाबले कोई दूसरा न मिलेगा। उच्च सदन के सम्बन्ध में भी उसके विचार बेन्थम से भिन्न थे। निर्वाचन-प्रथा का मिल ने गहराई से अध्ययन किया और उसके सम्भावित दोषों को दूर करने की सलाह दी। चेस्टर मेक्सी के अनुसार 'बेन्थम का उपयोगितावाद भेड़ियों के समाज में हिंसा की वृद्धि करता है और सज्जनों के बीच विरक्ति की; इसके विपरीत मिल का उपयोगितावाद मनुष्यों में मानवता की ही वृद्धि करता है।' अन्त में, मिल ने यह सिद्ध किया है कि उदार, परोपकारी व्यक्तित्व तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य किस हद तक 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के साथ सामञ्जस्य रख सकते हैं? मिल ने यह बताया कि पहले व्यक्ति किसी चीज को केवल उपयोगिता या स्वान्तः सुखाय चाहता है, पर धीरे-धीरे उसे जीवन का साध्य या लक्ष्य भी बना लेता है। अर्थात् साध्य-साधन के विपर्यय द्वारा (Conversion of means into ends) मनुष्य में सुखवादी आत्म-प्रवृत्ति से ही सार्वजनिक कल्याण की भावना उत्पन्न होती है अथवा सार्वजनिक सुख में ही आत्म-सुख सुरक्षित है। इसके सिवाय मिल से स्वतन्त्रता का स्वर्णिम मार्ग (golden rule of freedom) भी प्रशस्त किया। इस प्रकार उपयोगितावाद में मिल ने नई विचार धारायें जोड़ी और उसे अधिक उपयोगी बनाया। इसके द्वारा तर्क-युग के अमूर्त चिन्तन को मूर्त यथार्थ बदल देना पड़ा। आदर्शवादियों तथा समष्टि-वादियों को बढ़ती हुई राज्य-भक्ति तथा राज्यगाथा के सम्भावित परिणामों या दुष्परिणामों को रोकने में इस सिद्धान्त ने बड़ा काम किया। अनुबन्धवादियों ने व्यक्ति का पूरा आत्म समर्पण कर दिया था, मिल ने व्यक्ति का उद्धार किया, इस नये संदेश के द्वारा।

यहाँ पर महिला-स्वातन्त्र्य आन्दोलन और उसमें मिल का योगदान इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना असंगत न होगा क्योंकि मिल के संशोधन में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। वास्तविक जनतंत्र में यदि महिलाओं को समानता का अधिकार न मिले तो वह असफल ही सिद्ध होगा। विक्टोरिया-युग में पहले

स्त्रियों को बहुत कम स्वतन्त्रता थी। उनका प्रमुख तथा एकमात्र सनातनी व्यवसाय चूल्हा-चक्की था। उन्हें ऊँचे पदों पर जाने, राजनीति भाग लेने, मताधिकार का प्रयोग करने के लिये कोई मार्ग न था। अशिक्षा तथा दासता के कारण उनकी स्थिति दयनीय थी। मिल ने सबसे पहले इस अन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करके यह कहा कि बौद्धिक क्षमता, योग्यता, कार्य-कुशलता में महिलाएँ पुरुषों से कम नहीं है। उन्हें भी सामाजिक विकास के लिये अवसर मिलना चाहिये। संसद में तथा उसके बाहर मिल ने यह आवाज बड़ी तेज़ी से उठाई। स्त्री-पुरुष-असमानता दूर करने के लिये उसने स्त्रियों को मताधिकार देने की सिफारिश की। उच्च शिक्षा, नौकरी, राजनीति, सामाजिक स्थिति सबमें महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष स्थान मिलना चाहिये। मिल के इस आन्दोलन का स्थायी प्रभाव पड़ा।

समीक्षा—

मिल के अनुदान का मूल्यांकन तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति की पृष्ठ-भूमि में उचित होगा। वास्तव में वह मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी दल का प्रतिभाशील नेता है। उसके जमाने में नये वर्गों का अभ्युदय समाज में हो रहा था और सुधारों का आन्दोलन तीव्रगति से चल रहा था। मिल स्वयं कम्पनी का कर्मचारी था और कम्पनी के शासन को भारतीय जनता के लिये न्याय-संगत सिद्ध कर रहा था। लेकिन साथ ही उसने स्वतन्त्रता की उपासना भी की, उस स्वतंत्रता की जिसके लिये वह शासितों को हकदार नहीं बनाना चाहता था। इस तरह का विरोधाभास उसके विचार दर्शन में स्पष्ट है। अपने जीवन की रूमानी उच्छृङ्खलता के अनुरूप ही वह परम्परा-विरोध और स्वतन्त्र कार्यक्रम पसन्द करता था। प्रजातन्त्र की सफलता के लिये उसके बताये हुए सुझाव निश्चय ही प्रशंसनीय हैं क्योंकि उनका व्यावहारिक पक्ष सबल है। प्रजातन्त्र की प्रयोगात्मक दिशा में मिल ने बहुमूल्य योग दिया है। व्यक्तिवादी दर्शन का वह महत्वपूर्ण विचारक है और उसके व्यक्तिवाद में राज्य को अनिवार्य लेकिन न्यूनतम बुराई के रूप में ग्रहण किया गया। मिल के समय में मध्यमवर्गीय जनता ने सामन्तशाही का विरोध करके नये व्यवसायी वर्ग को प्रोत्साहन दिया। फलस्वरूप सामन्तों की आर्थिक, सामाजिक स्थिति में ह्रास हुआ। लेकिन धीरे-धीरे उच्चवर्गीय पूँजीपतियों ने एकाधिकार शुरू किया जिसकी प्रतिक्रिया सामान्य जनता में भीषण रूप से हुई। साधारण जनता अपने अधिकारों के लिये सङ्गठित होकर आन्दोलन करने लगी और राज्य को

बहुमत की इच्छा के सम्मुख नत होना पड़ा। १८३२ के सुधार कानून (Reform Act) ने राजनीतिक अधिकारों का दायरा बढ़ा दिया और विस्तृत मताधिकार जनता को मिला। चार्टिस्ट आन्दोलन (१८३९-१८४९ ई०) के फलस्वरूप जनता में अपूर्व जागृति की लहर फैल गई। इस समय प्रबल वर्ग-संघर्ष अनिवार्य दिखाई दे रहा था, क्योंकि एक ओर मुट्ठीभर पूँजीपति थे जो शासन पर हावी थे और दूसरी ओर चीखने-चिल्लाने वाली सामान्य जनता। इनके बीच मध्यम वर्ग की स्थिति विचित्र थी क्योंकि वे न तो सर्वहारा के समकक्ष थे और न पूँजीपति के पास थे। इस स्थिति में बुद्धिजीवियों ने स्वतन्त्रता का नारा दिया। जिससे जनतन्त्र की माँग बढ़ी, पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की हत्या नहीं हो सकी। मिल की 'स्वतन्त्रता' मध्यम वर्गीय जनता के लिये अहस्तक्षेप और बौद्धिक प्राधान्य का संदेश लेकर आई। मिल के सुधारों और विचारों ने इस प्रकार स्थायी रूप से सामाजिक उपयोगिता को मूर्त रूप देकर स्वर्ग से गिराये गये व्यक्ति को पुनः वहीं प्रतिष्ठित किया। यह अवश्य है कि मिल अपने एकान्त कक्ष में बैठकर ही अन्य बुद्धिजीवियों की तरह अनुचिन्तन करता है।

मिल के दार्शनिक आधार त्रुटिपूर्ण मनोविज्ञान तथा भ्रामक तर्क पर आश्रित हैं, क्योंकि हस्तक्षेप करने या न करने की एक तो कोई सीमारेखा नहीं है, और दूसरे व्यक्ति को स्वगत और समाजगत रूपों में देखकर उसे विभाजित व्यक्तित्व (split personality) वाला बनाया गया है। मिल की यह धारणा एक सनक ही है कि समाज में १० सनकियों में से एक अभूतपूर्व योग्यता तथा प्रतिभावाला हो सकता है। इस तरह के सनकीवाद का प्रचार तो सामाजिक संतुलन बिगाड़ने के लिये पर्याप्त है। उग्र व्यक्तिवादी साधारणतः हठवादी (recalcitrant) हो जाते हैं और फिर राज्य की प्रतिक्रिया भी दूसरी तरह होने लगती है। हठी व्यक्ति और दमनकारी राज्य मिलकर सार्वजनिक कल्याण पर प्रहार करते हैं। फिर पूर्ण स्वतन्त्रता यदि निरपेक्ष रखी गई तो अविश्वास, अनुत्तरदायित्व और निरर्थक बकवास का प्रसङ्ग आ जाता है। तर्क करने की प्रवृत्ति प्रायः ऐसी वृत्ति को जन्म देती है जिसमें एक तरह का कट्टरपन आ जाता है जो एक घातक अंध-विश्वास है। परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन का भाव सदैव समाज में रहना चाहिये अन्यथा बहुत बड़ा व्यवधान उपस्थित हो जाता है। अत्यधिक तर्क करना, बाल की खाल निकालना और इससे सामाजिक लाभ तो क्या होगा, व्यक्ति की शक्ति ही विघटित होती है।

स्वतंत्रता सापेक्ष्य मान लेने के परिस्थिति के अनुसार सर्वमान्य निर्णय देने के लिये राज्य-शक्ति को अधिकार मिलने चाहिये। मिल तो राज्य के कार्यों का नकारात्मक पक्ष रखता है और कम से कम हस्तक्षेप चाहता है। ऐसी स्थिति में राज्य न केवल निर्बल होगा बल्कि 'फूटा हुआ ढोल' सिद्ध होगा। स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों और भाषण में मिल की प्रतिभा पूरी नहीं उतरी है क्योंकि उसमें भी कई त्रुटियाँ हैं। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उसके आवश्यक प्रतिबन्धों और स्थितियों का उल्लेख न करके गलती की है। सत्यान्वेषण के साथ विविधता और भिन्नता का काम राज्य में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की तरह अलग-अलग खिचड़ी पकाने वालों का दल पैदा करना है। इस हालत में सार्वजनिक कल्याण की एक सर्वजनप्रिय परिभाषा स्थिर नहीं हो पाती। राज्य का स्वरूप चाहे जैसा हो, जनशक्ति का सङ्गठन इस प्रकार होना चाहिये कि प्रयत्नसाध्य-सहमति या सर्वानुमति उत्पन्न करने में सुविधा हो। इसके अभाव में अलग-अलग दृष्टिकोण से देखने के कारण वही बात जो एक के लिये प्रगति की सूचक है, दूसरे के लिये अवनति का कारण है। दुविधा के लिए मिल के विचारों में कोई इलाज नहीं। कार्य स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी हास्यास्पद बन गया है। चरित्र निर्माण के लिये ठोस रचनात्मक सुझाव मिल ने नहीं रखे हैं केवल विभिन्नता को छूट दे दी है। विभिन्नतामात्र से सामूहिक प्रगति संभव नहीं। इसी प्रकार दुर्व्यसनों और बुराइयों की रोक-थाम के लिये मिल के सुझाव व्यवहार-बुद्धि से परे हैं। आत्म-संघर्ष और विकार-मुक्ति का संकल्प आदर्शवादियों की सीमा लांघकर कोरी बौद्धिकता का प्रदर्शन करते हैं। प्रत्यक्ष रीति से राज्य मद्यनिषेध आदि की सफल योजनाएँ चला सकता है। इसके लिए हस्तक्षेप और प्रचार दोनों के तरह कार्य करना पड़ता है। राज्य के लिए सीमित कार्यों का सिद्धान्त सामाजिक दुर्गुणों को दूर कर सकने में असमर्थ है। हस्तक्षेप या 'यद्भाव्यम् नीति' (laissez faire) के कारण शोषण और दमन को खुला समर्थन मिल जाता है। काल्याणकारी राज्य की कल्पना मिल के विचारों तुष्ट नहीं हो पाती। सामाजिक प्राणी होने तथा निश्चित परिवेश में रहने के कारण व्यक्ति को जीवन में बड़ा सामञ्जस्य करना पड़ता है। लेकिन इस सम्बन्ध में मिल का मौन मङ्गलकारी नहीं है। व्यक्ति भावात्मक रश्मियों का पुञ्ज नहीं है, वह सामाजिक प्राणी है, विवेकवान् है। कोरा व्यक्तिवाद उसे थोड़ी दूर ले जाकर छोड़ देता है, यह अरण्यभ्रमण है। रूसो का आधार लेकर ही व्यक्तिवादियों ने स्वतन्त्रता का स्तूप खड़ा किया लेकिन एक ओर जहाँ रूसो राज्य को उसका आदर्श संरक्षक मानता है, व्यक्तिवादी राज्य की अवहेलना कर जाते हैं। यह

सत्य है कि उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद अपना प्रभाव स्थायी न रख सके। १८७० के बाद से उनकी शक्ति क्षीण होने लगी और समष्टिवादी चिन्तन (Collectivism) का जोर बढ़ने लगा। लेकिन उनके राजनीतिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मिल इस क्षेत्र का महान् मौलिक विचारक है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिवक्ता के रूप में उसकी ख्याति अमर है।

१०—टी० एच० ग्रीन

(१८३६–१८८२ ई०)

राजनीतिक आदर्शवाद दर्शनशास्त्र की अद्वैतवादी विचारधारा से सम्बन्ध रखता है। आदर्शवाद में विचारों की प्रधानता रहती है, क्योंकि दृश्य जगत की पूर्णता का समग्र दर्शन स्थूल रूपों या प्रत्ययों से सम्भव नहीं है; उसके लिये अमूर्त चिन्तन, सूक्ष्मविधान, अपार्थिव दृष्टिकोण अथवा चेतनात्मक अनुभूति का स्फुरण होना चाहिये। वाह्य वस्तुओं के भीतर अन्तर्निहित आन्तरिक सत्य है जिसका उद्घाटन सृष्टि का एक ही तत्व कर सकता है और वह है चेतन (Conciousness)। चेतन अथवा गतिशीलता को आत्मा का गुण मानने वाले अद्वैतवादी उनसे भिन्न हैं जो जड़ (Matter) वस्तुओं को ही सृष्टि का नियामक कारण मानते हैं। कार्लमार्क्स ने एक ओर जहाँ वैज्ञानिक जड़वाद या भौतिकवाद को अपनाया; वहीं हेगेल, ग्रीन तथा अन्य आदर्शवादियों ने चेतनामूलक आत्मवाद को अपना लक्ष्य बनाया। इस आत्मवाद की अभिव्यक्ति सृष्टि में सदैव होती रहती है और इसको समझाने के लिये अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ना पढ़ता है। इसके अनुसार राज्य का आधार आध्यामिक है अर्थात् बुद्धि, नैतिकता, चेतनता, आत्मा आदि सूक्ष्मतम अदृश्य तत्वों का समन्वय है। आत्मा की आन्तरिक प्रवृत्ति (या अन्तःकरण की शुद्धि बुद्धि) नैतिकता तथा सद्विवेक के माध्यम से पूर्णता का अनुसरण करती है। उसी प्रकार व्यक्ति भी नैतिकता के उदात्त मार्ग का अनुगमन करता हुआ वह बनता है जो वह बन सकता है (Man becomes what he has in him to become)। आदर्शवाद राजनीति का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जो राज्य के नैतिक आधारों का व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा जीवन की उपयोगिता के साथ समन्वय करता है। इसमें एक ओर बढ़ते हुए व्यक्तिवाद, जो चरम स्वार्थ का पर्याय माना जा सकता है, और शुष्क उपयोगितावाद, जो स्थूल सुखवाद या निकृष्ट भौतिकता का प्रतीक है, इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। इंग्लैण्ड में आदर्शवादी सिद्धान्तों का सर्वमान्य व्याख्याता ग्रीन माना जाता है जो व्यक्ति और समाज की चेतना या जागरूकता को महत्व देते हुये राजनीति में उनका स्थान निर्धारित करता है। विश्वविद्यालय के अध्यापकों तथा

स्वतन्त्र दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को परिपुष्ट किया क्योंकि वे उपयोगितावाद से उद्भूत अतिशय-वैयक्तिकता, नास्तिकता तथा अनास्था (Godlessness and faithlessness), आर्थिक अराजकता, व्यक्तिवाद में अहस्तक्षेप (Laissez faire) नीति के कारण सामन्तवादी-पूंजीवादी वर्गों को खुलकर लूटने की छूट थी।) स्वतन्त्रता की हत्या या दमनकारी कानून, पुलिस राज्य के दुष्परिणाम, साध्य-साधन के सम्बन्ध में अवसरवादिता आदि भयानक नतीजों से तंग आ चुके थे और नई व्यवस्था की प्राणप्रतिष्ठा करना चाहते थे। वे सामाजिक अनुबन्ध या समझौते के सिद्धान्त का विरोध करते थे क्योंकि उसमें कृत्रिमता या अस्वाभाविकता थी। उन्हें प्राचीन यूनानी दर्शन तथा जर्मनी के अभिनव आदर्शवाद से बड़ी प्रेरणा मिली। प्राचीन काल में प्लेटो और अरिस्टाटल ने आदर्शवादी आधारों पर चलकर अपने समय की समाज व्यवस्था का उत्तर ढूंढा था (Rationalisation)। इनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक प्राणी था और राज्य मानव-प्रवृत्ति का अनिवार्य तथा उपयोगी परिणाम था। व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य आत्म-परिज्ञान (self-realisation) है और इस कार्य में राज्य सबसे अधिक सहायता करता है, इसलिये राज्य व्यक्ति के लिये सर्वोपयोगी है। व्यक्ति के साथ ही समाज के लिये भी यही नियम है। प्लेटो ने बुद्धि, स्फूर्ति, वासना इन तीन प्रवृत्तियों के बल पर मनुष्य के शरीर की रचना और राज्य के सहायक अंगों का निरूपण किया था। रूसो ने सामान्य इच्छा (general will) का सिद्धान्त प्रचलित करके प्रच्छन्न रूप से आदर्शवादी चिन्तन ही किया था। जर्मनी में सबसे पहले इमानुएल काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) ने शुद्ध बुद्धि और व्यवहार-बुद्धि का भेद करते हुए निरपवाद कर्तव्य पालन का उपदेश दिया था क्योंकि व्यवहार-बुद्धि की अन्तःप्रेरणा इसी रूप में चलती है। इस नियम को निरपवाद कर्तव्य पालन का आदेश (Categorical impera tive of duty) कहते हैं। राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामञ्जस्य करता है, स्वतन्त्रता नैतिकता के रक्षण में सहायक है, राज्य नैतिक संस्था है, व्यक्ति की बहुमुखी प्रगति का मूल्यवान् साधन है। काण्ट ने इस प्रकार सामान्य इच्छा के अभिव्यक्त होने पर समूह के संगठन में परिवर्तित होने की क्रिया को महत्व दिया। आदर्शवाद की प्रामाणिक व्याख्या हीगेल (१७७० १८३१ ई०) ने की और सार्वभौम आत्म या विश्व-तत्त्व (universal spirit or weltgeist) को ढूंढकर विशुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की। उसने विकास का द्वन्द्वात्मक रूप निश्चित किया और राज्य को विश्वात्मा का

सांसारिक स्वरूप बताया। यह राज्य व्यक्ति की नैतिकता से परे था, सर्वोच्च नैतिकता का आदि-स्रोत था। इस आधार पर राज्य का दैवीकरण (apotheosis or deification) किया गया जिससे सर्वसत्तात्मक या निरंकुश राज्य की सृष्टि हुई क्योंकि वे समष्टिगत जीवन (Corporate life) का नियमन करते थे। हीगेल ने आत्मपरक (subjective) तथा वस्तुपरक (objective) दृष्टिकोणों का आनुपातिक सम्मिश्रण करके नया तत्व प्राप्त किया जो पूर्ण निरपेक्ष आत्मा (absolute spirit) था। हीगेल के सिद्धान्तों का सारी दुनिया पर व्यापक प्रभाव पड़ा और सभी तरह के अर्वाचीन विचारक उससे प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। फिक्टे तथा हम्बोल्ट ने भी आदर्शवाद की परम्परा को राष्ट्रीयता के साथ जोड़ने का प्रयास किया। इन सबका प्रभाव इंग्लैण्ड की उदारपन्थी परम्परा (Liberal traditions) पर पड़ना स्वाभाविक ही था। आक्सफोर्ड आन्दोलन (Oxford movement) के नाम से साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में उन्मुक्त स्वाधीनता की भावनाएँ जन्म लेने लगी थीं। कॉलरिज, कार्लाइल, विलियम, मारिस आदि साहित्यिकों ने इसका सूत्रपात किया था। फिर अधिकार-घोषणा आन्दोलन (Chartist movement) के समय राज्य के कल्याणकारी रूप का आभास होने लगा था। इसी समय औद्योगिक क्रान्ति की प्रारम्भिक नवचेतना ने सुधारकों और श्रमिकों दोनों को प्रगाढ़ रूप से प्रभावित किया। सुधार कानून, फैक्टरी एक्ट, नियंत्रण कानून, सुरक्षा नियम आदि के कारण सामाजिक विधि-निर्माण (Social legislations) की ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी जो आगे चलकर मनुष्य के जीवन में आमूल परिवर्तन करने की क्षमता रखती थी। इंग्लैण्ड में आदर्शवाद का युग प्रारम्भ होने से सुधार, (राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक) उदारवाद, राष्ट्रीयता, विधि-प्रियता, सवैधानिक मर्यादा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि का नवयुग आ गया जिसके प्रकाश में वहाँ की न्यायप्रिय जनता ने अपने जनतांत्रिक स्वरूप को न केवल रक्षा की, बल्कि उसे आगे बढ़ाया। ग्रीन के साथ बर्नार्ड, बोसांके (१८४८-१९२३ ई०) तथा एफ० एच० ब्रेडले (१८४६-१९२४ ई०) का नाम इंग्लैण्ड के आदर्शवादियों में प्रमुख है। लेकिन ग्रीन ने जहाँ काण्ट से प्रेरणा ली, वहीं दूसरे विचारक हीगेल से अधिक प्रभावित हुए। ग्रीन का आदर्शवाद अधिक उदार, स्वतन्त्रताप्रिय, न्यायमूलक, युद्ध विरोधी तथा सुधारक है। यह अवश्य है कि उसने पूँजीवाद का पोषण किया है किन्तु अधिक अस्तव्यस्तता की अपेक्षा उसे वह श्रेयस्कर मानता है। स्वतन्त्रता की परिभाषा ग्रीन से पहले व्यक्तिवादियों ने

नकारात्मक (negative) रूप से ग्रहण की थी। प्रतिबन्धों का अभाव ही स्वतन्त्रता है (Liberty is the absence of restraints)। उसके विरोध में ग्रीन ने सकारात्मक स्वतन्त्रता (positive freedom) की स्थापना की। जिसका अभिप्राय है किसी करणीय या उपभोग्य वस्तु का पूरा आनन्द लेने की सक्रिय क्षमता या शक्ति (a positive power or capacity of doing or enjoynig something worth doing or enjoying)। ग्रीन ने राज्य को आदर्श संस्था मानते हुए नैतिक स्वतंत्रता, जनतन्त्र, सुव्यवस्था और जनस्वीकृति के साथ उसका सामञ्जस्य किया, ग्रीन की परम्परा का निर्वाह ब्रैडले, बोसांके के अलावा रीशी (G. D. Ritchie) लिन्डसे, बार्कर आदि ने किया। ग्रीन का दर्शन अभिनव व्यक्तिवाद या नवीन आदर्शवाद के नाम से विख्यात है।

परिचय तथा प्रभाव—

ब्रिटेन के आदर्शवादी दार्शनिक टामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) का जन्म उच्च मध्यमवर्गीय परिवार में सन् १८३६ में हुआ। उस युग में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान, समाज सुधार सबकी बड़ी धूम थी और नई-नई संस्थाएँ, (औद्योगिक, शैक्षणिक, सामाजिक आदि) प्रकट हो रही थीं। ब्रिटेन में व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद का प्रभाव इतना बढ़ चुका था कि उसका ह्रास (Anti-climax) शुरू हो गया था। शिक्षा-प्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे थे जिससे व्यक्ति को सामाजिक जीवन में सफलता के साथ-साथ व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का मुक्त अवसर मिल सके। प्रारम्भ से ही ग्रीन कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभासम्पन्न तथा मेघावी था। पढ़ने-लिखने में इसकी बुद्धि तीव्र थी। व्यावहारिक ज्ञान में भी वह पटु था। साहित्य, दर्शन इतिहास, समाजशास्त्र, विधि, आदि की शिक्षा में उसे यथेष्ट सफलता मिली। उच्चशिक्षा करने के बाद आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में, जो उन दिनों उच्च शिक्षण, कला, संस्कृति, अनुसन्धान का विश्वविश्रुत केन्द्र था, (और आज भी है!) वह दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक-पद पर नियुक्त हो गया। यह गौरव ग्रीन को २४ वर्ष की अल्प आयु में ही (१८६० ई०) मिला। इस पद पर उसने २२ वर्ष तक काम किया (मृत्युपर्यन्त)। प्रोफेसर का जीवन सैद्धान्तिक तथा बौद्धिक जटिलताओं से आक्रान्त रहने के कारण एकांगी होता है। लेकिन ग्रीन इसका अपवाद था। विश्वविद्यालय के स्वस्थ, उदार तथा स्वतन्त्र वातावरण में ग्रीन ने सार्वजनिक कार्यों का शिलान्यास किया और स्वयं व्यावहारिक

राजनीति के कार्यों में सक्रिय भाग लेता रहा। इस दिशा में वह ब्राइट की उदार बौद्धिक विचारधारा का अनुयायी था और राजनीति को गम्भीर समस्या-मूलक विषय मानता था। स्थानीय प्रशासन का उसे काफी अनुभव था। अनिवार्य शिक्षा तथा मद्यनिषेध का वह प्रचण्ड समर्थक था। उसके अनुसार अज्ञानता और मादकता मानवता के महान् शत्रु हैं। मद्यपान-प्रवृत्ति रोकने के लिये उसने एक 'काफी-हाउस' भी खोला था। आक्सफोर्ड म्युनिसिपैलिटी में उसने कई वर्षों तक प्रमुख सदस्यता ग्रहण की। प्रमुख शिक्षा-शास्त्री होने के नाते उसे शिक्षा आयोग का सदस्य भी बनाया गया। ४६ वर्ष की अल्प आयु में ही देहान्त हो जाने (सन् १८८२ ई०) के कारण वह जीवन में अधिक कुछ न कर सका। फिर भी उसकी तर्कशैली, अभिव्यक्ति, वाकशक्ति, सरलता आदि के कारण उसके व्याख्यान अमर हो गये हैं।

ग्रीन के व्याख्यानों का संग्रह राजनीतिक कर्तव्य के सिद्धान्त (Lectures on Principles of political obligation) के रूप में उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। ये व्याख्यान १८७६–८० में दिये गये थे और इनका उद्देश्य था राज्य, समाज, व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए जनस्वीकृति के सिद्धान्त का समर्थन करना। इस ग्रन्थ का प्रकाशन ग्रीन के विद्यार्थियों ने कराया। दूसरे ग्रन्थ में वे व्याख्यान हैं जो १८८१ में दिये गये, जो उदारवादी परम्परा के अनुरूप अनुबन्ध की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते थे (Liberal legislation and freedom of contract)। इस ग्रन्थ में यह प्रश्न उठाया गया है कि वर्तमान युग में विधि-निर्माण प्रक्रिया से कहाँ तक अनुबन्धों की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। उसने स्वतन्त्रता की व्याख्या करके उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त (Liberal political theory) का सम्बन्ध नये प्रकार के कानूनों के साथ जोड़ा। स्वतन्त्रता, अधिकार, नैतिक चेतना, राज्य, संप्रभुता, अपराध, विद्रोह, अनुशासन, अन्तर्राष्ट्रीयता, युद्ध, सामाजिक संगठन तथा सुधार शिक्षा, सम्पत्ति आदि विषयों पर ग्रीन के विचार बड़े मौलिक, आकर्षक तथा स्थायी प्रभाव से युक्त हैं। जब तक संसार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पूर्ण-रूपेण रक्षा नहीं होती, समाज की प्रगति अधूरी ही रहने वाली है, क्योंकि समाज की प्रथम और अन्तिम इकाई व्यक्ति ही है। ग्रीन ऐसे उदार समाज का प्रशंसक है जिसमें जीवनोपयोगी सुख-सुविधा तथा शान्तिपूर्ण वातावरण किसी विशिष्ट वर्ग (privileged class) के लिये नहीं बल्कि सबके लिये

उपलब्ध हैं। ऐसे समाज का उद्देश्य है व्यक्ति की शक्तियों और क्षमताओं को बढ़ाना जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक कल्याण के लिये योगदान कर सके।*

ग्रीन के विचारों पर भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रभाव ढूंढे जा सकते हैं। वैसे तो उसका व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि तुलनात्मक विचार, दार्शनिक विवेचन आदि सभी महत्वपूर्ण हैं किन्तु उसके समृद्ध और पुष्ट विचारों के पीछे तरह तरह की शक्तियां काम करती रही हैं। साधारणतया ५ वर्गों में इन प्रभावों को ढूंढ़ा जा सकता है :—

१—प्राचीन यूनानी साहित्य, विशेषत: प्लेटो और अरिस्टाटल का प्रभाव, जिसके अनुसार मनुष्य सामाजिक जीव था, राज्य मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकता थी और आदर्श राज्य मानव जीवन का चरम लक्ष्य था। इस आदर्श राज्य का काल्पनिक चित्रण भी उन दिनों हुआ था। राजनीति मुख्यत: आचार-शास्त्र से सम्पृक्त थी। ग्रीन का आत्मानुसन्धान (Self-realisation) अरिस्टाटल के यूनानी नागरिकता के आदर्शीकरण (Idealisation of Greek citizenship) से मिलता-जुलता है।

२—जर्मन आदर्शवाद का प्रभाव जिसे काण्ट, हीगेल, फिक्टे, हम्बोल्ट आदि ने सुदृढ़ बनाया। ग्रीन के विचार काण्ट के अधिक समीप हैं। वैसे आदर्शवादियों में सबसे प्रबल, प्रचंड हीगेल हैं और ग्रीन उससे अत्यधिक प्रभावित हैं। लेकिन यह भी वह जानता है कि हीगेल की धारणाएं कल्पनाजगत की झांकियां प्रस्तुत करती हैं, उनमें व्यावहारिकता कम है। हीगेल की उग्रता कट्टरता, दुरूहता तथा अतिशय बौद्धिकता से वह मुक्त है और काण्ट की तरह उदारवाद तथा आदर्शवाद का समन्वय करता है जो ब्रिटिश परम्परा के अनुरूप है। एक प्रकार से ग्रीन को हीगेलवादी नहीं मानना चाहिये। उसने हीगेल द्वारा

* "The essence of a liberal society is that it makes the common good available not to a privileged class but to all, so far as the capacity of each permits him to share is. The end of such a society is to increase the powers and capacities by which the individual can contribute to the common good." (G. H. Sabine—Page 674)

राज्य की गौरवगाथा बनाने तथा उसे आदर्श मानने की कल्पना का पूर्ण तिरस्कार किया क्योंकि वस्तुस्थिति उसके विपरीत थी।*

३—अनुबन्धवाद तथा उसके विरोधी सिद्धान्तों से ग्रीन का पूरा परिचय था। ग्रीन स्वत: अनुबन्ध की पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्षपाती है क्योंकि उसके द्वारा कार्य-सिद्धि में सहायता होती है। वह राज्य का आधार ढूंढ़ते समय सामान्य जनस्वीकृति को ही मूल भाव या प्रेरक कारण मानता है, बलप्रयोग अथवा शक्ति पर उसका विश्वास नहीं। रूसो की सामान्य इच्छा तथा नैतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त उसे ग्राह्य था। ब्रिटेन की पूर्ववर्ती विचार धारा से भी उसका पूरा परिचय था। मिल, बेन्थम, आस्टिन आदि के विचार की उस पर प्रतिक्रिया हुई। व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद को अपने ढंग से परिवर्तित, संशोधित करने का उसने प्रयास किया।

४—धर्मशास्त्र का अध्ययन ग्रीन ने किया था लेकिन वह विचारों से पक्का असहयोगी (Non-conformist) था। क्रॉमवेल के युग की धर्म-शुचिता की भावना (Puritanism) तथा प्यूरिटन सम्प्रदाय का वह भक्त था। उन दोनों धर्म के पीछे श्रद्धा, विश्वास, अदम्य शक्ति रहती थी। स्वतन्त्रता, नैतिकता, संयम, सदाचरण, अनुशासन आदि का अनुरक्त वह इन्हीं आधारों से बना।

५—विभिन्न प्रभावों में आक्सफोर्ड का बौद्धिक आन्दोलन, (Oxford idealism) टामपेन, मेकियावेली आदि के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। ग्रीन के विचारों में उदार समाजवाद (Liberal socialism) के तत्व दिये हैं क्योंकि वह राज्य के द्वारा ऐसे कानूनों का प्रचलन चाहता था जो अधिक मानवीय तथा सर्वजन सुलभ आर्थिक सामाजिक पृष्ठभूमि का निर्माण करते। उसके विचारों के बल पर प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, शिक्षा, स्वास्थ्य, अवकाश, मजदूरी, जीवन स्तर आदि की उन्नति का समर्थन किया जा सकता था। वर्ग संघर्ष की भावना छोड़कर दूसरे तत्व उसमें मिल सकते थे। इस प्रकार ग्रीन नैतिक आदर्शवाद का (ethical idealism) प्रवर्तक है। वह तर्क

---

* "In truth, however, Green was no Hegelian. He emphaticilly rejected Hegel's tendeney to glorify the state and to justify it by substituting an ideal very imperfectly realised, for states as they actually are." (G. H. Sabine Page 674)

पूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त (rational political theory) और विवेक पूर्ण राजनीतिक नीतिमत्ता तथा व्यवहारिकता (intelligent political policy) का स्थायी समन्वय करता है।

राज्य, समाज, व्यक्ति :

ग्रीन से पहले व्यक्तिवादियों ने राज्य को अनिवार्य बुराई के रूप में देखा (unmitigateted evil) और उसके लिये कम से कम हस्तक्षेप करने की नीति की सलाह दी। उनके अनुसार अनावश्यक अतिक्रमण (encroachments) करके राज्य व्यक्तित्व में बाधक ही बन सकता है। उपयोगितावादियों ने राज्य को लाभदायक संस्था के रूप में मानना स्वीकार किया और उसकी कसौटी ही यह रखी कि कहाँ तक वह व्यक्ति का जीवन सुखमय बनाता है। यदि अपने उद्देश्य की पूर्ति राज्य कर पाता है तब तो वह अभिनन्दनीय है अन्यथा निरर्थक है। राज्य के द्वारा व्यावसायिक स्वार्थों की सुरक्षा तथा सुधारों की योजना का काम वे लेना चाहते थे। प्रचीन काल में अरिस्टाटल ने राज्य को अनिवार्य तथा स्वाभाविक बतलाते हुए उसे 'संघों का संघ' अथवा 'समुदायों का समुदाय' (association of associations) कहा था। समुदाय से अभिप्राय है विशिष्ट उद्देश्य तथा लक्ष्य के आधार पर व्यक्तियों का समूहीकरण, जो क्रमबद्ध रीति से चलता है। व्यक्तियों का केवल इकट्ठा हो जाना या झुण्डवृत्ति का परिचय देना जिससे ढीले-पोले समूह का बोध (loose amorphous conglomeration) हो, वह राज्य नहीं है और न कोई विधवत् समुदाय ही है। ये समुदाय राज्य के पूर्व बने थे और राज्य के कारण नहीं लेकिन राज्य ने इनके संरक्षण में योग अवश्य दिया। काण्ट ने राज्य को आवश्यक, लाभदायक, नैतिकता तथा सुरक्षा में सहायक संस्था माना था। नियमों के पालन से ही झुण्ड (menge or crowd) परिवर्तित होकर संगठित जन समूह (volk or people) में बदल जाता था। काण्ट के विचारों के आधार पर ग्रीन ने भी राज्य को लोक-सम्मति पर आधारित मौलिक समुदाय माना और उसे व्यक्ति और समाज के बीच महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया। लेकिन दूसरे विचारकों की भाँति ग्रीन ने राज्य और समाज के बीच गड़बड़ी नहीं पैदा की। वह दोनों को अलग-अलग स्वरूपों में ग्रहण करता है। राज्य और समाज परस्पर विरोधी न होकर भी एक दूसरे से भिन्न हैं। राज्य संगठित शक्ति (भले ही वह समाज या बहुजन समाज की हो !) का प्रतीक है, शक्तिशाली होने से शक्ति प्रयोग भी कर सकता है, जब कि समाज शक्तिहीनता

का द्योत्तक है। इसका कारण यह है कि समाज की रचना विविध तथा विभिन्न वर्गों, तत्वों, स्वार्थों तथा व्यक्तियों से होती है (Heterogeneous elements)। समाज में व्यक्ति और राज्य के बीच कई परिवार, धर्म-संघ, आर्थिक, व्यवसायिक, औद्योगिक संघ, शिक्षण संघ आदि कई उपयोगी समुदाय होते हैं जिनकी सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है, किन्तु राज्य की सदस्यता सर्वोच्च मानी जाती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायों में नियंत्रण तथा सामञ्जस्य (control and coordination) बनाये रखना है, इन्हें मिटाना या छीनना नहीं। समाज अपने सामने एक व्यापक उद्देश्य लेकर ही चलता है और वह है अपने सदस्यों का सामाजिक जीवन में आत्म-विकास के हेतु पूरी तौर से नैतिक भाग लेना (full moral participation in social life for highest self development)। किन्तु इस लक्ष्य की घोषणामात्र पर्याप्त नहीं है। इनके अनुकूल वातावरण तथा साधन तैयार करना राज्य का ही काम है और इसलिये राज्य को प्राथमिकता दी जाती है। समाज में किसी को बाध्य करने की शक्ति नहीं है और न वह व्यक्ति के मार्ग के अवरोधों को ही दूर कर सकता है क्योंकि उसमें इस कार्य के लिये आन्तरिक शक्ति स्वतः नहीं है, अतएव राज्य के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति होती है। राज्य सब तरह के अधिकारों, विधियों, नियमों, विषयों का उद्गम स्थान है, वह सर्वशक्तिमान है। समाज में यह शक्ति वाह्य रूप से कहीं प्रकट नहीं हो पाती है। संक्षेप में वह राज्य और समाज का भेद करते समय भी यह मानकर चलता है और वे व्यक्ति की नैतिक और भौतिक समृद्धि में सहायक ही होते हैं।

राज्य की आवश्यकता के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार मौलिक तथा प्रगतिवादी हैं। राज्य को वह व्यक्ति के लिए न केवल आवश्यक बल्कि निश्चित लाभप्रद संस्था मानता है। मनुष्य का विकास तभी सम्भव है जब उसके भीतर की सारी सम्भावनाएँ (potentialities and actualities) यथार्थ रूप से साकार (realised) हो सके। अर्थात् आत्मोपलब्धि या आत्म-परिज्ञान (self-realisation) सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रस्फुटन से ही सम्भव है। इस क्रिया के राज्य सहायक हैं। इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते समय ग्रीन ने ३ नियम स्थिर किये हैं। (१) मानव चेतना अथवा प्रकृति स्वतन्त्रता की अनुभूति चाहती है (human consciousness postulates liberty)। (२) स्वतन्त्रता में अधिकारों का समावेश है (liberty consists of

rights) ३) अधिकारों के रक्षण में राज्य आवश्यक है (rights demand state) । इन नियमों से यह निश्चित हुआ कि मानव प्रकृति की नैतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये राज्य की सृष्टि हुई है और मनुष्य की शाश्वत नैतिक चेतना (eternal moral consciousness) की सुरक्षा करने के कारण वह नैतिक संस्था के रूप में स्वीकार्य है । नैतिक संस्था होने का यह मतलब नहीं कि भौतिक या सांसारिक विषयों से वह उदासीन है । इस उदासीनता से तो नैतिकता का मेरुदण्ड ही टूट जायेगा । इसलिये राज्य को सक्रिय बनना होगा, अहस्तक्षेप से सबल हस्तक्षेप का मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा । इसलिये नैतिकता के संरक्षण तथा विकास के हेतु राज्य सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने में सुस्थिर, स्वस्थ सामाजिक परिवेश या पार्श्वभूमि तैयार करता है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता साकार हो सके । व्यक्ति पर जितने प्रभाव पड़ते हैं उनमें विधि, परम्परा, संस्था सामाजिक विचारधारा, नैतिकता आदि उल्लेखनीय हैं, इनके अभावों से व्यक्ति व्यक्तित्व-विहीन वीतराग साधु की तरह हो जाता है जो निर्जनवासी हो । व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा नैतिक विकास के मार्ग में आने वाले प्रतिरोधों या व्यवधानों को दूर करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य है । इसलिये राज्य ऐसे नियम बनाता है जो नैतिक जीवन की रुकावटों या बाधाओं के लिये बाधा (To hinder hindrances to good life) का काम करते हैं अर्थात् नैतिकता के मार्ग में रोड़े अटकाने वाले तत्वों के लिये राज्य सजग प्रहरी के रूप में खड़ा होकर उन्हें रोकता है, निवारित करता है, दण्ड देता है । अज्ञानता, दरिद्रता, विषमता, आतंक, प्रतिस्पर्धा, अविश्वास, युद्ध आदि सैकड़ों बाधाएँ इस जीवन में व्यक्ति का पैर पीछे की ओर खींचती हैं । ऐसी दशा में राज्य शिक्षा, समानता, आर्थिक नियमन, स्नेह, मुक्त अवसर, विश्वास और शान्ति की सृष्टि करके मानवता की अभिवृद्धि तथा समृद्धि में सहायक होता है । ग्रीन ने इस प्रकार राज्य को व्यक्तिगत तथा सामाजिक चेतना का सुपरिणाम घोषित किया है । इसी शाश्वत चेतना या जागरुकता से राज्य, अधिकार, स्वतंत्रता, जनसम्मति आदि विविध सिद्धान्त निकले हैं । रूसो की बौद्धिक इच्छा (Rational will) की तरह ग्रीन भी सदिच्छा (Good will) का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है । यह सदिच्छा अन्तःकरण की शुद्ध, निर्मल वृत्ति है जो सत्कर्यों की प्रेरणा देती है । यह प्रेरणा नैतिक आदेश (Moral imperative) है जो कान्ट के कर्तव्यादेश की तरह निरपेक्ष या निरपवाद नहीं है । नैतिक आदेशों पर चलता हुआ व्यक्ति ही पूर्णता और आत्म-ज्ञान के

मार्ग पर बढ़ता है, शाश्वत चेतना प्राप्त करता है, सदैव जागरूक तथा प्रमादी रहता है। वासनात्मक इच्छा (Impulsive will) के पीछे दौड़ने पर मनुष्य तृष्णा के आवर्तों में चक्कर खाते हुए डूब जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को बचाना राज्य का कार्य है। मानव चेतना की आवश्यक शर्त (Necessary pre-condition) स्वतंत्रता है जो आन्तरिक तथा वाह्य रूप से पृथक्-पृथक् है। आन्तरिक स्वतंत्रता में इन्द्रियनिग्रह, सद्विवेक, शुद्ध अन्तःकरण आदि हैं, वाह्य स्वतंत्रता में राजनीतिक, आर्थिक, मूल्यों तथा अधिकारों का निर्बाध प्रयोग शामिल है। अधिकारों के सम्बन्ध में ग्रीन ने अधिक विस्तार से उल्लेख किया है। स्वतंत्रता न तो हस्तक्षेप का अभावमात्र है और न स्वेच्छाचारिता की आजादी। स्वतंत्रता और उच्छृङ्खलता (Liberty and license) में स्पष्ट विरोधाभास है। स्वतंत्रता सकारात्मक (Positive) है अर्थात् उसमें इच्छित कार्यों को करने की सहज प्रेरणा है, दूसरे वह सुनिश्चित या उचित कार्यों (Determinate actions) के करने की व्यवस्था है जिससे मनुष्य की आत्मोन्नति हो। हत्या करना, शराब पीना, जुआ खेलना, भ्रष्टाचार फैलना ये स्वतंत्रता के लक्षण नहीं हैं क्योंकि इनसे चारित्रिक पतन तो होता है, समाज भी अधोगति को चला जाता है और स्वतंत्रता का सारा ध्येय विकृत तथा कलुषित हो जाता है। आर्थिक दृष्टि या भौतिकता से सम्पन्न होने पर भी डाकुओं या हमलावरों (Bandits and marauders) का समाज कदापि नहीं अपेक्षित है, इसलिए नैतिकता के मूलाधार भुलाये नहीं जा सकते।

व्यक्ति के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार यदि पूर्णतया नहीं तो अंशतः व्यक्तिवादी हैं। व्यक्ति की नैतिक चेतना या जागरूकता पर जोर देते समय ग्रीन उसके सामने उन (विस्मृत) आदर्शों को रखना चाहता है जिनके अभाव में उसका जीवन तिरस्कार, हिंसा, अवमानना तथा स्पर्धा का कुम्भीपाक हो गया है। व्यक्तित्व के विकास से ही समाज लाभान्वित होता है। व्यक्ति की चेतना समाज के भीतर ही फलती-फूलती है। सारांश में व्यक्ति, सामाजिक दाय ग्रहण करके, समाज का अविभाज्य अंग बन करके ही आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है। समाज से पृथक् व्यक्ति की कल्पना ही मनुष्यता का निषेध या अमानव जीव की कल्पना है। व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य उसके सामाजिक अस्तित्व से सम्बन्धित हैं और एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह (two sides of a coin or medal) हैं। इस सम्बन्ध में आगे भी विवेचन किया

जायेगा। (इस विषय का स्पष्टीकरण एफ० एच० ब्रैडले ने अपने ग्रन्थ मेरा स्थान और कर्तव्य, (My station and its duties) में किया है।) व्यक्तित्व की गरिमा से व्यक्ति कुछ निश्चय अधिकार तथा मूर्त आदर्श लेकर चलता है। इसे इन अधिकारों के लिये विधियों और नियमों से संरक्षण मिलता है। किन्तु यदि विधि या नियम उसकी स्वतन्त्र नैतिक चेतना तथा उसकी अभिव्यक्ति में बाधक हों तो वह उन्हें मानने के लिये कायल नहीं। किन स्थितियों में उसे संघर्ष, विरोध या विद्रोह करने का अधिकार है, इसका उल्लेख भी आगे किया जायेगा। किन्तु व्यक्ति द्वारा बल प्रयोग के विरुद्ध ग्रीन का मत है। राज्य चाहे तो वह व्यक्ति से निश्चित आचरण करने के लिये बल प्रयोग कर सकता है और यह नैतिक दृष्टि से उचित भी है। किन्तु व्यक्ति को इस तरह की स्वन्त्रता नहीं हैं, उसका बल प्रयोग राज्य के विरुद्ध होने पर अनैतिक तथा अनुचित होगा और तब उस दशा में राज्य की प्रबल दमनात्मक शक्ति का असर देखने को मिलेगा। ऐसी दशा व्यक्ति की मर्यादा-रेखा सुस्पष्ट करते हुए ग्रीन उसे सापेक्ष रूप से स्वतन्त्रता प्रदान करता है। स्वतन्त्रता की भावना वैसी ही है जैसे पंख वाले पक्षियों में उड़ने की भावना। लेकिन मुक्त नीलाकाश में विचरण करने वाले पक्षियों की गति तथा शक्ति सीमित है। उसी प्रकार दिन-रात महत्वाकांक्षा के रथ पर दौड़ने वाले व्यक्ति की आजादी भी नैतिकता की मर्यादा से बाहर नहीं जा सकती। अर्थात् व्यक्ति को किसी तरह की परंपरा या लीक पर चलना होगा। उसे छोड़ने पर राज्य व्यक्ति को बाध्य करेगा कि वह फिर से वही लीक पकड़ ले। इन तरह ग्रीन एक दकियानूसी दायरा (Conservative circle) निश्चित कर जाता है जिसमें व्यक्ति को एक ओर स्वतन्त्रता तो है लेकिन दूसरी ओर परम्परा का प्रतिबन्ध भी है। इस स्थिति की आलोचना अन्त में विस्तारपूर्वक की जावेगी। समाज को व्यक्ति का बृहद् संस्करण (Society is an individual writ large ,मानने की घोषणा यूनानी लेखकों ने की थी, उनका अनुगमन ग्रीन ने किया। किन्तु उसने व्यक्ति की स्थिति और स्पष्ट की। व्यक्ति को इच्छाओं, ऐषणाओं या वासनाओं (bundle of desires) का पुतलामात्र न मानकर नैतिक आत्म-चेतना से अनुप्राणित जीव मानना चाहिये। और ऐसा व्यक्ति राज्य को भी विशाल नैतिक उद्देश्य तथा स्वरूप प्रदान करता है। नागरिकता के यूनानी आदर्शों को आगे बढ़ा कर ग्रीन व्यक्ति से समय, सदाचार, अनुशासन, सत्शिक्षा तथा नैतिक व्यवहार की अपेक्षा करता है क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि एक विकसित तथा सुसम्पन्न व्यक्तित्व समाज

में सौन्दर्य तथा सुरभि बिखेरता है। इसीलिये ग्रीन को नवीन व्यक्तिवादी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जर्मन आदर्शवाद में उसने ब्रिटिश व्यक्तिवाद की मात्रा घोली और कोरे व्यक्तिवाद को आदर्शवाद से मिलाया।

अधिकार, नैतिकता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य :

अधिकारों के सम्बन्ध में प्रारम्भ में इतना ही निवेदन है कि वे ऐसी शर्तें हैं जिनसे स्वतन्त्रता की अनुभूति सर्वसुलभ तथा प्रतिपाद्य होती है। अधिकारों के पीछे आर्थिक जगत् के सामान्य नियम, माँग और पूर्ति (demand and supply) की भावना काम करती है। व्यक्ति अपनी उन्नति के लिये कुछ साधन, कुछ आवश्यकताएँ या सुविधाएँ माँगता है। समाज उनको स्वीकृत कर लेता है और इस प्रकार उनका प्रचलन हो जाता है। इसके अनुसार अधिकार वह व्यक्तिगत माँग है जिसकी स्वीकृति समाज से हो, संरक्षण तथा अभिवृद्धि भी उसी में हो। परिभाषा स्पष्टतः व्यवहारवादी है, आचार शास्त्र के नियमों से सम्बन्ध रखती है। मनुष्य में विवेक इसलिये है कि वह अपने सम्बन्ध में तो सोचे लेकिन दूसरों का भी ध्यान रखे। जब अपनी माँगों उपस्थित करने व्यक्ति निकलता है तो उसे दूसरों की भी लगभग वही या वैसी ही माँगें दिखाई देती है। उस समय उन माँगें का रूप समष्टिगत हो जाता हैं। स्वाभाविक स्वातन्त्र्य-भावना के साथ-साथ सामूहिक अवश्यकताओं की पूर्ति या स्वीकृति भी व्यक्तित्व के अभिन्न अङ्ग हो जाते हैं। अधिकार वास्तव में व्यक्ति के आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक वाह्य परिस्थितियों या दशाओं का निर्देश करते हैं। जिस तरह प्रकाश या ताप की अनुभूति में वायु-मन्डल का माध्यम प्राकृतिक अनिवार्य है उसी प्रकार अधिकारों के लिये सामाजिस स्वीकृति का वातावरण अनिवार्य है। ये अधिकार किसी अनुबन्ध या समझौते के परिणाम नहीं है वरन् राज्य से स्वतः उद्भूत होते हैं जिस तरह सूर्य की किरणें। अधिकारों की माँग और पूर्ति के पीछे एक गुप्त नियम और काम करता है जिसका उल्लेख ग्रीन ने नहीं किया और वह है सामाजिक या नैतिक मूल्य (Social or ethical values) जो अधिकारों के निर्माण में प्रमुख हाथ रखते हैं। अधिकारों की स्वीकृति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो विशुद्ध वैधानिक उपायों से, जिससे वे संवैधानिक नैतिकता (Constitutional morality) से घुल-मिल जावें और राज्य की पूर्ण स्वीकृति उन्हें प्राप्त हो जावे। दूसरे, राज्य की स्वीकृति न होने पर भी कम से कम जनमत या विशाल बहुमत से उन अधिकारों की स्वीकृति हो जावे और वे समाज का

दिशा-निर्देश करने वाले महत्वपूर्ण सूत्र सिद्ध हो सकें। समाज या बहुमत की स्वीकृति पर ही प्राकृतिक अधिकारों (natural rights) का निर्माण होता है। दूसरे अधिकार जो कानूनों से संरक्षित हैं वैधानिक अधिकार (legal rights) कहलाते हैं। यहाँ यह उल्लेख प्रासङ्गिक होगा कि ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार की कल्पना अनुबन्धवादियों (Contractualists) से भिन्न की है। अनुबन्धवादी प्राकृतिक अधिकार उन्हें मानते हैं जो मनुष्य को जन्म से ही मनुष्य होने के नाते स्वभावतः अनायास प्राप्त होते हैं। अनुबन्धवाद में समाज और राज्य बनने से पहिले प्राकृतिक दशा (State of nature) का चित्रण किया गया और इस समय के अधिकार समाज और राज्य से अप्रतिबन्धित रहे चले आये। ग्रीन के अनुसार अनुबन्धवादियों की यह धारणा मूलतः गलत है कि अधिकारों की प्राकृतिक शक्ति किसी निसर्गगत अवस्था पर अवलंबित है, बल्कि अधिकार तो इसलिए है कि उनके बिना व्यक्तित्व का विकास, आत्म-ज्ञान, पूर्णत्व प्राप्ति आदि सम्भव नहीं है। ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार इसलिए माने हैं कि वे मनुष्य की प्रकृति के स्वाभाविक गुणों—आत्म-विकास, नैतिक चेतना सहज उन्नति आदि की पूर्ति के आवश्यक साधन हैं। यही प्राकृतिक अधिकार नैतिक अधिकार (moral rights) कहे जा सकते हैं। प्राकृतिक अधिकार जब तक केवल समाज-स्वीकृत हैं तब तक उनके क्रियान्वय में शक्ति का अभाव है; जब वे राज्य-स्वीकृत हो जाते हैं, इनका स्वरूप वैधानिक अधिकारों की तरह हो जाता है, अर्थात् राज्य उन्हें मानने के लिये किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को बाध्य कर सकता है। एक दूसरे उदाहरण से यह स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। भारतीय संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों को राज्य की पूर्ण स्वीकृति है और उन पर जरा भी व्याघात पड़ने पर अदालतों को तुरंत कार्यवाई करनी पड़ती हैं। इन अधिकारों को निर्णय-योग्य (justiciable) कहा जाता है, सभी सभ्य सरकारें इन अधिकारों के संरक्षण का दावा करती हैं। दूसरी ओर संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का उल्लेख है (Directive principles of state policy) का उल्लेख है जिनकी कुछ धाराएँ, यथा श्रम करने वाले को काम मिलना, ८ घंटे प्रतिदिन काम करना, राष्ट्रीय संपत्ति या सामाजिक लाभ लेना आदि, मनुष्य के स्वस्थ भौतिक जीवन के लिये आवश्यक हैं। इन्हें समाज की स्वीकृति भी है किन्तु इन्हें वह वैधानिक स्थिति नहीं प्राप्त है जो मौलिक अधिकारों को है। ये निर्णय-योग्य नहीं हैं (Non justiciable) कुछ विभेद के साथ मौलिक अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्वों में जो भेद है वही वैधानिक अधिकारों तथा प्राकृतिक

अधिकारों में हैं । राज्य-स्वीकृत पूरी तरह से प्राप्त हो जाने पर प्राकृतिक अधिकार पूर्ण वैधानिक अधिकार हो जाते हैं और उन पर व्यक्ति अमल करता है, राज्य उनकी सुरक्षा करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्राकृतिक अधिकारों का कुछ भाग (जैसे सामाजिक प्रथा, परम्परा, विश्वास, धारणा आदि) सामाजिक स्वीकृति तो प्राप्त कर लेता है किन्तु राज्य द्वारा अनुमोदित न होने पर पूर्ण वैधानिक नहीं हो पाता। धार्मिक धारणाएं तथा अन्य क्रियाएँ इसी प्रकार की हैं और राज्य इन पर बहुत ही कम हस्तक्षेप करता है। आदर्श राज्य में अधिकारों का यह प्रभेद वैधानिक या प्राकृतिक नहीं रहता क्योंकि वह विधियों द्वारा शासित राज्य होता है और विधियाँ वैधनिक, प्राकृतिक, नैतिक अधिकारों का संश्लिष्ट तथा समन्वित रूप होती हैं । विधियों के द्वारा राज्य स्वतन्त्रता तथा चेतना की रक्षा के लिये शक्ति का प्रयोग करता है। व्यक्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्ध प्रवृत्ति के विरुद्ध जाने, अनैतिक कार्य करने अथवा समाज-विरोधी गतिविधि में भाग लेने से उत्पन्न अराजकता या गतिरोध का अन्त करना आवश्यक है और राज्य ही अपनी प्रबल शक्ति से ऐसा कर सकता है।

अधिकार, कानून और नैतिकता के पारस्परिक के सम्बन्ध ग्रीन ने स्पष्ट करते हुए बताया कि अधिकार नैतिक से सम्बन्धित है, और कानून से भी, परन्तु वास्तव में उनसे भिन्न भी है। नैतिकता से अधिकारों का यह सम्बन्ध है कि वे नैतिक जीवन की अनिवार्य शर्तें हैं, उनके अभाव में नैतिक जीवन सम्भव नहीं। किन्तु अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है, पर नैतिक जीवन का पालन बलपूर्वक संभव नहीं। उसके लिये तो आत्मचेतना तथा स्वेच्छा (Self conscious and voluntary efforts) की आवश्यकता है। अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा में बच्चों को स्कूल भेजना नैतिक और वैधानिक कर्तव्य दोनों है। परन्तु पूजा करना, प्राणिमात्र से प्रेम करना आदि केवल नैतिक कर्तव्य है । अधिकारों का सम्बन्ध केवल वाह्य स्थितियों से है पर नैतिक मनुष्य की आन्तरिक स्थिति या शक्ति से सम्बन्धित है । शरीर और मन के इस अंतर में शरीर बाध्य भले ही कर दिया जावे, पर मन कोई बन्धन मानने के लिए बाध्य नहीं है। इसलिये यह देखा गया कि शारीरिक दृष्टि से बन्दी बनने या दासत्व स्वीकार करने पर भी मन की आन्तरिक आजादी बन्दी नहीं होती। दुनियां के स्वतन्त्रता आन्दो-या देश-भक्ति के कार्य इस मानसिक नैतिकता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दूसरे

आप यह कानून बना सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति मन्दिर, मसजिद या गिर्जाघर जावे और वह व्यक्ति जाने लगता है। पर वहीं जाकर ईश्वर, अल्लाह या ईसा का ध्यान करना अथवा अपनी प्रेयसी का चित्र मानस-पटल पर उतारना उसकी व्यक्तिगत चेतना का विषय है, वहाँ किसी कानून की पहुँच नहीं है। अधिकारों को कानूनी रूप देना आसान है और राज्य-स्वीकृति से यह रूप आ जाता है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक शिक्षा चाहे प्राकृतिक या नैतिक अधिकार भले नहीं हो, आज उसे कानूनी रूप प्राप्त है। अधिकांश अधिकार ऐसे हैं जो नैतिक हैं, न्यायपूर्ण हैं, कानूनों से संरक्षित हैं या कानून-संगत हैं। परन्तु कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो कानूनों से संरक्षित तो अवश्य हैं पर सच्चे नैतिक अधिकार नहीं है। उदाहरण के लिये दासत्व-प्रथा का कानून रूप लिया जा सकता है। एक युग में दास बनाना, बेचना, स्थानान्तर करना कानून की रूप से सही भले हो, नैतिकता की दृष्टि से गर्हित तथा त्याज्य है। यही हाल बेगार या बेगारी की प्रथा का है। दो या चार पत्नियाँ रखने का कानून हो या न हो, नैतिकता या मानवता के सामयिक मूल्यों के बल पर इसे सुखद प्रसङ्ग या जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं माना जा सकता। राज्य की सृष्टि अधिकारों की रक्षा के लिये हुई है इसलिये राज्य अधिकारों की रक्षा के लिये कानून बनाता है। इन कानूनों में राज्य प्राकृतिक, नैतिक, वैधानिक मूल्यों की रक्षा करते हुए हितकारी कानून बनाने की चेष्टा करता है। यदि अनैतिक, दमनकारी या अप्राकृतिक कानून बनये जावें तो इनके प्रतीकार किये जाने का उल्लेख ग्रीन ने किया है। किन्तु यह स्थिति अपवादस्वरूप है। साधारणतः अधिकार राज्य द्वारा प्राप्त होते हैं, इसलिये व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध अधिकार का प्रश्न नहीं उठता।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन करते हुए ग्रीन ने काण्ट की तरह कर्तव्य-पालन के आदेशों का उल्लेख किया है। मिल, बेन्थम आदि ने स्वतन्त्रता की कल्पना प्रतिबन्धों के अभाव के रूप में की थी। ग्रीन विधायक स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है। यह स्वतन्त्रता आत्मपरक (subjective) तथा आन्तरिक तो है पर वास्तविक और सकारात्मक भी है। स्वतन्त्रता किसी भी इच्छा के पालन से नहीं बल्कि 'भली इच्छा' से सम्बन्ध रखती है। भली इच्छा नैतिक आदेश से उद्भूत होती है इसलिये नैतिक आदेश पालन करना स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। वासनात्मक इच्छा का अनुगमन करने पर स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता की परिधि में आ जाती है (liberty degenerates into license)। इसलिये स्वतन्त्रता की कामना सदिच्छा के प्रसङ्ग में ही

श्लाघ्य है। स्वतन्त्रता में अन्तर्निहित समानता की भावना व्यक्ति को असंदिग्ध या निर्विवाद रूप से ग्रहण करनी चाहिये। स्वतन्त्रता का उपभोग वास्तव में समानता का प्रयोग ही है। क्योंकि अपनी तरह दूसरे की इच्छाएं भी प्रभावशाली हैं। मनुष्य जब विधियों (अथवा नैतिक आदेशों के वैधानिक रूपों का) का पालन करता है तो बस अपने व्यक्तित्व-विकास के नियमों की पूर्ति करता है (man fulfils the law of his being), अपनी नैसर्गिक तथा नैतिक इच्छा की पूर्ति करता है। व्यक्ति-स्वतन्त्रता का समर्थक ग्रीन अधिकारों की मर्यादा निश्चित करने और उचित परिस्थितियों के निर्माण करने की सलाह देता है। बाबा आदम के युग के कानूनों अथवा निष्प्राण कानूनों (obsoluto and inoperative laws) से अधिकारों की रक्षा नहीं हो पाती। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ निरन्तर जागरूकता का सिद्धान्त जुड़ा है (eternal vigilance is the price of liberty) आज के युग में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर नागरिक स्वतन्त्रता (civil liberties) की आदर्श कल्पना ध्वनित होती है, उसका पूरा-पूरा उल्लेख ग्रीन नहीं कर पाया है। फिर भी वह भाषण, अभिव्यक्ति, सङ्गठन, विश्वास आदि की स्वतन्त्रता का पूरा समर्थन करता है। ग्रीन ने व्यक्तिगत आचरण पर संयम, अनुशासन, सदाचरण तथा नैतिकता का बन्धन तो लगाया ही है। उसके अनुसार नशेबाजी या जुआखोरी अनैतिक है और पूर्ण रूप से त्याज्य है। मद्यनिषेध पर उसके विचार निर्भीक, स्पष्ट तथा सबल हैं। अनुशासन का अभिप्राय आत्म-शासन ही होना चाहिये क्योंकि आत्म-शासन नैतिकता का ही शासन है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तभी सफल होता है जब वह राज्य के समक्ष आदर्श नागरिकता की भावना साकार कर सके और व्यक्ति को समाज के लाभों के लेने-देने में क्रियाशील बना सके। नागरिकता के सम्बन्ध में यह धारणा ग्रीन को मान्य थी की विभिन्न सम्बन्धों तथा विश्वासों को व्यवस्थित करना (right orderii g of loyalties) ही नागरिकता की कसौटी है। नागरिक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये ग्रीन का अनुदाय महत्वपूर्ण है।

राज्य के आधार तथा कार्य:

राज्य का सामान्य उद्देश्य अधिकारों की रक्षा बताने के बाद ग्रीन ने राज्य की स्थापना का मूल आधार ढूंढने का प्रयास किया। उसका सुप्रसिद्ध कथन है कि 'राज्य का आधार बल-प्रयोग या शक्ति नहीं बल्कि सामान्य इच्छा या जन-स्वीकृति है' (will, not force, is the basis of the state)।

राजनीतिक कर्तव्यों की प्रेरणा देने वाले अपने व्याख्यानों में इस प्रकार की व्याख्या ग्रीन ने की है जिससे सामान्य इच्छा (general will) तथा सतत जागरूकता को स्पष्ट प्रवृत्ति नैतिक आदर्शों की ओर उन्मुख होकर कार्य करे। नागरिकता का जन्म इसलिए हुआ है कि मानवीय सदिच्छा और विवेक-प्रसूत नैतिक धारणाओं को प्रकट करने के लिये मुक्त अवसर मिले। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये मनुष्य अपने आवेगों तथा भाव-संवेगों को नियन्त्रित करके सन्मार्ग की ओर केन्द्रित करता है। घृणा, अमर्ष, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि क्षुद्र-वृत्तियाँ विकृति के साधन हैं किन्तु इनसे अभिभूत न होकर नैतिक संतुलन तथा विवेक बनाये रखना व्यक्ति की महानता तथा सफलता है। राज्य भी एक ऐसा संस्थान है जो सामान्य इच्छा की स्पष्ट अभिव्यक्ति है और लोक कल्याण के लिये हमेशा प्रयत्नशील रहता है। समाज की सामूहिक चेतना (social consciousness) उसे रचनात्मक कार्यों का एकमात्र आश्रय बनाती हैं। यह राज्य किसी अनुबन्ध का परिणाम या बना-बनाया नुस्खा (ready made prescription) नहीं है जो अपने विशिष्ट रूप में सामने आ जावे। शक्ति अथवा बल राज्य का आधार नहीं है क्योंकि यह तो बाद में राज्य का गुण बनता है। सबसे पहले राज्य तो मनुष्यों के नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर सामूहिक चिन्तन तथा सहमति का परिणाम है। लोक-सम्मति से सामान्य इच्छा ध्वनित होती है और वही राज्य की स्वीकृति देती है। इस सम्बन्ध में ग्रीन के सामने रूसो के विचार स्पष्ट थे। रूसो ने सामान्य इच्छा का सिद्धान्त चलाया और राज्य के बल प्रयोग को इसलिये आवश्यक ठहराया कि उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मार्ग खुल जाता है (paradox of being forced to be free)। राज्य ऐसा कार्य इसलिये कर पाता है कि उसे वैसा अधिकार व्यक्ति-विशेष से नहीं बल्कि सामान्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति सामान्य इच्छा से मिला हुआ है। इसलिये सामान्य इच्छा प्रबल तथा मुख्य है, बल प्रयोग गौण है अथवा एक मामूली सा कार्य है। स्वस्थ व्यक्ति को स्वास्थ्य के सामान्य नियम मानने पड़ते हैं और रोगी व्यक्ति को डाक्टर के कहने के अनुसार मीठी-कड़वी दवाई लेनी पड़ती है, अर्थात् प्रत्येक स्थिति में सावधानी रखनी पड़ती है। उसी प्रकार राज्य के अन्तर्गत पूरी सतर्कता आवश्यक है।

राज्य का आधार, शक्ति नहीं, इच्छा निरूपित करते समय ग्रीन अनुबन्ध-वादियों (हाब्स, लॉक, रूसो) के सिद्धान्तों का खण्डन करता है। अनुबन्धवादी विचारक सामाजिक क्रमविकास पर ध्यान नहीं देते और उन समुदायों को ही

मानते हैं जो शक्ति पर विश्वास करते हैं। वे लोग सर्वोच्च सत्ता मानकर नैसिगिक अधिकारों की घोषणा करते हैं परन्तु नागरिकों के सामाजिक अधिकारों को भूल जाते हैं। वे अधिकार न तो नैसिगक हैं और न राज्य सत्ता से प्राप्त हैं। व्यक्ति को वह ज्ञान सदैव रहता है कि वह समाज में ही अपना गौरव प्राप्त करता है, व्यक्तित्व का विकास करता है, सार्वजनिक उद्देश्य (जो उसका भी उद्देश्य है) की पूर्ति करता है। इस प्रकार अनुबन्ध की जगह ग्रीन सामाजिक आदर्श स्थापित करता है और शक्ति या सत्ता को गौण बना देता है।

राज्य का अधिकार जनस्वीकृति मानने के लिये ग्रीन ने सबसे पहले यह कारण स्पष्ट किया है कि वह मानवीय इच्छा से उत्पन्न होता है। फिर राज्य में ही मानव आत्मा का पूर्ण विकास होता है। राज्य की कल्पना में सोद्देश्यता है। अन्य समुदायों या संवासों से यह बड़ा है। अरिस्टाटल की धारणा की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि राज्य व्यक्ति को जीवन रक्षा के लिये बना, लेकिन अच्छा जीवन बिताने का वह आवश्यक साधन भी बन गया। तीसरी बात यह है कि जिसे हम बल या शक्ति-प्रदर्शन कहते हैं वह भी वास्तव में इच्छा की अभिव्यक्ति-मात्र है। राज्य बल का प्रयोग इसलिये करता है कि व्यक्ति की यथार्थ इच्छा (real will) की रक्षा तथा पूर्ति हो। लेकिन ऐसा करने में वह व्यक्ति की नैतिक चेतना तथा समाज की सामूहिक चेतना से स्वीकृति पाता है। राज्य का बल-प्रयोग सामान्य इच्छा का ही दूसरा पहलू है और सामान्य इच्छा से श्रेष्ठतर कोई दूसरी वस्तु नहीं है (व्यक्ति की इच्छा उसमें ही निहित है) अपराध करने वाले व्यक्ति को गिरफ़्तार करना, सजा देना यह राज्य का कार्य है लेकिन इस कार्य से अपराधी की अनैतिकता का शमन तथा नैतिकता का उद्बोधन होता है। अपराधी की वासनामूलक आवेगजन्य, कुत्सित इच्छाओं का जाल, जो उसे बन्दी बना लेता है, काटने के लिये ही राज्य का बल-प्रयोग है। इस प्रकार ग्रीन ने व्यक्तिवाद और आदर्शवाद का मेल करके व्यक्ति का महत्व तो स्वीकार किया है, किन्तु उसे समाज के अविभाज्य अंग के रूप में ही ग्रहण किया है शरीर और आत्मा की तरह व्यक्ति और समाज का अस्तित्व वह मानता है। प्लेटो की तरह शारीरिक या मानसिक शक्तियों का विभाजन करके नहीं, बल्कि अरिस्टाटल की तरह समग्र रूप से व्यक्तित्व-सहित मनुष्य का विवेचन ग्रीन ने किया। उसी तरह हीगेल की कोरी निरपेक्ष आत्मवादिता तथा सर्वस्व समर्पण (complete surrender) की जगह काण्ट की तरह उसने कर्तव्य के नैतिक आदेशों

का पालन उल्लेखनीय बताया। इसलिये ग्रीन प्लेटो की अपेक्षा अरिस्टाटल के और हीगेल की अपेक्षा काण्ट के अधिक समीप है।

ग्रीन के अनुसार संप्रभुता की भावना सामान्य इच्छा पर ही अवलम्बित है। विधि-शास्त्री आस्टिन ने संप्रभुता की परिभाषा में निश्चित मानव उच्चाधिकारी (determinate human superior) को आदि स्रोत माना है। लेकिन ग्रीन के अनुसार ये उच्चाधिकारी सामान्य इच्छा के पालक मात्र हैं। संप्रभुता ऊपरी तौर पर व्यक्ति-विशेष, समूह या संस्था में निहित दिखाई देती है किन्तु ये सब सामान्य इच्छा की छायामात्र हैं। पदार्थ और छाया का जो सम्बन्ध है वही सामान्य इच्छा और संप्रभुता का है। ग्रीन ने यह भी बताया कि समाज में मनुष्य कुछ निश्चत विधायक या रचनात्मक लक्ष्यों की पूर्ति में संलग्न रहता है और पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना से उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है। इस पारस्परिक सहयोग या सद्भाव से जिस सामान्य इच्छा और नैतिक चेतना की सृष्टि होती है, वही संप्रभु अथवा शाश्वत चेतना की आज्ञा का पालन करवाती है, इस प्रकार का आज्ञा पालन व्यक्ति का उदात्त पक्ष है क्योंकि यही ज्योति की ऊर्ध्व शिखा है। बल प्रयोग या शरीरिक शक्ति पाशविकता का प्रतीक है, परन्तु शाश्वत चेतना जीवन का उदात्त रूप है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में पशु (पशु-तुल्य व्यवहार) और देव (देवोपम गुण) दोनों अवस्थित हैं उसी प्रकार सामान्य इच्छा और व्यक्तिगत इच्छा हैं। ग्रीन के अनुसार संप्रभुता ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति की सार्वभौम विवेकाश्रित, शाश्वत चेतना को उसकी अन्य प्रवृत्तियों से ऊंचा रखती है (मनुष्य के देवत्व को प्रकाश में लाती है)। ग्रीन उपयोगितावाद की यह धारणा नहीं मानता कि व्यक्ति अपने आचरण में कष्टों से बचने और सुख पाने के रास्ते पर ही चलता है। उसी प्रकार वह हाब्स तथा अन्य विचारकों का यह मत भी नहीं मानता कि भय के कारण ही व्यक्ति सामाजिक आचरण या कार्य करता है। वह बल प्रयोग को भी अनावश्यक मानता है क्योंकि बल के नाम से अस्थायी क्षणिक एकता भले हो जावे अन्तिम परिणाम सुखद नहीं होता। मनुष्य अपनी प्राकृतिक प्रवृत्ति तथा नैतिक आदेशों के कारण समाज में है। भय अथवा बल अपवाद के रूप में ही दिखाई देते हैं। व्यक्ति पर इसलिये यदि कोई दबाव है तो वह आन्तरिक है। (pressure from within) न कि कोई बाहरी दबाव है (external pressure) राज्य का स्वरूप चाहे जैसा भी हो व्यक्ति किसी न किसी अंश में उससे मेल खाता ही है। वैसे तो ग्रीन ने सच्ची स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र का वातावरण राज्य के लिये सर्वश्रेष्ठ माना है। पर वह

अत्याचारी या निरंकुश राज्य के सम्बन्ध में भी कुछ विचार प्रकट करता है। पहले तो वह ऐसे राज्यों को विकार या भ्रष्ट स्वरूप मानता है। बाद में वह यह घोषित करता है कि राज्य जब तक है उसे किसी न किसी रूप से सामान्य इच्छा का समर्थन अवश्य प्राप्त है अन्यथा वह राज्य नहीं रह सकता था। इस दृष्टिकोण का कारण यह है कि पूर्ण अराजकता से किसी भी रूप में राज्य की स्थिति ग्रीन को अधिक प्रिय थी।

राज्य के कार्यों का सिद्धान्त निश्चित करते समय ग्रीन रचनात्मक तथा निषेधात्मक पक्षों का उल्लेख करता है। राज्य का उद्देश्य तो व्यक्ति के पूर्ण नैतिक विकास में सहायता देना है। लेकिन राज्य स्वतः नैतिकता, धार्मिकता आदि के प्रचार या प्रसार के लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। राज्य का यह कार्य नहीं है कि वह धर्म या भावना-विशेष का आग्रह या बलपूर्वक प्रचार करे। वह तो अधिक से अधिक यही कर सकता है कि नैतिक विकास के लिये उपयुक्त बाह्य परिस्थितियाँ पैदा कर दे। रचनात्मक दृष्टि से, जो सामाजिक चेतना का प्रतिफल है, राज्य व्यक्ति को निश्चित तथा निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन (determinate acts of commission) करने के लिये बाध्य कर सकता है। स्वतन्त्रता मिलने पर व्यक्ति जिस समय अपनी क्षमताओं का प्रयोग करने में समर्थ हो जाता है, राज्य का रचनात्मक या सकारात्मक रूप प्रकट होता है। अनिवार्य शिक्षा, संयम, सदाचार की प्रेरणा आदि ऐसे ही विषय हैं इंगलैण्ड के उदार वातावरण में नवीन सुधारों का संदेश लेकर ग्रीन आया था और स्वयं विख्यात शिक्षाशास्त्री होने के अलावा शासकीय शिक्षा कमीशन का सदस्य भी रहा था। इसलिये उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचार गम्भीर तथा पाठनीय है। शिक्षा का उद्देश्य है मनुष्य को संयमी, सदाचारी बनाना, अच्छा, आदर्श नागरिक बनाना और उसकी विविध तथा बहुमुखी (diverse and muitifarious) प्रतिभाओं को विकसित करना। मद्यपान-निषेध, भूमि व्यवस्था, संपत्ति-रक्षा आदि के सम्बन्ध में भी ग्रीन रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करता है। इस प्रकार वह पुलिस राज्य का नहीं बल्कि लोक मंगलकारी राज्य का समर्थक है। निषेधात्मक रूप से राज्य समाज के मुक्त नैतिक प्रवाह के मार्ग में आने वाले वासनात्मक अवरोधों को दूर कर सकता है। इस कार्य में बल-प्रयोग तो होता है और राज्य कुछ बातों का निषेध भी करता है (जैसे चोर या अपराधी की स्वतन्त्रता का अपहरण या निषेध)। असामाजिक या समाजविरोधी तत्वों अथवा अच्छे जीवन की बाधाओं के लिये राज्य खुद एक

बाधा (Hindrance of hindrances) बन जाता है इस तरह सदाचार, नैतिकता, धार्मिकता के मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधा दूर करके राज्य परोक्ष रूप से स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। वह ऐसे कानून बना सकता है जो इस तरह के कार्यों का निषेध कर दें जिनसे नैतिकता के पतन का भय हो। सारांश में, राज्य के पास ऐसी व्यवहारिक शक्ति है कि वह व्यक्ति के लिये करणीय-अकरणीय (do's and do'nt's) की तालिका बना सकता है इसका मतलब यह नहीं कि व्यक्ति की नैतिक चेतना को हटाकर या बदलकर (subsitute) राज्य अपना आसन जमाना चाहता है। राज्य वही करता है जो नैतिक चेतना को करना चाहिये किन्तु वह परिस्थिति या प्रमादवश कर नहीं पाती। राज्य के कार्यों का विवेचन करते समय ग्रीन पाँच प्रमुख तत्वों का उल्लेख करता है। (१) राज्य का कार्य धार्मिकता, नैतिकता, सदाचारी जीवन की बाधाओं के विरुद्ध बाधा डालना है। (२) बाधाओं के विरुद्ध बाधा डालने के लिए दण्ड-व्यवस्था का प्रयोग करना। (३) राज्य की स्वेच्छाचारिता या अनैतिकता रोकना (इसके लिये व्यक्ति को विरोध का अधिकार दिया गया है)। (४) राज्य के अन्तर्गत अन्यान्य संघों या समुदायों का संरक्षण करना, उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना। (५) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की चेष्टा करना और युद्ध की विभीषिका से निर्लिप्त रहना, युद्धों का लोप करना राज्य का महान् कार्य है। यह अवश्य है कि उसकी अधिकांश धाराएँ निषेधात्मक हैं। लेकिन निषेध करना भी स्वतः एक रचनात्मक कार्य है।

दण्ड व्यवस्था के सिद्धान्त :

राज्य का कार्य विभिन्न संस्था, समाज, व्यक्ति, वर्ग, समुदाय या संवास के कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करना और ऐसे विधियों का प्रचलन करना है जिनसे सामाजिक उन्नति में सहायक साधनों की रक्षा हो और बाधक साधनों का अन्त हो। अपराधी को दण्ड देना, जिसमें शक्ति प्रयोग निहित है, राज्य का महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है, क्योंकि अपराध नैतिक विकास में बाधक है। लेकिन दण्ड-विधान में मनुष्य के बाह्य आचरण के अनुसार ही विचार होना चाहिये, आंतरिक इरादों के बल पर नहीं, ऐसा ग्रीन का कथन है। दण्ड किसी अनुचित कार्य (जो बाह्य, प्रत्यक्ष तथा हानिकारक है) के लिये ही दिया जाता है, क्योंकि वैसा न करने पर अनैतिकता को प्रश्रय मिलेगा। दण्ड की मात्रा अपराध की गुरुता या लघुता पर निर्भर करती है। इसलिये विभिन्न प्रकार के दण्ड होते हैं। दण्ड के तीन सिद्धान्त सामान्यतः प्रचलित हैं। पहला, प्रति-

शोधात्मक सिद्धान्त (Retributive theory) जिसके अनुसार अपराधी द्वारा की गई क्षति की पूर्ति तथा उसके गलत काम के लिये सजा देने का काम किया जावे। दूसरा, निवारक सिद्धान्त (Deterrent theory) जिनके अनुसार अपराधी से इस तरह का बर्ताव हो कि सामान्य व्यक्ति अपराध से डरें और अपराधी का अनुगमन न करें, साथ ही अपराधी भी अपने कार्यो की पुनरावृत्ति न कर सके। इसके अनुसार अपराधी की स्थिति दृष्टान्तस्वरूप हो जाती है और वह दूसरों के सुधारने का साधनमात्र बन जाता है। तीसरा है सुधारक सिद्धान्त (Reformatory theory) जिसके अनुसार दण्ड देकर अपराधी का सुधार करना, उसे सजग बनाना, पश्चाताप करने के बाद उसे ठीक रास्ते पर ले आना, उसे पश्चाताप आवासों में रख कर (penitentiaries) उपयोगी बनाना प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। ग्रीन ने इन प्रचलित सिद्धान्तों को त्रुटिपूर्ण तथा अव्यावहारिक माना है। वैसे दण्ड को वह आवश्यक मानता है क्योंकि अपराध के फलस्वरूप उत्पन्न अव्यवस्था, असंतुलन या सामाजिक बाधा का निराकरण दण्ड द्वारा ही सम्भव है। अपराध क्या है? इस प्रश्न पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। वैसे तो अपराध स्थापित तथा स्वीकृत सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रयत्न या उसमें गड़बड़ी पैदा करने का प्रयास है। लेकिन यह परिस्थितिजन्य है। कभी-कभी शारीरिक मानसिक या स्नायविक दौर्बल्य से भी यह प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। लेकिन काफी हद तक यह विषय व्यवस्था का परिणाम है। अपराध या तो आकस्मिक होते हैं (जिसमें अपराधी की आन्तरिक इच्छा नहीं रहती—आजकल हत्या आदि गुरुतम अपराधों में इरादा (Intention) या आन्तरिक इच्छा महत्वपूर्ण विषय है। या इरादतन (Deliberate) होते हैं। धीरे-धीरे अपराध स्वभाव की प्रवृत्ति भी बन जाता है। यह एक प्रकार से दूसरों की स्वतंत्रता या समाज की सुव्यवस्था पर आक्रमण है। इस आक्रमण से जीवन से नैतिक मूल्यों का पतन होता है, संतुलन बिगड़ जाता है। इसके लिये दण्ड-व्यवस्था बड़ी आवश्यक है क्योंकि अपराध के वाह्य प्रभाव का निर्जीवकरण (Neutralisation) करके समाज का संतुलन बनाये रखना उसका काम है। इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि दो समान शक्तियाँ विपरीत दिशाओं से आकर्षण-विकर्षण करने पर एक दूसरे को प्रभावहीन बना देती हैं। अपराध स्वतः एक बलप्रयोग है (समाज के विरुद्ध) और दण्ड भी एक बलप्रयोग ही है, (अपराधी के विरुद्ध) अतएव दोनों के वाह्य प्रभाव का निराकरण हो जाता है। ग्रीन का यह दण्ड-सिद्धान्त राज्य के कार्य की तरह 'बाधाओं की बाधा' बनता है

क्योंकि यह सुव्यवस्थित जीवन की बाधा (अपराध) को बाधा पहुँचाता है। यह सिद्धान्त इस तरह निषेधात्मक (Negative) है। तो क्या पुलिस, अदालत, मजिस्ट्रेट, जेल, कानून ये सब अपराधी के दुश्मन हैं ? इसका उत्तर है 'नहीं'—बल्कि ये सब अपराधी के सहायक हैं, क्योंकि ये अपराधी की पुनर्स्थापना (Rehabilitation) करते हैं। संक्षेप में, ग्रीन की यह धारणा है कि केवल बदला लेने के ख्याल से दण्ड नहीं दिया जाता, दण्ड न्यायोचित होना चाहिये, दण्ड की मात्रा नहीं नापी जा सकती (दण्ड अपराध की नैतिक गुरुता के बराबर नहीं दिया जा सकता क्योंकि अपराध को यदि नापा भी गया तो नैतिक गुरुता को कभी नहीं नापा जा सकता।) दण्ड का उद्देश्य अपराधी को विपरीत (या अस्वीकृत) कार्यों से उपरत या पराङ्मुख करें, दण्ड सुधार का साधन हो। इस तरह ग्रीन ने सभी बातों का समावेश अपने विचारों में किया है। मृत्यु-दण्ड (Capital punishment) का वह समर्थन केवल उन स्थितियों में करता है जब समाज की सुरक्षा का प्रश्न हो या अपराधी में पुनर्स्थापित होने की स्थायी अक्षमता हो। दण्ड द्वारा अधिकारों की ओर इस प्रकार नैतिक चेतना की (क्योंकि अधिकार नैतिक चेतना या उन्नति के साधन है) रक्षा होती है।

राज्य का प्रतिरोध (Resistance to state):

राजनीतिक उत्तरदायित्व का अभिप्राय केवल अन्धानुसरण या राज्य की हर प्रकार की उचित-अनुचित आज्ञा का पालन नहीं है, क्योंकि यह उत्तरदायित्व सापेक्षिक होता है। उसी तरह केवल अधिकारों की चर्चा करके कर्तव्य से विमुख होना नागरिक आदर्श नहीं पतन है। अधिकारों की खोज में दौड़ने वाला, पर अपेक्षित कर्तव्य की अवहेलना करने वाला व्यक्ति 'मीठा-मीठा गप्प, और कड़ुआ-कड़ुआ थू' करता रहता है। ऐसी स्थिति में व्यवस्था सुसंतुलित रीति से नहीं चल सकती। कर्तव्य के माध्यम से ही अधिकारों की अभिव्यक्ति होती है। प्रायः सभी आदर्शवादी इस विचारधारा के पोषक हैं और वे अधिकार तथा कर्तव्य का विवेचन साथ-साथ करते हैं। राज्य का प्राथमिक कर्तव्य यह है कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करे और उसके अच्छे जीवन की बाधायें दूर करे। लेकिन यह भी हो सकता है कि राज्य या तो निरंकुश और अत्याचारी हो जाये (उस स्थिति में वह राज्य नहीं, एक भ्रष्ट विकृत रूप हो गया) अथवा अपने कर्तव्य पालन में शिथिल हो जावे। ऐसी हालत में व्यक्ति का राजनीतिक उत्तरदायित्व क्या कहता है ? उसकी नैतिक चेतना कहाँ जाती है ?

इन प्रश्नों का उत्तर देते समय ग्रीन ने अपना आदर्शवादी नकाब फेंक कर व्यक्तिवादी रूप प्रदर्शित किया है। ऐसी स्थिति में राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने या प्रतिरोध करने का अधिकार व्यक्ति को दिया गया है (individual's right of resistance against state)। इसका स्पष्टीकरण करते समय ग्रीन ने बताया कि राज्य स्वतः साध्य न होकर नैतिक उन्नति या उत्तम जीवन का साधन है। यदि राज्य अपना कार्य पूरा न करे तो व्यक्ति भी राज्याज्ञा मानने के लिये बाध्य नहीं है। राज्य की गलतियाँ दो प्रकार से हो सकती हैं। एक तो निषेधात्मक जैसे निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध न करना, मद्यनिषेध को सफल न बनाना आदि। दूसरी विधेयात्मक जैसे दमनकारी, अत्याचारपूर्ण कानून बनाना, वैधानिक मर्यादा का उल्लङ्घन करना, अन्याय को प्रश्रय देना आदि। इन दोनों गलतियों के खिलाफ व्यक्ति को विरोध करने का (बगावत का नहीं ?) अधिकार है । यह विरोध मनमाने ढङ्ग से, सशस्त्र आधार पर हुल्लड़बाजी तथा अराजकता पैदा करते हुए नहीं होनी चाहिए। इसके लिए शान्तिपूर्ण, वैधानिक मार्ग का सहारा लेना होगा। इस सम्बन्ध में ग्रीन की रुचि निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) की ओर है। महात्मा गांधी के सत्याग्रह तथा प्रतिरोध सम्बन्धी प्रारम्भिक विचार ग्रीन से प्रभावित हैं।

व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार तब है जब राज्य ऐसे काले कानून या समाज के लिये अहितकारी कानून (lawless laws or obnoxious laws) बनाये जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करके उसकी नैतिक चेतना की गति कुण्ठित करते हों। ऐसे कानूनों का विरोध करने के लिए व्यक्ति की अन्तरात्मा से स्वाभाविक पुकार उठती है, उसके मन में यह स्वभाविक द्वन्द्व होता है कि राज्य की इस गलती का कब, कैसे, कहाँ तक विरोध करना उचित है ? साथ ही राज्य का विरोध करके उससे प्राप्त अन्य सुविधाओं को संकट में डालना कहाँ तक बुद्धिमानी है ? लेकिन नैतिकता की रक्षा के आगे सुख सुविधा (expediency) का कोई मूल्य नहीं है; इसलिये व्यक्ति को हँसते-हँसते यातनाएँ सहनी चाहिए और जीवन के महानतम आदर्श की रक्षा करनी चाहिए। साक्रेटीज ने महान् सत्य की रक्षा के लिये विषपान और महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का पथ ग्रहण कर जेल की यतनाएँ सहीं, जीवन-समर्पण कर दिया। रौलट एक्ट, नमक कानून, युद्ध के आर्डिनेन्स इन सबका विरोध महात्मा गांधी ने देश की विशाल जनशक्ति के साथ किया क्योंकि ये सब घृणित या काले कानून थे। लेकिन किसी खास

कानून का विरोध करने का यह आशय नहीं कि राज्य पर आघात किया जावे और उसका स्वरूप छिन्न-भिन्न कर दिया जावे। यदि ऐसा हुआ तो अराजकता, अव्यवस्था, अनैतिकता ही पनपेगी। यही कारण है कि साक्रेटीज ने जेल से भागने के लिये इन्कार कर दिया और गांधीजी ने राजनीतिक बन्दियों को आदर्श जेल-यात्री बनने की सलाह दी। लेकिन कभी-कभी जेल से भागना और व्यापक स्वातन्त्र्य यज्ञ में आहुति देना भी महान् नैतिक कार्य है लेकिन ग्रीन इस स्थिति की कल्पना तक नहीं करता (महात्मा गांधी ने भारत में अंगरेजों का शासन चलते सारे देश को जेलखाना माना था और स्वतन्त्रता-आन्दो लन में जेल तोड़ना या वहाँ से भागना कोई नैतिक अपराध नहीं था। किन्तु यह कहा जा सकता है कि वह क्रान्ति का समय है और क्रान्ति ग्रीन का विषय नहीं है)। इस विरोध या प्रतिरोध के समय व्यक्ति को यह भी देखना चाहिये कि वह केवल अपनी इच्छा ही नहीं बल्कि पूरे समाज या विशाल जनमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इसलिये विरोध-प्रारम्भ के पूर्व प्रचार, जनमत-निर्माण, सामूहिक तैयारी आदि आवश्यक हैं और विरोध का उद्देश्य राज्य का अन्त करना नहीं, बल्कि सुधार करना है (not to end the state but to mend it)। आन्दोलन की पृष्ठभूमि प्रचार तथा जन-स्वीकृति से तैयार होती है। अतएव आन्दोलन की प्रक्रिया (technique of agitation) पर ग्रीन जोर देता है। दूसरी महत्वपूर्ण स्थिति जिसमें व्यक्ति विद्रोह कर सकता है वह तब पैदा होती है जब शान्तिपूर्ण वैधानिक विरोध के साधन समाप्त हो जावें और प्रत्यक्ष कार्यवाई ही अन्तिम अस्त्र रहे। ऐसी हालत में भी ग्रीन व्यक्ति को हिंसा की सलाह नहीं देता। संक्षेप में, विरोध वैधानिक मार्गों से या शान्तिमय आन्दोलनों से ही संभव होना चाहिये। प्रचार, समझौता, शान्ति या मध्यस्थता से यदि मत-परिवर्तन (conversions) सम्भव है तो विद्रोह अनावश्यक है। इस सिद्धान्त के द्वारा ग्रीन ने राज्य की संप्रभुता पर एक बड़ा अंकुश लगाया है। कोई भी राज्य नागरिकों के सामूहिक सक्रिय विरोध का सामना नहीं कर सकता। इसके अनुसार सामान्य इच्छा की ही जीत होती है और सामान्य इच्छा से पृथक् किसी दूसरी उच्च इच्छा की कल्पना ग्रीन नहीं करता। ग्रीन के विपरीत अन्य आदर्शवादी कांट, हीगेल, फिक्टे, बोसाङ्के की धारणा दूसरी है।

युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीयता:

ग्रीन का स्थान शान्तिवादी (pacifist) तथा युद्ध विरोधी विचारकों में

अग्रगण्य है। विश्व-बन्धुत्व तथा शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वह प्रबल समर्थक है। समाज तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ ऐसी चेतना भी उदित हुई है जो जातीयता, राष्ट्रीयता की संकुचित परिधि को पार कर विशाल मानवहित में लीन हो जाती है। पहले जीवनाधिकार संकुचित समूहों (Isolated enclaves) या गुटों तक सीमित था। आदिम जातियों में स्वजाति रक्षण के लिये विदेशियों या विजातियों को मार डालना अपराध नहीं था लेकिन आदिम युग के बाद सभ्यता की प्रगति के साथ नैतिक-धार्मिक भावनाएं भी बलवान् होती गईं। रोम की विधि, ईसाई धर्म, स्वतन्त्रता की भावना, सामूहिक नैतिकता आदि के कारण व्यक्ति का जीवनाधिकार सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है। प्रत्येक राज्य इसकी सुरक्षा करता है और उलङ्घन होने पर दण्ड देता है। इस तरह जीवनाधिकार संसार व्यापी है और मानव समाज सार्वभौम हो रहा है। ग्रीन की व्याख्या के अनुसार वर्ण विभेद या रंगभेद की नीति (Apaitheid or racial discrimination) विश्वशान्ति में घातक सिद्ध होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने जीवनाधिकार के मौलिक तत्वों का समन्वय करके किसी जाति को समूल नष्ट करने का प्रयास (Genocide) अपराध घोषित कर दिया है। संसार के सभी राज्य, चाहे जैसी व्यवस्था या सरकार क्यों न मानें, आपस में सद्व्यवहार कर सकते हैं (पंचशील तथा सह-अस्तित्व के समीप की यह स्थिति शायद है!) और उन्हें करना ही चाहिये क्योंकि प्रत्येक राज्य का बुनियादी सार्वजनिक लक्ष्य एक है, सम्पूर्ण मानवता का उद्देश्य एक है। अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व मानने का मतलब यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों (International laws) को पूरी मान्यता दी जावे और क्षेत्रीय संप्रभुता (Territorial sovereignty) की संकीर्णता मान ली जावे। ग्रीन के विचारों का स्वाभाविक परिणाम विश्व-सरकार (World government) होनी चाहिये लेकिन उसके व्यावहारिक पक्ष के प्रति वह मौन है। युद्ध के समर्थक उसके प्राणिशास्त्रीय रूप (Biological necessity) का उल्लेख करते हैं और युद्ध को संकट का नहीं, परीक्षण-काल बतलाते हैं। साहस तथा राष्ट्र की सारी योग्यता, वैयक्तिक शौर्य, त्याग आदि के प्रदर्शन का यह अवसर है, ऐसा युद्ध समर्थक मानते हैं। दूसरे वे प्रकृति के स्वाभाविक संघर्ष का भी उल्लेख करते हैं किन्तु ग्रीन इन विचारों का विरोधी है। उसके अनुसार युद्ध राज्य की विफलता है—राज्य की अपूर्णता, अव्यवस्थित तथा असामंजस्यपूर्ण स्थिति का द्योतक है। सभ्यता के साथ नैतिक चेतना और शाश्वत आवश्यकता की भावना बढ़ी

से युद्ध-प्रवृत्ति का उन्मूलन हो सकता है और फिर युद्ध-नहीं, बल्कि शान्ति ही सद्‌गुणों के लिये स्वस्थ वातावरण बनाती है। राज्य यदि सामाजिक हितों का चिन्तन करे तो युद्ध की अवस्था ही न उत्पन्न हो। युद्ध में सैनिक-असैनिक (Combatants and non-combatants) का भेद तो रहता है पर नैतिकता को तिलांजलि दे दी जाती है। अनुभवों के आधार पर यह सत्य जंचता है। युद्ध में नागरिकों का मौलिक जीवनाधिकार तहस-नहस हो जाता है। उसी तरह सैनिकों द्वारा की गई हत्या भी आखिर अनैतिक है। युद्ध हमेशा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, संकुचित दृष्टिकोण तथा आन्तरिक विफलता, कुंठा या अवरोध के परिणाम हैं। केवल एक ही युद्ध नैतिक है और वह राष्ट्र की स्वतन्त्रता का बशर्ते कि उसमें साध्य-साधन का ध्यान रखा जावे। युद्ध या तो आक्रमण (Aggressive) होता है, या रक्षात्मक (Defensive); इनमें पहला तो पूर्णरूपेण अनुचित है, दूसरा अपेक्षाकृत उचित है क्योंकि रक्षात्मक युद्ध अनुचित युद्ध का निराकरण करता है। लेकिन यह पूर्णरूपेण नैतिक नहीं है इसलिये युद्धों का पूर्णनिर्वासन (Complete relegation and abolition of war) वह चाहता है। ग्रीन का यह सिद्धान्त पूर्णतः काल्पनिक है क्योंकि वह इसकी प्राप्ति के साधन नहीं बतलाता।

समाज सुधार तथा सम्पति :

राज्य का कार्य व्यक्ति की नैतिक उन्नति के साथ सार्वजनिक कल्याण की योजना करना भी है। लेकिन पूर्ण विकास के लिये केवल राज्य पर ही अवलम्बित रहना ठीक नहीं, क्योंकि राज्य के साथ कई समस्यायें और निषेधमूलक प्रणाली जुड़ी हैं। सामाजिक चेतना की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति तो सामान्य इच्छा पर ही आधारित है और व्यक्ति उसकी अभिव्यक्ति के उपाय सहयोग के आधार पर कर सकता है। समाज-सुधार का कार्य इस तरह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, इसके लिये किसी का मुंह ताकना या किसी की बाट जोहना ठीक नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि राज्य के विरुद्ध जाकर या उसे निरर्थक सिद्ध करने के लिये सुधारों का आयोजन हो। व्यक्ति के सुधार सदैव राज्य की सहायता तथा स्वीकृति से ही सफल होते हैं। समाजसुधारक एक तरह से अग्रदूत या पथप्रदर्शक है जो राज्य और समाज की सार्थकता सिद्ध करने में मदद देता है। ग्रीन स्वयं सामाजिक सुधारों तथा विधायक कार्यों का हामी है। अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था के साथ समाज-शिक्षा का प्रचार करना, मद्यनिषेध की नीति सफल बनाने के लिये शान्तिपूर्ण आन्दोलन करना, श्रमिकों तथा मध्यमवर्गीय जनता का

जीवन स्तर ऊपर उठाने का प्रयत्न करना, सामाजिक कुरीतियों या दुर्व्यसनों को दूर करना ऐसे ही कार्यों में ग्रीन भाग लेता रहा। वह स्वच्छ तथा स्वास्थ्य-वर्धक गृहों के निर्माण पर बहुत जोर देता था। उसका सदैव यह लक्ष्य था कि जनता में नैतिकता की भावना हर काम में बनी रहे। नैतिक चेतना ही प्रत्येक सुधार के लिये उपक्रम तथा प्रेरणा (Initiative and incentive) का काम करती है। उसके विचारों के काफी नजदीक आज का नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन है।* (M. R. A. Or moral rearmament movement)।

सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों में ग्रीन आर्थिक विषमता का विरोधी तो था परन्तु समानता या समाजवाद का समर्थन नहीं कर पाता। आर्थिक असमानता वह उसी रूप में ग्रहण करता है जैसे शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक विभिन्नता। इस तरह ग्रीन ने पूँजीवाद का समर्थन किया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूँजी अनिवार्यता सिद्ध करते हुए वह यह कहता है कि पूँजी पर कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। पूँजी स्वभावतः वितरणशील है और परिश्रम तथा अध्यव-साय से कोई व्यक्ति पूँजीपति बन सकता है। पूँजी तथा सम्पत्ति व्यक्तित्व के विकास में प्रेरक हैं और सामाजिक कल्याण के लिये आधार रूप हैं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य में जीवन के साथ-साथ सम्पत्ति की स्वतन्त्रता भी निहित है। लेकिन सम्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रीन उतना अनुदार नहीं जितना पूँजीवादी होते हैं। वह पूँजीवाद की बुराइयों से परिचित था और इसलिये धनसंचय उस हद तक ही उचित मानता है जिससे समाज में निर्धनता तथा घोर विषमता न फैल जावे। उसके इस सिद्धांत के कारण उसे प्रच्छन्न पूँजीवादी (Crypto-capitalist) कहा जाता है। किन्तु यह आलोचना गलत है, क्योंकि आज का प्रगतिशील समाजवाद भी श्रम, योग्यता, आवश्यकता के अनुसार विभेद मानता ही है; अतएव पूर्ण समानता का प्रश्न नहीं उठता। न्यायपूर्ण वितरण का सिद्धान्त ग्रीन भूमि व्यवस्था के सम्बन्ध में अवश्य स्वीकार करता है (इस प्रसङ्ग में वह आश्चर्यजनक रूप से भूदान आन्दोलन के नैतिक सिद्धान्तों के करीब है)। भूमि को वह प्रकृति का वरदान मानता है जो संसार को सीमित मात्रा में दे दिया गया है। यदि कोई

---

*डा० बुशमैन (Dr. Buchman) द्वारा समर्थित अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन जो निरपेक्ष ईमानदारी (absolute honesty), पवित्रता (absolute purity), पूर्ण स्वार्थहीनता (absolute selflessness), तथा उन्मुक्त प्रेम (absolute love) का प्रचार करता तो है परन्तु उनकी प्राप्ति के उपायों के लिये मौन है और एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त नहीं रख सका है।

व्यक्ति अधिक जमीन हड़प कर या कानूनी पेंच लगाकर भूमिपति बन जावे तो यह अनधिकार चेष्टा है। भूमि ही कृषि, उद्योग, वाणिज्य का आधार है, जीवन का आदि साधन है, इसलिए भूमि पर राज्य का नियन्त्रण और उसका न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिये। जमीन्दारी-प्रथा या बड़े भूस्वामियों के वह विरुद्ध था, क्योंकि वह यह वर्ग अनुत्पादक तथा शोषक तो है ही, पर शोषित श्रमजीवी वर्ग के विस्तार का भी कारण है। सारांश में, ग्रीन अपने युग की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का समर्थन करते हुए क्रमिक विकास की राय देता है।

अनुदाय तथा आलोचना :

ग्रीन ने सबसे पहिले यह सिद्ध किया कि समाज तथा उसके अंतर्गत व्यक्ति के नैतिक आधार तथा हित राज्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है और राज्य समाज का प्रतिनिधि है। विश्व समाज को शान्ति-पोषक सामान्य नैतिक चेतना ही राज्य का समुचित संचालन कर सकती है। आदर्श राज्य का ध्येय सामाजिक प्रगति, सामूहिक कल्याण तथा विश्व-शान्ति होना चाहिये। ग्रीन ने उदारतावादी सिद्धान्तों में यह जोड़ा कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व के पूर्व समष्टिगत लोक-मंगल की भावना अधिष्ठित होनी चाहिये।* प्रजातन्त्र, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, विश्व-शान्ति का अनुरक्त होते हुए ग्रीन इङ्गलैण्ड की परम्परा के अनुरूप सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था चाहता है। उदारवाद को केवल निषेधमूलक न रखकर उसने राज्य में संशोधन तथा सुधार करने वाला यन्त्र बनाया। उसके कुछ ही समय बाद इङ्गलैण्ड में 'फेबियन सोसाइटी' की स्थापना हुई जिसने विकासवादी समाजवाद (fabian socialism) की घोषणा की। दूसरी बात जो ग्रीन ने बताई वह यह कि समाज में रहकर ही व्यक्ति का हित सम्भव है, समाज से पृथक् व्यक्ति की कल्पना करना बौद्धिक दुस्साहस मात्र है। उसी प्रकार व्यक्ति अधिकारों का उपभोग करते समय कर्तव्यों के जाल से वेष्टित रहता है। नागरिक इच्छा और अधिकार की सुरक्षा समाज तथा राज्य करते हैं किन्तु व्यापक जनहित की दृष्टि से राज्य के विरुद्ध व्यक्ति विद्रोह कर सकता है। शाश्वत नैतिक चेतना इस कार्य में पथ-प्रदर्शिका है। नैतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रखने के लिये अनुकूल बाह्य परिस्थितियाँ तैयार करना राज्य का काम

* What Green added to liberal theory was the conception of collective well being as a precondition of individul freedom and responsibility. —G. H. Sabine—Page 676

है इसलिये वह ऐसे कानून बनाता है जिससे जन-कल्याण सम्भव हो सके। असंतोष, विप्लव, हिंसा तथा अपराधों की वृद्धि और अन्त में युद्ध-महायुद्ध राज्य की अकर्मण्यता अथवा दुष्क्रियाशीलता के परिणाम हैं (और इस दोष से व्यक्ति और समाज भी मुक्त नहीं है)। ग्रीन के विचार प्लेटो तथा हीगलो की तरह रहस्यमय, अमूर्त तथा पूर्ण काल्पनिक नही हैं। उसमें व्यवहारवादिता का प्रत्यक्ष संयोग है। उसका आदर्शवाद व्यक्तिवाद का विरोधी नहीं बल्कि उससे समन्वय करने वाला है, साथ ही समाजवाद की कुछ-कुछ झलक भी लिये है, इसलिये वह अभिनव आदर्शवाद है। ग्रीन ने अर्थशास्त्र की हस्तक्षेप (laissez faire or let alone) की नीति का खंडन किया और बताया कि राज्य को रचनात्मक भाग लेना चाहिये। (positive role) उसके अनुसार जो अर्थशास्त्र श्रमजीवियों की दशा नहीं सुधार सकता, उनके लिये पर्याप्त भोजन-वस्त्र-आवास शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकता, केवल पूंजीपतियों की तिजोरियाँ भरता है, वह हेय तथा निरर्थक है, उसका विरोध होना ही चाहिये, और ग्रीन ने यह किया। यह अवश्य है कि उदारवाद अपनी व्यवहारिक कमजोरियों के कारण परास्त हो गया, परन्तु ग्रीन का अनुदाय महत्वपूर्ण है। हीगेल के विपरीत वह निरंकुशता था सर्वतन्त्रात्मक राज्य का प्रबल विरोधी था, उदार जनतन्त्र (liberal democracy) का समर्थक था, जिसमें आर्थिक स्वतन्त्रता निहित थी।

ग्रीन के विचारों में विरोधाभास या तार्किक असंगतियाँ स्पष्ट हैं। वैसे तो आदर्शवाद का सिद्धान्त स्वतः तिरस्कृत हो चुका है लेकिन उसका बौद्धिक महत्त्व बना हुआ है। ग्रीन अपने विचारों में मनोवैज्ञानिक सत्यता तथा यथार्थ-वाद से दूर है। उसे समाज की वास्तविक स्थिति का व्यवहारिक ज्ञान नहीं है। अपनी समकालीन व्यवस्था को ही वह कुछ संशोधन के साथ स्वीकार करता है। इस प्रकार वह यथास्थितिवाद (adherent of status quo) है। आदर्शवाद कभी-कभी रूढ़िवादी का आवरण अथवा तरीका बन जाता है। (idealism is a cloak or tactics of conservatism) हीगेल ने जर्मनी में निरंकुश राजतन्त्र का, ग्रीन ने पूंजीवाद का, बोसांके ने सामूहिक मन(group mind) के नाम से नैतिक निरंकुशता का समर्थन किया है। आध्यात्मिक तत्वों की खोज में नैतिकता के आत्म-जाल में भटकता हुआ ग्रीन भौतिक समृद्धि की पूरी विवेचना नहीं कर पाता। ग्रीन से विचारों में बौद्धिक प्रतिमानों या बुद्धिवाद (intellectual concepts or intell-ectualism) का ही बोलबाला है। ग्राहम वेलेस ने राजनीति में मानव-

स्वभाव (Human nature Politics) का विश्लेषण करते समय यह बताया कि मनुष्य व्यवहार में नैतिक चेतना या जागरूकता नहीं, वल्कि आवेग, संयोग, लाभ-हानि, सुविधा, प्रचार दवाव आदि के वशीभूत होता है। इस तरह अवौद्धिक तत्व मानव-स्वभाव में पर्याप्त स्थान वना लेते हैं। नैतिक चेतना से अभिभूत ग्रीन इस सत्य की परख नहीं कर पाता। सामान्य इच्छा तथा उसकी अभिव्यक्ति के सिद्धान्त और आदर्शवाद के आध्यात्मिक तत्वों की आलोचना एल० टी० हावहाउस ने अपने ग्रन्थ 'राज्य के तात्विक सिद्धान्त (Metaphysical theory of the state, L. T. Hobhouse) में की है। उसके अनुसार यह सिद्धान्त निरंकुशता, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, युद्ध अराजकता आदि का समर्थन है। ग्रीन के विचारों में ऐसा कोई मौलिक क्रान्तिकारी तत्व नहीं है जो राज्य की बढ़ती हुई स्वेच्छाचारिता को रोकने का प्रभावशाली साधन बतला सके। वैसे इस प्रकार की आलोचनाएँ पूरे आदर्शवाद के साथ भी की गई हैं और ग्रीन उनसे बरी नहीं है। लेकिन इतनी बात अवश्य ही सर्वमान्य है कि राज्य अनुवन्धवाद से नहीं बल्कि मानव प्रकृति के स्वाभाविक विकास से उत्पन्न हुआ है। वह व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता की पूरक सहायक, रक्षक तथा पोषक है। राज्य की संस्थाएं बुद्धि सम्मत हैं और समाज की अन्य संस्थाओं के साथ उनका विरोध नहीं है। अन्य समुदाय तथा संस्थाएँ (ग्रीन समाज के वहुलवादी (Pluralist) रूप का आभास देता है ; राज्य के आश्रय में ही कार्य करती हैं।

११—कार्ल मार्क्स

(सन् १८१८—१८८३)

आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं में समाजवाद और साम्यवाद सबसे अधिक विवादग्रस्त, प्रभावोत्पादक प्रचारवादी तथा आकर्षक हैं। वर्तमान सदी में जितना प्रभूत तथा समृद्ध साहित्य इन विषयों पर निकला, उतना राजनीति के किसी अङ्ग पर नहीं। एक ओर समाजवाद को 'श्रमिकों का स्वर्ग,' 'मानवता का एकमात्र आदर्श,' 'विश्व की अनिवार्य-अपरिहार्य गति,' 'विशुद्ध लोकतन्त्र,' 'क्रान्ति का ठोस कदम' आदि कहा जाता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनकी धारणा कल तक थी कि केवल अधकचरे, धूर्त, अपराधी व्यक्ति ही (cranks, crooks and criminals) समाजवाद की माला जपते हैं, कुछ को 'लाल खतरा' सबसे भयावह लगता है। इन दो विरोधाभासों के बीच समाजवाद का अध्ययन वैज्ञानिक तटस्थता से करना अभीष्ट है। समाजवाद का वैज्ञानिक रूप देकर सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने में कार्ल मार्क्स का अनुदाय अद्वितीय रहा है, एक तरह से वह 'साम्यवादी-समाजवादी विचारधारा का आदि गुरु या जनक' है। रूस, पश्चिमी योरप, चीन आदि विशाल देश साम्यवादी विचारधारा तथा समाज रचना के ज्वलन्त उदाहरण हैं। यह अवश्य है कि समाजवाद की कोई एक धारा सर्वत्र नहीं है, बल्कि विभिन्न उप-धारायें समय-समय पर निकलती रही हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अभी वह प्रयोगात्मक दिशा (experimental stage) में है। परिणामों की दृष्टि से भी उसकी महत्ता तथा उपादेयता सिद्ध हो चुकी है। हमारे देश में भी समाजवाद कोई विभेदात्मक या अनावश्यक सिद्धान्त न होकर विधायक तथा लोक कल्याणकारी रूप की ओर अग्रसर हो रहा है। कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रभाव सभी देशों पर किसी न किसी रूप में पड़ा है। वैसे यह अवश्य है कि उसकी विचारधारा को मूर्त रूप देने तथा क्रियाशील बनाने का काम सर्वप्रथम रूस में निकोलाई लेनिन (१८७०—१९२४ उसका वास्तविक नाम ब्लाडीमीर इलिच उलियानोव था) ने किया और इसीलिए वह मार्क्सवाद का सबसे महत्वपूर्ण व्याख्याता माना जाता है मार्क्सवाद की विभिन्न शाखा-

प्रशाखाओं का परिचय परिशिष्ट में दिया गया है । (देखिये परिशिष्ट नं० २) ।

मार्क्स के पहिले भी समाजवादी विचारधारा प्रचलित थी । लेकिन अधिकांश विचारक काल्पनिक (utopian) समाजवादी थे । उनके मन में वर्तमान के विरूद्ध ग्लानि या घृणा थी और वे मानवता के प्रति सच्ची सहानुभूति रखते थे । उन्होंने अपने जीवनकाल में इस बात की चेष्टा की कि मनुष्य जीवन को अधिक सुख-सुविधामय बनाया जा सके । व्यक्तिवाद को वे अनावश्यक तथा अनुपयोगी मानते थे इसके लिये उन्होंने सीमित सक्रिय प्रयत्न करने के साथ ही एक ऐसी दुनियाँ का चित्र खींचा जो वास्तव में कहीं थी नहीं, लेकिन होनी चाहिये थी। ऐसे विचारक जो समाज-द्रष्टा (social prophets) कहे जा सकते हैं, इतिहास में प्राचीनकाल से हैं । सबसे पहले धार्मिक-नैतिक कल्पनावादी ग्रन्थ (ethico-religious utopias) लिख गये जिनमें मानवीय मूल्यों का महत्व बताते हुए अत्याचारों को दूर करने की सलाह दी गई थी । प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में भी सत्यवादी आधार पर ऐसे राज्य की कल्पना की गई जिसमें दार्शनिक राजा (philosopher king) न्याय और धर्म का पालन करते हुए समुचित शासन करता । तर्क और श्रद्धा के बल पर यूनान और रोम के विचारक, विरक्तिवादी (stoic philosopher) इंग्लैण्ड के जान वाइक्लिफ, जान बाल, टामस मूर (यूटोपिया ग्रन्थ के लेखक)' बेकन (न्यू एटलांटिस' नामक ग्रन्थ के रचयिता तथा प्रसिद्ध दार्शनिक) थामस केम्पानेला (सूर्यदेश (city of the sun) नामक काल्पनिक चित्रण प्रस्तुत करने वाला इटली-निवासी पादरी), जॉन वालेन्टिन एण्ड्री (क्रिश्चियानोपोलिस नामक गणतन्त्र नगर का विवरण लिखने वाला जर्मन सुधारक), हेरिंगटन (ओसियाना के लेखक) नोयल बेव्यूफ. (१७६४-१७९७) फ्रांस का क्रान्तिकारी); केवेट ('व्हायेज टु आइकेरिया' के लेखक) आदि लेखकों ने अपने विचार प्रकाशित किए जिनसे शासकों में हलचल मच गई और पीड़ित जनता को नया संदेश मिला । फ्रांस के सेंट साइमन (१७६०-१८२४ ई०) और चार्ल्स फोरियर (१७७२-१८३७ ई०) धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर समाजवादी-समतावादी विचारधारा के प्रचारक बने । जीन डी सिसमाण्डी (१७७३-१८४२) ने समाज तथा राज्य के कल्याणकारी रूप का समर्थन किया । लुई ब्लांक (१८१३-१८८२ ई०) ने क्रान्तिकारी संगठन का स्वरूप सामने रखा और समाजवाद के महत्वपूर्ण सूत्र प्रत्येक को अपनी योग्यता के अनुसार आवश्यकता की पूर्ति की ओर बढ़ने का सिद्धान्त' (from each)

(according to his ability to each according to his needs) का उल्लेख किया। अराजकतावादी प्रूधों (Pierre Josephe Proudhon १८०९-१८६५ ई०) ने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर हमला करके यह सिद्ध किया कि 'सभी सम्पति चोरी है' (all property is theft) और इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन मार्क्सवादी सिद्धान्त उसने प्रचलित किया। इंगलेण्ड में समाजवादी विचारों का श्रीगणेश करने वाला राबर्ट ओवन (१७७१-१८५८ ई०) स्वतः बड़ा मेधावी, व्यवसायी व उद्योगपति था। उसने सहयोगी आधार पर श्रमिकों की नई आदर्श बस्तियाँ बसाई और कई उपयोगी सुधार किये। (१९०५ ई० में एच० जी० वेल्स ने 'माडर्न यूटोपिया' नामक ग्रन्थ लिखा था। आज भी कई विचारक इन आधारों का आश्रय लेते रहते हैं !) । इस प्रकार काल्पनिक समाजवादी विचारकों ने अपनी एक धारा चलाई जो व्यक्ति की गरिमा और आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाने की घोषणा करती थी। किन्तु इन विचारों में न स्थायित्व था, और न प्रभावोत्पादकता। मार्क्स को ही सबसे पहले यह गौरव मिला कि तर्कसम्मत आधार पर समाजवाद की वैज्ञानिक व्याख्या वह कर सका। समाजवाद को ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक और समाजशास्त्रीय आधार पर प्रभावशाली तथा विश्व-मान्य बनाने का श्रेय उसे ही है। मार्क्स के साथ फ्रेडरिक एंजिल्स (१८२०-१८९५ ई०) का उल्लेख भी प्रासङ्गिक है, क्योंकि दोनों का परस्परिक घनिष्ठ सहयोग रहा है। समाजवाद की विभिन्न धाराओं में लक्ष्य, साधन, पद्धति तथा प्रयोग का अन्तर होने से अलग-अलग समाजवादी गुट (chapels or tendances) अवश्य बन गये, लेकिन सामान्य रूप से उन सिद्धान्तों में सम्पत्ति तथा उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण निर्धन जनता के उद्धार की बातें अवश्य पाई जाती हैं। मार्क्स तथा एंजेल्स ने समाजवाद की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए पूंजीवाद के विनाश का नारा दिया जिससे संसार की श्रमिक चेतना जागृत होकर किसान-मजदूर राज्य कायम करने की चेष्टा करने लगी। मार्क्स के पहले जो विचार स्वप्नलोकीय या दिवास्वप्न माने जाते थे वही राजनीति के शक्तिशाली सिद्धान्त बन गये। वैज्ञानिक समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली और सर्वत्र उसकी मान्यता हुई। कुछ देशों ने इसे आक्रमक या भयावह मानकर इसका विरोध भी किया किन्तु इसके अन्तिम लक्ष्य जनता की मुक्ति से किसी को विरोध नहीं हो सकता। मार्क्स का जीवन भले ही असफल क्रान्ति अथवा उलझे विचारों से क्षुब्ध हुआ हो, लेकिन उसके बाद मार्क्सवाद को आशातीत सफलता मिली।

जीवन, प्रभाव ग्रन्थ :

कार्ल हेनरिक मार्क्स का जन्म जर्मनी के ट्रीयर या ट्रीव्हस (राइनलेएड) नामक स्थान में ५ मई, १८१८ को सामान्य यहूदी परिवार में हुआ। मध्य-वर्गीय परिवार की आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद मार्क्स को दर्शन, कानून, इतिहास तथा राजनीति की उच्च शिक्षा मिली। बान यूनिवर्सिटी में विधि शास्त्र (Jurisprudence) के मेधावी छात्र के रूप में मार्क्स की ख्याति थी। वीमर, बर्लिन तथा जेना विश्वविद्यालयों में भी उसने उच्च शिक्षा पाई। उन दिनों जर्मनी के विश्वविद्यालयों में हेगेल के दर्शन का प्रचार था और जगह-जगह उसके नाम की गोष्ठियाँ (Hegelian circle) होती थी। ब्रूनो बायर, रूटेनबर्ग, एडवर्ड मेयन, कोपेन आदि साथियों के सम्पर्क में मार्क्स ने साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेना शुरू किया। जेनी वॉन वेस्फेलेन से परिचय के बाद परिणय भी सन् १८४३ में हो गया। इस महिला ने आदर्श पत्नी की तरह मार्क्स का अनुगमन किया और उसके संघर्षमय जीवन में हाथ बटाया। अर्थशास्त्र पढ़ने के बाद मार्क्स क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आया जो अधिकांशतः गुप्त रीति से काम किया करते थे। सन् १८४४ में उसका परिचय फ्रेडरिक एंजेल्स नामक जर्मन व्यवसायी तथा क्रान्तिकारी से हुआ जो जीवनपर्यन्त उसका अभिन्न मित्र, प्रशंसक तथा सहयोगी था। विश्वविद्यालय के जीवन में उसे दर्शनशास्त्र से अभिरुचि अवश्य थी लेकिन काएट और फिक्टे के अमूर्त आदर्शवाद (abstract idealism) को छोड़कर वह हेगेल के द्वन्द्वात्मक चिन्तन की ओर झुका और हेगेल का इतना गहरा अध्ययन उसने किया कि अपना नाम दर्शन स्थापित करने में उसे अपूर्व सफलता मिली जेना विश्वविद्यलय से सन् १८४१ में २३ वर्ष की अवस्था में ही मार्क्स को 'डाक्टरेट' उपाधि मिली। उसका प्रबन्ध (thesis) था—,डेमोक्रिटस तथा एपीक्युटस का प्राकृतिक दर्शन (Natural philosophies of Democritus and Epicutas) ।' विचारों में मार्क्स उग्र, विद्रोही तथा परम्परा-विरोध (non-Conformist) था जिसके कारण सरकारी शिक्षालयों में प्रोफेसर का पद उसे न मिल सका। मार्क्स का विद्यार्थी जीवन कठिन साधान, तपस्या और अनुसंधान-प्रेम का जीवन था जैसा कि उसके पिता के एक पत्र से प्रकट होता है। 'मेरा होनहार बच्चा सब सुख-सुविधाओं को छोड़कर शुष्क विषयों में मन और शरीर को थका डालता है। जो कुछ आग्रह हए करता है, उसे कल मिटा डालता है, फिर से नई उधेड़ बुन में पड़ जाता है। शरीर थकावट से

चूर और मन भी श्रान्त हो उठता है पर उसका अनुसन्धान नहीं छूटता।' सत्यान्वेषी मार्क्स आरामतलबी से कोसों दूर था—पिता को उसने उत्तर लिखा कि जीवन-संघर्ष में जूझने की तैयारी वह कर रहा है। वास्तव में मार्क्स एक आदर्श जिज्ञासु, विद्याप्रेमी तथा सत्य-साधक था।

मार्क्स ने उन्मुक्त पत्रकारिता (Freelance journalism) को अपना व्यवसाय बनाया और कार्य में उसे पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। उसके विचारों तथा लेखों में उत्तेजना तथा आलोचना का व्यापक प्रयोग रहता था। पुरानी रूढ़ियों का विरोध कर तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का प्रतिपादन कर उसने धर्म की स्वतन्त्रता (freedom in religion) तथा राजनीति में उदारवाद (Liberalism in politics) का समर्थन किया। आर्थिक विपन्नता तथा संकटपूर्ण घड़ियों में मार्क्स का आधार उसके मित्रवर्ग व विशेषतः फ्रेडरिक एंजेल्स ही रहें। १८४२-४३ में 'राइनिश जीटुङ्ग' (Reinische Zeitung) के सम्पादक के रूप में मार्क्स प्रथम कोटि के लेखकों, पत्रकारों में गिना जाने लगा। अपने सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुये उसने लिखा कि उसका उद्देश्य कड़ी से कड़ी आलोचना (Criticism) करना है, न कि अंध समर्थन (dogmatic abstraction) करना। पेरिस आकर मार्क्स सन् १८४४ में 'बोरवार्ट्स' में लेख लिखता रहा किन्तु यहाँ उसे अनुकूल स्थिति न मिली, उग्रविचारों के कारण उसे पेरिस से निर्वासित कर दिया गया। इसी समय उसने समाजवादी साहित्य का गहन अध्ययन किया और प्रूधाँ, हेन आदि विचारकों के सम्पर्क में आया। १८४७ में ब्रूसेल्स से ,ड्यूश ब्रूसलर जीटुंग' (Deutsche Brusseler Zeitung), १८४८-४९ में 'न्यू राइनिश जीटुंग' (Neue Rheinische Zeitun) १८५२-६१ तक न्यूयार्क ट्रिव्यून (Newyork Tribune) आदि पत्रों के सम्वाददाता का कार्य उसे करना पड़ा। विवादात्मक लेख (polemical writings) उसने कई लिखे। यदि मार्क्स को अपनी पत्नी से धन तथा मित्र एंजेल्स से सहायता न मिलती तो वह शायद निर्वासन में भूखों मर जाता। पेरिस, ब्रूसेल्स और लन्दन मार्क्स के कार्य क्षेत्र रहे जहाँ उसने श्रमिक जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया और उनकी समस्याओं का पूरा-पूरा अध्ययन किया। १८४८ में उसका महत्वपूर्ण प्रकाशन 'कम्यूनिस्ट घोषणापत्र' (Communist Manifesto) निकला जिसे मार्क्स और एंजेल्स दोनों ने मिलकर घोषित किया था। इसका उद्देश्य समाज को प्रत्येक तरह के दमन, शोषण, संघर्ष, वर्णविभेद से मुक्त करना था (Emanci pation of society at

large from all exploitation, oppressson, class-distinction and class struggles) । मार्क्स ने प्राणिशास्त्र में डार्विन की खोजों का मनन किया और इतिहास में उसका व्यावहारिक प्रयोग ढूंढा । पूंजीवाद, औद्योगीकरण के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त कर उसने तर्कपूर्ण ढंग से उनका विश्लेषण किया । निश्कर्ष उसने असंदिग्ध रूप से स्थिर कर दिया और वह यह कि समाज में उत्पादन-उपभोग-वितरण की प्रणाली में आमूल परिवर्तन उसका लक्ष्य है, समाजवाद उसका आदर्श है पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है । अपने जीवनकाल में मार्क्स को राजनीतिक सफलता किसी क्षेत्र में न मिल सकी और १८४८ की फ्रांसीसी क्रान्ति बुरी तरह असफल हो गई । क्रान्तियों की प्रणाली तथा व्यवहार-प्रक्रिया पर उसने अपने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये । लन्दन में अपने जीवन का महत्वपूर्ण भाग मार्क्स ने बिताया १८६४ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (International Working men's Associatian) जिसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International) कहा जाता है, लन्दन के सेण्ट मार्टिन हाल में मार्क्स के द्वारा उद्घाटित हुआ । १८६४ से १८७२ ई० तक यह संगठन काम करता रहा और मार्क्स ने इसका नेतृत्व किया । किन्तु बाकुनिन (१८१४–१८७६) तथा अन्य अराजकतावादियों से मतभेद होने पर यह संस्था १८७६ ई० में भंग हो गई । १८५६ में मार्क्स का अर्थशास्त्र पर आलोचनात्मक ग्रन्थ (Critique of political economy) प्रकाशित हो चुका था और अब तक उसने कार्यक्रम, योजना, क्रान्ति आदि पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये थे । लन्दन म्यूजियम या संग्रहालय में विस्तृत अध्ययन करने के बाद १८६७ में मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'केपिटल' (Das Capital) का प्रथमभाग प्रकाशित किया । इसका दूसरा भाग तो मार्क्स की मृत्यु के बाद ही एंजेल्स के प्रयत्नों से प्रकाशित हो पाया । दूसरा भाग १८८५ मे और तीसरा भाग १८९४ में प्रकाशित हुआ । 'केपिटल' मार्क्स का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (magnum opus) है । फ्रेन्को-प्रशियन युद्ध के समय मार्क्स ने श्रमिकों का मार्ग दर्शन किया । १८ मार्च १८७१ को सुप्रसिद्ध 'पेरिस कम्यून' (Paris commune) की स्थापना मजदूरों ने करदी जो भयानक खून और उत्पात के बाद समाप्त हो गई । इसकी असफलता की भीषण प्रतिक्रिया मार्क्स पर हुई और वह इंग्लैण्ड, हालैण्ड आदि देशों में क्रान्ति के लिये शान्तिपूर्ण ढंग की सलाह देने लगा । १८७५ से मार्क्स का शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ने लगा । कार्ल्सबाद आदि आरोग्य-स्थानों के भ्रमण के बावजूद १४ मार्च, १८८३ को उसकी मृत्यु हो गई । 'मानवता का

मस्तिष्क खो गया है। मजदूर आन्दोलन तो चलता रहेगा, लेकिन उसका केन्द्रीय आकर्षण जाता रहेगा। फ्रांस, रूस, अमेरिका, जर्मनी सब स्थानों के मजदूर उसके निर्भीक सिद्धान्त अपने सामने रखते रहे लेकिन वह मेधवी पुरुष अब न रहा। इस तरह के विचार एंजेल्स ने मार्क्स की मृत्यु पर व्यक्त किये। उसके प्रशंसक तथा सहायोगी विलियम लीबनेक (William Liebnecht) ने कहा कि मार्क्स ने सामाजिक जनतन्त्र (Social democracy) की विचारधारा को अपराजेय दल में परिवर्तित कर दिया जो अवश्य ही विजयी होगा। मार्क्स अपने युग का महान् क्रान्तिारी, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, उजदूर-नेता, इतिहासवेत्ता, दार्शनिक तथा सुधारक था। हेराल्ड लास्की के अनुसार उसने सामाजिक अध्ययन, सुधार तथा परिवर्तन की प्रेरणा इस दुनियाँ को दी। प्रत्येक सामाजिक प्रश्न पर उसने जतना की वास्तविक परिस्थिति को सामने रख कर विचार किया (He put in the forefront of social discussion the ultimate quetion of the condition of the people)। उसकी यह धारणा अचरशः शत्व उतरी की इस अभिशप्त युग की पूँजीवादी सम्यता बालू की नींव पर खड़ी है।

मार्क्स के दार्शनिक तथ सैद्धान्तिक मूलधार तीन प्रकार के माने गये हैं (three cornersones or theoretical foundations of Marxian theroy)। एक तो इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (materialistic or economic interpretation of history) जिसके लिये उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialiectical materuialism) का प्रयोग किया दूसरा वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त (theory of class stuggles) जो मानव इतिहास का एकमात्र शाश्वत नियम तथा अनिवार्य परिणाम है। तीसरा, अतिरक्त अर्घ या मूल्य का सिद्धान्त (theory of surplus Vavue) जो पूँजीवाद की कटुतम आलोचना करते हुए श्रमिकों को उनके वास्तविक अधिकारों का परिचय देता है। इन सिद्धान्तों के बल पर वह सर्वहारा-वर्ग (Proletariat) के अधिनायकत्व तथा नियंत्रण का लक्ष्य सामने रखते हुए राज्य के विलीनीकरण अथवा लोप का काल्पनिक आदर्श प्रतिपादित करता है। अपने निष्कर्षों में मार्क्स मौलिक तथा प्रभावशाली है लेकिन आर्थिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक विचारों में उसने अपने युग के अनुकूल प्रभाव दूसरों से स्पष्टतया ग्रहण किये हैं। सबसे पहले मार्क्स ने हीगेल के (१७७०-१८३१) द्वन्द्वात्मक चिन्तन

से लाभ उठाया और उसे ही ज्ञान की विशुद्ध धारा मानकर विश्लेषण किया। यह अवश्य है कि हीगेल की बातों को उसने ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण किया, उसके आदर्शवाद या आध्यात्मिक सूक्ष्मवाद का वह विरोधी था। लेकिन उसका प्रयोग उसने मानव-हित में तथा ऐतिहासिक गति में करके उसे अधिक व्यावहारिक, ग्राह्य तथा जनोपयोगी बनाया। सेबाइन के कथनानुसार हीगेल के विचारों में द्वन्द्वात्मक चिन्तन शीर्षासन कर रहा था; मार्क्स ने आदर्शवादी भ्रान्तियाँ दूर कर उसे प्राकृतिक स्थिति में पैरों के बल खड़ा किया (in Hegel the dialectic stands on its head, Marx merely turned it right way up by removing the mystifica tions of idealism)। इस प्रयत्न में मार्क्स को प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक लुडविग फायरबाख (Ludwig Feuerbach) से बड़ी सहायता मिली। आर्थिक प्रश्नों पर मार्क्स ने एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों के (classical economists) विचारों से लाभ उठाया। फर्डिनेण्ड लासाल (Ferdinand Lassalle 1825-1864) के श्रममूल्य के लौह सिद्धान्त (iron law of wages) के स्थान पर उसने श्रममूल्य के पूर्ण विघटन' (abolitien of the wages system) का क्रान्तिकारी सिद्धान्त सामने रखा। फ्रांस के क्रान्तिकारी-समाजवादी विचारों का प्रभाव भी मार्क्स पर बहुत पड़ा। सेण्ट साइमन, चर्ल्स फेरियर, प्रूधों आदि की विचार-धारा से वह पूर्ण परिचित था। प्रूधों और वीटलिंग इन दो सर्वहारा-वर्ग के विचारकों ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया। प्रूधों के ग्रन्थ (Philosophy of Poverty) के प्रत्युत्तर में मार्क्स ने दर्शन की दरिद्रता (Poverty of Philosopoy) लिखा जिसका उद्देश्य था तत्कालीन जर्मन विचारधारा को क्रान्तिकारी स्वरूप देना। एंजेल्स और मार्क्स आपस में इतने घुले-मिले हैं कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। एंजेल्स ने औद्योगिक जीवन के पूरे आँकड़े मार्क्स को जिनके आधार पर वह अपने ग्रन्थों की रचना कर सका। इस सम्बन्ध में मार्क्स की स्वीकारोक्ति भी पठनीय है। 'तुम्हारे बिना मैं कैपिटल को किसी नतीजे तक न ला सकता था। मेरे मन पर पहाड़ की तरह भारी बोझ बना है कि मेरे लिये तुमने अपनी अद्भुत शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया और व्यापार भी शिथिल कर दिया।' दोनों ने मिलकर अपने मौलिक अक्खड़पन तथा अकड़पन के साथ कई समकालीन लेखकों, विचारकों से मोर्चा लिया और उन्हें पराभूत या अनुकूल बनाया। सच्चे समाजवादी का स्वरूप निर्धारण करने में उन्होंने जर्मनी के दर्शनी लेखकों को उखाड़-पछाड़ और

सारे साहित्य को बदल डाला। इंजेल्स ने अपने ग्रन्थों में और उसके बाद लेनिन ने मार्क्सवाद का समर्थ करते समय आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रबल रखा।

मार्क्स के ग्रन्थों में सर्वाधिक विश्रुत 'केपिटल' है, जो पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली तथा उत्पादन-व्यवस्था का विस्तृत विश्लेषण करते हुये उसकी अनिवार्य परिणति की ओर संकेत करता है। मार्क्सवाद का पूरा-पूरा परिचय इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ को श्रमिकों का धर्म ग्रन्थ (Bible of the working class) तथा धनिकों का दिमाग ठंडा करने वाला नुस्खा (prescription for tran.quillisation of the bourgeois mind) कहा जाता है। इस ग्रन्थ में मार्क्स ने यह बताया कि पूँजीवादी समाज में एक ओर धन केन्द्रीकरण मुट्ठी भर लोगों के हाथों होता है, दूसरी ओर दरिद्रता, दासता, अभाव, बेकारी पतन, निराशा की वृद्धि होती है (uccumalution of wealth at one pole and accumulation of misery the other)। पूँजीवादी व्यवस्था अपने अन्तर्विरोध के कारण (आपसी संघर्ष तथा प्रतिस्पर्धा, उपनिवेशों का शोषण और शासन, बेकारों की बढ़ती हुई फौज आदि) अपनी कब्र खोदनेवाली संस्था (grave-diggers) तैयार कर लेती है जो एक दिन पूँजीवाद का अन्त करके समाजवाद की स्थापना कर देती है। इस ग्रन्थ का सार इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, 'उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण तथा मजदूरों का समाजीकरण उस स्थिति पर पहुँच जाता है कि पूँजीवादी ढाँचे से उनका मेल नहीं बैठता। यह ढाँचा या आवरण तोड़ दिया जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति हो जाती है। शोषण करने वाले खत्म किये जाते हैं, पूँजीवादी युग की जगह औद्योगिक समाज बनता है जिसमें भूमि और उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व रहता है।'* मार्क्स का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' है जो साम्यवादी दर्शन तथा क्रान्ति-प्रक्रिया का मूलाधार है। इस ग्रन्थ में 'सर्वहारा क्रान्ति' (proletarian revolu-

---

*"Concentration of the means of production and socialisation of labour at last reach a point where they become / incompatible wish their capitalist integument. This integument is burst asunder. The knell of capitalist private property sounds. The expropriators are expropriated, and the capitalist era gives birth to an industrial society based on the posessions in common of the land of the means production." —Capital

tion) की भविष्यवाणी (prophecy) की गई है जो फ्रान्स को १७८६ की राज्य-क्रान्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। यह घोषणापत्र श्रमिक वर्ग चेतना जागृत करने, उनका मजबूत वर्ग-संगठन बनाने तथा अन्याय का प्रतीकार करने के लिये तैयार किया था। उन दिनों मार्क्स से 'कम्यूनिस्ट लीग' की स्थापना की जिसका उद्देश्य था धनिकों को उखाड़ फेंकना, निर्धनों का शासन स्थापित करना, वर्ग-भेद पर आधारित पुराने सड़े-गले समाज का अन्त कर वर्गविहीन, सम्पत्तिहीन, शोषणहीन नया समाज बनाना ('The object of the Communist League is the overthrow of the bourgeoisie, the rule of the proleteriat, the abolition of the old bourgeoisie society which is based on class antagonism, and the establishment of a new society without classes and without private property)" । इस इतिहास-प्रसिद्ध ग्रन्थ का पहला वाक्य ही यूरोप के शासकों में भय संचार कर देता है। 'साम्यवाद का भूत यूरोप भर में घूम रहा है। इस भूत को भगाने के लिये पोप और जार, मेटरनिग और गीजाट, फ्रांस के क्रान्तकारी और जासूस सब मिल गये हैं लेकिन यह बढ़ता ही आ रहा है।' और अन्तिम शब्द तो अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये अमर है—'दुनिया के मजदूरों, संगठित हो जाओ। अपनी बेड़ियों और दासता के सिवाय तुम कुछ नहीं खोओगे। एक नई दुनियाँ प्राप्त करोगे।" क्रान्ति के प्रसङ्ग में शासकीय दलों का बलपूर्वक निर्मूलन हो जाने की बात भी कही गई। यह ग्रन्थ आज प्रामाणिक बना हुआ है और साम्यवादियों के लिये ऐतिहासिक महत्व रखता है। हालांकि यह बात भी उतनी ही सच है कि इसके प्रकाशन के बाद ही १८४८ की क्रान्ति (२४ फरवरी, १८४८) बहुत बुरी तरह कुचल दी गई और मार्क्स की कोई भविष्यवाणी सही न उतरी। मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों का दूसरा ग्रन्थ "क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकानामी" (Critique of political economy) है। यूरोपीय इतिहास तथा क्रान्ति-प्रसङ्गों पर फ्रान्स का गृहयुद्ध (Civil war in France and class struggle in France), क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति (Revolution and counter revolution) आदि ग्रन्थ उसने लिखे। नीति या प्रणाली (tactics) सम्बन्धी ग्रन्थों में (Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte) भी उसने अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया। कार्यक्रम सम्बन्धी ग्रन्थों में उसने गोथा

प्रोग्राम की आलोचना (Critique of the Gotha programme) लिखी। इसमें उसने यह साफ सिद्ध कर दिया कि एक दर्जन कार्यक्रम और रूप-रेखा रखने की अपेक्षा आन्दोलन को वास्तव में बढ़ाना अधिक हितकर है। (Every real advance step of the movement is more important than a dozen platforms) । समाजवाद की ओर संक्रमण के युग में सर्वहारा के क्रान्तिकारी अधिनायकत्व (rebolutionary dictatorship of the proletariat) का सिद्धान्त भी उसने बड़ी मजबूती से सामने रखा। "पान्हर्टी आफ फिलासफी" का उल्लेख (confidential communication), संवाद, आलोचना, निबन्ध आदि लिखे। राजनीतिज्ञ में लक्ष्य की स्थिरता के साथ दृष्टि और सृष्टि का समन्वय आवश्यक है और इस दिशा में मार्क्स की प्रतिभा अद्वितीय है। 'मार्क्सवाद' आज रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होता है (वास्तव में मार्क्स ने किसी 'वाद' का उल्लेख करना स्वीकार नहीं किया !) । किन्तु उसे सामाजिक अध्ययन तथा विश्लेषण का वैज्ञानिक रूप मानकर चलने से उससे नई दृष्टि अवश्य मिलती है। मार्क्सवाद की सामान्य धारणाओं का परिचय यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

मार्क्सवाद का संक्षिप्त परिचय:—

इतिहास के पृष्ठों पर नजर डालने से हमें कोरे युद्ध नहीं, वर्ग युद्ध सर्वत्र दिखाई देते हैं। मनुष्य का विकास उन युद्धों से गुजरने पर ही हुआ। समाज की प्रारम्भिक अवस्था बर्बर या जंगली थी जिसमें यहाँ-वहाँ घूमने वाले लोग थे। खेती के आविष्कार के साथ जमीन की मालकियत का प्रश्न उठा। छोटे-छोटे खेत बने, उन पर अधिकार करने वाले अधिक सम्पत्ति के लोभ में बड़े खेत बनाने लगे। सामन्तवादी युग आया जिसमें एक भूमिपति के नीचे सैकड़ों भूमिहीन किसान काम करते। सामन्तवाद व्यवसायी युग में टिक न सका और पूँजीपतियों का प्रभाव बढ़ने लगा। पूँजीवाद की प्रगति औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। पूँजीवाद आगे चलकर पंगु हो गया और समाजवाद के सामने पराजित हो गया। इतिहास का यह क्रम एक विशेष दिशा या धारा से प्रभावित है। इसका अध्ययन करने में ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या स्वीकार करनी पड़ती है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अनुप्राणित है। जैसे-जैसे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन हुआ वैसे ही मालिकों तथा अधिकार-प्राप्त वर्गों का संतुलन भी

बदलता गया। इतिहास की यह व्याख्या प्रत्येक युग तथा देश-काल में सम्भव है। पूँजीवाद समाज में धनिक और श्रमिक दो वर्ग रहते हैं; धनिकों द्वारा श्रमिकों का शोषण निरन्तर चलता है, अतिरिक्त श्रम का लाभ पूँजीवादियों की तिजोरी में जाता है और उधर श्रमिकों को चूसा जाता है, उन्हें निचोड़कर सर्वहारा (proletarianisation) बना दिया जाता है। इस प्रक्रिया से बहुसंख्यक श्रमिक जनता निर्धनता की ओर निरन्तर बढ़ती है (pauperisation of masses)। पूँजीवाद में बाजारों की गड़बड़ी, उत्पादन और वितरण में विषमता, उपनिवेशों के संघर्ष, कम मजदूरी, समय-समय पर आर्थिक संकट (Crises and slumps), युद्ध, साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा आदि के कारण शोषण बढ़ता है, बेकारी बढ़ती है और औद्योगिक क्षेत्र में बेकारों की स्थायी फौज बढ़ने लगती है (Industrial reserve Army)। पूँजी के केन्द्रीकरण से धनिक और अधिक धनवान होते हैं। मात्स्य-न्याय की तरह छोटे पूँजीपति बड़ों के द्वारा निगले जाते हैं। (Theory of accumulation and concantration) इन सबसे आर्थिक संकट और भयानक होता जाता है, दरिद्रता का सिद्धान्त (Theory of impoverishment) चलता है। ऐसी स्थिति में पड़ने पर सामूहिक वर्गचेतना ज्वालामुखी की तरह भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। फिर एक बड़े धक्के आन्तरिक हलचल से क्रान्ति का क्षण (hour of revolution) समीप आ जाता है, ज्वालामुखी विस्फोट कर उठता है। धनिकों का उन्मूलन करके सर्वहारा की संगठित सरकार बनती है, जो पूँजीवादी तथा व्यक्तिगत व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी तथा राष्ट्रीकरण की व्यवस्था चलाती है। इस व्यवस्था में कल-कारखाने शोषण के केन्द्र या जीवित कसाई-खाने न होकर शिक्षा तथा उन्नति के केन्द्र होते हैं, श्रम का लाभ सब को होता है, नई सभ्यता का जन्म होता है। धीरे-धीरे शोषण-रहित वर्गविहीन समाज बन जाता है और राज्य की दण्ड-शक्ति अनावश्यक यहाँ तक हो जाती है कि राज्य का ही लोप हो जाता है (The state withers a way)। मार्क्स के अनुसार राज्य तो एक वर्ग का दूसरे पर शासन तथा दमन करने का एक साधन-मात्र है और वह तब तक रहेगा जब तक वर्ग-शासन चलेगा। वर्गों की समाप्ति के बाद ही राज्य भी न रह जावेगा, वह अजायबघर (museum of antiquities) में चला जावेगा। अराजकतावादी भी राज्य के समाप्त हो जाने की बातें करते हैं, किन्तु साम्यवादी संक्रमणकालीन व्यवस्था पर अधिक जोर देते हैं जो मजदूरों की तानाशाही के नाम से विख्यात है। इस पूरे परिवर्तन में हिंसा या शक्ति

प्रदर्शन अनिवार्य है क्योंकि वही एक मात्र प्रभावशाली तथा प्रेरक शक्ति है। मार्क्स के इन विचारों की प्रतिक्रिया अपने युग में तथा बाद में भीषण रूप से हुई। रूस की सन् १९१७ की राज्य क्रान्ति ने लेनिन के नेतृत्व में मार्क्सवाद का प्रयोगात्मक रूप सामने रखा। मार्क्स के विचारों पर संशोधन रखते हुए एडवर्ड वर्नस्टीन (१७५०–१९३२) ने अपने सुधारवादी सुझाव रखे, किन्तु कार्ल काटस्की (१८५४-१९३८) ने उनका तीव्र खंडन किया। प्रयोगों की विभिन्नता के आधार पर मार्क्सवाद के कई भेद होते गये। समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद आदि शब्दों में आगे चलकर सूक्ष्म भेद भी होने लगे, भले ही उनके मौलिक स्वरूप एक से रहे हों। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की दुहाई कम्यूनिस्ट और सोशलिस्ट दोनों देते हैं लेकिन उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है विशुद्ध साम्यवादी लक्ष्य तो कहीं भी दिखाई नहीं देता और विस्तार नीति (expansionism) के कारण साम्यवाद भी भयानक खतरा बना हुआ है। वास्तविकता यह है कि रूसी साम्यवाद को यहाँ-वहाँ प्रचारित करने तथा जमाने की नीति अधिक सफल नहीं हो पाई। देश की परिस्थितियों के अनुरूप समाजवादी परिवर्तन या ढाँचे का निर्माण अवश्य सफल हो रहा है।

मार्क्स के विचारों का प्रभाव समाजवाद और साम्यवाद दोनों पर पड़ा किन्तु उनके स्वरूप में अन्तर स्पष्ट होता गया, कहीं-कहीं तो दोनों एक दूसरे को प्रतिक्रियावादी तथा शत्रु भी मानते हैं। जोड सरीखे विचारक समाजवाद और साम्यवाद में कार्य प्रणाली का अन्तर महत्वपूर्ण मानते हैं। दोनों के उद्देश्य एक से हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था को बदलकर सुनियंत्रित आर्थिक व्यवस्था लाना। समाजवाद वैधानिक, प्रजातंत्रीय, शान्तिमय प्रणाली से पूँजीवादी व्यवस्था को बदलना चाहता है। साम्यवाद हिंसात्मक क्रान्ति के सिवाय दूसरे उपायों को निरर्थक समझता है। रूस के विचारकों के अनुसार समाजवाद संक्रमणकालीन व्यवस्था है और अन्तिम लक्ष्य समाजवाद ही है (जो शायद अभी तक किसी अज्ञात कोने में पड़ा है!) साम्यवाद अधिक अस्पष्ट, भावुकतापूर्ण, नौकरशाही की प्रधानता (bureaucracy) तथा भावों के दृढ़ीकरण (regimentation) का प्रतीक है, समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देता है। साम्यवाद उत्पादन-वितरण उपभोग सब पर पूरा नियंत्रण करता है। (planned production for controlled consumption), सामूहिक स्वामित्व के साथ सामूहिक उपभोग की चेष्टा करता है। समाजवाद न्यायपूर्ण वितरण तथा राज्य के आधिपत्य की बात करता है।

साम्यवाद व्यक्ति को आवश्यकता के अनुकूल देता है, समाजवाद समाजोपयोगी श्रम (socially useful or necessary labour) का विचार करता है। साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध है, समाज में विवाह आदि संस्थाओं पर नियंत्रण करता है, समाजवाद इस दिशा में अधिक उदार है। साम्यवाद युद्ध, क्रान्ति और हिंसा के बल पर सशस्त्र विद्रोह या गृह-युद्ध के मार्ग से सफल होता है, समाजवाद में वैधानिकता को अधिक समर्थन दिया जाता है, साम्यवाद में राज्य का अन्त हो जाता है, समाजवाद राज्य का अन्त नहीं, सुधार करना चाहता है (not to end but to mend the state) सारांश में इतना कहा जा सकता है कि समाजवाद के तीन प्रमुख भेद किये जा सकते हैं। एक तो सर्वसत्तात्मक (totalitarian) जिसमें साम्यवाद के वर्तमान स्वरूप की गणना होती है। दूसरे जनतांत्रिक (democratic) जो वास्तविक समाजवाद का परिचायक है, तीसरे राष्ट्रीय समाजवाद (national socialism) जो समाजवाद का विकृत रूप है, फासिस्ट विचारधारा का समर्थक है, हिटलर और मुसोलिनी की तानाशाही का मूलाधार है। हर्नशॉ ने जिन ६ सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है वे समाजवाद और साम्यवाद दोनों में लागू होते हैं वे हैं—व्यक्ति से समाज का महत्व अधिक बताना (exaltation of community above the individual), मनुष्य की आर्थिक स्थिति तथा आयों में समानता (equalisation of human con ditions), पूंजीवाद का अन्त करना (climination of capi talism), भूमिपतियों को अपदस्थ करना (Expropriation of the landlords), व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना (Extinction of private property), स्पर्धा का अन्त करना (eradiclation of competition) । उपर्युक्त बातों के अलावे समाजवाद की सफलता मार्क्सवाद आधार पर आर्थिक योजना करके मानव जीवन का अधिकतम कल्याण करने की क्षमता पर निर्भर है। आज की दुनियाँ में पञ्चशील तथा सह-अस्तित्व (Co-existence) की बात मानने का स्पष्ट आशय यह है कि न केवल साम्यवादी, पूंजीवादी बल्कि अन्य (मिश्रित) अर्थ-व्यवस्था भी चल सकती है। अधिक विस्तार में न जाकर इतना जानना तो पर्याप्त होगा कि मार्क्स के विचारों की विविधता तथा स्थायित्व की परीक्षा उसके बाद काफी हो चुकी है और उसमें अलग-अलग दलों की सृष्टि भी हुई है।* मार्क्सवाद को राज-

*भारत में कम्यूनिस्ट, प्रजा समाजवादी, सोशलिस्ट, शेतकरी-कामगरी पक्ष, बोल्शेविक, फारवर्ड ब्लाक, क्रांतिकारी सोशलिस्ट तथा अन्य वामपक्षी दल साम्य-

नीतिक सिद्धान्त, दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली, आर्थिक योजना, नई संस्कृति, सामाजिक परिवर्तन का क्रान्तिकारी मार्ग आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाता है। इतना अवश्य है कि मार्क्सवाद अनिवार्य यांत्रिक नियतिवाद (mechanical inevitability) का विरोध करता है और इसलिए पूंजीवाद के विघटन के लिए पूरी तैयारी का आह्वान करता है। मार्क्स के विचारों का प्रभाव सामाजिक जनतंत्री (social democrats) फेबियन (Fabians), श्रेणी समाजवादी (guild socialists), सिंडिकलिस्ट (syndicalist), उदारपन्थी, सुधारवादी, विधानमार्गी मजदूरदलीय आदि विचारकों पर पड़ा है। मार्क्स आज की राजनीति का आकर्षक तथा रहस्य-मय अध्याय है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक विश्लेषण :

मार्क्स ने हीगेल के दर्शन से प्रेरणा पाई, किन्तु उसके द्वान्द्ववाद का बौधिक तत्व (maia outilne of Hegelian methodology) ही उसने ग्रहण किया। हीगेल ने समाज को गतिमय, परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्वात्मा या सूक्ष्मतम आत्म-तत्व को उसका नियामक कारण माना था। हीगेल के अनुसार सृष्टि के विभिन्न स्थूल पदार्थों का ज्ञान या आभास उस प्रच्छन्न आत्म-शक्ति द्वारा ही सम्भव था। हीगेल वास्तव में बुद्धि वादी था और आध्यात्मिक आदर्श उसका मन्तव्य था। परिवर्तन का कारण ढूंढने में उसने प्रकृति के अहर्निश परिवर्तन का उदाहरण लिया। पुरानी चीजें समय पाकर पैदा होतीं, नष्ट होती हैं, उनकी जगह नई चीजें आ जाती हैं, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। जीवन में संघर्ष है, गति है, परिवर्तन है, समन्वय है, सृजन और विनाश का द्वन्द्व है। प्रकृति का यह द्वन्द्व प्रत्येक वस्तु में परि-व्याप्त है। मार्क्स ने आत्मा या सूक्ष्म तत्व के स्थान में विशुद्ध भौतिक तत्व (matter) की महत्ता स्वीकार की, क्योंकि वही न केवल प्रत्यक्ष सत्य या वास्तविक ज्ञान है बल्कि सुस्पष्ट शाश्वत रूप है। इस तरह हीगेल के द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद की जगह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical mate-rialism) की स्थापना मार्क्स ने की। 'हीगेल के अनुसार विचार और उसका सूक्ष्मरूप ही वास्तविक सृष्टि का जनक है, भौतिक वस्तुएँ आत्मा के

वाद का नाम लेते हैं और अपनी-अपनी डफली बजाते हैं। ऐसा ही दूसरे कई देशों में है। रूस मे मार्क्सवादी लेनिनवादी (Marxist-Leninist) विचारधारा का एकाधिपत्य है।

विकार से उत्पन्न होती हैं। मेरे अनुसार विचार या आदर्श भौतिक शरीर से उत्पन्न गतिमात्र है। मानव मस्तिष्क विचारों के माध्यम से भौतिक संसार को ग्रहण करता है।'* हीगेल ने तर्क, प्रकृति और आत्म की त्रयी के आधार पर विश्लेषण किया था और निरपेक्ष तत्व (absolute spirit) की मीमांसा की थी। मार्क्स ने प्रत्येक वस्तु को आते-जाते बदलते-उभरते, उलझते-टकराते बनते-बिगड़ते, इसी क्रम में देखा। मार्क्स ने भौतिकवादी द्वन्द्व के अनुसार विचारों को ही शक्ति नहीं माना जैसा हीगेल ने किया था, बल्कि वास्तविक संसार के चित्र अथवा संसार के द्वन्द्वात्मक विकास की व्यापक अनुभूति को स्वीकार किया। † द्वन्द्वात्मक चिन्तन-प्रणाली के अनुसार संसार की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता में प्रत्येक तत्व का आपस में संघर्ष होता है। प्रत्येक तत्व का 'वाद' के रूप में है जिससे उसका विरोधी तत्व 'प्रतिवाद' के रूप में टकराता है, दोनों के संघर्ष से 'सवाद की सृष्टि होती है जो आगे किसी दूसरे वाद का रूप लेकर नया प्रतिवाद खड़ा रहता है। वाद, प्रतिवाद, संवाद या समन्वय (thesis, antithesis, synthesi) का यह क्रम सदैव चलता रहता है। मानव समाज, संस्था, व्यवस्था, उत्पादन-प्रणाली, इतिहास प्रत्येक क्षेत्र में इस द्वन्द्वात्मक का उल्लेख मिल सकता है। इसके तीन सामान्य नियम ढूंढ़े जा सकने हैं—(१) मात्रात्मक (quantitative) से गुणात्मक (qualitative change) परिवर्तन, (२) निषेध का निषेध (negation of negation)—इसके अनुसार वाद रचनात्मक रूप (positive) है, प्रतिवाद निषेधात्मक (negative) रूप है। इन दोनों के टकराने से संवाद या समन्वय जो होता है वही निषेधात्मक रूप का निषेध है, नई सृष्टि का सूचक है। (३) अन्तर्विरोधों का संघात या विरोधी तत्वों की एकता (unity of the opposites) जिसके कारण प्रत्येक वस्तु में अपने ही विनाश के बीज निहित रहते हैं। इन्हीं तीन सिद्धान्तों या नियमों के बल पर नये-पुराने का संघर्ष चलता है, परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक वस्तु अपने सामाजिक परिपार्श्व, स्थान, समय आदि के द्वारा निर्धारित होती है और समय-समय उसकी उपयोगिता भी रहती है, कालान्तर में वही प्रतिक्रियावादी हो जाती है, प्रगति

---

*"With me the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought"
—Karl Marx

†"All things in a constant flux, in a ceaseless state of movement and change, coming in to and going out of being"

का रोड़ा बनती है और नष्ट हो जाती है। इसी दृष्टिकोण के कारण मार्क्स और हीगेल दोनों ने इतिहास को हिंसा या उत्पात अथवा बर्बरता की मूर्खतापूर्ण घटनाओं की विवृतिमात्र न मानकर मानवप्रगति की नवचेतनामय अभिव्यक्ति माना है, वर्ग संघर्षों के इतिहास के माध्यम से (History of man kind was not a confused whirl of senseless deeds of violence but the conscious process of development of humanity itsefl-Engels Anti Duhring).

मार्क्स के अनुसार भौतिक तत्व प्राथमिक महत्व रखते हैं, चेतना का स्थान गौण है अथता यह कहना प्रासंगिक होगा कि मनुष्य की चेतना जा निर्माण उसकी भौतिक परिस्थियाँ करती हैं।* मस्तिष्क का विकास भौतिक वस्तु के विकास का ही सूचक है। मानव मस्तिष्क स्वयं विभिन्न पदार्थों-तत्वों का सम्मिलित तथा विकसित रूप है। संसार की प्रत्येक वस्तु ज्ञानगम्य है, प्रकृति के सारे रहस्य मनुष्य के आगे हीन हैं। काण्ट की यह धारणा कि कुछ रहस्यमय तत्व अज्ञेय या ज्ञानातीत हैं, मार्क्स के अनुसार, व्यर्थ की बकवास है। भौतिकवादी सिद्धान्तों को समझाते समय कुछ उदाहरण भी सामने रखने चाहिये। गेहूँ या चावल का एक दाना जमीन में बोया जाता है बीज के रूप में उसकी स्थिति वाद की है। धीरे-धीरे जलवायु, पानी, धूप आदि की अनुकूलता से वह बीज पौधा बन जाता है, उसका रूप बिलकुल बदल जाता है जो उसका 'प्रतिवाद' है। पौधे से समय पर नये-नये दाने, गेहूँ या धान के वाल, प्राप्त होते हैं जिन्हें तीसरी स्थिति या 'संवाद' कह सकते हैं। अन्तिम स्थिति में प्राप्त दानों की संख्या अधिक रहती है। दूसरा उदाहरण पानी और तापमान का लिया जा सकता है। पानी को गरम करने पर एक स्थिति ऐसी आती है, जब १०१° सेंटीग्रेट तापमान होने पर पानी भाप बनकर उड़ जाता है, भाप की शक्ति पानी से बिलकुल पृथक् तथा कई गुनी तेज है। तापमान कम होते-होते पानी बर्फ भी बन जाता है। इस प्रकार मात्रा बढ़ाने-घटाने से पानी के गुणों में परिवर्तन होने लगता है जिसे मात्रात्मक से गुणात्मक का परिवर्तन कहा जाता है। वह सीमा जहाँ पर यह परिवर्तन अप्रत्याशित रूप से उछाल मारता है क्रान्ति-बिन्दु (nodal line of revolution) कही जाती है। मानव इतिहास में दासत्व, भूस्वामित्व, सामन्तवाद, पूँजीवाद आदि अपना-अपना कार्य कभी उप-

*It is not the consciousness of men that determines their being, but on the contray their social being determines their consciousness. —Marx

योगी ढंग से करते थे। उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन होने पर उनके स्वरूपों में परिवर्तन हो गया और इनके अन्तर्विरोध प्रकट होने लगे। अन्तर्विरोधों के संघर्ष से पुरानी व्यवस्था उखाड़ कर नई कायम की गई। जिन औजारों का प्रयोग पूंजीवाद ने सामन्तवाद को परास्त करने में किया वही अब उसके विरुद्ध चलाये जाने लगे।* पूंजीवाद में एक और बड़े बड़े धनिकवर्ग बनते हैं तो वहीं दूसरी ओर सर्वहारा के रूप में उनकी कब्र खोदनेवाले दल भी बनते जाते हैं, इस तरह दो परस्पर विरोधी तत्व एक ही समय उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार के बौद्धिक चिन्तन का प्रयोग मार्क्स और एंजेल्स ने इतिहास, राजनीति, दर्शन, जीवशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा विज्ञान के कई क्षेत्रों में किया है। फलस्वरूप इनके निष्कर्ष उपसिद्धियों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। 'इतिहास में निश्चित नियम काम करते हैं, उनका महत्त्व वैज्ञानिक विधियों से कम नहीं है। प्रगतिशील वर्गों को ऐतिहासिक 'रोल' या भाग लेना पड़ता है। इतिहास की गतिविधियों के सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा या भविष्यवाणी की जा सकती है। श्रमजीवी वर्ग को इतिहास के चरणों से प्रेरणा लेकर नया नेतृत्व स्थापित करना चाहिये।' मार्क्स ने श्रमजीवियों को उनका ऐतिहासिक महत्व समझाते हुए नये संकल्प, नये विचार, नई सृष्टि के लिये प्रेरणा दी। इस आह्वान का उत्तर सोवियत संघ की समाजवादी शासन-प्रणाली ने दिया जिसे श्रमिकों का राज्य कहा जाता है। वैज्ञानिक समाजवाद की रूप-रेखा इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है और प्रगतिशील तत्वों को इनके अनुसार चल कर नया समाज बनाने का कार्य करना है। दल तो वास्तव में इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, संकल्पों को स्वरूप देने वाले हैं, कार्यसाधक हैं। इसलिये श्रमिकों के दल पर भी संघर्ष, नेतृत्व, निर्माण तथा संरक्षण का महान् दायित्व है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते समय मार्क्स ने जीवन के सार्वभौम नियामक तत्व के रूप में आर्थिक आधार को ही (economic determinism) ग्रहण किया। उसके अनुसार आर्थिक आधार तथा उत्पादन प्रणाली (technique of production) प्रमुख है। राजनीति, विचारधारा, संस्कृति सब उसके ऊपरी ढांचे-मात्र (superstuctures) हैं। (The economic factor is the strongest, most elemental and most decisive)। ऐतिहासिक विश्लेषण करते समय भौतिकवादी

* "The weapons with which the bourgooisie felled feudalism are now turned against itself. —Marx

व्याख्या करने का अभिप्राय है आर्थिक व्याख्या करना या आर्थिक सम्बन्धों के फलस्वरूप घटित परिवर्तनों का विवेचन करना। उत्पादन के साधनों की परिवर्तनशीलता के कारण मनुष्य की जीवन-प्रणाली (modus vivendi) में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रारम्भ में मनुष्य जब आदिम अवस्था में था कन्दमूल इकट्ठा करना (collectional and gathering stage) उसका काम था। धीरे-धीरे शिकार तथा भ्रमणशील अवस्था (hunting and nomadic stage) में वह आया। धीरे-धीरे उसने हड्डियों या धातुओं के औजार बनाये और खेती की अवस्था (cultivation stage) में आया (प्रारम्भ में उसने हल का नहीं बल्कि खोदकर खेती करने (hoe-cultivation) का प्रयोग किया, धीरे-धीरे हल, बैल, मशीन, ट्रैक्टर आदि का प्रयोग होने लगा।)। इस समय मनुष्य का जीवन स्थिर तथा सुविधामय हो गया। खेती से भू-स्वामित्व की स्पर्धा जागी, सामन्तवाद में दासों (serfs) का प्रयोग आवश्यक हो गया। भाप की शक्ति, विद्युत आदि के आविष्कार से औद्योगिक युग (Industrial age) आया जिसमें मनुष्य का विकास तीव्रतम गति से हुआ। उत्पादन-प्रणाली के बल पर ही समाज में वर्ग-संगठन का स्वरूप निर्धारित हुआ। जिस वर्ग के पास उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य रहा उसने अपना शासन चलाया, दूसरे वर्गों का शोषण किया। प्रत्येक युग की सभ्यता, संस्कृति नैतिकता, आदर्शवादिता आदि शक्तिशाली आर्थिक वर्ग (dominant economic class) का प्रतिनिधित्व करती हैं। मानव इतिहास के ६ युगों पर हमें दृष्टिपात करना होगा (१) आदिम युग जिसे प्राचीन साम्यवादी (primitive communism) रूप दिया गया है, (२) दासत्व युग (age of slavery) (३) सामन्तवादी युग (feudal age) (४) पूंजीवाद युग (capitalist age) (५) सर्वहारा की तानशाही का संक्रमणकालीन युग (transitional phase of proletarian dictatorship) (६) साम्यवादी युग जिसमें राज्य का विलोप हो जाता है (perfect communism) वर्गविहीन राज्यविहीन समाज बन जाता है। आदिम अवस्था में वर्गचेतना न थी, बाद में समाज में स्वामी और दास अथवा स्वतन्त्र नागरिक और दासों के वर्ग बन गये (इस सम्बन्ध में ग्रीस तथा रोम की समाज-रचना द्रष्टव्य है; देखिये प्लेटो तथा सिसरो)। सामन्तवाद के कारण सामन्त, पादरी, स्वतन्त्र नागरिक, दास, सैनिक आदि बने। पूंजीवाद में उच्च धनिकवर्ग (upper rich class) मध्यम श्रेणी (middle class) तथा निम्नवर्ग (lower class) सम्पत्ति के

आधार पर बने। धीरे-धीरे इस युग में मध्यमश्रेणी (petit bourgeois class) विलुप्त होने लगी और उनका सर्वहारा में रूपान्तर (proletariani-sation) होता गया, फल स्वरूप दो ही वर्ग कायम रहे धनिक और श्रमिक या निर्धन (haves and have-nots, rich and poor, bourgeoisic and proletariat)। इनमें वर्ग-संघर्ष तीव्रता से चलता है, परिणाम स्वरूप सर्वहारा की जीत होती है, वर्गविहीन समाज का मार्ग प्रशस्त होता जाता है। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होने पर वर्गों तथा वर्ग-संघर्ष का पूरी तरह से निराकरण हो जाता है और अन्तिम स्थिति में वर्ग-भेद समाप्त हो जाता है। इसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का आधिपत्य, योग्यता, आवश्यकता, परिश्रम के आधार पर वितरण तथा पूरे समाज के अभ्युदय का समष्टिवादी रूप सामने आता है। व्याख्या के साथ ही मार्क्स ने भौगोलिक निर्णायकत्व (Geographical determinism) का खंडन किया क्योंकि भौगोलिक वातावरण आर्थिक परिवर्तनों के मुकाबले कम प्रभावशाली हैं। किसी देश की सम्पूर्ण पैदावार और उसे उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ बराबर गतिशील रहती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। पूँजीवाद में इसका सन्तुलन नहीं बना रहता इसलिये बार-बार आर्थिक सङ्कटों का सामना करना पड़ता है। जनता की क्रय-शक्ति (purchasing power) से अधिक उत्पादन होने अथवा कृत्रिम तरीकों से उत्पादन घटाने के लिये अभाव की स्थिति पैदा होने के कारण आर्थिक संकट भयावह हो जाता है। मुनाफाखोरी या लाभ के लिये उत्पादन का नारा देने वाला पूँजीवाद एक ओर त्रस्त, पीड़ित, दरिद्र, अभावग्रस्त, बेकार, असंख्य जनता को छोड़ देता है और दूसरी ओर उद्योगपतियों और धनिकों के भण्डारों में उत्पादित वस्तुएँ या अन्न, वस्त्र आदि सड़ते रहते हैं। बहुत-सा माल जलाकर या अन्य प्रकार से नष्ट करा दिया जाता है ताकि अभाव की हालत बनी रहे, मुनाफे की दर कम न हो, इस दृष्टि से पूँजीवाद मानवता-विरोधी अथवा शैतानी व्यवस्था का अभिशाप मात्र है। प्रति दस वर्ष में ऐसी स्थिति आती रहती है। (१९२९-३० का विश्वप्रसिद्ध आर्थिक संकट हिटलर की तानाशाही को जन्म देने वाला बना।) समाजवाद में ऐसे संकट नहीं आते क्योंकि मुनाफावृत्ति (profit mo-tive) की जगह समाज सेवा या आवश्यकता-पूर्ति (Social utilitiy or service motive) की वृत्ति काम करती है। इस सम्बन्ध में मार्क्स माल्थस (Malthus) की जनसंख्या वृद्धि के सिद्धान्त को भी गलत सिद्ध करता है, क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि से सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप नहीं बदला

करता। श्रमजीवी या सर्वहारा वर्ग की शक्ति निरन्तर बढ़ती है, उसके संगठन की दृढ़ता सत्ताधारी वर्ग के लिये भय-संचारक है। एक दिन वही संगठन व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करके सम्पत्तिशाली वर्ग को समाप्त कर देता है। इस विश्लेषण की पृष्ठभूमि में मार्क्स ने यह सिद्ध किया कि साम्राज्य का उत्थान-पतन, राजा का आगमन-निर्गमन, विप्लव-विद्रोह ये सब आकस्मिक विस्फोट मात्र नहीं हैं, बल्कि आर्थिक शक्तियों के अन्तर्द्वन्द्व के वाह्य परिमाण हैं। दरबार के षड्यन्त्रों, सामन्तवादी गुटों के प्रभुत्व, अथवा महत्वाकांक्षी-अहंवादी व्यक्तियों के इशारों पर इतिहास नहीं चलता बल्कि उसके पीछे आर्थिक हलचल का खेल रहता है। इन हलचलों को समझना, परिवर्तित करना, नियन्त्रित करना मानव बुद्धि का महान दायित्व है। इनके बल पर ही हवा का रुख पहिचाना जा सकता है, इतिहास की गति जानी जा सकती है, भविष्यवाणी की जा सकती है। मार्क्स ने यह कहा था कि सर्वप्रथम सर्वहारा क्रान्ति जर्मनी और इंग्लैण्ड सरीखे औद्योगिक देशों में होगी किन्तु वह वहाँ न होकर रूस की तरह कृषिप्रधान देश में हुई। किन्तु इससे ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्व कम नहीं होता। सूक्ष्म पर्यवेक्षण, विश्लेषण, तुलात्मक अध्ययन तथा प्रयोगात्मक पद्धति से इस सिद्धान्त का व्यवहार करने से समुचित मार्गदर्शन प्राप्त होता है और सामाजिक विकास की गति द्रुततर हो जाती है। भारतीय इतिहास तथा समाज में ऐसे स्थल ढूंढ़े जा सकते हैं जब कि उत्पादन-सम्बन्धों पर ही सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध निर्णीत होते थे।

अतिरिक्त अर्हा तथा श्रम-सिद्धान्त :

शास्त्रीय अर्थवेत्ताओं के अनुसार मूल्य (value) की उत्पत्ति श्रम से होती है और कोई भी वस्तु उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल के अनुसार मूल्य ग्रहण करती है। (value of a commodity depends on the relative quantity of labour necessary for its production) इससे मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Lebour theory of value) कहा जाता है। किन्तु केवल श्रम से ही मूल्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती। साधन, पूंजी, औजार, माल सभी चाहिये और इनके बिना मूल्य कैसे लगाया जायेगा? इसका उत्तर यह है पूंजी स्वतः एकत्रित श्रम ही है, श्रमिकों के परिश्रम से उपार्जित धन का बलात् अपहरण करके पूंजीपतियों ने अपनी गठरी या तिजोरी में जिसे छिपाया है, वह शोषण के सिवाय और कुछ नहीं है। शोषण के बल पर ही पूंजीपति श्रम खरीदता है। पूंजी को सिक्क-

यिता का परिणाम कहना ; मनगढन्त किस्सा (nursery tale) है । किन्तु इससे मूल्य के श्रम सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं पड़ता । वस्तु की परिभाषा देते हुये मार्क्स ने यह माना कि वस्तु की उपयोगित आवश्यकता-पूर्ति में सहायक होने के कारण हैं (crystallisation of labour) । प्रत्येक वस्तु में आन्तरिक और वाह्य रूप से आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता रहती है । जो वस्तु अधिक व्यक्तिश्रों की आवश्यकता-पूर्ति कर सकती है उसमें सामाजिक उपयोगिता है और सामाजिक उपयोगिता के कारण ही वस्तु विनियम योग्य (exchangeable) है । वस्तु की विनियम-योग्यता ही उसका मूल्य है । (excbange value) । मूल्य-निर्धारण में मार्क्स ने पहले सिद्धान्त को तो ग्रहण किया लेकिन उसमें सामाजिक आवश्यकता पूर्ति के लिये अनिवार्य समय (Socially necessary labour time) का अनुपात भी स्थिर किया । मार्क्स के पूर्व विलियम पेटी (इंगलैण्ड) वायकिलवर्ट (फ्रांस), रिकार्डो (इंगलैण्ड), सिसमण्डी (फ्रांस) आदि ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया । वस्तु की विनियम योग्यता बढ़ाने के लिए मानवीय श्रम में अतिरिक्त साधनों या उत्पति के साधनों (means or instruments of production) की जरूरत पड़ती है । इस तरीके में पूंजीपति किस प्रकार मजदूरों के न्यायोचित पारिश्रमक चोरी करके धनवान बनते और शोषण कर सकते हैं ? उसका उत्तर है अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त (tbery of surplus value) जिसके अनुसार वस्तु के मूल्य का अतिरिक्त लाभ बनाने वाले या निर्माता श्रमिक के पास नहीं बल्कि पूंजीपति की जेब में जाता है उदाहरण के लिये यह मान लिया जावे कि कोई वस्तु १००) में तैयार होती है । इसमें कच्चे माल का दाम, मजदूरी, मशीन, नियन्त्रण, प्रबन्ध, यातायात सब शामिल है । बाजार में वस्तु १२५) में बेची जाती है । उस वस्तु का वास्तविक या विनियम-साध्य मूल्य १००) ही था, लेकिन २५) अतिरिक्त मूल्य उसका पूंजीपति ने अपनी ओर से बनाया और उसे (मुनाफे के अलावे) अपने ही पास रख लिया । अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न तो मजदूरों के श्रम से ही होता है लेकिन इकट्ठा होता है पूंजीपति के पास क्योंकि उसने उत्पादन-प्रणाली पर अधिकार कर लिया है । मुनाफा, किराया, स्वार्थ (profit, rent interest) आदि इससे उत्पन्न होते हैं । मजदूरों को जीवन-निर्वाह के लिये (subsistence level) मजदूरी मिलती है, उनका शोषण निरन्तर होता रहता है । कोल्हू के बैल की तरह काम करते हुये मजदूर का शरीर हड्डियों का कंकाल-मात्र भले रह जावे, लेकिन मालिक की चर्बी बढ़ाना उसका एकमात्र

धर्म हो जाता हैं, पूँजीवाद का वह जघन्यतम अपराध है। कम मजदूरी देकर अधिक मुनाफा लूटने का विचार ही अतिरिक्त-मूल्य को जन्म देता है। दूसरे पूँजीवादी व्यवस्था में वस्तुओं का निर्माण सामाजिक उपयोगिता के विचार से नहीं बल्कि अधिक मुनाफे के लिए किया जाता है। इस प्रकार मजदूर और पूँजीपति के बीच एक भयानक व्यापार चलता है जिसमें मजदूर पिसता जाता है, पूँजीपति अधिकाधिक लाभान्वित होता है। अतिरिक्त मूल्य का हड़प जाना दिन-दहाड़े चोरी के सिवाय कुछ भी नहीं हैं किन्तु पुलिस, न्याय-कानून के जरिये इन्हें वैधानिक बनाया गया है। अन्याय का यह कुचक्र (vicious circle) पूँजीवाद की षिशेषता है। मालिक और मजदूरों के स्वार्थों में घोर विरोध होने के कारण इनमें समझौता या समन्वय कभी हो ही नहीं सकता। यदा-कदा सुधार या मजदूरी बढ़ाने की बात पूँजीपति अपने स्वार्थ के ही कारण करता है, किन्तु उसकी दो आँखों में से एक आँख मुनाफे पर और दूसरी मजदूरी कम करने पर (मजदूरों की छटनी retrenchment करने आदि पर) लगी रहती है। ऐसी स्थिति में दो विपरीत शक्तियों (two irreconcilables) में संघर्ष अनिवार्य है। श्रमिकों का कार्य वास्तव में श्रम-विक्रेता का है, जो केवल जीने के किये श्रम बेचता है, दरिद्रता में पलता है, बढ़ता है, मरता है और धनिकों को अधिक से अधिक लाभ देता है। इस अन्याय को दूर करने के लिए समस्त पूँजीवादी व्यवस्था को जड़-मूल से उखाड़ना होगा यह मार्क्स की धारणा है। सभी तरह के समाजवादी इस स्वाभाविक वर्ग-विरोध को दूर कर श्रमिकों को न्याय देने की बात कहते हैं। पूँजीवाद का विनाश तो अनिवार्य है क्योंकि इसमें गम्भीर तथा व्यापक अन्तर्विरोध है। सबसे पहले स्वाभाविक वर्ग-संघर्ष या स्वार्थ-युद्ध है जो धनिकों और श्रमिकों में चला आ रहा है। दोनों पास-पास होते हुए भी एक दूसरे पर घात लगाये रहते हैं। दूसरा भीषण असंतुलन उत्पादन और वितरण में है, जिसके कारण मुट्ठीभर पूँजी पति धन समेट कर बैठ जाते हैं। और अधिकांश जनता निर्धन हो जाती है। आर्थिक मन्दी के कारण दूसरे लिप्सा प्रारम्भ हो जाती है। लेनिन के अनुसार मरणोन्मुख पूँजीवाद साम्राज्यवाद की शक्ल ले लेता है (imparialism is moribund capitalism or the last stage of capitalism) साम्राज्यवादी देशों में आपस में ही कलह-युद्ध होने लगते हैं विश्वयुद्ध शुरू हो जाते हैं। परिस्थितियों से प्रेरित, क्षुब्ध, क्रुद्ध, प्रबुद्ध श्रमिक-वर्ग हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा

पूँजीवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद को नष्ट कर डालता है। उसका नेतृत्व श्रमिकों की क्रान्तिकारी साम्यवादी पार्टी करती है। क्रान्ति के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार अलग से व्यक्त किये गये हैं।

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की तरह-तरह से आलोचना की गई और वर्ग-संघर्ष की पृष्ठभूमि को ही गलत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। सबसे पहले यह कहा गया कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सर्वग्राह्य या सर्वमान्य नहीं है। कई वस्तुएँ केवल लागत या व्यय से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं और उनके निर्माण में कोई चीज लूट लेने या हड़प जाने की बात नहीं रहती। इस तरह की आलोचना करने में पूँजीवादी पक्षधारी अधिक प्रबल रहे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि विरली या अभावात्मक वस्तु का मूल्य आँकने के लिये मार्क्स का सिद्धान्त नहीं बना है। कुछ लोग यह आरोप करते हैं कि मार्क्स ने शारीरिक श्रम की महत्ता तो स्वीकार की किन्तु मानसिक श्रम को गौण या उपेक्षित बना दिया। किन्तु यह आरोप दोषपूर्ण है क्योंकि मार्क्स ने श्रम की परिभाषा में शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का उल्लेख किया है। पूँजीवादी विचारकों के अनुसार मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में कुशलता, क्षमता, सुविधा आदि का ध्यान नहीं रखा जाता। इसके विरोध में मार्क्स ने कहा कि उत्पादनशीलता कुशलता पर ही अवलम्बित है, इसलिये योग्यता की बात करना अनावश्यक है। कतिपय आलोचक यह मानते हैं कि मजदूर श्रम करते समय तो शोषित भले होता हो, बाद में स्वतन्त्र हो जाता है। इसके उत्तर में मार्क्स ने कहा कि शोषण की गति नहीं रुकती। श्रमिकों का शोषण उपभोक्ता के रूप में भी होता है क्योंकि वही चीजें पूँजीपति अधिक दाम ले उन बाजारों में बेचता है जहाँ से मजदूर खरीदता है। इस तरह कारखाने, बाजार, सब जगह शोषण-क्रम चलता रहता है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त इस प्रकार उत्पादन-प्रणाली के इतिहास में सबसे अधिक महत्व रखता है क्योंकि इसके ऊपर ही सारी कशमकश चलती है। पूँजीवाद की इस देन का तीव्र खण्डन मार्क्स ने किया और यह बताया कि अधिक दिनों तक यह अन्धेरगर्दी नहीं चल पाती क्योंकि पूँजीवाद का विनाश किसी के रोके नहीं रुक सकता। अर्थशास्त्र को मार्क्स ऐतिहासिक विज्ञान मानता था। श्रम-सिद्धान्त और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के दर्शन का अर्थशास्त्रीय आधार है जब कि ऐतिहासिक विश्लेषण तथा वर्ग-संघर्ष समाजशास्त्रीय आधार हैं। "अन्य परिस्थितियाँ समान रहने पर अतिरिक्त मूल्य की दर उस अनुपात पर अवलम्बित रहती

है जिसमें जितना समय वस्तु के उत्पादन के लिये श्रम करने में लगता है उससे कितना अधिक या अतिरिक्त श्रम या समय पूंजीपति के लिये देना पड़ता है"। अर्थात् यदि एक धोती २ घंटे में एक मजदूर बनाकर ४) मजदूरी प्राप्त करता है परन्तु ८ घंटे प्रतिदिन काम करता है तो वह ६ घंटे का अतिरिक्त समय पूंजीपति को देता है जिससे मजदूर को तो कोई लाभ नहीं मिलता पर पूंजीपति का मुनाफा बढ़ जाता है। श्रम का मूल्य दो तत्वों पर अवलम्बित रहता है; एक तो शारीरिक दूसरे सामाजिक या ऐतिहासिक। यह मूल्य निश्चित नहीं, बल्कि परिवर्तनीय मापदण्ड (variable magnitude) है। इसके कारण ही मुनाफे की दरों में घटती-बढ़ती होती है और मजदूरी भी निश्चित की जाती है। "पूरे दिन के काम के लिये पूरे दिन परिश्रमिक यह पुराना और दकियानूसी ध्येय है। इसके बजाय परिश्रमिक देने की प्रथा का उन्मूलन (abolition of wages system) होना चाहिये।" इसका अर्थ हुआ श्रम का सामाजीकरण, उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का स्वामित्व, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा सामाजीकरण (nationalisation and socialisation)

वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति तथा संक्रमण :

वर्गों का निर्माण उत्पादन प्रणाली की प्रगति तथा सम्बन्धित समूहों की स्वार्थ भावना पर निर्भर है। समान स्वार्थवाले व्यक्ति एक ओर झुकते हैं और वर्ग न्यस्त-स्वार्थों का प्रतीक बन जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से वर्ग मनुष्य की अभिरुचियों तथा प्रवृत्तियों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया (polarisation) है। पूञ्जीवादी युग में मजदूरी या पारिश्रमिक पर जानेवाले श्रमिक धनिकों के समानान्तर ही उत्पन्न होते है और उनमें ध्रुवीकरण की गति तीव्र होती है।* इन दोनों वर्गों में स्वाभाविक विरोध या संघर्ष अनिवार्य है क्योंकि इनमें किसी भी दृष्टि से समन्वय सम्भव नहीं है। वर्ग-विरोध (class antagonism) का सिद्धांत मार्क्स ने फ्रान्सीसी क्रांतिकारियों से ग्रहण किया और आगस्टिन थीरी (Augustin Thierry) को वर्ग-संघर्ष का पिता मानता था। मध्यम-वर्गीय जनता (petit bourgeoisie), आगे चलकर अधिकांशतः निम्न-वर्ग में ही विलीन हो जाती है, कुछ लोग वर्गच्युत (declass) भी हो जाते हैं।

---

* The wage-earning proletariat is an inevitable product of capitalism which rises pari passu with the bourgeoisie.

—G. H. Sabine—Page 636

वर्ग-चेतना प्रकृति और जीवन का ज्वलन्त सत्य होने के कारण शाश्वत विरोधों और प्रतीकारों के मार्ग से अभिव्यक्त होती है। मार्क्स के इस सिद्धान्त की विवृति ३ प्रकार से हुई। (१) वर्गों का आस्तित्व उत्पादन के विकास की विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति से सम्बन्धित है। (२) वर्ग-संघर्षों का एकमेव तथा अवश्यमेव परिणाम है सर्वहारा की तानाशाही। (३) यह संक्रमणकालीन है. अन्ततोगत्त्वा वर्ग-विभेद समाप्त हो जाते हैं। सारा मानव इतिहास वर्ग संघर्षों का ही इतिहास है (all hitherto existing society has incessant class struggle)। वर्ग संघर्ष ही समाज का नियन्त्रक (ontrollar) या शक्ति बिन्दु (lever) है, मार्क्सवादी सिद्धान्तों का केन्द्र स्थान (nucleus) है। वर्ग संघर्षों की प्रक्रिया के विषय में मार्क्स ने निश्चित दिशाएँ भी निर्धारित की हैं। औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाले मजदूर तथा खेतिहार मजदूर या किसान ही किसी भी सर्वहारा क्रान्ति के अग्रदूत (van-guards) बनते हैं। उनके श्रमिक-संघठन केवल सामूहिक सौदेबाजी (collective bargaining) के साधन नहीं हैं बल्कि क्रान्ति आहुतियाँ हैं। लगातार मोर्चा लेते रहने से ये संगठन हड़ताल, गुरिल्लायुद्ध, सत्ता-परिवर्तन क्रान्ति सबके लिये तीक्ष्ण अस्त्र सिद्ध होते हैं। नेतृत्व के लिये किसी व्यक्ति का मुँह नहीं ताकना पड़ता बल्कि श्रमिक-वर्गों से ही सामायिक नेतृत्व प्राप्त होता रहता है। पूंजीवादी वर्ग किसी भी हालत में इस संगठित शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकता। पूंजी के केन्द्रित संगठन (higher organic combosition of capital) के कारण बड़े-बड़े उत्पादन-केन्द्र बन जाते हैं जो संचित पूञ्जी के बल पर अधिकाधिक मशीनों और कम से कम मनुष्यों का उपयोग करते हैं। औद्योगिक क्षेत्र में बेकारों की सेना (industrial reserve army) दिन पर दिन बढ़ती जाती है। यांत्रिक विकास (technical progress), अभिनवीकरण (ration-alisation) आदि के कारण बेकारी बढ़ती है, मजदूरी घट जाती है, जीवन स्तार गिर जाता है, आर्थिक संकट अपनी चरम सीमा (climax) पर पहुँच जाता है। मुट्ठी भर पूञ्जीपतियों के मुकाबले करोड़ों नङ्गे-भूखे एक दिन उभर पड़ते हैं, क्रान्ति का अन्तिम पहर (zero hour of revolution) आ जाता है। रक्तपात, दमन, लूट, उत्पात, हिंसात्मक उपद्रव के बीच शोषकों की समाप्ति घोषित हो जाती है क्योंकि सर्वहारा की शक्ति और संगठन के आगे पूञ्जीवादी टिक नहीं सकते। वर्ग-संघर्ष का परिणाम विस्फोट के रूप में होता है। फिर सर्वहारा का अधिनायकत्व लाल-खतरा (red terror) उन लोगों

के लिये पैदा करता है जो पूंजीपति मृतप्राय है लेकिन मरना नहीं चाहते।* क्रान्ति के परिणामों को सुव्यवस्थित करने के लिये, प्रतिक्रान्ति (counter-revolution) का दमन करने के लिये, नई व्यवस्था संचालित करने के लिये सर्वहारा-दल को क्रान्तिकारी कार्यक्रम पेश करना पड़ता है। इसके अनुरूप कल-कारखाने, जमीन, खनिज, यातायात आदि प्रमुख उद्योगों (key industrses) पर राज्य का कब्जा होता है, व्यक्तिगत सम्पति जब्त कर ली जाती है, सबको काम करने के लिये बाध्य किया जाता है, उत्पादन वृद्धि, औद्योगीकरण; कृषि का यंत्रीकरण, यातायात-विस्तार आदि व्यापक प्रयोग किये जाते हैं। सारांश में, राज्य की केन्द्रित शक्ति बढ़ाकर ही समाजवाद का पथ तैयार किया जाता है।† नया समाज बनने पर राज्य का लोप हो जाता है। (the state withers away)। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष अपना ऐतिहासिक समत्व प्रदर्शित करता है। एक बात मार्क्स के अनुसार विचारणीय है और वह यह कि वर्ग-चेतना ही जातीयता, राष्ट्रीयता के संकुचित दायरों को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय जगत् से अपना प्रभाव बढ़ाती है। इसलिये श्रमिक-संगठन अपनी देश की सरकार नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय अथवा संसार की श्रमजीवी जनता के प्रति सदैव वफादार रहते हैं। युद्ध की स्थिति में श्रमिकों को देश का साथ न देकर श्रमिक-वर्ग का साथ देना चाहिये। (दो महायुद्धों का अनुभव मार्क्स की इस धारणा को मिथ्या सिद्ध करता है। क्योंकि युद्धरत देशों की जनता ने जिनमें श्रमिक प्रमुख थे राष्ट्रभक्ति का ही परिचय दिया और अपने-अपने देश के लिये लड़ाई की।) इसी प्रसङ्ग में मार्क्स के वर्ग-संघर्ष का परीक्षण भी करना चाहिये। मनोविज्ञानिक स्तर पर विवेचन करने से इस प्रकार के वर्गों का निर्माण सर्वत्र सम्भव नहीं दिखलाई देता। वर्गों के भीतर स्वार्थों या आन्तरिक तत्वों का सम्मिश्रण इस परिमाण में होता है कि केवल दो परस्पर विरोधी-वर्गों की कल्पना करना मानव समाज का हीन मूल्यांकन करना अथवा सरलीकृत समीकरण ढूंढ़ना है (underestimation or over elmplifioation)। मार्क्स की भविष्यवाणियाँ इसी प्रसङ्ग पर आकर सत्य न उतर पाई और उसकी धारणा के विपरीत समाज की गति चलती रही। मार्क्स ने पूंजीवादी प्रणाली का विश्लेषण करने में इंगलैण्ड

---

*"Red Terror is a weapon utilised against a class doomed to destruction but unwiling to perish". —Trotesky

†"The Road to socialism lies through a period of the highest possible intensification of the state". —Marx

ग्रौर ग्रमेरिका को प्रामाणिक माना था, भले ही उनमें नवोदित पूञ्जीवाद तरह-तरह की चेष्टाएं करता रहा हो। मार्क्स के ग्रनुसार मजदूरों, मध्यमवर्गीयों तथा ग्रन्य बहुसंख्यकों का जीवन-स्तर नीचे गिरना चाहिये था जो उसकी ग्राशा के विपरीत ग्रसत्य निकला। सहयोगी प्रयत्नों, योजनात्मक विकास तथा लोक-कल्याणकारी राज्य (welfare state) की कल्पना ने न केवल जीवनस्तर ऊपर उठाया, बल्कि व्यक्ति ग्रौर राष्ट्र की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि की है। वेतनजीवी वर्ग (salariat) नया पैदा हो गया जिसकी मार्क्स ने कल्पना तक नहीं की थी। इस वर्ग में मध्यमश्रेणी के व्यवसायी, पेशवर लोग, नौकरी करने वाले, सहयोगी काम करने वाले ग्रसंख्य स्त्री-पुरुष हैं जो निम्नवर्ग से पृथक हैं ग्रौर राजनीतिक ग्रंकुश (political balance) ग्रपने साथ रखते हैं। यही कारण है कि ग्राज भी इङ्गलैन्ड, स्केन्डिनेविया, फ्रांस, जर्मनी ग्रादि उन्नत देश साम्यवादी परिधि से बाहर हैं। मार्क्स के बाद बर्नस्टीन ने पूञ्जीवाद के विनाश की घोषणा का खन्डन किया ग्रौर ग्रपना संशोधनवाद (Revisionism) सामने रखा जिसमें सशस्त्र क्रान्ति का विरोध किया गया। कार्ल काटस्की, रोजा लुक्जेमबर्ग, क्लारा जेटकिन ग्रादि ने बर्नस्टी की विचारधारा का विरोध कर मार्क्सवाद की पुनर्स्थापना की। दूसरी भ्रान्ति मार्क्स की यह थी कि वह वर्ग-संघर्षों की परिणति हिंसात्मक विप्लव में ही मानता था। ग्रर्थशास्त्र में विकास का क्रम व्यक्तिवाद, पूञ्जीवाद, समाजवाद का क्रम पार करते हुए राष्ट्रीयकरण ग्रौर सामाजीकरण तक ग्राया लेकिन इसमें भीषण विप्लव की ग्रावश्यकता नहीं पड़ी। दूसरे ग्रौद्योगिक तथा ग्रन्य क्षेत्रों में सहयोग या सहकारिता (cooperative movement) का इतना प्रभाव पड़ा है कि उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच की खाई पट गई है। फिर मार्क्स को ऐसे किसी सिद्धान्त का ग्राभास नहीं था जिसे ग्रागे चलकर गांधीजी ने न्यास या ट्रस्टी (Trusteeship) के नाम से चलाया। इसके ग्रनुसार हिंसा ग्रनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी होती है। मार्क्स के मतानुसार सह-ग्रस्तित्व या पंचशील जैसी कोई बात चल नहीं सकती। मार्क्स दो ही विकल्प समाज के सामने रख पाता है—पूञ्जीवादी राक्षस या शेर को मार डालो या ग्रपने ग्रापको उसके हवाले कर दो (Eat or be eaten)। यह विकल्प ग्रब काफी भ्रामक हो गया है। मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचारात्मक मूल्य भले ही हो, वास्तविकता इसके विपरीत है। वर्ग-समन्वय (Class collaboration) के ग्रागे वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मर-सा गया है।

क्रान्ति के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार बिलकुल स्पष्ट हैं। क्रान्ति के बिना किसी युग में भी अपेक्षित परिवर्तन नहीं होते। क्रान्ति या तो विकसक्रम (Evolution) के अनुरूप हमेशा चला करती है या कभी एकाएक भड़क उठती (discontinuous violent convulsions) है। पूंजीवाद स्वतः औद्योगिक क्रांति की भित्ति पर खड़ा है, उसने सामंतवाद के विरुद्ध सफल क्रान्ति की है। १७५० से १८५० के भीतर पूंजीवाद ने अपना स्वरूप स्थिर कर लिया, उपनिवेशवाद का जनक बना, साम्राज्यवाद के बीज बोने लगा। एक साम्राज्य जब दूसरे के बाजार हड़पने या आर्थिक स्वार्थों पर हमला करने लगा तो युद्ध-महायुद्ध भी छिड़ गये। पूंजीवाद का विकास तीन प्रकार से हुआ—व्यापारिक, व्यावसायिक तथा महाजनी पूंजीवाद। वर्तमान युग महाजनी पूंजीवाद माना जाता है। क्रान्ति के चरण इस प्रकार आगे बढ़ते हैं। समाज को सदैव क्रान्ति की प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है—(bitrh pangs of revolution) क्योंकि प्रत्येक परिवर्तन समाज का पुनर्जन्म है। क्रान्ति में सबसे महत्वपूर्ण सर्वहारा-वर्ग या श्रमजीवियों की क्रान्ति है जो सशस्त्र, हिंसात्मक, अन्य युद्धों को रोकनेवाला युद्ध (war to end all wars) है। पूंजीवाद जब संसार को अपने आर्थिक जाल में कस लेगा और पूरा व्यावसायीकरण कर देगा तब संसार में सम्पूर्ण सर्वहारा-क्रान्ति सफल होगी। सोवियत रूस में जारशाही के विरुद्ध होने वाली अक्टूबर क्रान्ति (१९१७ ई०) में श्रमिकों संघों तथा सैनिकों ने महत्वपूर्ण योग दिया। क्रान्ति-प्रणेता लेनिन मार्क्स आदेशानुसार क्रान्ति की अभिनव योजना करता है। उसके क्रान्ति के बाद नई व्यवस्था के दृढ़ीकरण (consolidation) की समस्या आती है जबकि ट्राटस्की स्थायी क्रान्ति (permaneut revolution) की बात करता रहता है। क्रान्ति हो जाना ही पर्याप्त नहीं यदि क्रान्ति से जनता की मुक्ति न होकर दूसरा लौह-पाश बन गया तो सारी क्रान्ति व्यर्थ हो जाती है। मार्क्स की दृष्टि में क्रान्ति का प्रत्येक पग ऐतिहासिक होता है। सर्वहारा क्रान्ति या समग्र, आमूल क्रान्ति के पहले छोटे-छोटे परिवर्तनों या संघर्षों से क्रान्ति को बल मिलता है। उच्च या अभिजात्यवर्गीय जनतान्त्रिक क्रान्ति (Bourgeois democratic revolution) अन्तिम या महान् क्रान्ति में सहायक होती है क्योंकि उसके द्वारा जनता में अधिक जागृति, नव-चेतना आती है, प्रचार अधिक होता है, क्रान्ति पथ प्रशस्त हो जाता है। सुधार या सुधारवादी कानूनों (Refomr or ameliorative legislations) पर मार्क्स का विश्वास नहीं है क्योंकि वे क्रान्ति की ढाल बनना

चाहते हैं जो कभी सम्भव नहीं है। कहीं-कहीं, इङ्गलैन्ड आदि देशों में जहाँ उदारवाद की जनतान्त्रिक परम्परा है, वैधानिक तथा शान्तिमय क्रान्ति की भी सम्भावना हो सकती है, लेकिन मार्क्स का आकर्षण-केन्द्र सशस्त्र क्रान्ति ही है। प्रत्येक नये समाज का जन्म क्रान्तिरूपी धात्री की सहायता से होता है। क्रान्ति-काल में हत्या, लूटपाट, विनाश, हिंसा, बल प्रयोग सब न्यायोचित है क्योंकि इनसे क्रान्ति विरोधियों का उन्मूलन होता है। इस प्रकार की क्रान्ति के लिये बड़े पैमाने पर तैयारी, सुदृढ़ संगठन, दूरदर्शी नेतृत्व अनुकूल वास्तविक परिस्थिति (objective conditions), प्रबल प्रचार, अपूर्व शक्ति, अदम्य उत्साह तथा क्रान्तिकारी लक्ष्य और कार्य की स्पष्टता चाहिये। इनके बिना क्रान्ति अधूरी या असफल भी (abortive or futile revolution) हो सकती है। क्रान्ति देवता के चारणों में मार्क्सवाद के सिद्धान्त स्तुति के रूप में प्रयुक्त होते हैं। क्रान्ति का इतना बड़ा दर्शन मार्क्स ने तैयार कर दिया लेकिन वह स्वतः न तो क्रान्ति कर सका और न उन परिस्थितियों को समझ पाया जिनमें क्रान्ति होती है। बोल्शेविक क्रान्ति जो रूस में काफी समय के बाद सफल हुई परिस्थिति-विशेष का परिणाम थी। क्रान्ति कोई कोई बच्चों का खेल या वाद-विवाद का विषय नही है। केवल ढांचे में परिवर्तन कर लेने से क्रान्ति नहीं होती। उत्पादन-व्यवस्था बदलने से भी सच्ची क्रान्ति नहीं हो पाती क्योंकि मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध ज्यों के-त्यों बने रहते हैं। क्रान्ति का मनोवैज्ञानिक पहलू मार्क्स ने स्पर्श तक नहीं किया। बिना मानव-स्वभाव में परिवर्तन लाये (अर्थात् हृदय-परिवर्तन के बिना गांधीवादी परिभाषा में) क्रान्ति की बात करना अपूर्णता है। मार्क्सीय क्रान्ति में भौतिकता की तीव्रता के कारण मनुष्य में सद्वृत्ति या सद्विवेक-युक्त बनने तथा अच्छे बनने की बौद्धिक प्रेरणा (rational incentive to become good) नहीं रहती। इस दृष्टि से मार्क्स केवल एकाङ्गी विवेचन ही करता है। दूसरी बात हिंसात्मक क्रान्ति के संबंध में है जो अपूर्ण ही नहीं विस्फोटक तथा विनाशक भी हो सकती है। सशस्त्र सैनिक क्रान्ति या मजदूर-क्रान्ति आज की स्थिति में अपवाद स्वरूप ही हो सकती है। वातावरण की उपेक्षा कर क्रान्ति की माला जपना सत्य से मुंह मोड़ना या आँखें मूंदना है।

सर्वहारा क्रान्ति के बाद संक्रमणकालीन युग आता है (revolutionary transisional period) जिसमें श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुसंख्यक दल का शासन चलता है। चूंकि बहुसंख्यक दल सत्ता पर आधिपत्य

जमाने के बाद शोषितों की मुक्ति का प्रयास करता है इसलिये संक्रमण के सम्बन्ध में मार्क्स ने कोई निश्चित अवधि नहीं बताई। श्रमिकों का अधिनायकत्व पूंजीवाद के सारे अवशेषों तथा प्रतीकों (remnants and vestiges of capitalism) को ध्वस्त कर देता है। व्यक्तिगत स्वामित्व की जगह उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व, श्रमजीवी जनता का स्वामित्व होता है। जमीन के अधिकारी वही होते हैं जो उस पर श्रम करते हैं। दलाल, ठलुआ या किराया खाने वाले अनुपस्थित भूस्वामी (absentee landlords) समाप्त कर दिये जाते हैं। शासनतंत्र पूर्ण जनतांत्रिक आधार पर चलाया जाता है। जनता के प्रतिनिधि प्रत्येक स्तर पर सरकारी अधिकारियों के साथ सहयोग करते चलते हैं। दल का नियंत्रण तथा अनुशासन देश को बर्बादी से बचाता है। उत्पादन सामजिक आवश्यकता या उपयोगिता के ख्याल से होता है, मुनाफे के लिये नहीं। प्राकृतिक साधनों का विकास, औद्योगिक कार्य आदि बड़े पैमाने पर चलते हैं, साझे की खेती (collective farming) को बढ़ावा दिया जाता है। योग्यता के अनुसार काम, काम के अनुसार वेतन, आवश्यकता के अनुसार पूर्ति, परिश्रम के अनुसार सामाजिक स्तर आदि प्राप्त होते हैं। शिक्षा-प्रणाली जनवादी आधार पर नियोजित की जाती है जिससे समाज के लिये उपयोगी नागरिक बन सकें 'जो काम नहीं करेगा वह नहीं खायेगा' (He who does not work shall not eat) यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो जाता है। बच्चों, महिलाओं, वृद्धों के लिये विशेष व्यवस्था की जाती है। काम शरीर को स्फूर्ति देता है, शरीर को थका नहीं डालता। मनुष्य का काम में पूरी तरह से मन लगता है, बेगारी टालने की बात नहीं रहती। कला, संस्कृति, विज्ञान, मनोरंजन के साधन आदि का पूरा विकास किया जाता है। सामाजिक जीवन सुखमय, बन्धनहीन हो जाता है। व्यक्तित्व का पूरा विकास होता है। सारांश में, जिसे श्रमिकों का स्वर्ग (worker's paradise) कहा जाता है वह इसी धरती पर उतर आता है। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति के आपसी व्यवहार अपने आप सुधर जाते हैं, राज्यशक्ति (covercivl power of the state) अनावश्यक होती जाती है, एक दिन उसका पूर्ण लोप हो जाता है। उसके बाद न वर्ग रहते हैं, न वर्ग संघर्ष, निरंतर प्रगति का क्रम अबाधगति से चलता है। शुद्ध साम्यवादी समाज अराजक (anarchistic) होता है जिसमें पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। स्वतंत्रता की परिभाषा है आवश्यकता का पूरा ज्ञान (Freedom is the recognition of necessity)। इस तरह की व्यवस्था निश्चय ही

प्रशंसनीय है, बशर्ते कि उसमें वास्तविकता तथा व्यावहारिकता हो। कहीं ऐसा हो गया कि इस खोज में जनतन्त्र की जगह सर्वतन्त्रात्मक व्यवस्था आ गई तो स्वर्ग छिन जाता है (paradise is lost)। सर्वहारा की तानाशाही स्वतः एक भ्रामक प्रयोग है क्योंकि तानाशाही या सत्तामद में परिमाण की ओर संकेत नहीं किया गया है। एक बार यदि किसी प्रकार की तानाशाही पनपी तो उसके नतीजे खतरनाक सिद्ध होंगे संक्रमणकाल कब तक चलेगा यह नहीं कहा जा सकता और जब तक राज्य की दमनशक्ति बन्द नहीं होती। साम्यवाद का यह सबसे महंगा सौदा है जिसमें जनता बड़ी अनिश्चितता के साथ अपना निश्चित भविष्य निहारती है। मार्क्स के विचारों में इस स्थल पर बड़ी कमी और कमजोरी दिखाई देती है। सर्वहारा का अधिनायकत्व यदि पार्टी-शासन या एक ही ढर्रे के राज्य (monolithic state) में बदल जाये तो उससे छुटकारा पाना असम्भव है। सरांश में यह एक ऐसा फन्दा है जिसे अपने ही गले में डालकर बच पाना मुश्किल है। रूस की व्यवस्था सम्प्रति संक्रमणकालीन समाजवाद की है, सच्चा समाजवाद या जनतन्त्र अभी दूर है। उसके संचालकों तथा नेताओं में तरह-तरह के मतभेद हैं और होते जाते हैं।

संक्रमणकालीन व्यवस्था का साम्यवादी कार्यक्रम कुछ इस प्रकार बनाया जाता है कि जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक एक ही विचारधारा दिन-रात जनता के सामने रहे, आतंक तथा दमन का शासन चले, योजनाओं का बाहुल्य हो और व्यक्तिगत स्वार्थपरता दूर किया जा सके। यह प्रायोगिक पक्ष है जिसके सम्बन्ध में मार्क्स के विचार स्पष्ट नहीं हो पाये थे। वैज्ञानिकता का दावा करने वाले मार्क्स के सिद्धान्तों में कई स्थानों पर स्वप्नलोकीय विचार आते गये हैं इसलिये दूसरों की काल्पनिकता का खंडन करने के बाद मार्क्स स्वयं काल्पनिक बन गया।

अनुदात्त तथा समीक्षा:

मार्क्स के विचारों में वैज्ञानिकता तथा तार्किक विवेचन का समन्वय तो है ही, सबसे बढ़कर जीवित, जागृत, मूर्त विश्वास (faith) भी है जो जीवन में स्पन्दन, चेतना उत्साह भरता है। इसी विश्वास के कारण मार्क्सवाद दुनियां में सफल प्रेरक विचारधारा (ideology) का रूप ग्रहण कर सका है। मार्क्स पहिले राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट, अमूर्त चिन्तन करता हुआ उपदेश तथा सुधारवाद की गलियों में चक्कर काटता था। मार्क्स के अनुसन्धान से वह सक्रिय रूप से जनता के बीच प्रभावशाली बन गया। इतिहास

की गति को समझना और उसे बदल देने का कष्टसाध्य प्रयास करना मार्क्स की अनुपम देन है। ऐतिहासिक विश्लेषण के बल पर मार्क्स ने पूंजीवाद की न केवल आलोचना ही की, बल्कि उसके युगव्यापी महत्व का भी निरूपण किया। किसी पूर्वाग्रह; ईर्ष्या या विकृति के कारण नहीं बल्कि दुर्निवार अन्त-विरोधों के कारण ही पूंजीवाद विनाश की ओर बढ़ता है। सुधार, मानवता-वाद, संस्कृति, दया, करुणा ये सब आभिजात्य-नैतिकता (bourgeois morals) के प्रतीक हैं, इनसे क्रान्ति का रथ नहीं रुक सकता। मार्क्स स्वतः मानवतावाद तथा अभिनव संस्कृति का समर्थक है किन्तु उसे जनवादी स्वरूप में वह देखता है, कुछ वर्गों की ठेकेदारी के रूप में नहीं।* क्रान्ति का संदेश देकर मार्क्स ने दलित-पीड़ित, शोषित तथा अभिशप्त जनता में संगठन का नया बिगुल फूंका और उन्हें गतिशील बनाता। श्रमिक-संघों (trade unions) को नये युग की महत्वपूर्ण संस्था बतला कर इन्हें क्रान्ति के लिये तैयार करने का मन्त्र उसने दिया। यह अवश्य है कि औद्योगिक श्रमिकों को वह अधिक क्रान्तिकारी मानता था और कृषक-वर्ग (peasantry) को दकियानूसी समझता था लेकिन क्रान्ति के समय या बाद किसान-मजदूरों के सम्मिलित संगठन की महत्ता उसने स्वीकार की थी। मार्क्स का सबसे महत्वपूर्ण अनुदाय था विश्लेषणात्मक पद्धति विज्ञान (analytical methodology) जिसके बल पर राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की समुचित व्याख्या सम्भव है। मार्क्स ने सांस्कृतिक स्वाधीनता, राष्ट्रीयता आदि का समर्थन करते हुये अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ उनका सामञ्जस्य किया था। इस पक्ष की तर्कपूर्ण व्याख्या स्टालिन अपने सिद्धान्तों में की और राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक स्वरूप देकर उसका भाषा, क्षेत्र, आर्थिक-जीवन, संस्कृति आदि के साथ स्थायी समन्वय किया। आत्मनिर्णय का सिद्धान्त (right of self-determination) इसका स्वभाविक परिणाम था। मार्क्स वादी व्याख्या के फलस्वरूप संसार की राजनीतिक स्थिति का पर्यालोचन करने में आर्थिक तथा अन्य तत्वों का विचार सुगम हो गया। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर मार्क्स ने संसार का सबसे बड़ा उपकार किया। युद्धों का समर्थक मार्क्स कदापि नहीं था क्योंकि युद्ध से मानवता

---

*प्रसिद्ध फेबियनवादी विचारक-दम्पत्ति सिडनी तथा बीट्रिस वेब ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सोवियत कम्यूनिज्म को नई सभ्यता (A new civilisation) का जन्मदाता कहा है।

भ्रष्ट हो होती है। युद्ध को वह प्रचलित प्रणाली का अनिवार्य अभिशाप मानता था; इसलिये वह उन कारणों को समूल नष्ट करना चाहता था जिनसे युद्ध की सम्भावना बनी रहती। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ने बड़ी सरलता से सृष्टि के परिवर्तनों और संघर्षों से दुनिया को अवगत कराया। अतीत और अनागत, निर्वाण और निर्माण, सृजन और विनाश, नवीन-प्राचीन, जदीद और कदीम इनका संघर्ष हमेशा चला करता है और अन्त में समन्वयवादी नई व्यवस्था जनकल्याणकारी रूप लेकर आती है। इसलिये प्रगति का साथ देने वाले विकासोन्मुख होकर पुराने का बहिष्कार और नये का स्वागत करते हैं (ring out the old ring in the new)। मार्क्स का यह नया संदेश मानव मुक्ति के लिये सर्वथा नहीं है क्योंकि इतिहास के मोड़ पर युग-पुरुषों ने ऐसी ही वाणी प्रसारित की है। अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र पर मार्क्स के विचार मौलिक तथा आकर्षक थे। वर्ग-संघर्ष के नाम से मार्क्स ने नई राजनीतिक शक्ति अथवा माध्यम का आविष्कार किया। इसके द्वारा ही प्रगति सम्भव है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त समझाकर मार्क्स ने सदियों से चले आते सनातन अन्याय के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया। श्रमिकों का राज्य, जिसमें केवल राजनीतिक ही नहीं आर्थिक तथा सांस्कृतिक आजादी भी शामिल है, साकार बनाने की मौलिक प्रेरणा मार्क्स ने ही दी जिसके कारण आज संसार का नया इतिहास बनता जा रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि दुनिया के कतिपय महानतम विचारकों में मार्क्स का स्थान ऊँचा है और रहेगा।

मार्क्स की आलोचना करते समय कुछ लोगों ने उसे स्वर्ग में बिठाया किन्तु अनेक ने गहरे गर्त या नरक में उसे फेंका। साथियों और हमदर्दों (Communists and fellow travellers) के लिये मार्क्स नये युग का मसीहा है; पूंजीवादियों के लिए उसके सिद्धान्त किसी विक्षिप्त व्यक्ति के प्रलापमात्र हैं। अत्यधिक प्रशंसा या स्तुति (highest platitudes and eulogy) और निकृष्टतक भर्त्सना (lowest condemnation) के बीच निष्पक्ष दृष्टि से मार्क्स की आलोचना करने पर सत्य का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। वैज्ञानिकता तथा विश्लेषणात्मक अद्वितीय प्रतिभा के बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि मार्क्स अथवा मार्क्सवाद सत्य का अन्तिम शब्द नहीं है (marxism is not the last word)। मानव-कल्याण के कई मार्गों में यह भी एक मार्ग है और प्रभावशाली भी है। सबसे पहली बात मार्क्स के दर्शन में खटकती है वह है भौतिकता या नितान्त जड़ता। मार्क्स

यह मानकर चलता है कि पदार्थ मन से नहीं उत्पन्न होता, बल्कि मन ही पदार्थ की सर्वोत्तम कृति है। इस अवधारणा से मस्तिष्क भौतिक जगत् की सर्वश्रेष्ठ इन्द्रिय है। इन्द्रिजन्य ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। मार्क्स के इस भौतिकवादी दर्शन में भ्रामकता, दुरूहता, एकाङ्गिता तथा घोर विवाद है, ठीक उसी तरह जैसे आत्मवाद या आध्यात्मिक दर्शन में है। प्रत्यक्षवाद या प्रत्ययवाद से सत्य का पूरा-पूरा आभास नहीं मिल पाता, व्यवहारवाद या बहुलवाद (pragmatism and pluralism) जो मार्क्सवाद के आधार-स्तम्भ हैं) से भी कुछ हद तक ही सहायता मिलती है। रोटी और पेट की भूख ही जीवन का चरम सत्य नहीं बन सकता। चेतन शक्ति के आगे जड़ की प्रधानता सम्भव नहीं है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त भी अपूर्ण तथा एकाङ्गी है क्योंकि अनुभवों के आधार पर साधारणीकरण (empirical generalisation) की प्रक्रिया तो उसमें है परन्तु वह अनुभव इतिहास की असम्बद्ध घटनाओं पर आधारित है। सिद्धान्तों की सत्यता पूरी तौर से प्रमाणित होनी चाहिये न कि कुछ तोड़ी-मरोड़ी गई घटनाओं या कथाओं के बल पर। उसी प्रकार आर्थिक नियामकत्व का सिद्धान्त भी पूर्ण ग्राह्य नहीं है। अर्थशास्त्र जीवन का प्रमुख विषय हो सकता है परन्तु पूरे जीवन पर छा जावे ऐसी स्थिति नहीं है। आर्थिक सम्बन्धों के अलावे दुनियाँ में रसमूलक, रागात्मक, मानवता-केन्द्रित, सौहार्द्र-प्रेरित आदि सम्बन्ध भी हैं। इतिहास पर केवल आर्थिक ही नहीं कई अन्य तरह के प्रभाव भी स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उनकी उपेक्षा कर केवल आर्थिक व्याख्या करना दोषपूर्ण है। वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध में भी यही त्रुटि हमें दिखाई देती है। स्वभाविक विरोध अथवा अनिवार्य निरंतर संघर्ष की बात काल्पनिक जगत में मान भी ली जावे परन्तु व्यवहार में दिखाई नहीं देती। मालिक और मजदूर के सम्बन्धों में वैसा विरोध नहीं है जैसा मार्क्स ने चित्रित किया। सामाजीकरण तथा अन्य सहयोगी उपायों से दोनों का समाधान और समन्वय हो जाता है। एक तरह से प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष की जगह समन्वय या सहयोग की भावना ही काम करती है, संघर्ष यदि होता है तो वह विकारों या उपेक्षित सत्य का परिणाम है। अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन (१८४२-१९१९ ई०) अपने विचारों में पारस्परिक सहयोग (mutual aid) तथा पूर्ण स्वतंत्रता को ही आदर्श मानते हैं और इसके लिये राज्य की दमनात्मक शक्ति का उन्मूलन चाहते हैं। मार्क्स भी राज्य के अनस्तित्व का चित्र खींचते हैं लेकिन वर्गसंघर्ष तथा क्रान्ति को इसके लिये आवश्यक मानते हैं। क्रान्ति तथा वर्ग-

संघर्ष दोनों सिद्धान्तों की उपयोगिता मुक्तभाव से स्वीकार नहीं की जा सकती। वर्गों का निर्माण भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से वैसा नहीं है जैसे मार्क्स ने सोचा है। नृतत्व-शास्त्र (enthropology) की खोजों के अनुसार भी मार्क्स की धारणाएं गलत सिद्ध होती हैं। वैधानिक, शान्तिमय, विकासवादी तथा स्वाभाविक उपायों को छोड़कर हिंसात्मक क्रान्ति का प्रयोग करने पर शान्ति-सुव्यवस्था का अन्त हो जाना भी सम्भव है। हिंसात्मक मार्ग से मनुष्य की पाशविक शक्तियां उभर कर मानवता, सभ्यता, संस्कृति की जड़ें काट सकती हैं। बल-प्रयोग के स्थान पर मत-परिवर्तन का मार्ग अधिक हितकर है। धैर्य का आश्रय छोड़कर उत्तेजना का मार्ग ग्रहण करने से अपना ही गला कट जाने की सम्भावना है। सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही एक बार कायम हो जाने से उसका आत्म-विसर्जन असम्भव है क्योंकि सत्ता की आसक्ति से वह वर्ग भी मुक्त नही है। ऐसी दशा में प्रजातन्त्र के अभाव में निरंकुशता और सर्व तंत्रात्मक राज्य कायम हो जाता है। यह परिणाम वैसा हो गया कि कलाकार तो विनायक (गणेश जी) की मूर्ति बनाना चाहता था लेकिन अन्त में जो बनी वह बन्दर की मूर्ति थी। मार्क्स का अभीष्ट इस मार्ग से पूरा नहीं होता। मार्क्स की भविष्यवाणियां या क्रान्ति-सम्बन्धी उसके विचार इसीलिये सत्य नहीं उतरे क्योंकि उनके मूलाधार ही ठीक न थे। जिस समय मार्क्स ने लिखा उस समय पूंजीवाद की स्थिति दूसरी थी। इङ्गलैण्ड और अमेरिका ने उसके बाद आशातीत प्रगति की, यांत्रिक विकास (technological progress) किया जिसका ज्ञान मार्क्स के लिये सम्भव न हो सका। वहां के लोगों का जीवन स्तर गिरने के बजाय ऊपर उठा और आज के समाजवादी राज्य वहां के नागरिकों की सुख-सुविधा के समकक्ष होने की प्रतिज्ञा करते रहते हैं। आणविक युग (Atomic Age) में विनाश तथा महायुद्ध से बचने का सह अस्तित्व (co-existence) का एकमात्र मार्ग मार्क्सवादी भी घोषित कर रहे हैं मार्क्स के अनुसार उनका ऐसा करना सैद्धान्तिक भ्रान्ति (ideological deviation) हो ? मार्क्स के विचारों में एक और बड़ी कमी रह गई और वह है कार्यक्रम का अभाव। आर्थिक योजना तथा कल्याणकारी राज्य के प्रयत्नों में पूंजीवादी तत्वों ने जिन साधनों का सहारा लिया लगभग उन्हीं मार्गों पर मार्क्स के अनुयायी भी बढ़े। दोनों सिद्धान्तों में इस प्रकार काफी समता दिखाई देती है। मार्क्स ने राज्य के लोप जाने की बात जो कही वह एक सामाजिक गल्प (socil myth) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं क्योंकि १९१७ की रूसी क्रान्ति के बाद राज्य का लोप नहीं, सुदृढ़ीकरण ही हुआ। इसी तरह राष्ट्रीयता और

देशभक्ति की भावना आज भी प्रबलतम है—श्रमिकों का आन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व राष्ट्रीयता के आगे फीका पड़ जाता है। मार्क्स की कमजोरी साध्य-साधन का स्पष्टीकरण करने में भी दिखाई देती है। इस तरह जो हमें चित्र दिखाई देता है सत्य का एक ही पहलू है (this-sidedness of reality)। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्स ने निष्कर्ष पहले निश्चित कर लिया और सिद्धान्तों का स्तूप बाद में खड़ा करने का प्रयास किया है। इस प्रसङ्ग पर यह मत उल्लेखनीय है—'मार्क्स ने इतिहास की सामान्य गति को अप्रासङ्गिक कहकर छोड़ दिया। सिद्धान्तों का वैज्ञानिक मूल्य भविष्य के सम्भावित विकासों के सम्बन्धित नहीं है बल्कि सामाजिक परिवर्तनों से आँका जाता है। प्रयोग सिद्धान्त का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसका स्पष्टीकरण करते हैं। यथार्थता के इस पहलू का परिचय देने के लिये ही यह सिद्धान्त खड़ा किया जाता है' (रूडोल्फ श्लेसिंगर)।

इन कमजोरियों के बावजूद भी मार्क्स के सिद्धान्तों की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता। अन्त में मार्क्स के विषय में इन शब्दों का उल्लेख भी प्रासङ्गिक होगा—'अपने युग की घृणा और प्रतारणा मार्क्स को मिली। निरंकुश और गणतंत्री दोनों सरकारों ने उसे अपनी भूमि से निर्वासित किया। उच्चवर्ग अनुदारदल, उग्र जनतन्त्रवादी सबने उसके विरुद्ध जहर उगलने में प्रतिस्पर्धा की। उसने (मार्क्स ने) इन सबको मकड़ी के जालों की तरह झाड़कर साफ कर दिया, उनकी उपेक्षा की और उत्तर उन्हें तभी दिया जब जरूरी हो गया। जब वह मरा करोड़ों क्रान्तिकारी श्रमिकों ने अपना सम्मान, प्रेम, समवेदना, सब कुछ उसे लुटाया। साइबेरिया की खदानों से लेकर केलिफोर्निया के तट तक सभी उसके मातम में दुःखी हुए और मैं हिम्मत से कह सकता हूँ कि उसके सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्वी अनेक रहे लेकिन व्यक्तिगत शत्रु शायद ही कोई था। उसका नाम और काम सदियों तक अमर रहेगा।' फ्रेज मेहरिंग के इन शब्दों में मार्क्स की महानता मुखरित हो उठी है।

१२—हेराल्ड जे० लास्की

(१८९३—१९५०)

'पूंजीवाद और साम्यवाद की संकुचित सीमा से बाहर निकलकर जनतांत्रिक समाजवाद की उदार कल्पना करने वाला प्राध्यापक लास्की यूरोप के समाजवादियों में प्रमुख हैं (doyen among socialsts)।'

सक्रिय राजनीति में संलग्न रहने के कारण बड़े बड़े राजनीतिज्ञ सैद्धान्तिक पक्ष से दूर होते जाते हैं। प्रजातंत्र में जहाँ दलगत राजनीति चला करती है, सैद्धान्तिक विचार-मन्थन अत्यन्त आवश्यक है अथवा सम्पूर्ण प्रजातन्त्र को ही विचार-यज्ञ से प्रसूत धारा कहा जा सकता है। दलगत राजनीति में एक ओर जहाँ कार्यक्रम, योजना, संघर्ष आदि पर जोर दिया जाता है वहीं दूसरी ओर विचारधाराओं की भ्रान्तियाँ (ideological deviations) भी दूर की जाती हैं ताकि दल की तात्विक एकता खण्डित न हो। ब्रिटेन में मजदूर दल राजनीति में सक्रिय तथा प्रसिद्धि-प्राप्त दल है। श्रमजीवी वर्ग-संगठन होने के साथ ही समाजवादी शासन-व्यवस्था का अभिनव प्रयोग भी इस दल ने किया। इस दल की विचारधारा का मौलिक स्पष्टीकरण हेराल्ड जे० लास्की ने किया। वैसे तो इंग्लैण्ड में समाजवादी विचारकों की संख्या पर्याप्त रही और स्वतः मार्क्स ने प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (first international) की स्थापना लन्दन में ही सन् १८६४ में की। लेकिन लेबर पार्टी को स्पष्ट नीति देने का काम कतिपय विख्यात बौद्धिक विचारकों ने ही किया। प्राध्यापक लास्की का नाम उनमें प्रमुख है। हेनरिक हीन (Heine) के शब्दों में प्रत्येक सच्चा समाजवादी मानवता के उद्धार में रत सिपाही है। यह परिभाषा लास्की ने अक्षरशः सत्य मानी है। ब्रिटेन की परम्परा के अनुकूल लास्की ने प्रगतिशील विचारों का अन्वेषण जीवन भर किया और यह सिद्ध कर दिया कि वैधानिक, न्यायपूर्ण मार्ग का अनुसरण करने पर ही सच्चा समाजवाद, वर्गहीन, शोषण-विहीन, विकेन्द्रित तथा स्वातन्त्र्य-युक्त स्थापित किया जा सकता है। जार्ज कैटलिन के शब्दों में उसे मध्यवर्गीय शिक्षितों के बीच मार्क्सवाद का विक्रेता कहा जाता है।* एक दूसरे आलोचक ने उसे मध्यवर्ग द्वारा सर्वहारा का अनुपम

---

* "A broker of Marxism to the middle class intelligentsia"
—George Catlin—The Story of the Political Philosophers.

देन* बताया है। किंग्सले मार्टिन ने उसकी बहुलवादी विचारधारा का विश्लेषण करते हुए उसे बहुमुखी प्रतिभा से युक्त विचारवान् व्याख्याता माना है। इसमें तो कोई शक नहीं कि लास्की ने समस्याओं के प्रति गम्भीरता दिखाई और विशुद्ध, स्वतन्त्र, बौद्धिक दृष्टिकोण (celebrated academic view point and freedom) प्रस्तुत किया। वर्तमान युग में राजनीति के अलग-अलग पहलू पर वैज्ञानिक विवेचन करने वालों में लास्की सर्वप्रधान है। किंग्सले मार्टिन के संस्मरण में इस बात का गौरवपूर्ण उल्लेख है कि १९३० के आस पास का युग जिसमें ऊँचे आदर्शों और भटके हुए विचारों का द्वन्द्व चला करता था, आक्सफोर्ड की विद्वत्-मंडली में तथा अन्यत्र लास्की युग (Age of Laski) की ही धाक थी।

मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास रखने के कारण लास्की पूर्ण समाजवादी है लेकिन ब्रिटेन की उदारपन्थी परम्परा (traditional liberalism) ने उसे कट्टर (Diehard or extremist) बनाने के बजाय मानवतावादी अधिक बनाया है रूसी राज्य-क्रान्ति (सन् १९१७) तथा उसके पश्चात् सोवियत-भूमि में भौतिक विकास के मानवीय प्रयासों का वह अन्यतम प्रशंसक है। किन्तु अधिनायकवादी अथवा सर्वसत्तावादी (totoliterian) दृष्टिकोण का विरोध करते हुए वह हिंसावादी कम्युनिस्ट मार्ग की भर्त्सना करता है। बहुलवादी (pluralist) होने के कारण वह राज्य को विशेष महत्व नहीं देना चाहता लेकिन उसकी अनिवार्यता से इनकार नहीं करता। मार्क्सवादी होने पर भी व्यक्तिवाद की छाप उस पर लगी है। क्रान्ति का समर्थक होते हुए भी वह क्रान्तिकारी नहीं है। वैधानिकता तथा संसदात्मक जनतंत्र पर उसका विश्वास है किन्तु समाजवादी सरकार से वह आशा करता है कि पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर वह नया मार्ग बनायेगी। रूसी साम्यवाद के प्रति अनुरक्त होते हुए भी वह अन्य स्थानों के कम्युनिस्ट दलों को घातक मानता है (He adulates communists in Russia but lashes them mercilessly elsewhere) आर्थिक जनतंत्र का समर्थन करते हुए वह श्रेणी समाजवाद (Guild socialism) का समर्थक है। दुर्भाग्यवश लास्की ने प्रजातांत्रिक समाजवाद की तात्विक विवेचना नहीं की और न अपनी विचार-धारा का विश्लेषण ही किया। राज-

*A middle class gift to the proletariat

—Morroe Berger in Modern Review—America Feb. 1948.

नीति में उपयोगिता तथा लाभ के आधार पर सत्य का अन्वेषण करना उसका उद्देश्य था जिसे (pragmatism) प्रेगमटिज्म कहते हैं। यह सिद्धान्त विलियम जेम्स, जॉन डीवी तथा शीलर द्वारा समर्थित कार्य साधकतावाद है जो भावों को अनुकूलता क्षेत्र में देता है। (truth's cash value in exprimental terms)। युद्धविरोधी, शान्तिप्रिया, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लास्की का अनुदाय आधुनिक राजदर्शन में सर्वापेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ लोग उसे राजनीतिक वैज्ञानिक न मानकर अपने विश्वासों तथा विचारों का प्रवचनकर्त्ता मानते हैं। उसके विचारों में अस्थिरता भले हो पर वह बहादुरी से जुड़ी है (courageous fickleness)।

परिचय, प्रकाशन तथा प्रभाव:

एच० जे० लास्की का जन्म मेन्चेस्टर के सम्पन्न यहूदी व्यापारी परिवार में सन् १८९३ में हुआ। यहूदी होने के नाते नैराश्य तथा हीनता की भावना लास्की को जन्म से प्राप्त हुई क्योंकि कल तक दुनियां की वही एकमात्र बे-वतन कौम थी। उसके पिता नाथन लास्की हंगरी के रहने वाले थे। लेकिन इंग्लैण्ड में उन्होंने काफी सम्पत्ति अर्जित की थी। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के साथ ही लास्की ने समाज विज्ञान तथा राजनीतिक समस्याओं का गम्भीर अध्ययन किया और अपने निर्भीक सामने रखते रहे। प्रतिभाशाली छात्र होने से लास्की ने व्यापक गहन अध्ययन, सूक्ष्म संवेदनशीला अनुभूति, मानवतावादी भावुकता तथा स्वातन्त्र्यप्रियता का अक्षय कोष अपने पास संचित किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में पड़ जाने से उसे अपनी विचारों का प्रचार करने का अवसर मिल गया। प्रथम महायुद्ध के समय उसने केनेडा, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि की यात्रा की और दर्शनशास्त्र पर अपने विचार व्याख्यानों द्वारा सामने रखे। योग्य तथा कुशल अध्यापक होने से दर्शनशास्त्री के रूप में इनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। लास्की ने अपना विवाह एक ईसाई महिला से करके सामाजिक कट्टरता दूर की। फ्रीडा लास्की (उसकी पत्नी) को बहुत दिनों तक लास्की के परिवार में सम्मान नहीं मिला। मेन्चेस्टर ग्रामर स्कूल तथा न्यू कालेज आक्सफोर्ड में उसने शिक्षा पाई। बौद्धिक स्वातन्त्रता के कट्टर समर्थक होने के कारण वह किसी से भी दबना नहीं जानता था। पूंजीवाद का वह तीव्र विरोध

*अब इजराइल राज्य बनने पर उनके पितृदेश का स्वप्न साकार हो गया है।

करता था। लास्की का प्रभाव अटलान्टिक महासागर के दोनों किनारों पर स्थायी रूप में था। विभिन्न विश्वविद्यालयों, में उसने व्याख्याता का काम किया। मेकगिल विश्वविद्यालय, येल, एमहर्स्ट, डब्लिन, केम्ब्रिज आदि में भी उसे व्याख्याता के रूप में ख्याति मिली।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन-व्याख्याता के रूप में लास्की ने प्रसिद्धि पाई। सन् १९१९ में बोस्टन पुलिस हड़ताल के समय लास्की ने हड़तालियों का पक्ष लेकर विश्वविद्यालय की हस्तक्षेप-नीति की तीव्र आलोचना की जिससे उसके उग्र विचारों का परिचय मिलता है। इस घटना ने उसके खिलाफ एक विचित्र वातावरण बनाया लेकिन प्रेसीडेन्ट लावेल की मदद से उसे शान्ति मिली। उसी तरह मेकगिल में उसने लॉयडजार्ज की नीति (bitter-endism of Lloyd George) की बड़ी आलोचना की जिसके लिये वह बर्खास्त होते-होते बचा। सन् १९१७ में २४ वर्ष की अवस्था में ही अमेरिका में उसका प्रथम ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। मजदूर-संगठनों (trade unions) में लास्की का अपूर्व विश्वास था और वह उन्हें नई सभ्यता का सृजनकर्ता मानता था। अपने जीवन काल में कई श्रमिक संगठनों से उसका सम्पर्क रहा किन्तु सामूहिक सौदेबाजी (Collective bargaining) के साथ ही वह संघों की राजनीतिक चेतना (politica-lisation) का पक्षपाती था। सोवियत रूस का दौरा सन् १९३४ में उसने किया और वहाँ की राष्ट्रीय प्रगति ने उसे बहुत ही प्रभावित किया। विशेषतः समाजवादी अर्थ-व्यवस्था तथा योजनाबद्ध विकास का वह प्रबल समर्थक हो गया किन्तु हिटलर की सफलता, नाजी तथा फासिस्ट प्रवृत्तियों का उदय तथा श्रमिक चेतना की निष्क्रियता से उसके विचारों को धक्का लगा। धीरे-धीरे उसे साम्यवादी आतंक (Communist tyranny) का भी भय होने लगा और उसने अपने विचारों में परिवर्तन किये। कम्युनिस्ट तत्वों के साथ मूल गठबन्धन तथा एकता (Organic unity) का वह विरोधी था किन्तु साथ ही रूसी साम्यवादी तथा अन्य योरोपीय समाजवादियों के बीच वास्तविक सद्भावना (Genuine entente) तथा सदिच्छा का समर्थक था। ब्रिटिश लेबर पार्टी के काम करते समय सन् १९३७ में वह उन लोगों में से था जो कम्युनिस्टों को लेबर पार्टी में शामिल करना चाहते थे। किन्तु सन् १९४६ में उसने कम्युनिस्टों का कड़ा विरोध किया और उन्हें लेबर पार्टी में नहीं घुसने दिया। लास्की सन् १९४५ में 'लेबर एक्जीक्यूटिव' का सभापति

था और उसी वर्ष ब्रिटेन के आम-चुनाव में चर्चिल-भक्त अनुदार दल की करारी हार हुई और क्लीमेंट एटली के नेतृत्व में मजदूर दल विजयी हुआ। इस ऐतिहासिक चुनाव अभिमान (election campaign) में लास्की ने बड़ा महत्वपूर्ण मनोयोग दिया। इस सम्बन्ध में उसके जीवन की सबसे उल्लेखनीय घटना यह है कि यदि वह चाहता तो स्वतः सरकार या केबिनेट में ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त कर सकता था किन्तु जीवन भर उसने ऐसी इच्छा नहीं की।* भारतीय स्वातन्त्र्य-इतिहास के महान् प्रणेता महात्मा गाँधी की प्रेरणा पा उसने निःस्पृहता तथा त्याग का मार्ग ग्रहण किया। वेब द्वारा संस्थापित 'लन्दन स्कूल आफ इकानामिक्स' में राजनीति शास्त्र के अध्यक्ष पद पर लास्की ने लगभग ३० वर्षों (१९२०–१९५०) तक काम किया और उनके द्वारा पढ़ाये हुए लाखों विद्यार्थी आज बौद्धिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विख्यात हैं। उक्त पद पर काम करते समय आप सक्रिय राजनीतिक में रुचि लेते रहे और संचालकों की आपत्ति का समुचित उत्तर दिया। लास्की के अन्तिम समय में उन पर यह आरोप लगाया गया कि वे हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। इस आरोप के विरोध में उन्होंने मानहानि का दावा किया और असत्य तथा भ्रामक अभियोग (malicious prosecution) का मुकदमा चलाया। उस मुकदमें में प्रोफेसर हार गये लेकिन हिंसा-प्रचार का अभियोग उन पर नहीं लग पाया। वास्तव में प्रोफेसर लास्की हिंसात्मक कार्रवाई के विरोधी रहे और उन पर यह आरोप लगाना दुर्भावना का प्रतीक है। केवल ५७ वर्ष की अल्पायु में ही सन् १९५० में लास्की का देहान्त हो गया।

लास्की ने विविध राजनीतिक विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। सर्वप्रथम सन् १९१७ से १९२१ के भीतर बहुलवाद के समर्थन मे तथा राज्य की संप्रभुता के ऊपर अपने मौलिक विचार उसने रखे (Authority in the modern state, Foundation of Sovereignty, and studies in the problem of sovereignty)। अद्वैतवादी संप्रभुता का

---

*वह घटना आकर्षक तथा ऐतिहासिक है जब एटली के निवास से लौटते हुए ह्यू डाल्टन के इस प्रश्न पर कि 'क्या प्रोफेसर सरकार में आ रहे हैं?' लास्की ने व्यंग्यपूर्ण उत्तर लिखा था जिसका अभिप्राय यह था कि डाल्टन महाशय को शायद अपने बनाने वाले का भी पता नहीं था।

(किंग्सले मार्टिन द्वारा लास्की की जीवनी से।)

खण्डन करते हुए उसने राज्य को मानव समूहों में से एक माना जो सामाजिक उद्देश्यों में उतना ही स्थान रखता है जितना चर्च या श्रमिक संघ या मुक्त संघ (Freemason's lodge)। राज्य और समाज का विभेद भी स्पष्ट किया गया। व्यक्तिवाद की झलक भी इन शब्दों में दिखाई दी कि 'कानूनी सिद्धान्तों का तकाजा कुछ भी क्यों न हो; वास्तविकता में राज्य के सामने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण कोई नहीं करता। राज्य व्यक्ति के लिये उसी हद तक सम्प्रभु है जब तक उसकी अन्तरात्मा विद्रोह नहीं करती।' लास्की के विचारों का स्पष्टीकरण विशद रूप में उसके ग्रन्थ ग्रामर आफ पालिटिक्स' (Grammar of Politics) में हुआ जो सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में राज्य की विवादात्मक समस्या पर तर्कपूर्ण रखे गये हैं। सामाजिक संगठन, संप्रभुता, अधिकार, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, राष्ट्रीयता, सभ्यता, संघात्मक शक्ति, राजनीतिक, आर्थिक संवास, न्याय-प्रणाली तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर लास्की के विचारों का तीव्र खण्डन-मण्डन हुआ। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि पिछले ३० वर्षों में इतनी स्पष्ट व्याख्यात्मक तथा उपादेय पुस्तक नई बौद्धिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली दूसरी प्रकाशित नहीं हुई। इस पुस्तक को लास्की ने सुपरिचित वेब दम्पत्ति (Sidney and Beatrice Webb) तथा उनके द्वारा स्थापित लन्दन की अर्थशास्त्र-राजनीति शास्त्र की सर्वोच्च संस्था को समर्पित किया। अपने विचारों में परिमार्जन-परिवर्धन करने के बाद लास्की यथार्थवाद की अच्छाइयाँ ग्रहण करते हुए (Supreme merit of realism) राज्य को व्यक्ति का हित-चिन्तक बताता है और उसके विधायक पक्ष पर प्रकाश डालता है। प्रारम्भ में ही उसने यह स्वीकार किया है कि राज्य के सम्बन्ध में चिन्तन करते समय मनुष्य अपने देश-काल तथा अनुभव की परिधि का ध्यान रखता है। ('No theory of the state is ever intelligible save in the context of its times, what men think about the state is the outcome always of the experience in which they are immersed'—Grammar of Politics.') रूसो, हेगेल, ग्रीन इन सबने अपने समय की मानसिक पृष्ठभूमि तथा परिस्थिति (mental climate) को सर्वमान्य तथा सार्वजनीन सत्य के रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया था। लास्की ने यह बताया कि मनुष्य अपनी विचारधारा का औचित्य तथा श्रेष्ठत्व बताने के लिये घोर संघर्ष करता चलता है (Men fight grimly for the status of ideologies)।

वास्तव में नई दुनिया के लिये नये राजदर्शन (a new political philosopby to a new world) देने का प्रयत्न लास्की ने इस पुस्तक में किया। सन् १९२७ में साम्यवाद ('Communism') पर उसका ग्रन्थ लिखा गया जो सम्भवत: पूञ्जीवादी अर्थ व्यवस्था की समाजवादी आलोचना थी। इस सम्बन्ध में उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ साम्यवादी घोषणा-पत्र की समाजवादी व्याख्या है। (Communist manifesto a Socialist landmark) दूसरे, कार्ल मार्क्स पर स्वतन्त्र विचार उसने रखे और फ्रांस की राज्य क्रान्ति के समाजवादी तत्व भी ढूंढे (The Socialist Traditionr in French revolution)। जनतन्त्र पर उसके विचारों का संग्रह (Democracy in Crisis) सन् १९३१ में लिखा गया जो अमेरिका में उसके भाषणों का सार है। इसमें उसने पुरानी प्रतिनिधिमूलक सरकारी संस्थाओं के प्रति अविश्वास प्रकट करते हुए क्रान्तिकारी सुधार तथा परिवर्तन की बात कही। सन् १९३४ में राज्य के सिद्धान्त तथा व्यवहार (The State in Theory and practice) पर उसने प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा से प्रेरणा लेकर लास्की ने अपने नये सिद्धान्त खड़े किये। राज्यशासन सम्बन्धी सिद्धान्त तथा सामयिक विचारों का परिचय अमेरिका तथा ब्रिटेन की शासन-परम्परा में से सम्बन्धित ग्रन्थों में मिलता है (American Democracy, Amer'can Presidency, Parliamentary Govt. in England) एक अभिनव दृष्टिकोण हमें इन पुस्तकों में मिलता है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि लास्की एक ओर रूस की समाजवादी व्यवस्था के पोषक (स्वत: ब्रिटेन की उदारवादी विचारधारा से उत्पन्न) तथा दूसरी ओर अमेरिका की उच्चस्तरीय पूञ्जीवादी अथवा लोक कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था के भक्त थे, और इस प्रकार उन्होंने सह-अस्तित्व (Co-existence) के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप से मान्यता दी। क्रान्ति-सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ (Reflections on the Revolution of our time) सन् १९४३ में प्रकाशित हुआ और दूसरे ही वर्ष, १९४४ में विश्वास, बुद्धि, सभ्यता के ऊपर (Faith, Reason and Civilisation) उनका ग्रन्थ निकला जो वर्णनात्मक तो कम पर उत्तेजक-उद्घोषक (Hortatory) अधिक है। इस समय तक उसके विचारों में स्थायित्व, स्पष्टता तथा स्वरूपात्मक एकता आ चुकी थी। प्रशंसा अथवा निन्दा करने के बजाय उन्होंने रूसी क्रान्ति को सहानुभूतिपूर्वक समझना अधिक श्रेयस्कर सिद्ध किया। जिस समय जर्मनी

(और रूस के बीच अनाक्रमक सन्धि (सन् १९४०) महायुद्ध के दौरान हुई, लास्की ने अपने विचार 'हम कहाँ जा रहे हैं ?' (where do we go from here !) नामक पुस्तक में रखे। इसमें उसने सोवियत संघ की फासिस्ट-प्रवृत्ति की निन्दा की। उसके शब्दों में 'समाजवाद की भूमि पर मेकियावेली के निम्नतम प्रयोग होने लगे' कुछ स्वतन्त्र निबन्ध तथा विचार-संग्रह भी उन्होंने मौलिक दृष्टिकोण से प्रकाशित किये (The Danger of being a gentleman, Studies in Law and Politics, The Rise of European Liberalism, Political thought in England आदि)। स्वतन्त्रता तथा श्रम-संघ सम्बन्धी ग्रन्थ (Liberty in modern state, Trade unions in the Present Society) भी उल्लेखनीय हैं। इस तरह लिखने में लास्की की बराबरी करने वाले बहुत कम विचारक मिलेंगे। इजरायल राज्य (सन् १९४७) की स्थापना पर हर्ष व्यक्त करते हुए उन्होंने जो वक्तव्य दिया वह उनका राजनीतिक धर्मपत्र (Political Testament) है और उनकी आकांक्षाओं को व्यक्त करता है।

लास्की पर सबसे स्थायी प्रभाव अपने युग का है—बीसवीं सदी का पूर्वार्ध जो औद्योगिक प्रगति का युग था लेकिन उपनिवेशवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और युद्ध, महायुद्ध के साथ चल रहा था। यूरोप का व्यक्तित्व दो टुकड़ों में बँट गया था—एक साम्यवादी यूरोप और दूसरा जनतन्त्रीय यूरोप, दोनों एक दूसरे के प्रति सशंकित रहते। लास्की ने इस स्थिति को समझा और समझाया। इंग्लैण्ड में उदार चिन्तन की विशेषता रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में अभिव्यक्ति धर्म, विश्वास, व्यक्ति की अबाध स्वाधीनता तथा सहिष्णुता, सद्भावना, सहमति आदि गुणों का समर्थन निहित है। एक तरह से यह विशिष्ट जीवन-प्रणाली है जिसका निषेध करने पर सभ्यता ही खण्डित हो जाती है। इंग्लैण्ड के उदारवादी विचारकों का उस पर प्रभाव था। लिण्डसे, बारकर, ग्राहमवेलेस आदि के विचारों से प्रभावित होकर उसने राज्य की नई व्याख्या की और बहुलवादी स्वरूप निश्चित किया। संविधान-शास्त्री डायसी के विचारों से भी वह प्रभावित हुआ। हर्बर्ट फिशर, डायसी, बार्कर, लेन्सबरी, नेविनसन, कोल, वेब, कार्लमार्क्स लेनिन, ब्रेल्सफोर्ड, टॉनी, डा० लाटरपेक्ट आदि के विचारों का उस पर स्थायी प्रभाव है। प्रारम्भिक आंग्ल विचारक (early anglo-saxen political philosophers) में जेम्स हेरिंगटन भी उसके विचारों के समीप है। ग्रीन के व्यक्तिवाद तथा राज्य के नैतिक आधार का वह प्रशंसक है,

नैतिक चेतना की अनिवार्यता स्वीकार करता है। मजदूर आन्दोलनों ने उसके जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। श्रेणी समाजवाद से मार्क्सवाद और जनतान्त्रिक समाजवाद की ओर झुकाव होता गया। विलियम जेम्स के कार्य-साधकतावाद (pragmatism) का प्रभाव उसके दर्शन में स्पष्ट परिलक्षित होता है। पूंजीवाद, फासिस्टवाद, उपनिवेशवाद का यह तीव्र विरोधी था। भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का समर्थन करते हुए उसने समय-समय पर महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये जिनका इस देश में बड़ा स्वागत हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय एकता के जबर्दस्त हामी होने के कारण लास्की ने विश्वबन्धुत्व का सदैव पक्ष लिया। कहीं-कहीं उसके विचारों में विरोधाभास अथवा क्षणिक परिवर्तन दिखाई देता है किन्तु यह सदाशयता तथा सद्भावना-प्रेरित बुद्धिजीवी की मानसिक कमजोरी का ही परिणाम है। लास्की के राजनीतिक विचारों को साधारणतया निम्न वर्गों में बांटा जाता है :—(१) समाज तथा राज्य सम्बन्धी विचार जिनमें बहुलवाद, संप्रभुता, स्वतन्त्रता, समानता, अधिकारों पर विचार व्यक्त किये गये हैं। (२) प्रजातन्त्र तथा शासनप्रणाली सम्बन्धी विचार जिसमें उसकी व्यक्तिवादिता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता भी सम्मिलित है। (३) रूसी क्रान्ति तथा सोवियत समाजवादी व्यवस्था पर विचार। इसमें मार्क्सवाद की वैज्ञानिक प्रक्रिया, साम्यवादी प्रयोग का रहस्य, समाजवादी अर्थ-रचना का महत्व आदि शामिल है। (४) स्फुट विचार जिनमें दार्शनिकता तथा बौद्धिकता की अमिट-छाप है और साथ ही पीड़ित जाति (persecuted race) के व्यक्ति का आक्रोश क्रन्दन भी है।

समाज, राज्य, अनेकवाद अथवा बहुलवाद :

लास्की उन लेखकों में से है जो राज्य के मुकाबले समाज की सत्ता सर्वोच्च मानते हैं और उस धारणा का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार समाज और राज्य को एक कहा गया है। विभिन्न मानव संवासों (human associations) की सत्ता मानते हुए वे राज्य को भी एक तरह की संस्था मानते हैं। समाज में संवासों की स्थिति स्वाभाविक है जीवन, दर्शन तथा शासन व्यवस्था पर उनका पूरा प्रभाव है। संवासों पर आघात करके हिटलर और मुसोलिनी ने सर्वव्यापी सावयव राज्य (corporate state) स्थापित किये किन्तु उनका अस्तित्व अधिक दिन तक नहीं रह पाया। राजनीतिक दल, स्वयं सेवक संस्थाएं, शिक्षण-प्रणाली, मजदूर आन्दोलन, धार्मिक जागृत तथा परिवर्तन, सभ्यता तथा नई विचारधारा का प्रचार-प्रसार ये सब समाज पर निरंतर

सुधार या परिवर्तन करते रहते हैं। सवासों का महत्व आज के समाज में, जो निश्चय ही बहुमुखी, विस्तृत, जटिल तथा विविधता-मण्डित है, सबसे अधिक है। बीसवीं सदी में मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठनों ने वह काम किया है जो राज्य करना नहीं चाहता था अथवा कर नहीं सकता था। भारत में विदेशी शासन का अन्त करने में राष्ट्रीय कांग्रेस की तरह संस्था तथा उसकी देश के कोने-कोने में फैली शाखाओं ने महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया। इजिप्ट के शासन-परिवर्तन, परशिया के तेल-सम्बन्धी झगड़े, अर्जेन्टाइना में पेरों के शासन का अन्त, पाकिस्तान में शासकीय अस्थिरता, सोवियत में श्रमिक जनतंत्र, अमेरिका में उच्चजीवन-स्तर, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नये प्रयोग-प्रतिबन्ध, भूमि-सुधार में भूदान आन्दोलन का प्रभाव आदि कुछ उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि राज्य तथा शासन के बाहर भी कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका प्रभाव बहुत पड़ता है समाज तथा राज्य पर, तथा जिनकी उपेक्षा विनाश का कारण हो सकती है। राज्य एक सामाजिक संवास से अधिक उपयोगी या शक्तिशाली नहीं है। बारकर के अनुसार प्रत्येक सामाजिक संवास अपने-अपने ढङ्ग से उपयोगी है और ग्राह्य हैं।* किन्तु राज्य पर एक ऐतिहासिक दायित्व है जिसके कारण वह 'बराबरी वालों में प्रमुख' (Primns inter paros-chief among equals) बना हुआ है। यह दायित्व है संतुलन तथा सामञ्जस्य बनाने का (Coordinating power of the state)। लास्की के शब्दों में राज्य समाज की महत्वपूर्ण स्थिति है न कि सामाजिक ढांचे की सर्वोच्च चोटी। अन्य सामाजिक उपयोगी संस्थाओं की तरह वह भी एक है।† समाज वास्तव में संघात्मक (federal) है और बहुलवादी (puralist) भी। कानून बनाने में भी समुदाय तथा संस्था के हित को सामने रखना पड़ता है। (विधि के लक्ष्य पहले निर्धारित हों, निर्माण बाद में हो)। इसलिए दमनकारी अथवा हानिकारक कानून रद्द भी करवा दिये जाते हैं। राज्य को उच्च स्थान देने का अभिप्राय यह नहीं कि वह अधिक शक्तिशाली या अनन्त है। राज्य

* "The state is essentially a communitas communitaum, and not the crowning-point of a hierarchical structute.' (Grammar of politics—page 105).

† "It is infact, the 'final legal depository of sycial will, It sets the perspective of all other associations. It is moreover the implied logic of this supremacy that whatever remains free of its control does so by its permission—ibid.

की बात अन्तिम आदेश (final prescription) नहीं हो सकती, वह तो केवल दिशा-निर्देश का काम करता है तथा इन लक्ष्यों को स्पष्ट करता है जिस ओर व्यक्ति, संघ समाज सब बढ़ाना चाहते हैं। सारांश में, समाज अनेकतावादी है, राज्य का प्रतिनिधि है, इसलिये राज्य भी अनेकतावादी है, संप्रभुता की कल्पना त्याज्य है और अनेतावाद या बहुलवाद समाज का वास्तविक रूप है।

राज्य की सत्ता का विरोध करते हुए लास्की ने नैतिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता अथवा संप्रभुता की आलोचना की है। अद्वैतवादी (Monist) संप्रभुता का वह कट्टर विरोधी है और वह स्पष्ट कहता है कि इस प्रकार की मरीचिका छोड़ देने पर ही राजनीति तथा समाज का कल्याण हो सकता है। लास्की से पूर्व आदर्शवादी, व्यक्तिवादी तथा अद्वैतवादी विचारकों ने राज्य को देवतुल्य तथा परमश्रेष्ठ सिद्ध करते हुये निरंकुश अत्याचारी तथा शोषक बना दिया। पूंजीवाद ने जो कुछ कमी थी उसे पूरा किया और न्यस्त स्वार्थों का पोषक, आम जनता का शोषक राज्य हो गया। इस दुर्निवार स्थिति से छुटकारा पाना जरूरी था। राज्य को नैतिकता के मार्ग पर व्यक्ति तथा समष्टि को चलाने का अधिकार है किन्तु भ्रष्ट शासन पूंजीवाद तथा सत्ता-केन्द्रीकरण के कारण अयोग्य तथा असमर्थ है। व्यक्ति राज्यभक्ति वहीं तक प्रदर्शित कर सकता है, जहां उसकी नैतिक उन्नति होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अखण्ड सामाजिक निधि में अपना-अपना योगदान देकर उसे समृद्ध बनाना चाहिये और इसके लिये राज्य के अनियंत्रित, अदेय, अविभाज्य अधिकार का दिवास्वप्न दूर करना होगा। अनियंत्रित, संक्रामक व्रण की तरह है जो सत्य को विकृत कर देती है। ऐतिहासिक घटनाएं इस बात को बार-बार घोषित करती हैं कि राज्य की अखण्ड सत्ता या दृढ़ता भूत की तरह है जिसका अस्तित्व कहीं नहीं है, किन्तु आतंक सदा छाया है। संप्रभुता का यह अर्थ लगाना कि राज्य किसी आभ्यन्तर यह बाह्य शक्ति से नियंत्रित नहीं है सर्वथा भ्रामक है। राज्य अनुत्तरदायी तथा निरंकुश होकर अधिक दिन चल नहीं सकता। राज्य व्यक्ति और समाज के सुख का भौतिक साधनमात्र है। अन्तर्राष्ट्रीय युग में कोई भी देश इस बात का दावा नहीं कर सकता कि वह दूसरों से बिलकुल निर्लिप्त या अप्रभावित है। सहकारिता, सह-अस्तित्व तथा पंचशील युग की देन हैं। आन्तरिक दृष्टि से भी विभिन्न विश्वास, सिद्धान्त, तर्क, पक्ष आदि राज्य का रूपान्तर करते रहते हैं। शक्ति विभाजन का सिद्धान्त, (Separation of powers) मनाने मतलब ही यह है कि राज्य-शक्ति की अविभाज्यता का खण्डन करना। स्वयं मार्क्सवाद तथा समाज-

हारिक उपयोगितावाद (Pragmatism) की कसौटी पर भी यही झलकता है कि राज्य सीमित है, अनेक बन्धन उसे शिथिल बनाते हैं, उसकी गतिविधि पर कोटि-कोटि आँखें लगी रहती हैं। संप्रभुता इस तरह वास्तव में बहुलवादी है, कई टुकड़ों में बंटी है और उसे विभाजित होना चाहिये। इसी प्रकार बहुलवाद की व्याख्या करते हुए लास्की राजशक्ति के विकेन्द्रीकरण की मांग करता है। यही प्रयोग यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आवश्यक बतलाता है क्योंकि प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये, महायुद्धों का अन्त आवश्यक है और विश्वशान्ति तब तक असम्भव है जब तक युद्ध का भय मौजूद है।

अनेकतावाद या बहुलवाद की आलोचना भी पर्याप्त की गई है और उसे सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। बहुलवाद के विरोधी यह आरोप लगाते हैं कि सत्ता का विभाजन या विकेन्द्रीकरण करने से अराजकता, अशांति, उपद्रव आदि होते हैं। किन्तु यह आरोप गलत है। निर्बन्ध सत्ता अन्याय है और वह चल नहीं सकती। पूंजीवादी व्यवस्था उसी प्रकार दुःखदायी है और सह्य नहीं हो सकती। बहुलवादियों में विरोधाभास अवश्य है जिससे यह सिद्धान्त स्वतः कमजोर पड़ता है। लास्की स्वतः विकेन्द्रित सत्ता चाहता है किन्तु साथ ही उस असीम शक्ति को भी, जो राज्य के लिये आवश्यक है, खोना नहीं चाहता। दोनों बातें सफल कैसे हो सकती हैं? बारकर राज्य को व्यक्तिगत हितचिंतक बताते हुए नागरिकों से भक्तिभाव, सद्भावना, आदेशपालन आदि की अपेक्षा करता है क्रैबी और दुग्वी (Euguit) वैधानिक दृष्टिकोण से विचार करते समय संप्रभुत्व को अमान्य कर देते हैं। उन्होंने आस्टिन, बेन्थम आदि की व्याख्या न मानकर समाजशास्त्रीय आधार पर कानूनों का विवेचन किया। गीयर्क ने राज्य को अन्य संघों से श्रेष्ठ मनाते हुए उसे संप्रभु बताया है। फिगिस के अनुसार राज्य समुदायों का समुदाय है और इसलिये सर्वश्रेष्ठ है। लिण्डसे राज्य की अनिवार्य सदस्यता के बल पर उसे सर्वोच्च संस्था मानता है। पालबॅकर राज्य को राष्ट्रीय एकता का प्रहरी तथा नागरिक जीवन का रक्षक मानता है। दरखीम (Durkheim) के अनुसार राज्य का काम नीति-निर्धारण है जिसके अनुसार अन्य संस्थाएँ काम करती हैं। लास्की उग्र बहुलवादी होने के कारण राज्य को राष्ट्रीयकरण तथा औद्योगीकरण का संचालक मानता है। इस तरह कई तथाकथित बहुलवादी भी वास्तव में अद्वैतवाद की भावना में ही ओत-प्रोत हैं। दूसरे राज्य-शक्ति का विरोध कहां तक न्याय्य अथवा व्यवहार्य है यह भी एक विकट प्रश्न है। बहुलवादी

इस भ्रान्त धारणा के शिकार हैं कि अद्वैतावादी अथवा संप्रभुतावादी अमर्यादित राज्य के समर्थक हैं, अनुत्तरदायी निरंकुशवाद के भक्त हैं । वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है । हाब्स, बोदाँ, आस्टिन, रूसों, हेगेल, बोसांके आदि सभी राज्य को उतनी ही छूट देते हैं जितनी जरूरी है। प्रजा की इच्छा अथवा सामान्य इच्छा के विपरीत राज्य को प्रोत्साहन वे कभी नहीं देते । उसी तरह वे क्रान्ति-विरोध भी नहीं हैं। इस प्रकार बहुलवाद की अधिकांश धारणा पूर्वाग्रहों पर आश्रित है। फिर भी इतना तो मानना होगा कि बहुलवाद ने राज्य और समाज दोनों को जागरूक बनाया और वैधानिक वर्गीकरण किया। वास्तव में यह अनुकूलन तथा विचार-विनिमय की एक प्रक्रिया है जिससे नये वैधानिक वर्गों की रचना की जाती है और संघर्षों का निराकरण किया जाता है (गेटेल) । बहुलवादी राज्य के सम्बन्ध में अराजकतावादी तथा अद्वैतवादी के बीच की कड़ी है। वे राज्य को पूर्ण नष्ट नहीं करना चाहते किन्तु साथ ही संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न भी नहीं मान सकते । (वे संप्रभुता के विरोधी हैं, राज्य के नहीं) । वे उसे सीमित समुदाय-विशेष देखना चाहते हैं। क्रैब (Krabbe) और लास्की दोनों इस बात के समर्थक हैं कि संप्रभुता शब्द को राजनीति से बाहर कर देना चाहिये । किन्तु लास्की में यह एक व्यक्तिवादी अन्तर्विरोध है जो बहुलवाद का ही परिणाम है । बहुलवाद की कमजोरियों पर प्रकाश डालते हुए केलहोन ने यह कहा कि संप्रभुता को विभाजित करने का अर्थ है उसका अन्त करना (To divide sovereignty is to destroy it) । दूसरे बहुलवाद के अराजकतावादी व्यक्तिवाद (anarchistic individualism) में परिणत हो जाने की सदैव आशंका है ।

अधिकार, स्वतन्त्रता, समानता :

अधिकारों के सम्बन्ध में लास्की के विचार बहुत गम्भीर तथा भावपूर्ण हैं। व्यक्ति की नैतिक सत्ता (ethical contents) का वास्तवीकरण अधिकारों के अभाव में असम्भव है । लोक कल्याण की व्यापक दृष्टि से अधिकार अनिवार्य हैं। राज्य अधिकारों का संरक्षक है, अधिकारों का हनन या विरोध करके वह आत्मघात ही कर सकता है। अधिकारों के विषय में परिच्छेद लिखते हुए लास्की राज्य पर प्रतिबन्ध (circumscription of the state) का ही उल्लेख करता है । राज्य व्यक्तिहित का भौतिक साधन है, तथा व्यक्तिहित सामान्य तथा विशिष्ट अधिकारों में निहित है। अधिकारों का

अस्तित्व राज्य से पूर्व है अथवा साथ है। राज्य की स्वीकृति या संरक्षण मात्र से वह अपने को अधिकारों का निर्माता नहीं कह सकता। राज्य के अमान्य कर देने पर भी अधिकार रहेंगे और उनकी प्राप्ति के लिये लोग संघर्ष करेंगे। अधिकारों की व्याख्या करते हुए लास्की ने यह कहा कि वे सामजिक जीवन की वे स्थितियां हैं जिनके बिना कोई मनुष्य अपने व्यक्तित्व का श्रेष्ठांश व्यक्त नहीं कर सकता। सारा इतिहास अधिकारों के दर्शन (philosophy of rights) का दृष्टान्त उपस्थित करता है। उन्हें हम इस अर्थ में ऐतिहासिक नहीं कह सकते कि किसी निश्चित अवधि या सीमा के भीतर मनुष्य ने संघर्षों द्वारा इन्हें जीता बल्कि वे ऐतिहासिक इसलिए हैं कि विशेष, समय, समाज, सभ्यता संस्कृति तथा आवश्यकताओं के अनुकूल इनकी मांग की जाती रही और भविष्य में भी होगी। समाज के सदस्य होने के नाते हम अधिकारों का उपभोग कर पाते हैं इसलिये अधिकार समाज में ही प्रच्छन्न रीति से निहित हैं (Our rights are not independent of society, but inherent in it)। परिवर्तन तथा अनुकूलन अधिकारों के साथ हमेशा जुड़ा है। वे स्वाभाविक इस दृष्टिकोण से नहीं हैं कि उनकी कोई निश्चिय सूची बनाई जा सकती है, बल्कि इस दृष्टि से कि वे समय और स्थान की आवयकताओं के अनुकूल है और क्षणिकता से दूर होकर स्थायित्व की ओर लक्ष्य रखते हैं। अधिकारों का अस्तित्व उपयोगिता में है, उपयोगिता कार्यों में है। इसलिए अधिकार कर्तव्यों की सापेक्षता (co-relative of functions) रखते हैं। प्रत्येक समाज में व्यक्ति राज्य के प्रति दो तरह के अधिकार प्राप्त करता है। एक तो संरक्षक-पोषण का अधिकार जिसके अनुसार राज्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करता है। दूसरे, साधनों का अधिकार जिसके द्वारा राज्य का यह धर्म है कि वह व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास के भौतिक तथा अन्य साधन प्रदान करे। इन अधिकारों के साथ ही कर्तव्य-पूर्ति के लिए व्यक्ति को बाध्य करना यह भी राज्य का ही काम माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि अपना विकास करते समय दूसरों के मार्ग में बाधक न बने। साथ ही सामाजिक उन्नति तथा जन समृद्धि में (common stock of human welfare) उसे योगदान देना चाहिये। शासन के दुरुपयोग (abuses of power) के सम्बन्ध में लास्की आशंकित है और किसी तरह भी व्यक्तित्व (individual personality) का विलोप नहीं चाहता जो समाज-व्यवस्था व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं करती वह बालू की नींव पर खड़ी है। उसने प्रारम्भ में व्यक्तिवादी स्वर में यह घोषित किया कि व्यक्ति चाहे तो समाज-

व्यवस्था की योग्यता का प्रचार करे। यहाँ तक कि सशस्त्र क्रान्ति द्वारा उलटने की बात भी वह कहता है। (हालांकि ये विचार सन् १६ ५ के हैं और सन् १६४४ तक सशस्त्र की जगह वैधानिक क्रान्ति की उपयोगिता तथा सार्थकता उसने स्वीकार की—लेखक)। व्यक्ति यह भी माँग कर सकता है कि उसके मत से विरोधी विचार दबाये जावें और ऐसा राज्य के संरक्षण में करना या कर पाना स्वतः एक अधिकार है जो स्वतन्त्रता का मूल है। इन्हीं विचारों में आगे चलकर वह क्रान्ति का अधिकार भी स्वीकार करता है। क्रान्ति व्यक्तित्व तथा समाज की प्रगति में आवश्यक कदम है। क्योंकि इसके द्वारा सारे व्याघात दूर किये जाते हैं। किन्तु क्रान्ति द्वारा नई समाज-व्यवस्था (new social order) की स्थापना जरूरी है जो पुरानी तोड़ने के बाद बनती है। राजनीतिक-आर्थिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या करते हुए लास्की ने यह दृढ़ मत व्यक्त किया कि आर्थिक नियन्त्रण तथा आर्थिक जनतन्त्र के अभाव में राजनीतिक आजादी व्यर्थ है। (No political democracy can be real that is not as well reflection of an economic democracy-Authorityin modernstate) अधिकारों के स्वस्थ्य वातावरण में ही मनुष्य की सर्जनात्मक शक्तियों का अभ्युदय होता है और चारित्रिक विशेषताएं अक्षत रहती हैं। किन्तु अधिकारों के जोश में व्यक्ति को यह नहीं भूलना चाहिये कि वह किसी सामाजिक समीकरण का बीज है अन्यथा उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है। (I must recognise the civic equalism of which I am part or forfiet my citizenship-Laski Grammar of politics, page 65) कानून, संस्था, राज्य ये सब अधिकारों की पहिली शर्तें हैं उनका काम है अधिकारों को पूर्ति देना (Rights are not the creatures of law but its condition precedent) जीवन, सुरक्षा, सम्पत्ति, वेतन, परिश्रम, सेवा, शिक्षा, उत्पादन, वितरण, न्याय-प्राप्ति आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विकास जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति, प्रतिनिधित्व करने का अधिकार सामाजिक राजनीतिक समता-स्वतन्त्रता का अधिकार आदि सब व्यक्ति-समाज के लिये अदेय अधिकार (inalienable) हैं। इनकी पूर्ति के लिए वह विकेन्द्रीकरण तथा प्रशासकीय आत्म-निर्णय (adminstrative self determination) का सुझाव देता है। समझौता (compromise) एक ऐसा सूत्र है जो सबका हल निकाल सकता है।

स्वतन्त्रता का उल्लेख करते हुये लास्की ने यह बताया कि अधिकारों के बिना स्वतन्त्रता सम्भव नहीं क्योंकि मनुष्य व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से असम्बद्ध रहता है (Without rights there cannot be liberty, because withoues rights men are subjects of law unrelated to the needs of personality)। स्वतन्त्रता केवल प्रतिबन्ध का अभाव नहीं है बल्कि उस स्वास्थ्यकर सक्षम वातावरण की सक्रिय स्थापना है जिसकी छत्रछाया में उच्चम मानवीय विकास सम्भव है। आत्म-हत्या करने से रोका जाना स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं है क्योंकि आत्म हत्या स्वतन्त्रता का भीषण दुरुपयोग है। उसी तरह यदि कानून यह कहे कि अपने बच्चों को समुचित शिक्षा देनी चाहिये तो यह भी कोई आघात नहीं है। ऐतिहासिक अनुभवों ने सुविधापूर्ण, सुखद तथा समुचित जीवनयापन का मार्ग बताया है और उन नियमों को मानने से स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता। किन्तु स्वतन्त्रता केवल नियम या आदेशपालन ही नहीं है। स्वतन्त्रता सुशिक्षित अन्तःकरण की निर्मल प्रवृत्तियों पर आधारित इच्छाओं के प्रोत्साहन का नाम है। सामाजिक नियन्त्रण (social control) आवश्यक हैं क्योंकि उससे स्वतन्त्रता की सुरक्षा रहती है। यदि आध्यात्मिक जीवन अथवा बौद्धिक विकास पर प्रतिबन्ध लगाया जावे तो वह नियंत्रण अहितकर अनुचित है। नियन्त्रण से यदि समाज का लाभ होता है तो वह स्वागत योग्य है। स्वतंत्रता का पतन तब होता है जब व्यक्तियों में उपक्रम (initiative) तथा साहस का लोप होने लगे। सक्रिय मस्तिष्क (active minds) स्वतन्त्रता का प्रहरी है। स्वतन्त्रता की कसौटी अवसरों के प्रसङ्ग में (in context of opportunity) होती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता शामिल है। राजनीतिक स्वतन्त्रता में राज्य कार्यों में भाग लेना, प्रतिनिधि होना या चुनाव, निष्पक्ष समाचार तथा विचार प्राप्त करना, राज्य की आलोचना करना आदि प्रमुख हैं। लास्की ने दो बातों पर जोर दिया है। एक तो उपयोगी शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार की बात होनी चाहिये। निर्धनों की मूक वेदना तथा शब्द-हीनता (dumb inarticulateness of the poor) के कारण स्वतन्त्रता मृगतृष्णा की तरह असंख्य लोगों के लिये है। दूसरी महत्वपूर्ण बात इस प्राव धान पर अवलम्बित है जिससे निर्भीक, स्पष्ट तथा ईमानदार विचार हमेशा मिलते रहें। आर्थिक स्वन्त्रता का अभिप्राय हैं उद्योगों में पूर्ण जनतंत्र। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन प्रणाली में एक तरह का स्वशासन (He meant

by economic democracy self-government in industry) अर्थात् काम, उत्पादन, समय, वेतना, अवस्था, अवसर, सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में श्रमिकों उत्पादकों की बात माननी चाहिये। लास्की सामाजिक स्वतन्त्रता का महत्व स्वीकार करते हुये व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को गौण या सीमित रखना चाहता है। चूंकि स्वतन्त्रता समाज में ही सम्भव है और सामान्य व्यक्ति राबिन्सन क्रूसो या सेन्ट सीमियन नहीं है इसलिये समाज को मान्यता देना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में वे सभी बातें आ जाती हैं जिन्हें आजकल संविधानों में मौलिक अधिकारों के रूप में सूचीबद्ध किया जाता है और जिन पर आक्रमण होने पर संवैधानिक उपचार (legal and constitutional remedies) भी तुरन्त उपलब्ध होते हैं। न्याय-प्रणाली का सर्वसुलभ, सस्ती तथा सुविधा-जनक होना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न होने पर स्वतन्त्रता का ह्रास होता है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है नागरिकों का शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग ले सकने का उन्मुक्त अधिकार। इस प्रसङ्ग में नागरिकता की व्याख्या लास्की ने की है। व्यक्ति के विवेकजन्य निर्णयों का सामान्य जनहित में प्रयोग ही सच्ची नागरिकता है। शिक्षा प्राप्त करने का हक प्रत्येक नागरिक को है। आर्थिक स्वतन्त्रता तो जैसे राष्ट्रीय जीवन का प्राण ही है। सुविधा-प्राप्त वर्ग अथवा न्यस्त-स्वार्थ (Privileged class or vested interest) राष्ट्र के व्यापक हित में घातक हैं, वे पूंजीवाद, पुरापंथाय तथा यथा स्थिति (Status quo) के अनन्य समर्थ हैं। वर्तमान सभ्यता के अनिवार्य अभिशाप के रूप में बेकारी, दरिद्रता, अपराधी मनोवृत्ति, संकीर्ण गंदी बस्ती (Slums), सामाजिक तथा संवेगात्मक तनाव (Social and emotionaltensons), धूल-बीमारी-पतन (dirt disease, degeneration) घृणित आवास तथा वेश्यालय (hovels and brothels) आदि चारों ओर व्याप्त हैं। दूर करने तथा स्वस्थ वातावरण बनाने में व्यक्ति तथा राष्ट्र की सामूहिक बुद्धि लगानी चाहिये। औद्योगिक नीति-निर्धारण में भी जनतांत्रिक रूप से अपना मत प्रकट करने की आज़ादी वाञ्छनीय है।

समानता के बिना स्वतन्त्रता एकाङ्गी तथा अधूरी है। अवसरों की समानता वास्तव में मानवीय विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। समानता का अर्थ व्यक्ति विशेष को खास रियायतया सुविधाएं देना नहीं है। सुविधायें

समान रूप वितरित होनी चाहिये। विधिमूलक शासन (Rule of law) इस क्षेत्र में अनुकरणीय है। व्यक्ति की गरिमा तथा सामाजिक उपयोगिता में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। सामाजिक अर्थ-व्यवस्था इस भांति नियोजित होनी चाहिये जिससे कुछ लोगों को अधिकार देने के पहले सबको पर्याप्त मिलना चाहिये। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक समानता का निर्बाध व्यापार होने पर ही जनतन्त्र सफल हो सकता है। समानता का अर्थ निरपेक्षत समान-स्वार्थ (identity of interest) नहीं है, वह तो विचारों का सुनियोजन (coherenceo of ideas) है विशेष सुविधा निषेध करते हुये लास्की आनुवंशिक उच्च सदन या लार्ड-सभा (Hereditary second chamber) की तीव्र आलोचना करता है और उसकी तत्काल समाप्ति की सिफ़ारिश करता है। समानता मूलतः अनुपात की समस्या (problem in proportions) है। समानता और स्वतन्त्रता का व्यावहारिक प्रयोग होने पर ही विश्व-सहयोग सम्भव है। एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह कि धर्म-निरपेक्षता (Secularism) का समर्थन करते हुये लास्की राज्य-चर्च या धर्म (State church) का विरोधी है। उसके अनुसार राज्य-धर्म किसी न किसी प्रकार विशेष सुविधा प्राप्त कर ही लेगा और लोगों को अपने धार्मिक उसूल, अकीदे या विश्वास की सही आजादी न मिल पायेगी। आज की दुनिया में तो नास्तिक बनाने-बनने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

प्रजातन्त्र और राष्ट्रीयता:

लास्की ने प्रजातन्त्रात्मक शासन का न केवल समर्थन ही किया अपितु उसे मानवता के लिये आदर्श-तन्त्र भी माना है। वास्तविक प्रजातन्त्र में ही व्यक्तित्व का सामग्र विकास संभव है। संसदात्मक प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy), लास्की के मतानुसार, समाज की सामूहिक बुद्धि का व्यवस्थित विकास है जिसमें जनता की जागृति और शासन के परिवर्तन-विकल्प एक दूसरे पूरक (complimentary) हैं। लेकिन प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु पूंजीवाद है क्योंकि शक्ल तो जनतन्त्र की अख्तयार करता है लेकिन उसकी आत्मा निकृष्टतम अधिनायकत्व की सूचक है, पूंजीवाद प्रजातन्त्र (copitalist Democracy), जो मार्क्सवादी परिभाषा में उच्चवर्गीय प्रजातन्त्र का पर्याय है, वास्तव में एक खतरनाक सांप या द्विजिह्व (boa constrictor) है जिसमें व्यक्ति स्वातन्त्रता की हत्या होती है और निरन्तर अभाव, अवसाद, विनाश का ताण्डव

नृत्य होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में प्रजातन्त्र की अवहेलना ही होती है। अपने एक वक्तव्य में लास्की ने कहा कि पूंजीवादी संकोचन के समय प्रजातन्त्र पर भीपण संकट तव आता है जब सम्पत्तिशाली वर्ग अपने न्यस्त स्वार्थों और अधिकारों के लिये लड़ने पर (और इस तरह प्रतिक्रान्ति (counter revolution) के लिये तैयार होते हैं) आमादा हो जाते हैं।* प्रजातन्त्र से उसका आशय यह है कि समाज के प्रत्येक सदस्य सुख प्राप्ति में समान रूप से हकदार हैं (Democracy regards its members equally entitled to happiness) अर्थात् विपमता की मात्रा समाज में अधिक न हो। वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली की गम्भीर त्रुटियों का उल्लेख करते हुए उसने इस वात को प्रजातन्त्र के विरुद्ध ठहराया कि प्रति पांच वर्ष में एक वार पेटियों (ballot-box) के पास जाकर अपने कर्तव्य की इति-श्री समझना प्रजातन्त्र की रक्षा है। इसका आशय यह कि सरकार पांच साल में केवल एक दिन उत्तरदायित्व या मर्यादा का अनुभव करती है और—शेप दिनों मनमानी करती है। घोपणा-पत्र (manifesto), कार्यक्रम, (programme) निर्वाचन-आधार (platform), चुनावों के समय के वायदे ये सव व्यावहारिक दृष्टि में निरर्थक सिद्ध होते हैं क्योंकि सरकार या सत्ताधारी दल इनका उपयोग अपने क्षणिक लाभ के लिये करते हैं। आदर्श प्रजातंत्र वह है जिसमें समाज के निश्चित मतों को कार्यरूप दिया जावे और जनता की राय महत्त्वपूर्णप्रश्नों के फैसले के लिये अवश्य ली जावे। ऐसा प्रजातंत्र पूंजीवाद नहीं वल्कि समाजवाद की आधारशिला पर निर्मित होगा, प्रतिक्रियावादी पूंजीवाद की जगह पुरोगामी प्रजातन्त्र मानवता के लिये वरदान सिद्ध होगा। लास्की ने "प्रजातन्त्र पर संकट" (Crisis in Democracy) नामक ग्रंथ में प्रतिनिधि-मूलक शासन की संस्थाओं पर यह आरोप लगाया कि ये नवीन आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न करने में असमर्थ हैं।† जनता यह समझने में

*The crisis in democracy is due to the fact that in the present phase of capitalist contraction its alliance with democracy is dangerous to the owners of proptrey, who, as in the part, prefer to fight for their privileges than give way. (Laski on Crisis in the theory of the state)

†Laski attacked the institutions of representative govt. as incapable of leading peacafully to a new economic order.

(Morroe Berger)

अयोग्य है कि राज्य का नियंत्रण-मात्र पर्याप्त नहीं है। इंग्लैंड में १९२४ और १९२९ की मजदूर दलीय सरकारों का उदाहरण देते हुए उसने कहा कि केवल औपचारिक राज्याधिकार (formal political power) अनुपयुक्त है और वास्तविकता आर्थिक नियमन में है। लेकिन उसने यह भी स्वीकार किया कि ब्रिटेन या संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में जहाँ स्वशासन और स्वतन्त्रता की शानदार परम्परा है, सत्ता पर अधिकार विप्लव या हिंसात्मक कारवाईयों से सम्भव नहीं है। प्रतिनिधि-मूलक शासन की आलोचना में लास्की ने यह लिखा कि उसका स्वरूप और संगठन नई व्यवस्था के लिये सहायक नहीं है। इसलिये निर्वाचन द्वारा सत्तारूढ़ समाजवादी सरकार को इस शासन का ढाँचा आमूल बदलना होगा, प्रभावशाली बनाना होगा, अधिक अधिकार ग्रहण करना होगा। उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन करनेवालों को राज्य की सत्ता हथियानी पड़ेगी क्योंकि राज्य की विशिष्ठ दमनात्मक शक्ति से ही वर्ग-सम्बन्ध दुरुस्त किये जाते हैं। साथ ही उसका यह भी कहना है कि वर्तमान इतिहास में क्रान्ति के बिना किसी राज्य ने अपने वर्ग स्वरूप में परिवर्तन नहीं किया है। रह-रहकर लास्की क्रान्ति के मोहक नारों में उलझता जाता है क्योंकि वह क्रान्ति की अनिवार्यता को समाजिक परिवर्तन की धात्री समझता है। लेकिन क्रान्ति का प्रयोग सर्वत्र सम्भव नहीं। जर्मनी में क्रान्ति पूर्ण असफल रही और समाजवाद के नारों के बावजूद वहाँ फासिस्ट शक्तियों का उदय हो गया। इसलिये वह मजदूरों और मध्यमवर्गीय जनता को यह सुझाव देता है कि प्रजातान्त्रिक उपायों की हर सम्भव प्रयत्न से रक्षा हो और उनका प्रयोग हो, क्रान्ति की यह प्रक्रिया विकासवादी दृष्टिकोण से प्रेरित है। प्रजातान्त्रिक उपायों का यदि विधिपूर्वक पालन किया जावे तो हिंसात्मक उपद्रव, केन्द्रीकरण, समष्टिवाद सब बेकार हैं। उसके प्रजातन्त्र का ध्रुव व्यक्ति है इसलिये व्यक्ति की नैतिकता, भौतिकता, आध्यात्मिकता के उपायों का वह प्रशंसक है। मार्क्सवादी होने के बावजूद लास्की, लॉक और मिल में प्रभावों से बरी नहीं है। पूँजीवादी जनतंत्र की असंगति स्पष्ट करते हुए उसने बताया कि उसका निवारण पूँजीवाद की समाप्ति या जनतंत्र के दमन से ही होता है। चूँकि पूँजीवादी थोड़ा-सा बहाना पाकर जनतंत्र समाप्त करना आसान समझते हैं, इसलिये मजदूरों को वैधानिक उपायों से ही अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिये। जनतंत्र के साथ जनवादी संस्कृति और सभ्यता का वह महान् समर्थक है। वह सभ्यता अभिशाप है जिसमें विश्वास या श्रद्धा का अभाव हो। अपने युग की आलोचना करते हुए उसने लिखा कि चारों ओर घोर

नैराश्य है। सामाजिक मूल्यों की व्यवस्था समाप्त हो गई है। निश्चिन्तता के बदले संशय और आशा की जगह निराशा है। जनवादी मूल्यों का स्पष्टीकरण उसने 'विश्वास, बुद्धि, सभ्यता' नामक ग्रन्थ में किया।

विश्व-एकता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में लास्की के विचार स्पष्ट, सुदृढ़ तथा आत्म-विश्वास से युक्त हैं। समस्त विश्व का एक ही धर्म मानवता है और उसकी रक्षा करना प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है। जिस दिन पूरे संसार में एकता स्थापित होगी और 'एक विश्व' (One world) का स्वप्न व्यावहारिक रूप में साकार होगा उस दिन मानवता के नये मूल्यों की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। संसार के राज्यों में क्षेत्रीय तथा आर्थिक विषमता के कारण इस एकता में बाधा उत्पन्न होती है और राज्य की संप्रभुता अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल सिद्ध होती है। 'राष्ट्रीयता और सभ्यता' शीर्षक निबन्ध में उसने राष्ट्रीय चेतना का सामञ्जस्य विश्व-सहयोग तथा व्यापक शिक्षा के साथ करने की सलाह दी है। राज्य की संप्रभुता की सीमाएँ उसने अपने बहुलवादी विचारों में समझा दी थी फिर भी, उसके अनुसार राज्यों का उत्तरदायित्व बढ़ गया है और वे पहिले की तरह स्वेच्छाचारी न होकर कल्याणकारी रूप की ओर बढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं। आज की दुनियाँ में इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि एक देश के कार्यों का दूसरों पर गंभीर असर पड़ता है। विश्व-संगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव की वृद्धि के लिये उसका मत था कि साम्राज्य-वाद की धारणा नहीं, बल्कि संघवाद की धारणा को मजबूत बनाना चाहिये (not the concepts of imperialism but the concepts of federalism) संयुक्तराष्ट्र सङ्गठन विश्व के लिये नई आशा है लेकिन उसे रचनात्मक कार्यों के द्वारा संसार के पिछड़े हुए देशों की समृद्धि बढ़ानी चाहिये। इसके लिये लास्की ने कुछ सार्वभौम कार्यों का अन्वेषण (discovery of universal functions) किया। इनमें से प्रमुख यातायात, क्षेत्रीय सीमा, राष्ट्रीय व जातीय अल्पसंख्यकों का हित, सार्वजनिक स्वास्थ्य, उद्योग तथा व्यव-साय, निष्क्रमण, आवास-पुनर्स्थापना, युद्ध-समाप्ति, शान्तिमय वातावरण का निर्माण आदि हैं। कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर इस सङ्गठन ने कमजोरियाँ दिखाई हैं जिनसे विश्व-शान्ति भङ्ग होने का डर है। सङ्गठन की विशिष्ट समितियों (specialised agencies) द्वारा वह संसार की वास्तविक सेवा की आशा रखता है। शान्ति-प्रचारक तथा युद्ध-विरोधी विचार के रूप में उसका उल्लेख सर्वत्र किया गया है। स्वशासन तथा स्वतन्त्रता की धारणा में एक विरोधाभास

बतलाते हुए उसने कहा कि अपना शासन करते समय दूसरे लोगों के साथ भ्रातृत्व तथा सौहार्द्र (fellowship among men) के नियम बनाना पड़ता है; क्योंकि बिना भ्रातृत्व के स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। निश्चित योजना के आराध पर नई दुनियाँ बनाना या विनाश की तैयारी करना ये दो विकल्प संसार के सामने हैं।* यह स्थिति भयावह है क्योंकि लोगों के पैर गड्ढे में लटक रहे हैं। इसलिए मानवता की मुक्ति के लिए विश्व-शान्ति की समस्या स्थायी रूप से सुलझानी चाहिये।

मार्क्सवादी पृष्ठभूमि और स्वतन्त्र चिन्तन :

मार्क्स के सिद्धांतों को वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रहण करनेवालों में लास्की का नाम प्रमुख है। १९१७ की अक्टूबर क्रान्ति के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में तरह-तरह की धारणायें थीं। रूस के आन्तरिक घटनाचक्र का सूक्ष्म तथा संतुलित अध्ययन आकर्षण का केन्द्र था। वेब दम्पत्ति ने रूसी प्रयोगों को नई सभ्यता (new civilisation) के रूप में देखा और यह आशा व्यक्त की कि समाजवादी आधार की अर्थ-रचना पूर्णरूप से सफल होगी। लास्की ने वेब की परम्परा के अनुरूप रूसी क्रान्ति को देखा किन्तु उसका दृष्टिकोण अधिक संतुलित और समीक्षात्मक है। जहाँ तक रूस की साम्यवादी क्रान्ति और समाज-व्यवस्था का प्रश्न है लास्की उन्हें मान्यता देता है और उपयोगी समझता है लेकिन साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय रूप अथवा आक्रमक-विस्तारक (expansionist) स्वरूप का वह घोर आलोचक है। बोल्शेविक शासन के पक्षविपक्ष की उसने विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। मार्क्सवादी वह वहीं तक है जहाँ तक समाज की अर्थ व्यवस्था बदल कर जनवादी तंत्र लाने का प्रश्न है। अर्थात मार्क्सवादी प्रक्रिया-विज्ञान (methodology) को वह बौद्धिक रूप में ग्रहण करता है, ऐतिहासिक व्याख्या, आर्थिक विश्लेषण अतिरिक्त अर्घ (surplus value), वर्ग-संघर्ष आदि सिद्धान्तों के प्रति उसकी मानसिक रुझान है। लेकिन वह मार्क्सवाद को रूढ़ या कट्टर (orthodox) अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहता। देश-काल की उपेक्षा करके, साध्य-साधन का विभेद-विभेद पैदा करके मार्क्सवाद असफल ही होता है इसलिए, लास्की के अनुसार सच्चा मार्क्सवादी जनतांत्रिक समाजवाद का सुस्थिर रूप ही ग्रहण करेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि लास्की प्रथमतः किसी दल विशेष की तानाशाही

---

*Either we have to make a world by deliberate plan, or we court disaster. It is a grim alternative.
—H. J. Laski)

(जैसे कम्युनिस्टों की रूस में है) का घोर विरोधी है, तानाशाही चाहे जिस स्वरूप में हो, मानवता, सभ्यता, संस्कृति के लिए अभिशाप है। दूसरे, उसने नौकरशाही (bureaucracy) की कटुतम आलोचना की है, जो अपनी शक्ति बनाये रखने के लिये सरकार को पंगु, जनता को असहाय और परिवर्तन को अवरुद्ध बनाये रखती है। दुर्भाग्य से रूसी क्रान्ति नौकरशाही-मंडित समष्टिवाद (bureaucratic collectivism) का शिकार हो गई जिससे क्रान्ति के आदर्शों पर पानी फिर गया। लास्की के अनुसार साम्यवादी आतंक का निराकरण प्रजातांत्रिक विकास से ही सम्भव है। इन सबके बावजूद लास्की के मन में हमेशा रूसी प्रयोगों के प्रति सद्भावना रही है। रूसी क्रान्ति के पक्ष में लास्की ने मौलिक तर्क उपस्थित किये और यह कहा कि इस क्रान्ति ने जनता और नेतृत्व के बीच नई प्रतिभा का स्रोत जारी किया। इसने जनवादी शिक्षा का व्यापक प्रचार किया, महिलाओं का उद्धार किया, जातियों और वर्गों की मूलभूत समस्या का स्थायी हल प्रस्तुत किया। स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा कामगारों की सुरक्षा का यह प्रधान साधन था। उत्पादन के लिये योजना की आवश्यकता बतलाते हुए इस क्रान्ति ने समाज के आर्थिक, राजनीतिक ढाँचे में अप्रत्याशित परिवर्तन किये। विज्ञान की नई खोजों और अध्ययन की नई दिशाओं को प्रकाश में लाने के लिये इसका अनुदान अद्वितीय रहा। औद्योगिक प्रगति में आशातीत सफलता इसने प्राप्त की। न्याय तथा सुधार के लिये नई व्यवस्था को इसने जन्म दिया। सारांश में, इस जनप्रिय व्यवस्था ने सदियों की पिछड़ी हुई जनता को प्रेरणा, नई सूझ और शक्ति प्रदान की। लेकिन इससे यह अनुमान लगाना गलत होगा कि लास्की केवल कम्युनिस्ट व्यवस्था का समर्थक है। उसने रूसी क्रान्ति तथा व्यवस्था के उन तथ्यों की आलोचना की है जिनसे प्रतिक्रियावाद को समर्थन मिलता है और अशान्ति का वातावरण तैयार होता है। मुख्य-मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं।

संक्रमण काल में सर्वहारा के अधिनायकत्व का स्थान अनिश्चित दीर्घ अवधि के लिये कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही ने ले लिया है। बोल्शेविक दल ने औद्योगीकरण तथा विस्तार लिये अजनतान्त्रिक तरीकों का सहारा लिया और क्रान्ति बहुत मँहगी सिद्ध हुई। कुनामों का परित्याग करके दल ने जबरन सत्ता पर अपनी जड़ें जमाईं (entrenched itself to power)। स्टालिन और उनके समर्थकों ने (स्टालिनवादियों ने) आलोचकों और विरो-

धियों का उन्मूलन करके अपने आपको ईश्वरतुल्य घोषित कर लिया है। कला और साहित्य के उपासकों को सीमित मात्रा में स्वतन्त्रता है। विचारों का स्थिरीकरण (regimentation) कर किया गया है। १९२७ के बाद से स्टालिनवादियों ने शासन पर आधिपत्य जमाते हुए न्यस्त स्वार्थों के साथ गठबन्धन कर लिये। १९३६ के संविधान के बावजूद जनतन्त्र और स्वतन्त्रता की विचारधारा लुप्तप्राय है, निर्वाचनों में ऊपरी आडम्बर-मात्र है। खुफिया पुलिस और जासूसों (N. K. V. D. अथवा पुरानी Cheka तथा O. G. P. U.) का जाल बिछा हुआ है। बेगार लेने की प्रथा जारी है और निर्वासितों को एकत्र करके जबरदस्ती काम कराने (Concentration camps and labour camps) का संगठित प्रयास वहाँ होता रहता है। इन सबके अलावे १९३९ में नाजी जर्मन के साथ सन्धि करके रूस के अधिनायक स्टालिन ने रूस के बाहर की श्रमजीवी जनता की पीठ में छूरा भोंक दिया। इस प्रकार रूसी प्रयोगों को आँख मूँदकर स्वीकार करनेवालों में वह नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह भी उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी तो अवश्य है कुछ हद तक लेकिन लेनिन के तरीकों (tactics) से उसका मतभेद है। रूस की विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में लेनिन की क्रान्ति अवश्य सफल हुई है लेकिन सर्वत्र उसका प्रयोग वर्जित है। देश की वास्तविक स्थिति की पर्यालोचना किये बिना क्रान्ति की बातें करना, गुरिल्ला युद्ध करना, गृहयुद्ध पैदा करना, घृणा और विद्वेष की सृष्टि करना एक तरह का बच्चों का वामपक्षीय विकार (infantile leftism or disorder) है जिससे बचना चाहिये।

लास्की ने रूस को छोड़कर अन्यत्र कम्युनिस्टों की कटुतम आलोचना की है। "बाहरी कम्युनिस्टों ने, जो कामिन्टर्न (Comintern) तथा बाद में कामिन्फार्म (Cominform) की नीतियों से प्रभावित थे, रूस की रक्षा को समाजवाद की रक्षा माना।"

इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह था कि दूसरे कम्युनिस्ट क्रेमलिन* (Kremlin) के इशारों पर चलते और हमेशा अपनी नीतियों में परि-

*१ कामिन्टर्न—तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन जो १९४५ तक चला और विश्व की साम्यवादी शक्तियों का नियन्त्रण करता रहा। २—कामिन्फार्म तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय भंग होने के बाद साम्यवादी देशों में सम्पर्क बनाये रखने के लिये बुखारेस्ट में साम्यवादी सूचना विभाग की स्थापना हुई। ३—क्रेमलिन रूसी शासन का मास्को स्थित सदर मुकाम या प्रधान सचिवालय।

वर्तन (Shifts and changes) करते रहते। लास्की ने इस प्रणाली का भंडाफोड़ किया और दुनिया को इस खतरे से आगाह किया। इसके अलावे कम्युनिस्टों द्वारा समर्थित संयुक्त मोर्चे की योजना का (tactics of united front) का भी पर्दाफाश उसने किया। उसके अनुसार संयुक्त मोर्चे का आयोजन कम्युनिस्ट केवल इस उद्देश्य से करते हैं कि दूसरे दलों में प्रवेश (infiltrate into) करके उस पर कब्जा कर लें और अन्य नेताओं को तिरस्कृत करके उनकी जगह खुद ले लें। इसकी तुलना भारतीय उदाहरण के अनुसार धृतराष्ट्र के आलिंगन से की जाती है। लेकिन हमेशा कम्युनिस्टों का विरोध करते रहना उसका मन्तव्य नहीं है, क्योंकि रूस पर नाजी जर्मनी का आक्रमण होने पर उसने कम्युनिस्टों का प्रचण्ड समर्थन किया। उसने यह लिखा कि जो कल तक निर्वासित था वही हमारा आज सहयोगी है। यह सब होने पर भी उसने ब्रिटेन के कम्युनिस्टों द्वारा लेबर पार्टी से सम्बन्धित होने के प्रार्थना-पत्र को ठुकरा दिया। इस तरह लास्की ने कभी भी अपने आप को किसी खास बन्धन में नहीं रखा और हमेशा स्वतन्त्र वस्तुवादी चिन्तन पर जोर देता रहा।

स्फुट विचार :

लास्की के विचारों पर यूरोप और अमेरिका के दर्शन की छाप स्पष्ट है। यूरोप का समाजवाद, अमेरिका का व्यवहारवाद, इंग्लैण्ड का उदारवाद और इनके साथ यहूदी ही नहीं पूरी पीड़ित मानवता का आर्तनाद लेकर लास्की अपने विचारों का समन्वय, संशय और आतंक के युग में साहसपूर्वक करता है। अमेरिका में रहते समय उसने अपने अनुभव पर प्रकाश डाला है जिससे उसके जीवन के संकल्प प्रकट होते हैं ('I believe' शीर्षक निबन्धों में लास्की के विचार दिये गये हैं—प्रकाशक Allen and Unwin London)। सबसे पहले उसने यह निश्चय किया कि उसे शिक्षक रहना है और जीवन भर शिक्षक का व्यवसाय ही करना है। दूसरी बात अत्यधिक महत्वपूर्ण है और वह यह कि राजनीति विज्ञान पढ़ने-पढ़ाने के लिये केवल पुस्तकें पढ़ना जरूरी नहीं है बल्कि वास्तविक क्षेत्र में राजनीतिक कार्य करते हुए अनुभव प्राप्त करना चाहिये, जिससे शिक्षक के व्याख्यानों में सिद्धान्त और प्रयोग का उचित समन्वय हो। तीसरी बात उसने यह सीखी कि अमेरिका के विश्वविद्यालय वहाँ की सामाजिक परिस्थिति से जुड़े हैं जहाँ किसी व्यक्ति को बोलने की स्वतन्त्रता तो है, लेकिन व्यवस्था के मूलभूत आधारों पर शंका करने

का अधिकार नहीं है (इस अनुभव के पीछे बोस्टन पुलिस-हड़ताल की घटना है !) । लास्की का शिक्षक-जीवन सिद्धान्त और व्यवहार पर आधारित था क्योंकि वह सदैव समाज सेवा तथा प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्यों में लगा रहता था । अपने संस्मरणात्मक निबन्ध ('I believe' शीर्षक ग्रन्थ में) उसने यह लिखा कि 'मैंने कभी भी निष्पक्ष शिक्षक (inpartial keacher) होने का दावा नहीं किया । क्योंकि मेरे विचार से निष्पक्षता एक असम्भाव्य आदर्श है (impartialiy is an impossible ideal) । निष्पक्षता का मतलब या तो यह कि शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण क्षयीकरण (Complete erosion of teacher's personality); या अपने विचारों का दमन । इसलिये मैंने हमेशा यह किया कि अपने छात्रों के सामने सत्य को उस रूप में रखा जिसमें मैंने देखा और हर तरह से अपनी कठिनाइयों का पूरा विवरण दे दिया । मैंने कभी भी जान बूझकर दूसरों का मत परिवर्तन कराने का प्रयास नहीं किया (I have never consciously sought to proselytise) । मुझे इसकी चिन्ता कभी नहीं रही कि विद्यार्थियों ने मेरे विचारों को माना या नहीं । मेरा काम इतना ही था कि समस्या की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना और निष्कर्ष निकालने का एक व्यक्ति का साधारण मार्ग बताना । मैंने अपनी बौद्धिक ईमानदारी के साथ इस बात को पूर्ण असंगत और अनुपयुक्त माना है कि सभा भवन या व्याख्यान कक्ष में एक बात करें और बाहर बिलकुल दूसरी (I have never thought it consistent with honesty to be one person in the lecture room and anotner person outside it—'I pelieve'—page 1737) ।

धार्मिक मामलों में लास्की कट्टरता का विरोधी था और उदारवादी परम्परा के अनुरूप सहिष्णुता तथा सर्वधर्म-समभाव का समर्थक था । राज्य द्वारा स्थापित धर्म या चर्च के वह विरुद्ध था क्योंकि उनका सामाजिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता । धर्म-परायण यहूदी परिवार में पैदा होने पर भी वह किसी भी रूढ़ि या प्रथा (dogma or ritual) को निरर्थक समझता था । परम्परा के विरोध में अपना विवाह उसने किया, असहोगी (non-conformist) के रूप में ही उसका जीवन बीता, समाजवाद की ओर उसका झुकाव सबसे पहले केर हार्डी (Keire Hardie) के व्याख्यान से हुआ जिसमें उसने स्काटलैण्ड के श्रमिकों के संघ बनाने के लिये होने वाले संघर्ष पर प्रकाश डाला था । श्रमिक संघों (trade unions) को लास्की

मानवता के कल्याण का मुख्यतम साधन समझता था। उसके समर्थकों और मित्रों का बहुत बड़ा समुदाय प्रत्येक देश में था क्योंकि योग्य शिक्षक के नाते उसका प्रभाव अमर है। 'जब मैं अतीत पर दृष्टिपात करता हूँ तब मुझे याद आता है कि मुझे न धन चाहिये न सत्ता; केवल मित्रवर्ग के रूप में महान् वरदान चाहिये। मेरे मित्र भी असंख्य रहे हैं। उन्होंने मुझमें भ्रातृत्व जागृत किया और वह सुख मुझे दिया जिसे विषाद या वेदना की ताकत नहीं हटा सकती।' ('I believe',—page 178)। इन शब्दों में लास्की की महानता और निःस्पृहता व्यक्त होती है। लास्की का जीवन लेखन, अध्यापन तथा जनसेवा का अपूर्व सम्मिश्रण है। उसका स्थान राजनीतिक विचारकों, शिक्षकों तथा वक्ताओं में अमर है। राजनीति के दूसरे व्यावहारिक पक्षों पर उसने विचार व्यक्त किये। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का उसने समय-समय पर बड़ा समर्थन किया। राजनीति में वर्तमान युग में बहुमुखी प्रतिभा वाला विचारक (myriad-minded genius) लास्की ही है। सहमति पर आधारित क्रान्ति (revolution by consent) का वह प्रवर्तक है।

समीक्षा :

लास्की ने राजनीति पर इतना अधिक लिखा है कि इस युग में उसकी टक्कर के लेखक बहुत कम हुए या हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वह एक दृढ़ विश्वास का प्रचारक है लेकिन तर्क की तराजू साथ लिये रहता है। बीसवीं सदी को हम राजनीतिक खिचड़ी का युग कह सकते हैं क्योंकि इसमें तरह-तरह की विचारधाराएँ इकट्ठी होती गई हैं। इस युग में अतीत के खण्डहर, निर्माण के नक्शे, भविष्य के स्वप्न, जीवन के अवसाद-विषाद, नवयुग का उत्साह सब कुछ प्रतिध्वनित होते हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ ही संशय और द्विविधा में अभिवृद्धि होना इस युग की विशेषता है। विचार-धाराओं के संघर्ष में कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कभी भी न मिलने वाले गुटों या दलों (irreconcilables) के कारण विनाश अवश्यम्भावी है। लेकिन साथ ही आशा की क्षीण रेखा भी दिखाई दे जाती है। सार्वभौम सत्य का आभास एक न एक समय होता ही है। इसलिये सभी विचारधाराओं के सत्यांशों का सम्मिश्रण कर नया सैद्धान्तिक समन्वय (Synthesis) पैदा करना राजनीतिक दार्शनिकों का लक्ष्य होना चाहिये। यह कहना तो कठिन है कि लास्की को इस क्षेत्र में शत-प्रतिशत सफलता मिली। लेकिन उसने अपने विचारों को प्रगतिशील बनाये रखा, यह कम गौरव की बात नहीं है। अनन्तर

यह देखा जाता है कि एक दिशा में तरक्की करने के बावजूद लोग अपनी संकुचित परिधि छोड़ नहीं पाते। लास्की इसका स्पष्ट अपवाद है। लास्की के विचारों का प्रत्येक क्षेत्र में बड़ा स्वागत हुआ, भले ही वह असहयोग या उग्र रहा हो। इसके साथ ही विवाद या टीका-टिप्पणी का भी उसे बहुत सामना करना पड़ा। यत्र-यत्र आलोचना या सार्वजनिक वक्तव्य के कारण लास्की सत्ताधारियों के लिये सरदर्द था। वास्तव में वह उन आभिजात्य बुद्धिजीवियों में से था जो किसी बन्धन में नहीं रह सकते और हमेशा स्वतन्त्र वृत्ति का पालन करते हैं। शिक्षक के रूप में उसका कार्य बड़ा ठोस, प्रेरणाप्रद तथा ज्ञानवर्धक रहा। अध्यापक होकर सक्रिय राजनीति में अभिरुचि ही नहीं प्रत्यक्ष योगदान करना लास्की की मौलिकता और विशेषता है। बहुलवाद, प्रजातन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि की व्याख्या उसने तर्कसम्मत तथा बौद्धिक सूक्ष्मता से की है। इन विषयों पर उसके विचार प्रामाणिक तथा सर्वमान्य हैं। मार्क्सवादी होकर भी वह उसका अन्ध-भक्त नहीं है। पूंजीवाद का घोर आलोचक वह था और उस व्यवस्था को जिसमें लाभ के लिये (profit motive) काम होता है। जनतन्त्र के लिये घातक समझता था। उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य था पूंजीवादी जनतन्त्र को समाजवादी जनतन्त्र में बदल देना। इसके लिये उसने क्रान्ति का भी समर्थन किया है, लेकिन साधारणतः शान्तिपूर्ण वैधानिक मार्गों का ही प्रचार करता है क्योंकि हिंसात्मक उपायों द्वारा हुई प्राप्ति अस्थायी तथा अहितकर ही होती है। बौद्धिक स्वतन्त्रता का वह पक्षपाती है लेकिन समाज की तनावपूर्ण स्थिति के फलस्वरूप इसकी मर्यादा का अध्ययन अपेक्षित है (Limits of academic freedom are set by the social tensions of society) लास्की का व्यक्तिवादी स्वर भी कहीं-कहीं प्रबल हो गया है। उसका व्यक्तित्व विविधता से रंजित था। विद्वान्, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, लेखक, पत्रकार, समाजसेवी, शिक्षक और मित्र के रूप में लास्की ने पर्याप्त ख्याति पाई। उसके व्यक्तित्व में ये सभी पक्ष घुल मिल कर उसकी मौलिकता को पुष्ट करते हैं।

लास्की के आलोचकों ने बहुधा उस पर रूसी प्रचारक (Red baiter) होने का आरोप लगाया। अमेरिका और यूरोप के प्रतिक्रियावादी खेमों में उसके विचार डरावने समझे जाते थे। दूसरी ओर कम्युनिस्ट उसे पथ-भ्रष्ट तथा विभेदक (deviotionist and disruptionist) समझते थे। पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच जनतान्त्रिक समाजवाद की प्रबल विचारधारा प्रचलित करके लास्की ने एक नई दिशा बताई। हालांकि इस सिद्धांत

की पुष्टि में वह कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ न लिख पाया। इतना सब कुछ होने पर भी लास्की के विचारों में संयम का अभाव तथा संतुलन की कमी नजर आती है। प्रत्येक विषय पर कार्य साधकतावाद (pragmatism) की दृष्टि से विचार करना अवसरवादिता का पर्याय है। लास्की ने ब्रिटिश साम्राज्य की उतनी कड़ी टीका नहीं की जितनी उसकी स्वतन्त्र चिन्तनधारा प्रेरित कर सकती थी। व्यर्थ के वादविवाद में पड़कर सस्ती जनप्रियता की ओर उसका झुकाव सहज हो गया था। उसके बहुलवादी सिद्धान्त मौखिक या सैद्धान्तिक रूप में भले ही सही हों, वास्कविकता के विपरीत ही सिद्ध हुए हैं। अपने विचारों का दार्शनिक पक्ष या तार्किक विवेचन न कर पाने के कारण लास्की के ग्रंथों में एक बहुत बड़ा अभाव खटकता रहता है। इंग्लैण्ड और अमेरिका की संवैधानिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का वह प्रशंसक है और अपने ग्रन्थों में उनके आकर्षक तत्वों का विवरण देता है। यह अवश्य कह सकते हैं कि यदि लास्की के विचारों में स्थायित्व और दृढ़ता नहीं है तो उसका कारण आज की बीसवीं सदी है। यह नहीं भुलाया जा सकता कि लास्की जिस समाजवादी जनतन्त्र का प्रचारक है। उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप-रंग बहुत ही विगड़ा हुआ या भद्दा-सा है। ऐसी स्थिति में इस तरह के विचारकों को पूँजीवादी आलोचकगण साम्यवाद के अग्रिम दस्ते (sappers and miners of communism) कहते हैं। लेकिन यह धारणा उसके बौद्धिक विभ्रम तथा दासता की सूचक है। तृतीय शक्ति का सिद्धान्त ही वास्तव में दुनिया में शक्ति-संतुलन बनाये रखने के लिये सर्वोत्तम है। लास्की का अनुदाय इस अर्थ में श्रेष्ठतम है कि उसने आत्म-तुष्टि वाली अकर्मण्य सरकारों को रूसी क्रान्ति के महत्व से अवगत कराया और एक शिक्षक की गम्भीरता के साथ उसका विश्लेषण किया। उसका अपना आग्रह अवश्य है क्योंकि उसने यह स्वीकार किया कि निष्पक्षता उसका गुण नहीं। सारांश में वह रूसी साम्यवाद या साम्यवादी योजना के साथ ब्रिटिश उदारवाद और स्वातन्त्र्य-प्रियता का समन्वय करना चाहता है। फ्रांस में समाजवादी लियो ब्लम (Leon Blum) ने लास्की की तुलना माण्टेस्क्यू और टाकेविल (De Tocqueville) से की और यह कहा कि सत्रहवीं सदी के बाद से यूरोप या अमेरिका में जनतांत्रिक विचार और संस्था का परिचय रखने वाला उससे अधिक गम्भीर, मौलिक विचारक दूसरा नहीं हुआ।

प्रजातांत्रिक समाजवाद (Democratic Socialism):

प्रोफेसर लास्की आजीवन समाजवादी रहे किन्तु उनका 'समाजवाद' पूरी-

पीय वैज्ञानिकवाद, रूसी साम्यवाद, राष्ट्रीयकरण-प्रधान समाजवाद अथवा प्राचीन रूढ़िवादी समाजवाद से भिन्न था। लास्की समाजवाद की बौद्धिक पृष्ठभूमि पर बहुलवादी समाज रचना चाहता है जिसमें प्रत्येक वर्ग, दल, साम्प्रदाय, संगठन अथवा समूह अपनी स्वतन्त्रता एवं सांस्कृतिक विविधता कायम रखते हुए आर्थिक स्थिरता और मानसिक आजादी का पूरा उपयोग करे। इसके उत्कृष्ठ साधन सोवियत या पंचायत न होकर श्रमिक-संघ (ट्रेड यूनियन) ही हैं क्योंकि उनके द्वारा जीवन के स्थायी मूल्यों का संरक्षण होना है और प्रत्येक सदस्य को अपने उत्तरदायित्व का सही ज्ञान रहता है। केवल यही आवश्यक नहीं है कि श्रमिक उत्पादन बढ़ाये या नियंत्रण में भाग ले वल्कि उसे समस्त अर्थ नीति के संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेना है। वह उत्पादक, उपभोक्ता, नियंत्रक, नागरिक आदि तो है ही इससे भी बढ़कर नई विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था का जन्मदाता है। श्रमिक का भेद कृषि या उद्योग की दृष्टि से करना अनावश्यक हैं। उन्हीं छोटे-छोटे संघों या समूहों के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति प्रशिक्षित होकर शासकीय कार्यों में पूरे उत्साह से भाग लेता है। समाजवाद का रूप जिसमें केन्द्रीकरण हो, नौकरशाही की प्रवृत्ति, मजदूरों की तानाशाही के नाम पर पार्टी का प्रभाव हो, विरोधी सिद्धान्तों का वलपूर्वक दमन हो, आर्थिक रक्षा के नाम पर मानसिक आजादी छीन लेने का प्रयास हो, लास्की को कभी मान्य नहीं हुआ। उसका समाजवाद प्रजातांत्रिक, संघात्मक, मानवतावादी, वहुलवादी, व्यवहारवादी, विकेन्द्रित और प्रगतिशील है। (Democratic, Federalistic, Humanitarian, Pluralistic Pragmatic Decentralised and Progresive) लास्की अपने विचारों में मार्क्स एंजेल्स से तो प्रभावित है ही परन्तु उस पर अधिक प्रभाव प्रूधां का है। प्रूधां की तरह वह समाज को संघात्मक तथा वहुलवादी मानता है, सीढ़ियों का दायरा या कटघरा नहीं मानता। दोनों राज्य की केन्द्रित सम्प्रभुता के विरोधी हैं जबकि मार्क्स इस केन्द्रित सम्प्रभुता को सर्वहारा के हवाले करना चाहता था। दोनों के लिये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वाधीनता का समन्वय आवश्यक है। व्यक्ति की स्वाधीनता उसे विश्राम और आनन्द की पर्याप्त अनुभूति देना और उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा का मुक्त प्रतिफलन समाज में होने देना वास्तविक आजादी है। जो राज्यव्यवस्था इसका दमन करके कोई पूर्वकालिक ढांचा बनाती या लाद देती है वह मानवीय प्रतिभा पर प्रहार करती है। ऐसी सरकार या व्यवस्था समस्याओं का स्थायी हल नहीं निकाल सकती।

लास्की एक ओर मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों से सहमत है परन्तु दूसरी ओर प्रूधों और मिल के व्यक्तिवाद को भी अभीष्ट मानता है। गीर्यक, मेटलेण्ड और फिगिस के संघवादी विचारों पर भी उसकी आस्था है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और आयर्लेण्ड का स्वधीनता आन्दोलन उसके मानस पर स्थायी प्रभाव जमाते हैं। भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन का भी वह प्रबल पक्षपाती था। अहिंसात्मक परिवर्तन ही, उसके अनुसार, स्थायी सुधार का एकमात्र अवलम्ब है। हिंसात्मक क्रान्ति की निन्दा करते हुए उसने रूसी क्रान्ति की कमजोरियाँ बताई हैं। उसके ही शब्दों में उस "हिंसात्मक नकारात्मक क्रान्ति ने करुणा और सहिष्णुता का दमन किया, घृणा-संदेह-क्रोध और निर्ममता की सृष्टि की, जनता के बौद्धिक विकास को कुण्ठित किया और सभी तरह की आलोचना का बलपूर्वक दमन किया।" समाज में बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सद्भाव रहना जरूरी है, केवल भौतिक सम्पन्नता पर्याप्त नहीं। किन्तु भौतिकता की निषेध करके भी कोई समाज रचना सफल नहीं हो सकती। अतः प्रजातान्त्रिक आधार पर क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि में नई समाज व्यवस्था उद्देश्य सहित स्थापित करनी होगी। यही 'सहमति पर आधारित क्रान्ति' (Revolution by coment) है। अथवा यही सच्ची जनक्रान्ति (Populist revolution) है जिसमें सामान्य सदस्य सहयोग और सक्रिय अनुदान के द्वारा उदात्त गुणों की शिक्षा पाता है। जनान्दोलन के माध्यम से क्रान्ति की चेतना प्रसारित करने के कारण लास्की भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों और विशेषतः महात्मा गाँधी के विचारों के नजदीक है। यह पूरी क्रान्ति अहिंसात्मक होने पर ही सफल हो सकती है। योजना के ऊपर गम्भीर विवेचन करते हुए लास्की ने कहा कि 'केवल उत्पादन-सम्बन्धों का परिवर्तन ही सब कुछ नहीं है। केवल राष्ट्रीयकरण अपर्याप्त है, सच्चा समाजीकरण होना चाहिये जिससे प्रत्येक श्रमिक योजना-निर्माण में भी हाथ बँटा सके। मजदूर को केवल बोनस या लाभांश (डेविडेन्ड) चाहिये, उसे समूची उद्योग व्यवस्था में यदि सझीदार बनना है, तो नीति निर्माता भी उसे ही होना चाहिये। इस प्रकार लास्की का प्रजातान्त्रिक समाजवाद नये युग की आकर्षक घोषणा है और भविष्य की विकासशील विचारधारा का प्रतिबिम्ब है।

भारतीय विचारक

भारतीय विचारधारा की भूमिका

भारतीय विचारधारा—वेद से विनोबा तक :

भारतीय चिन्तनधारा भावजगत् और भौतिक के सूक्ष्म-स्थूल रहस्यों का उद्घाटन करने में पूर्ण समर्थ रही। इसके उद्गम, विकास और विस्तार का इतिहास वास्तविकता की ठोस धरती से आध्यात्मिक आदर्श की वायवीय कल्पना तक फैला हुआ है। भारतीय प्रतिभा इतिहास के पन्नों पर अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति, विकेन्द्रित-विभाजित संकीर्णता, नियतिवादिता, कर्मसंस्कारप्रधान समाजरचना, वर्णाश्रम व्यवस्था, शान्तिमूलक अहिंसात्मक विकास, आत्मकेन्द्रित किन्तु पारलौकिक कल्पना, पुरुषार्थ-पोषक धारणा, धर्मप्रधाननीतिमत्ता, शान्ति-समन्वित राजनीति आदि के लिए विख्यात है। चीन, भारत, मध्यपूर्व में इजिप्त आदि देश प्राचीनकाल से ही राजनीतिक चिन्तन और कार्यप्रणाली के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। यूनान और रोम से पहिले यहाँ समाजिक विचारों का सूत्रपात हुआ। भारतीय ज्ञान की प्रचीनतम शाखा वेदों से प्राप्त होती है। मंत्रों या ऋचाओं के रूप में संकलित संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक इन भागों में विभाजित वेदों की ज्ञानराशि आर्यजाति के उत्कृष्ट बौद्धिक उन्मेष का प्रमाण है। कुछ लेखकों के अनुसार प्राग्वैदिक तथा प्रागैतिहासिक सभ्यता में पर्याप्त प्रमाण आर्यजाति की उत्कृष्टता के दावे को व्यर्थ सिद्ध करते हैं। श्री के० एम० पनिक्कर ने अपने ग्रंथ "भारतीय इतीहास का सर्वेक्षण" (पृ० ४) में सरजन मार्शल की उक्ति का सहारा लेकर सिद्ध किया है कि सिन्धुघाटी सभ्यता में ही हिन्दू धर्म का बीज निहित था। हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो के उत्खनन आर्य-श्रेष्ठत्व के चुनौती के रूप में हैं। वास्तव में आर्यों, और यहाँ के पहले के निवासियों के आपसी संपर्क से एक समन्वयवादी पद्धति का विकास हुआ जिसमें विजेताओं के आचार-विचार की प्रमुखता अवश्य ही थी किन्तु फिर भी विजितों की विचारधारा और परम्परा को नयी अभिव्यक्ति का अवसर मिला था (भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, पृ० ७)। दाशराज्ञ युद्ध ने विशुद्ध आर्य की भावना का अंत कर दिया और महाराजाधिराज सुदास के प्रयासों से सम्मिश्रण या प्रमिश्रण का प्रचार तीव्रतर हो गया। इस प्रकार के दृष्टिकोण में आग्रह या अन्वेषण की जो भी भावना हो इस बात से इन्कार

नहीं किया जा सकता कि वही "घुमक्कड़-शक्तिशाली-कृषिप्रधान-पशुचारण-वृत्तिधारी आर्यजाति" भारतीय सभ्यता को सम्पन्न बनाने वाली है। आर्य-अनार्य की धरणा भ्रममूलक है या रही क्योंकि हिन्दू तत्व ने सबको आत्मसात् कर लिया था।

आर्यावर्त से अभिहित विशिष्ट भौगोलिक जनस्थान में विभिन्न जातियों के सह जीवन से उत्पन्न समन्वित सांस्कृतिक वैभव का प्रकाश हजारों वर्षों के बाद आज भी चमक रहा है। इन्द्र, वरुण, सोम, अग्नि, यम, पर्जन्य, मातरिश्वन् आदि देवताओं की स्तुति में प्राकृतिक शक्तियों की सात्विक उपासना का भाव व्यक्त होता है। प्रकृति के अन्य तत्वों में जीवाभास (anthropomorphism) लक्षित है। लेकिन यह विविधता वाह्याचार पर अवलम्बित थी, मूलभाव तो एकमेव ही था (एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति)। जीवन में सम्पत्ति के स्वामित्व का संघर्ष न था। कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था थी, सामाजिक वैषम्य का प्रतिरोध था, आश्रमनिष्ठ वृत्ति थी, कार्य-विभाजन और सहयोग का सुदृढ़ आधार था। सृष्टि के सूक्ष्म तत्वों का अन्वेषण जारी था, स्थूल शारीरिक उपलब्धियों की उपेक्षा नहीं थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में आत्म-विकसित प्रारम्भिक शक्ति बीज का विवेचन किया गया है, असत् और सत् के पारस्परिक संबंधों का गूढ़ निरूपण है।* वैदिक संस्कृति पंचमहायज्ञ, (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, वलियज्ञ) और पंच-वृत्ति (ऋतु, अमृत, मृत, प्रमृत, श्ववृत्ति) का बारबार उल्लेख करती है विविधरूपिणी सृष्टि की अद्वैतवादी एकता का परिचय मिलता है। अखिल ब्रह्माण्ड के साथ, सृष्टि के सारे पदार्थों के साथ एकात्मता अनुभव करने का भाव भारतीय आचार-विचार के मूल में है। धर्म, अध्यात्म और आचार-शास्त्र सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रकार का एकत्व अनुभव या साक्षात्कार ही व्यक्ति और समाज की संस्कृति का चरम ध्येय है।** राष्ट्र की कल्पना इस समय प्रचलित थी क्योंकि अथर्ववेद के अनुसार जनसमाज की कामना से दीक्षा लेने वाले ऋषियों ने तप किया जिससे राष्ट्र, बल की उत्पत्ति हुई। राष्ट्र के अन्तर्गत सभा और समिति का संगठन नियमन-नियोजन के लिये था जिससे जनतांत्रिक परम्परा का प्रमाण मिलता है। सभा और समिति राष्ट्र की प्रकृति स्वरूपिणी थी और राजा तो इनकी उपेक्षा कर ही नहीं

---

*नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्—नासदीय सूक्त ऋ० १०।१२९

**भारतीय समाज विन्यास—डा० राधाकमल मुकर्जी पृ० ११

सकता था, प्रत्युत इन्हें अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करता था।* कुल, विश, जन, समूह, राष्ट्र आदि पर आधारित पितृप्रधान समाज व्यवस्था में राजन् का स्थान महत्वपूर्ण था। उसका मुख्य कार्य प्रजापति के आदेशानुसार अराजकत्व दूर कर व्यवस्था और शान्ति की स्थापना करना था। राजधर्म की उज्वल प्रतिष्ठा हिन्दू विचारों में चिरकाल के लिये रूढ़ हो गई, हालांकि राजा या राजतंत्र का वह निरंकुश रूप जो यूरोप में फैला या पनपा यहाँ कभी भी समर्थन नहीं पा सका। राजत्व की प्रतिष्ठा के लिये राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का विधान था। राज्य की कल्पना क्षेत्रीय सीमा से आबद्ध थी परन्तु उसका विस्तार भी वर्णित था। सामन्त, माण्डलिक, राजा, महाराजा, स्वराट्, सम्राट्, विराट्, सार्वभौम, पारमेष्ठ्य आदि अलग-अलग स्तर के शासक वनने की प्रेरणा राजाओं को थी। यज्ञ-अनुष्ठान आदि इनके साधन थे। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार राजसूय से राजा, वाजपेय से सम्राट्, अश्वमेध से स्वराट्, पुरुषमेव से विराट्, सर्वमेध से सार्वभौम वनने की प्रक्रिया थी। राजा के सम्वन्ध में प्रचलित धारणाओं के सम्वन्ध में डा० अल्लेकर ने तीन स्थितियों का उल्लेख किया है, एक तो राजा धृतव्रत तथा धर्म-संरक्षक था, दूसरे वह जनसमुदाय का प्रमुख सेवक था, तीसरे राजत्व एक पवित्र न्यास की तरह था। धर्म और मर्यादा का उल्लंघन करने वाले उच्छृङ्खल राजाओं का वधकर देना न्यायानुमोदित था। वेन, नहुष, सुदास, सुमुख, निमि आदि शासकों का अन्त कर दिया गया क्योंकि इन्होंने वैधानिक सीमा का अतिक्रमण कर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को सर्वोच्च वना लिया था। (State and Govt. in Ancient India. Dr. A. S. Alleker P.64-70) डा० नारायणचन्द्र वन्धोपाध्याय के अनुसार राजतत्व की सुदृढ़ आधार राशि रखी जाने के वाद आभिजात्यतन्त्र का प्रभाव बढ़ने लगा किन्तु जनप्रिय समितियों ने संतुलन और नियन्त्रण का कार्य किया। डा० काशीप्रसाद जायसवाल राजतंत्र को विभिन्न प्रयोगों में से एक मानते हैं क्योंकि प्राचीन व्यवस्था में उसका वंशानुक्रम रूप नहीं था, राजा निर्वाचित होते और अपदस्थ किये जाते थे। डा० यू० एन० घोषाल के निष्कर्षों के अनुसार वैदिक समाज कवीलों में बँटा था, राजतन्त्र उस संगठन के लिये आवश्यक था। राजा धर्माचरण का प्रतीक था और शासन मानवोचित आदर्शों पर अधिष्ठित था। जन प्रतिनिधित्व का प्रश्न हल हो चुका था और विभिन्न वर्गों को शासन में परामर्शदायक स्थान

* हिन्दू राज्यशास्त्र—अम्विकादत्त वाजपेयी, पृ० १०४

मिला था। पुरोहित या अध्वर्यु वर्ग का महत्व था, वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा थी, जीवन नियमित-अनुशासित था।

(Studies in Indian History & Culture—Dr. U.N. Ghoshal P. 336-38) राजतन्त्र के अलावे हमें पितृप्रधान समाज व्यवस्था में रोम के समाज संगठन की भाँति प्रधान के अधिकारों (Patria potestas) का आभास मिलता है। वेद से वेदान्त की ओर बढ़ने पर हमें अधिक उदार, समतावादी, सामञ्जस्यमूलक आध्यात्मिक प्रभाव जनमानस पर दिखाई देता है। वर्गगत संस्कारों, प्रभावों और आधिपत्य के कारण जब शासक वर्ग लौकिक क्षेत्र में बहुत अधिक बढ़ने लगे और समाज में वर्ग विशेष का अभ्युदय-अभिशाप होने लगा तब आर्य प्रतिभा ने उपनिषदों के माध्यम से जनजागृति का महायज्ञ प्रारम्भ किया। उपनिषद् की आन्तरिक प्रेरणा आध्यात्मिक विश्वास और श्रद्धा को प्रदीप्त करती हुई त्याग और उत्सर्ग की ओर ले जाती है। नश्वर से शाश्वत की ओर, अनृत से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, विभेद से समानता की ओर यही संदेश उपनिषद् का है जिससे समाज प्रमाद-तन्द्रा-आत्मतृप्ति और विद्वेष की कालिमा से मुक्त हो सके। उपनिषद् की ऋतम्भरा वाणी आज भी जीवन के चरम सत्य का अनावरण करने के लिये पथप्रदर्शिका है। उपनिषद् युग के विचारकों ने लोककथाओं, रूपकों और प्रतीकों की अभिव्यञ्जनात्मक योजना करके बड़े सुन्दर उदाहरण रखे हैं। ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ऐतरेय आदि प्रमुख उपनिषद् हैं जिनका प्रणयन ई० पू० ७०० से १०० ई० पू० की अवधि में किया गया। ब्रह्मवाद, विज्ञान-वाद, द्वैत, अद्वैत, पुनर्जन्म, लोकजीवन, धर्माचार, सृष्टिविचार, नैतिकतत्व, मुक्ति आदि विषयों पर गम्भीर विचार उनमें व्यक्त किये गये हैं। इस समस्त रहस्यमूलक प्रज्ञान शिखा का आशय है जीवन को कर्ममय, आनन्दमय बनाना और उदात्तभूमा सुख की ओर ले जाना। इस युग के प्रमुख विचारक प्रवाहण, जैवालि, औद्दालक, आरुणि, याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल आदि ईश्वर-आत्म-वादी थे। इसी युग में भौतिकवादी धारा भी प्रवर्तित हो चली थी। जिसके प्रतिनिधि वृहस्पति, चार्वाक, अजितकेशकम्बल आदि थे जिन्होंने भौतिकता के साथ-साथ अनीश्वरवाद का प्रचार किया, मिथ्या विश्वास, नैराश्य और वैराग्य का खंडन किया। चार्वाक दर्शन का परिपाक प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में होता ही रहा है। इसके बाद ही बौद्ध युग का प्रादुर्भाव हुआ जो वैचारिक जगत् की महाक्रान्ति के रूप में विख्यात है।

बौद्धधर्म के प्रवर्तक शुद्धोदन-पुत्र शाक्यकुमार गौतम (५६३-४८३ ई० पू०) ने सांसारिक दुखों और वेदनाजन्य, तृष्णासंकुल प्रतिहिंसा-प्रसूत कुण्ठित जीवन प्रणाली को नया मोड़ देने का प्रयास किया। जनतंत्र, संघवाद क्षेत्रीय स्वायतता, शान्तिवाद, अनुशासन-शील के समर्थक इन विचारों का व्यापक प्रचार हुआ और प्रियदर्शी अशोक की तरह सम्राटों ने इसे देश-देशान्तर में फैलाया। दुखनिरोध के लिये बुद्ध ने अाष्टांगिक मार्ग (सम्यक दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, आजीविका, प्रयत्न, स्मृति, समाधि) का प्रचार किया। पारस्परिक द्वंदों और अराजक तत्वों से पीड़ित जनसमाज ने इसका आश्रय लिया नवनिर्माण की आशा से। इस दर्शन में क्षणिकवाद, प्रतीत्य समुत्पाद (अविच्छिन्न प्रवाह), अनात्मवाद, अभौतिकवाद, अहिंसावाद आदि का समर्थन किया गया। उपासकों के लिये पंचशील का सर्वप्रथम आह्वान करते हुए बुद्ध ने इसका प्रयोग व्यावहारिक जीवन में करने की सलाह दी (प्राणानिपात विरति, अदत्तादान विरति, काममिथ्याचार विरति, मृषावाद विरति, सुरामैरेयप्रसादस्थान विरति; विस्तार के लिये देखिये बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव कृत)। तीर्थंकर वर्धमान महावीर (५९९-४८५ ई० पू०) जैनधर्म के सर्वज्ञतावाद और पूर्ण अहिंसावाद के प्रकाण्ड व्याख्याता थे। श्रमण-संस्कृति के रूप में यह युग चिरकाल तक प्रेरणाकारी बना रहेगा। बौद्ध युग के उत्तरार्ध में कपिल, मिलिन्द, शून्यवादी नागार्जुन, परमाणुवादी कणाद आदि दार्शनिक हुए। अनेकान्तवादी जैनधर्म, मीमांसा, धर्मशास्त्र, न्याय वैशेषिक, सांख्य आदि विचारसारणियों ने घूम-फिरकर सृष्टि के उत्स का अन्वेषण करना चाहा और मानव समाज को प्राधान्य दिया। अक्षपाद, पतंजलि, बादरायण आदि ने ईश्वरवादी योगमूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्म-कीर्ति अपने युग के उद्भट दार्शनिक थे।

पौराणिक युग का क्रमबद्ध इतिहास न मिलने पर भी हम प्राप्त सामग्रियों और ग्रन्थों के आधार पर इस युग की विशेषताओं का विचार करते हैं। महाभारत और रामायण काल की संस्कृति जीवन की बहुमुखी प्रगति और उसकी कालावरोधित दुर्गति की सूचना देती है। वस्तुतः यह स्थिति वैदिक युग की ही परिणति है और हम उसे कालबाधित नहीं करना चाहते। प्राचीन समाज-व्यवस्था के संबंध में हमें आदिम जीवन की जो झलक मिलती है उसमें शास्ता या नियंता के रूप में केवल धर्म की स्थिति दिखाई देती है। राजा, राज्य, दण्ड

और दण्ड देने वाला कोई नहीं मिलता।* बाद में न जाने कैसे मात्स्य-न्याय स्थिति पैदा हुई जिससे विनाश अवश्यंभावी था। इसका निराकरण करने के लिये राजत्व की कल्पना साकार हुई। शासक और शासित के बीच अनुबन्ध की क्षीण रेखा समाज के उद्धार में सफल हुई। इस काल में हमें राजतन्त्र के सिवाय गणतंत्र और संघराज्य के भी सबल उदाहरण मिलते हैं। और जनतान्त्रिक परम्पराओं का एक व्यवस्थित इतिहास भी उपलब्ध है। गण या संघ के रूप में विभिन्न क्षेत्रीय प्रजातियों के संगठन बने जो या तो सम्पूर्ण जाति द्वारा नियंत्रित थे या आभिजात्यवर्गों की आधीनता में कार्य करते थे। राजशब्दोपजीवी और वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों का अस्तित्व उस युग की सामान्य प्रवृत्तियों का परिचय देता है।† स्वातन्त्र्य, आत्मनिर्भरता, सांस्कृतिक चेतना, प्रबुद्ध जनमत और शांतिवादी जीवनदर्शन इन गणों का आधार था। कुलसंघ और गणसंघ (कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्प्रकीर्तितः) विशिष्ठ शासन प्रणाली के द्योतक हैं जिनमें जनमत की संप्रभुता सुरक्षित थी। महाभारत में (संघपर्व) अन्धकवृष्णि संघ और उत्सवसंकेत आदि गणों का उल्लेख विशेष विवादों की सृष्टि करता है (Hindu polity Dr. K. P. Jaiswal)।

डा० बी० के० सरकार ने गणों का व्यवस्थित विवेचन करते हुए बताय कि ई० पू० ६०० से १५० ई० तक गणों का अस्तित्व बना रहा और मल्ल, विदेह, लिच्छवी, वज्जी, यौधेय, मालव, क्षुद्रक आदि गणों ने इतिहास प्रसिद्ध शौर्य और तेजस्विता का परिचय दिया। गणों और संघों की पुनीत भावना बौद्ध युग तक चलती रही। वज्जी संघ की दुर्जेयता और उसकी सुदृढ़ नीतिमत्ता उल्लेखनीय है। राम और कृष्ण भारतीय राजनीति की आदर्शवादी और व्याव-हारिक विचारधारा के प्रतीक हैं और उनका जीवन चरित्र भारतीय जनमानस के समक्ष उदात्त परम्परा रखता है। यह अवश्य है कि भेद-विग्रह, दमन-दण्ड और धनप्रदान आदि के द्वारा गणों का संगठन कमजोर किया गया पर ये सब प्रयोग मानवीय प्रकृति के अनिवार्य शत्रु के रूप में आज भी उतने ही घातक हैं।

---

* नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डी न दाण्डिकः
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥ महा० शान्ति०

† लिच्छविवृज्जिक मद्रककुरकुरु पांचालादयो राजशब्दोपजीविनः
काम्बोजसुराष्ट्र क्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः ॥
अर्थशास्त्र अधि० ११।१

जनतांत्रिक विचार परम्परा हमें पौर-जनपद आदि संस्थाओं का परिचय भी देती है जो राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण थीं। महाजनपदों और सामान्य जनपदों का जीवन स्वावलम्बी, स्वातन्त्र्य-प्रिय तथा विकासशील था। तत्कालीन संस्कृति के विवेचन में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। जन की पृथक् स्थिति धीरे-धीरे समाप्त हुई और एक जनपद में भाषा, धर्म और आर्थिक जीवन की समानताएँ विशेष रूप से प्रकट हुईं। जनपदीय जीवन भेद की अपेक्षा साम्य की ओर अधिक प्रवृत्त हुआ। प्रत्येक जनपद इस बात में स्वतंत्र था कि वह अपने यहाँ किस प्रकार की शासन प्रणाली को प्रश्रय दे, अर्थात् वह एकाधीन या राजाधीन हो, गणाधीन हो, अथवा श्रेणी या यूग के रूप में संगठित हो। वैदिक यूग के बाद जनपदों में ही भारतीय संस्कृति का नया विकास हुआ। जनपदीय जीवन में प्रज्ञा या बुद्धि-प्रधान दृष्टिकोण का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ। बुद्धि का यह स्फोट नाना भाँति के शिल्प और अनेक प्रकार की विद्याओं के रूप में प्रकट हुआ। प्रत्येक जनपद में स्थानीय शिल्पों की नींव इसी युग में पड़ी। पे शिल्प आर्थिक जीवन-विकास के नये साधन थे। (पाणिनिकालीनभारतवर्ष-डा० वा० श० अग्रवाल पृ० ४२६) छान्दोग्योपनिषद् में स्वस्थ आदर्श जनपद का वर्णन करते हुए केकयनरेश अश्वपति ने बताया कि उसके जनपद में चोर, शरावी, पापी, अपराधी नहीं है, विद्वान विवेकी आहिताग्नि-सम्पन्न हैं, स्त्री-पुरुष आचारवान् हैं। (न स्तेनो जनपदे न कदर्या न मद्यपः नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणीकुतः ।। छान्दोग्य० ५।११।५) लेकिन असंख्य गणों और विभाजित क्षेत्रों वाला देश जब वाह्य आक्रांता के सम्मुख नतशिर और विमूढ़ हो गया तब साम्राज्य अथवा सुगठित राष्ट्र की भावना बलवती हुई। स्मृतियाँ और अर्थशास्त्रीय ग्रंथों में एक ओर हमें गम्भीर सामाजिक राजनीतिक चेतना के दर्शन होते हैं, साथ ही युगविषयक क्षुद्रता, संकीर्णता और कलहप्रियता का भी आभास मिलता है। स्मृतिकाल और अर्थशास्त्र के रूप में विख्यात यह युग अपनी असंगतियों और अन्तर्विरोधों के लिये विख्यात है। मनुयाज्ञवल्क्य, वोधायन, नारद, पाराशर आदि स्मृतिकारों ने जीवन को व्यवस्थित करने का भगीरथ प्रयास किया और एक वैधानिक, विवेक-सम्पन्न जीवन दृष्टि निरूपित की। कौटिल्य की व्यावहारिक शांतिकेन्द्रित राजनीति युगान्तकारी घटना है और उसके द्वारा सहस्राधिक वर्षों की जीवन-दशा का व्यापक परिचय मिलता है। कौटिल्य की नीति को लेकर अब तक बहुत विवाद होता आया है पर तथ्य निर्विवाद है कि राष्ट्रीय ऐक्य, सुदृढ़ता, कल्याणकारी राज्य और संप्रभुता के विवेचन में उसका अनुदान

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, विशेषतः ऐसे युग में जबकि खण्डित-विभाजित उच्छृङ्खल भावधारा समाज को डुबा रही थी। कौटिल्य के अति प्राचीन विचारों की अनुकृति मध्ययुगीन मैकियावेली जब करता है तो कुछ लोग अनावश्यक साम्य-वैषम्य की कल्पना करते हैं। वैसे तो विचार किसी जाति या देश या काल विशेष के अपेक्षी नहीं रहे लेकिन कौटिल्य की मौलिकता इस प्रकार तोलने के लिये किसी कृत्रिम तराजू पर नहीं रखी जा सकती। उसने संसार और इस धरती की सारी मानवीय उपलब्धियों और कृतियों को अर्थ-शास्त्र की संज्ञा दी और उसके अध्ययन का सोद्देश्य प्रचार किया* अर्थशास्त्र की सारी प्रेरणा नवीनतम वस्तुओं की उपलब्धि, सुरक्षा, अभिवृद्धि, नियोजना और सर्वजन-प्राप्ति के लिये है। सप्तांग राज्य, अष्टांग बल, पुरुषार्थ चतुर्वर्ग षाड्गुण्य नीति, कूट युद्ध (तूष्णीं युद्ध, औपनिषदिक प्रकरण में) माण्डलिक क्षेत्रीयता, सार्वभौम सत्ता आदि स्थायी राजनीतिक प्रश्नों पर उसके विचार उल्लेखनीय हैं।

(सप्तांग राज्य—स्वामी, अमात्य, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, सैन्य ये सात अंग राज्य के हैं।

अष्टांग बल—हस्ति, अश्व, रथ, पत्ति, नौ, विष्ट, दैशिक, चर।

पुरुषार्थ चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

नीतिचतुष्टय—साम-दाम-दण्ड-भेद।

षाड्गुण्य नीति—संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव, मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र, अटवी सेना के प्रकार।

विजिगीषु, शत्रु, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, पार्ष्णिग्राह आदि राज्य-संबंध) सुदृढ़ मौर्य साम्राज्य के अधिष्ठाता चन्द्रगुप्त की सारी प्रतिभा संवारने में प्राध्यापक विष्णुगुप्त (कौटिल्य या चाणक्य) का अनुदान अद्वितीय है।

भारतीय चिन्तनधारा में बौद्ध, जैन धर्म के व्यापक प्रचार, विरक्तिवादी-अहिंसावादी धारणा के बावजूद दमित सामाजिक वासनाओं का तीव्र विस्फोट हुआ। लोकायत, लिंगायत, शैव, शाक्त, तांत्रिक आदि विभिन्न उपासकों

*मनुष्याणां वृत्तिरित्यर्थः भूमिः तस्य शास्त्रमर्थशास्त्रं भूमिलाभनादि अलब्धलाभार्थो, लब्धपरिरक्षिणी रक्षितस्य विवर्धिनी, वृद्धस्यतीर्थेषु प्रदिपादिनी च ॥ अर्थ० ॥

का वर्ग अपनी विलासिता, अर्हवादिता और पाखण्ड का अस्वार लिये खड़ा हो गया। हीनयान, महायान, वज्रयान, उस युग के विस्फोट थे। बौद्धिकता खण्डित हुई, विलास-विभ्रम का राज्य फैला। भैरवीचक्र, षटचक्र-भेदन, पंचमकार आदि का प्राबल्य था, आलय विज्ञान की जगह मुक्त भोगवाद का प्रचार हो गया। युग की समस्त भ्रान्ति, मरीचिका मायावाद का निराकरण करने के लिये शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) ने अद्वैतवाद की अवतारणा और ब्रह्मज्ञान का विजय तूर्य बजाया। यह उल्लेखनीय है कि अद्वैत दर्शन ने सर्वप्रथम विचार-धारा के तीक्ष्ण अस्त्र से आगमों का खंडन किया (Instrument of debunking)। सामयिक मनोदशा का विश्लेषण किया और मुक्ति के एकमात्र पथ का प्रदर्शन किया। अद्वैतवाद भारतीय समाज-दर्शन की विशिष्टतम उपलब्धि है। अद्वैत की भावात्मक कल्पना व्यवहार जगत् में साकार न हो पाई और पार्थक्य, द्वैत, द्वन्द्व, विघटन और विभक्तीकरण का बाहुल्य रहा। कुछ समय के लिये सुदृढ़ राज्य और प्रतापी शासक आये लेकिन अखिल भारतीय केन्द्र और नेतृत्व का निर्माण न हो पाया। अशोक, चन्द्रगुप्त, हर्षवर्धन, विक्रमादित्य और इनकी तरह अनेक महत्वांकाक्षी मेधावी शासक इतिहास-चक्र में परिवर्तन न कर सके, धर्मचक्रप्रवर्तन की त्याग-मयी बौद्धिकता ऊपरी सतह को छूकर निकल गई, विश्रृङ्खलता का सूत्रपात हो चुका था। विदेशी शक्तियों का आक्रमण और आन्तरिक विकृतियों का प्राचुर्य देश को निश्चय ही खंडित करता। शक, हूण, यूची, यूनानी, यवन, बाख्ती, पार्थियान, मंगोल, तातार आदि अनेक जातियों के आक्रमण हुए, प्रतिरोध के यदा-कदा असफल प्रयोग हुए, अंत में समाहित जातियों ने सांसारिक लाभ को श्रेयस्कर मानकर समझौता कर लिया, यहीं घुल-मिल गये। सामाजिक संस्कृति का अभ्युदय तो शायद ही हुआ पर अन्तर्जातीय प्रमिश्रण अवश्य हुआ।* काव्योचित भावुकता में यह अवश्य गाया जाता रहा है कि—

"हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्राविड़, चीन,
शक, हूण-दल, पाठान, मोगल, एक देहे होलो लीन ।।"

किन्तु इतिहास की क्रूरतम यथार्थता भुलाई न जा सकी। बांध फूटने पर किसी एक स्थल पर रोड़ा पत्थर डालने से तो वह रोका नहीं जा सकता, एकता का सेतु जो बनना था, कभी बन ही नहीं पाया। हेलियोडोरस और रुद्रदामन

*संस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

के अभिलेख घोषणामात्र करके रह गये, समन्वय भावना साकार न हो पाई। कुछ स्वतंत्रचेता वर्गों ने शातवाहन, भारशिव, गुर्जरप्रतिहार आदि के रूप में अपनी प्रतिभा का अल्पकालीन आलोक अवश्य दिखाया। हिन्दुस्तान की तवारीख में, अल-बरूनी के कथनानुसार, एक गहरी रुकावट पैदा हुई जब कौम अपनी खुद्दारी और माद्दापरस्ती छोड़कर झूठी, फरेबी भूलभुलैया में चक्कर खाने लगी, घमण्ड से चूर होकर दूसरों से नफरत करने लगी। ई० सन् एक हजार के बाद भारत एक मुसाफिरखाने की तरह हो गया। बाहरी कौमों की आवाजाही ने सुलतानों को आसानी से शासन करने का मौका दिया। सलतनतकाल में कुतुबुद्दीन, बलबन और रजिया सरीखे शासक हुए पर १३३८-३६ के आते-आते मुहम्मद बिन तुगलक के समय से टूट-फूट शुरू हो गई और आखिर १५२६ ई० में उसका अंत हो गया।* इस अवसान काल में भी देश में बौद्धिक चेतना बनी रही और नई स्मृति-संहिताओं का प्रणयन हुआ। लक्ष्मीधर, हेमाद्रि, कृष्णानंद, ब्रह्मानंद गिरि, पूर्णानंद, रघुनाथ तर्कवागीश आदि ने विभिन्न विधियों और तंत्रों का संकलन किया। निश्चय ही इस युग की अर्थव्यवस्था सामन्तवाद पर आधारित थी और सामन्तवादी संस्कृति का ही सर्वत्र प्रचार था। इस युग में ही तरह-तरह के सूफी, देरवेश, पीर-फकीर, औलिया, अघोरी, संतपरिव्राजक, उपदेशक, तपस्वी, सिद्ध आदि हो गये हैं जिनका प्रभाव सामाजिक जीवन में बहुत अधिक रहा है। नेतृत्वविहीन जनसमाज के लिये इस प्रकार के भ्रमणशील प्रतीकों और प्रतिनिधियों का महत्त्व अधिक है, विशेषतः समाज की कुम्भकर्णी निद्रा भंग करने के लिये।

मध्ययुग में मुगल काल के उत्कर्ष के समय दीने-इलाही के प्रवर्तक अकबर ने समन्वयात्मक सांस्कृतिक भूमिका पर राज्य की नींव रखी और संगठन के प्रयास किये जो कालान्तर में औरंगजेब की हठवादिता और संकीर्णता के शिकार हो गये। यह अवश्य है कि मुगल-बादशाहों ने स्थानीय तन्त्र को ही अपनाकर उसमें विकास किया, सारे निजाम को इखलाक और उसूल पर ले चलने की कोशिश की लेकिन बादशाहत के लवाजमात और ताम-झाम ने, साकी और मीना ने, सबसे बढ़कर उनकी काहिली ने मुल्क को एक जुट और मजबूत नहीं होने दिया। इस युग में भी हम गोस्वामी तुलसीदास की तरह युग-प्रवर्तक साहित्यकार और भक्त पाते हैं। राणा प्रतापसिंह सरीखे अजेय सेनानी भी मिलते हैं। सन्त-युग के विचारकों में रामानन्द, कबीर, चैतन्य, शंकरदेव, दादू,

* Studies in Indian History and Culture. The Dynamics of Indian History 261-62. Dr. U.N. Ghoshal.

मलूकदास, नानक, बल्लभाचार्य, ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि १४वीं से १७वीं सदी तक ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित किये रहते हैं। दक्षिण में विजयनगर का साम्राज्य कुछ काल तक हिन्दू गौरव की छाप लिये रहा, माधवाचार्य और सायणाचार्य की सहायता से हरिहर और बुक्का ने थोड़ा बहुत प्रयास अवश्य किया पर यह सब गिरते घर को बांस का टेका देकर रोकना था ? मुगल शासन में न्याय, उत्तरदायित्व, नैतिकता, सहिष्णुता, समृद्धि थी। स्वतंत्र आर्थिक इकाई के रूप में स्वावलम्बी ग्राम थे। इस बात का पूरा ध्यान था कि जनता को पूरा-पूरा सच्चा न्याय मिले, कर वसूली में ज्यादती न हो और शिकायतों को ऊपर तक बे-रोकटोक पहुँचाया जा सके (स्टेनले लेनपूलमैडिवल इंडिया अण्डर मोहमडन रूल) लेकिन यह दशा शीघ्र ही बदल गई क्योंकि कट्टरता और असहिष्णुता के प्रतीक शासक आ चुके थे। अन्ततः खण्डित सामन्तवाद फिर से बाहर की तिजारती फौजी ताकतों के सामने झुक गया। शिवाजी की तरह कुछ प्रतापशाली शासक हुए जिन्होंने हिन्दू पद पादशाही की पुनः स्थापना करनी चाही। गुरु गोविन्द सिंह और रणजीतसिंह भी अपने क्षेत्र में प्रयास करते रहे पर भारतीय नेतृत्व की एकता स्वप्नवत् रही। मुगलों का क्षीण वैभव विलासिता में आकण्ठ डूबा, जर्जर व्यक्तित्व, बाहरी शक्तियों की भेदमूलक कूटनीति (divide et empera), हरम की षड़यंत्रपूर्ण राजनीति (Palace revolution and intrigues), स्वार्थी-अहंवादी अदूरदर्शी नेतृत्व, बहकी हुई गुमराह जनता इन सबने मिलकर रास्ता खोल दिया डच, फ्रैंच, ब्रिटिश, पोर्तुगीज और तमाम यूरोपीय जमातों के लिये जो यहाँ जमने के लिये अपना-अपना दाँवपेंच दिखाने लगीं। प्लासी की लड़ाई (१७५७) से लेकर भारतीय सिपाही विद्रोह (१८५७) तक भारत की राजनीति राख में दबी चिनगारी की तरह थी जो एकाएक भड़क उठी और बुझ भी गई। इस युग में भी सूक्ष्म आध्यात्मिक सिद्धान्त और न्याय के आधार पर निर्मित सुसंगठित हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में संत और संन्यासी ही युगानुयुग तक विभिन्न वर्णों और व्यवसाय करने वालों की सामाजिक मर्यादा, स्थान और आदर्श निश्चित करते रहे। किन्तु आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया और पूरे देश में इसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। साम्राज्यवाद का महानतम अभिशाप आर्थिक शोषण है, देश का सिलसिलेवार दरिद्रीकरण है, इसने भारत की सारी प्रतिमा और चेतना को निचोड़कर मसल डाला।

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का इतिहास विभेद-दमन-हड़प और जालसाजी का अनवरत क्रम है जिसकी चपेट में यहाँ के सामन्त-राजे आते गये।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन पक्षपातपूर्ण नीति और लूटमार की प्रवृत्ति के लिये कुख्यात था। बाजीराव, महादाजी सिंधिया, मुर्शीदकुलीखां, हैदर, टीपू-सुल्तान आदि के बावजूद भी देश में स्थायी नेतृत्व न बन पाया। मोपला विद्रोह, वहाबी आन्दोलन, सामन्तों के अन्य विद्रोह आदि बेरहमी से दबाये गये। छिट-पुट विद्रोह होते रहे। १८५७ का राष्ट्रव्यापी विद्रोह भी हुआ जो कई कारणों से दबा दिया गया। लेकिन स्वतन्त्रता की पहिली करवट ने ही विदेशी शक्तियों को इतिहास का संदेश सुना दिया था।* आज भले ही गदर को लेकर तरह-तरह का वाद-विवाद होता रहे किन्तु यह कोटि-कोटि भारतीयों के लिये स्वातन्त्र्य-संग्राम की पहली चिनगारी है।

अरविन्द के अनुसार राष्ट्रीय चैतन्य का सम्यक् अवबोधन करने के लिये किसी देश की आध्यात्मिकता, ओजस्विता और बौद्धिकता (Spirituality vitality and intellectuality) का अध्ययन करना चाहिये। १६ वीं, २० वीं सदियों में भारत में इनका अभिनव उन्मेष होने लगा था। पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क से यहाँ की प्राच्य एकांगिता समाप्त हो गई और विज्ञान-जगत् के नवीनतम उपकरणों का प्रादुर्भाव होने से दृष्टिकोण में भारी अंतर आ गया। १८८५ में सिविलियन एलेन आक्टेवियस ह्यूम के प्रयत्नों से भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य शासन से न्याय की माँग करना और भारतवासियों को योग्य स्थान दिलाना था। अनुनय-विनय की राजनीति (Politics of petition and persuasion) उसका माध्यम था जिसे आगे चलकर लोकमान्य ने भिक्षुक वृत्ति (Politics of mendicancy) निरूपित किया। ब्रह्म-समाज और आर्य समाज के प्रयत्नों से देश में नई सांस्कृतिक चेतना प्रस्फुटित होने लगी। द्वारकानाथ टैगोर, देवेन्द्रनाथ, रामतनुलाहिरी आदि इस अभ्युदय के उपासक थे। 'तत्वमसि' और 'एकमेवा द्वितीयम्' के विशुद्ध चैतन्य आत्मवाद का प्रतिपादन किया गया जिनसे मुमूर्षु समाज में संचालिका-प्रेरिका-जीवन शक्ति (elanvital) की प्रतिष्ठा हो सके। योग-संन्यास का सांसारिक जीवन से सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास हुआ। स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३) ने वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार के लिये संगठन का आह्वान किया। राजाराम मोहन राय (१७७२-१८३३)

---

*१, भारत में अंग्रेजी राज्य, ३ भाग, पं० सुन्दरलाल
2, Rise of Christian Power in India-Majoi Basu
३, भारतीय नीति विक्टोरिया से नेहरू तक—रामगोपाल

आधुनिकता के समर्थक थे। स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३३-१८८६), स्वामी विवेकानंद (१८७३-१९०२) आदि ने हिन्दू-संस्कृत के व्यापक समन्वय-वादी स्वरूप का समर्थन किया और समानतामूलक समाजवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। शशधर तर्क चूड़ामणि और बंकिमचंद्र चटर्जी बन्देमातरम् युग के तीव्र समर्थक हुए। भारतेन्दु हरिचन्द्र राष्ट्रीयता के अनुगायक थे। राष्ट्रीयता की नवीनतम आध्यात्मिक शक्ति का प्रभाव फैलने लगा। डी० मैकेन्जी ब्राउन ने आधुनिक युग की राष्ट्रीयता का स्रोत ढूंढ़ते समय विवेकानंद अरविन्द, टैगोर और गांधी के युगव्यापी प्रभाव का संकलन किया है। भारतीय राष्ट्रवाद एकांगी, आक्रामक, उत्पीड़क और विनाशक नहीं है, वह स्वास्थ्य-वर्धक है, आध्यात्मिक मानवता पर आधारित है।* धर्म सत्य के निरूपण के साथ ही भारत में मानवीय समाजवाद के माध्यम से आध्यात्मिक आदर्शों की अभि-व्यंजना भी हुई। भारतीय राजनीति की विगत अर्धशताब्दि में अनेक प्रभाव-शाली नेता हुए और भारतीय कांग्रेस का व्यापक जनसंगठन गाँव-गाँव में फैल गया। वैधानिक सुधारों की मांग और आन्दोलन का युग शुरू हो गया। एक ओर आतंकवादी नवयुवकों का उत्साह था दूसरी ओर उग्र और नरम राष्ट्रवादी विचारक थे, सभी मिलकर देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे। लाला-लाजपत राय, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल (लाल, बाल, पाल) इस समय की गति-विधियों के सूत्रधार थे। गोखले, देशबन्धु चितरंजन-दास, मोतीलाल नेहरू, पं० मदनमोहन मालवीय आदि विधानमार्गी विचारक भी राष्ट्रनिर्माण में प्रयत्नशील थे। १९१७ से १९४७ की भारतीय राजनीति गांधीजी के विचारों और कार्यों से ओतप्रोत है और यही समय सर्वाधिक सक्रियता, उत्तेजना, जागृति और सफलता का भी है। गांधी और गांधीवाद भारत की प्रतिभा का समस्त अहंमन्य विश्व को अनुपम अनुदान है। भारतीय कांग्रेस की सफलता और स्वाधीनता प्राप्ति के लिये अपूर्व संगठन का जाल देश में कोने-कोने में फैल गया। सभी वर्गों और जातियों ने इस अहिंसात्मक संग्राम में योगदान दिया। गांधी जी ने असहयोग, भद्र अवज्ञा, युद्ध-बहिष्कार भारत छोड़ो आदि नये आन्दोलनों का सूत्रपात किया जिनमें लाखों की तादाद

---

*1 The white Umbrella—Indian Political thought from Manu to Gandhi
—Dr. D. Mackenzie Brown, university of California Page 156.
2. Rammohan to Ramkrishna by F. Maxmuller.
3. Rammohan Roy—Iquabal Sinh.

में भारतीयों ने कष्ट, त्यागमयी कारावास-यंत्रणा स्वेच्छा से स्वीकार की और जन-जन नई चेतना फैलाई। भारत के आर्थिक शोषण का प्रतीकार कर नई समाजवादी व्यवस्था का सूत्रपात भी इसी काल में हुआ। यह अवश्य है कि साम्प्रदायिकता के कृत्रिम प्रभाव और जिन्ना साहब की लीगी राजनीति के कारण देश विभाजित हुआ और दो अधिराज्य बन गये परन्तु १५ अगस्त १९४७ के बाद भारत में न केवल स्वतन्त्रय का सूर्योदय हुआ बल्कि राष्ट्र निर्माण का नया युग तेजी से शुरू हो गया।

गाँधीवाद भारत की वास्तविक स्थितियों से उत्पन्न विशिष्ट विचारधारा है जिसमें संघर्ष और निर्माण, आलोचना और रचना, परिवर्तन और दृढ़ता, आन्दोलन और संगठन, त्याग और संप्राप्ति सबका सामञ्जस्यपूर्ण संतुलन है। जीवन की प्रवृत्तियों को मुक्तरूप से वासना की वल्गा देकर छोड़ देना अभीष्ट नहीं बल्कि संयम, अनुशासन की कष्टसाध्य चेतना नवपथ की सत्प्रेरिका है। वैदिक विदग्धता, बौद्ध शील और अनुशासन, जैन स्याद्वाद, वेदान्ती आत्मवाद, उपनिषद् प्रेरित ईशावास्यवृत्ति, संत-सूफियों का प्रेमोन्माद, विविध धर्मों का ऐक्यमूलक सार्वभौम समन्वय, टामस हिल ग्रीन और हेनरी डेविड थोरो की स्वतंत्र-चेतना तथा भद्र अवज्ञा की योजना, रस्किन की "अन टु दिस लास्ट" पर आधारित समत्व-दृष्टि, टालसटाय, क्रोपाटकिन की सहयोगी शांतिवादी नियोजना, क्वेकर, दुखोवासे, निहिलिस्ट और धर्माचार्यों की विरक्तिवादी प्रेरणा, अर्थ शास्त्र की नवीनतम उपलब्धियाँ, समाजवादी लक्ष्यों का निर्धारण, साध्य-साधन शुचिता, अहिंसात्मक आंदोलन का सतत प्रयोग, यन्त्रीकरण और पूंजीवाद का निषेध ये सब गांधीवाद की व्यापक परिधि में समाहित हुए। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस माध्यम से भारत की पतनोन्मुख पराधीन वृत्ति का अन्तकर अभिनव रचनात्मक पथ पर लाने का प्रयास तो हुआ ही, साथ ही विश्व की गंभीरतम समस्याओं के समाधान की एक नई दिशा भी दिखाई दी। भारतीय समाजवाद तथा अन्य आनुषंगिक विचारधारायें गांधीवादी अन्तःप्रवाह से प्रक्षालित हैं और जैसा कि एशियाई समाजवादी सम्मेलन रंगून में घोषित किया गया, भारत इन नवीन प्रयोगों पर दृढ़ है। गांधी जी के नेतृत्व में विभिन्न विद्वानों और विचारकों ने अपने-अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। संयोगवश आज भी उनकी भिन्नता कायम है। राजनीतिक पार्थक्य ने इन्हें दूर-दूर रखा है। लोकनीति की व्यापक पार्श्वभूमि में शायद इनका सम्मिलन भी हो सकता है। पं० जवाहर लाल नेहरू ने फैजपुर कांग्रेस (१९३७) के अवसर से ही समाजवाद को नई चेतना

को आत्मसात् करने का आह्वान किया और आवाड़ी कांग्रेस (१९५३) तथा नागपुर कांग्रेस (१९५८) में सहकारी समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की। सुभाष बोस भारतीय राजनीति के श्रेष्ठतम प्रणेता थे, उनके विचार आध्यात्मिक भौतिकता पर केन्द्रिता रहे स्वातन्त्र्य संग्राम में अपने त्यागमय बलिदान से उन्होंने दुनिया के सामने नया दृष्टि-कोण रखा यद्यपि कतिपय प्रश्नों पर उनके गम्भीर मतभेद थे। श्री जयप्रकाशनारायण भारतीय समाजवाद के शैशव में अधिक सक्रिय रहे, उन पर भी गांधीवादी प्रभाव पूरी तरह पड़ा। युगों के व्यापक अनुभव और परिवर्तनों ने उन्हें सर्वोदय की आस्था में दृढ़ बनाया। "समाजवाद से सर्वोदय" शीर्षक पुस्तिका में उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से इस वैचारिक क्रान्ति या संक्रमण की प्रकिया को समझाया है। स्व० आचार्य नरेन्द्र-देव दृढ़ सिद्धांतवादी और बौद्ध दर्शन से प्रभावित थे, समाजवाद के सांस्कृतिक मूल्यों के प्रख्यात व्याख्याता थे। स्व० एम० एन० राय गांधीवादी कभी नहीं रहे लेकिन साम्यवादी विफलता से उग्र मानवतावाद (Radical humanism) तक पहुँचते-पहुँचते वे उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे जो गांधीवाद को प्रिय थे। डा० राममनोहर लोहिया, गांधीवाद के कट्टर अनुयायी थे, विशेषतः उनकी राजनिति के सविनय अवज्ञा या सिविल नाफरमानी के पथ को उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपनाया था। डा० लोहिया का विद्वत्तापूर्ण अनुदान "मार्क्स के वाद अर्थनीति" (Economics after Marx)* है, विश्व-सरकार और चौखंभा राज्य की मौलिक उद्भावनाओं के प्रवर्तक हैं। श्रीपाद अमृत डांगे, अजय घोष और ई० म० शंकरन् नम्बूद्रिपाद साम्यवादी होते हुए भी गांधीवादी आदर्शों की ओर ही उन्मुख हैं, कम से कम सार्वजनिक जीवन में उसकी अपेक्षा नहीं कर सकते। इस तरह आज का सामाजिक राजनीतिक जीवन गांधीवाद की विशिष्टताओं को अंगीकृत किये है, अन्य देशों में भी इस दिशा की ओर मुड़ने की प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही हैं। इस प्रसंग में सर्वोदय सिद्धान्त (जिसकी प्रेरणा गांधीजी ने आजीवन दी) का परिचय और उसके अभिनव शिल्पी आचार्य विनोबा भावे का उल्लेख महत्वपूर्ण है।

सर्वोदय की पृष्ठभूमि में निहित विचारों में प्रमुखतम है सहयोग या समन्वय की भावना। वर्ग संघर्ष अथवा तथाकथित अन्तर्विरोधों का उपशमन करके विभिन्न वर्ग समुदाय, हित में सामंजस्य और सहकारिता के भाव जगाना इसका लक्ष्य है। उपयोगितावादी संख्यामूलक सिद्धांत, जो अधिकतम व्यक्तियों के अधिक-तम सुख (greatest good of the greatest numbers) की

---

* Fragments of World Mind—Dr. R. M. Lohia.

कल्पना पर आधारित है, सार्वजनिक कल्याण का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि संख्या के फेर में मनमाने अर्थ लिये जाते हैं। अतएव समग्ररूप से पूरे समाज का, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्तर्भूत है, कल्याण करना सर्वोदय का लक्ष्य है। इसी भाँति सीमित प्रजातंत्र या प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था की एकांगिता का निराकरण इसमें किया जाता है। विकेन्द्रीकरण, ग्रामोद्योग, ग्राम-स्वावलम्बन, प्रन्यास-सिद्धांत (trusteeship), मर्यादित यंत्रीकरण आदि इसके विविध उपादान है। प्रन्यास सिद्धांत गांधीवाद का सार तत्व है जिसके अनुसार धनियों को अपनी संपत्ति का विनियोग समाजहित में, निर्धनों की सहायता में करना चाहिये। व्यापक रचनात्मक कार्यक्रम और मनोवैज्ञानिक भावधारा के आधार पर सर्वोदय की स्थापना हुई है।

*इसी परम्परा में आचार्य विनोबा भावे ने भूदान, संम्पतिदान, ग्रामदान आदि के विचार-सूत्र प्रसारित किये। भूदानयज्ञमूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसात्मक क्रान्ति की सप्तसूत्री योजना प्रस्तुत करते समय विनोबा जी ने सम्यक्जीवनदर्शन का प्रतिपादन किया। दरिद्रता का विनाश, नैतिक वातावरण लोकशक्ति निर्माण विद्वेषों का निराकरण, दृढ़ धार्मिक आस्था, शान्तिसेना ग्रामदान, विश्वशान्ति आदि की योजना से आदर्श रामराज्य का चित्रण किया है जिसमें त्रिविध परिवर्तन या तिहरे इन्कलाव (हृदय परिवर्तन, जीवन परिवर्तन, समाज परिवर्तन) की प्रक्रिया है। विनोबा जी के चिन्तन में साम्यदृष्टि सामान्य से विशेष की ओर, समष्टि से व्यक्ति की ओर, आगमनात्मक से निगमनात्मक तत्व की ओर प्रवाहित है। गांधीजी द्वारा प्रचारित जनमानस की भूमिका पर आध्यात्मिक अद्वैत और एकत्वबोध की स्थापना के इस लोकाश्रित, शोषणहीन, पक्षातीत, जनतांत्रिक समाजरचना पर सर्वसेवासंघ की अवधारणा स्पष्ट है। राज्यसंस्था तथा दंडनीति का विघटन करके लोकनीति और जनबल का निर्माण करने के लिये सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम (सौम्य-सौम्यतर-सौम्यतम) असहयोग अर्थात् सचेतन उदासीनता का आह्वान करना है। अपनी सर्वांगीण दृष्टि तथा शक्ति से स्वतन्त्र लोकसत्ता का संगठन करने में लग जाना विधायक कार्य है। यह सक्रिय, गतिशील, दूरदर्शी, क्रान्तिदर्शी, शोध-कार्यक्रम है—प्रत्यक्ष जनशक्ति के निर्माण में यह सृजनात्मक कार्य है। वस्तुतः आज के बहुसंख्यक विचारक

---

*समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय—भगवानदास केला

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह। शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्रभयवर्जन। सर्वधर्मसमानत्व, स्वदेशी स्पर्शभावना। विनम्र व्रतसेवा के ये एकादश सेव्य हैं।

शासनहीन राज्यमुक्त समाज का विचार रखते हैं। वे इसे मानते हैं कि अन्त में राज्यसंस्था सूख जावेगी (The state shall wither away) लेकिन प्रश्न यह है कि वह हो कैसे ? जब तक मनुष्य के मानस में कोई वस्तु भरपूर रहती है, तबतक वह चीज लोकसमाज में सूख नहीं सकती। मनुष्य का मन तथा दिमाग ही मुख्य वस्तु होता है। जिसके दिमाग में पीपल के पेड़ का भूत रहता है, उसके लिये उस पेड़ पर वास्तविक भूत भी रहता है और वह उसे प्रत्यक्ष भी करता है। जो चीज नहीं है, वह दिमाग में आते ही प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाती है, तब जो चीज है उसे सुखाने के लिये क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम पहले इसे दिमाग से ही सुखा डालें और समाज का काम उससे उदासीन रहकर ही चले, ऐसा प्रयास करें ?* सर्वोदय दर्शन का स्पष्टीकरण करते हुए दादा धर्माधिकारी ने यह बताया कि सांस्कृतिकस्तर पर इसका क्रम यही है कि शासन की ओर से अनुशासन की ओर चलो, सत्ता की ओर से स्वतन्त्रता की ओर चलो, नियन्त्रण की ओर से संयम की ओर चलो और अधिकारों की स्पर्धा की ओर से कर्तव्य की ओर, आचरण की ओर चलो।† भौतिक प्रेरणा को अपर्याप्त और विध्वंसकारी मानकर प्रेम की, सदभाव की बौद्धिक और विधायक प्रेरणा (rational and positive incentive to goodness) ही सर्वोदयाश्रित रामराज्य की प्रमुख शक्ति बताई जाती है। मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष के स्थान पर भेद-निराकरण और वर्ग-समन्वय इसका उद्देश्य है। हमारा उद्देश्य भेद का निराकरण और अभेद की स्थापना है। इसलिए हमारी क्रान्ति की प्रक्रिया में सङ्घर्ष नहीं सख्य होना चाहिये। सख्य से ही अद्वैत की स्थापना करने के लिये समन्वय की, विरोधों के निराकरण की आवश्यकता है।§ इस प्रकार विचार-प्रवाह चल रहा है, कोई शब्द या वाद अन्तिम नहीं है, सापेक्ष-सातत्य ही इसका स्वाभाविक क्रम है। एमिलबर्न्स का कथन-मार्क्सवाद ही नहीं दुनियाँ के समस्त वादों पर लागू है कि जैसे-जैसे सांसारिक ज्ञान, अनुभव और आदर्श में अभिवृद्धि होगी सिद्धान्तों में परिवर्तन होते जावेंगे। कोई विचार सम्पूर्ण सिद्धांत नहीं बन सकता। वैसा बनने पर वह सम्प्रदाय, वाद-विवाद के दुश्चक्र में फंसता है, घिस-पिटकर घिसा सिक्का बन

*राजनीति से लोकनीति की ओर—अ० भा० सर्व सेवासंघ प्रकाशन जनवरी १९५७, पृ० १०८—११०।

†सर्वोदय दर्शन—एस० टी० धर्माधिकारी पृ० ३७७।

§सर्वोदय दर्शन—ए० टी० धर्माधिकारी पृ० ६५।

जाता है। भारतीय विचारधारा इस तरह अन्य प्रतिरूपों की तरह प्रयोगात्मक स्थिति में है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पंचशील की सैद्धान्तिक स्वीकृति इसी प्रयोग और परम्परा का प्रक्षेप है। कुछ भारतीय विद्वानों ने प्राचीन विचारधारा के विकास में वर्ग-संघर्ष की पृष्ठभूमि देखने का प्रयास किया और मार्क्सवादी पद्धति से उसका विश्लेपण किया है। इस प्रकार के दृष्टिकोण में पूर्वाग्रह और असंगतियों को भी स्थान मिलने की आशंका रहती है (डा० भगवत्‌शरण उपाध्याय, श्रीपाद, अमृत डांगे, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त, वैजनार्थसिंह 'विनोद' डा० देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय आदि।)

डा० भगवतशरण उपाध्याय—भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेपण

श्रीपाद अमृत डांगे—भारत आदिम साम्यवाद से दासता तक।

डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त—हिन्दू सोशल पालिटी।

वैजनार्थसिंह विनोद—भारतीय जीवन की समाजवादी समीक्षा।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय—लोकायत—प्राचीन भारतीय भौतिकवादी अध्ययन।

संक्षेप में भारतीय विचारधारा का क्रमविकास इस प्रकार सुचित किया जा सकता है :—

प्राग्वैदिक समाज

(१) वैदिक आदिमयुगीन समूह तथा यज्ञप्रधान संस्कृति

(२) उपनिपद-कालीन आध्यात्मिक तथा समतावादी दृष्टिकोण

(३) गणराज्य और स्थानीय स्वातन्त्र्य वृत्ति

(४) पौराणिक वर्णाश्रम, कर्मकांड प्रधान समाज रचना।

(५) मनु-कौटिल्य-शुक्र आदि स्मृतियों का राजतन्त्रप्रधान विश्लेपण

(६) बौद्ध जैन-तंत्र-आगम—श्रमणसंस्कृति

(७) हिन्दू सामन्तवादी संस्कृति

(८) मुस्लिम राज्यव्यवस्था और सांकर्य

(९) मुगलकालीन समन्वय

(१०) सन्त-समाज द्वारा प्रेरित ऐक्यमूलक धारणाएँ

(११) राष्ट्रीय उन्मेष—अभिनव राष्ट्रीयता

(१२) नवयुगारम्भ—राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, परमहंस, लाल बाल-पाल, तिलक, गोखले, गांधी, साम्यवाद-समाजवाद की नई प्रवृत्तियाँ, वैज्ञानिक साम्ययोग।

आगे की दिशाएं धूमिल या अस्पष्ट नहीं हैं। किसी भी स्थिति में आज तक की अर्जित अनुभवराशि और सिद्धान्तवादिता का निषेध नहीं किया जा सकेगा। युगों तक गाँधीवाद की रश्मियाँ हमारा पथ अलोकित करती रहेंगी। भारतीय विचारधारा के मूल में विचार स्वातन्त्र्य के मुक्त निर्भर का यह अजस्र प्रवाह नहीं सूखने पायेगा।

———

१—मनु

(सन् १५० ई० के पूर्व अनुमानित प्रागैतिहासिक काल में)

भारतीय आर्य-संस्कृति की प्राचीनता के सम्बन्ध में और चाहे जितना विवाद हुआ हो, यह तो निर्विवाद है कि मानव-सभ्यता के उच्च शिखर पर वह संस्कृति-लता पुष्पित-पल्लवित हुई और उसने कोटि-कोटि नागरिकों के जीवन को सुरभित किया। समान्यतया ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व कल्पित इतिहास में आर्यों के आगमन, विस्तार तथा विकास की कहानी छिपी है। वेदों में वर्णित सभ्यता का उत्कर्ष उस युग की देन थी। आदिकालीन कथा इतिहास में वर्णित तत्वों से कहीं अधिक पुरानी है। भारतीय अध्ययन में वेदों के अतिरिक्त 'पुराणेतिहास' नाम से जिस विषय की कल्पना की गई है उसमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कुतूहलवर्धक पौराणिक आख्यान का सुन्दर समावेश है। मनु का नाम इसी कल्पित (या अकल्पित ?) इतिहास की पृष्ठिभूमि में उदात्त क्षात्र-धर्म के प्रथम प्रतिनिधि के रूप में आता है। प्रजापति होने के नाते उसने समस्त मानवी निधियों का संरक्षण-संवर्धन किया और आर्य जनता को ज्ञान-वैभव-समृद्धि के सोपान पर चढ़ाया। उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म मानव-धर्म के नाम से विख्यात है और वह आज भी संसार की प्राचीनतम् हिन्दू जाति के लिये श्रद्धा तथा गौरव की वस्तु है। वेदकालीन सभ्यता में एक ओर जहाँ भौतिक अभिवृद्धि तथा आध्यात्मिक नवचेतना के दर्शन होते हैं वहीं सामाजिक राजनीतिक चिन्तन में स्थायित्व, परिपक्वता तथा कल्याण-कारी मार्ग का अनुपम अनुसन्धान भी दिखाई देता है। मानव-सभ्यता के उस स्वर्णिम प्रभात में जब मनुष्य ने उदार नियमों तथा व्यवस्थित जीवनक्रम की ओर कदम उठाये उस समय उनके नियन्ता, शासक, प्रेरक महाप्राण मनु का यशोगान जोरों से हो उठा। सर्वप्रथम उसके ही नेतृत्व में मानवजाति विचारों, आदर्शों तथा जीवन-नियमों का सम्बल और पाथेय लेकर प्रशस्त राजमार्ग पर अग्रसर हुई। तब से आज तक मनुष्य ने निरन्तर प्रगति की है, पुरश्चरण (या अग्रदूत) होने से मनुष्य ने आजतक रुकना नहीं जाना, भले ही विनाश और पतन का ताण्डव सदैव होता रहा हो। भारतीय साहित्य में मनु की एक परम्परा मानी गई है और १४ मनु होने का अनुमान किया गया है। (स्वायं-

भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षष, वैवस्वत, दक्षसावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, इन्द्रसावर्णि, रौच्य, भौत्य। इनमें से सम्प्रति वैवस्वत मनु का काल चल रहा है।) प्रत्येक के वाद मन्वन्तर हुआ, जलप्लावन आया, नवसृष्टि हुई और नई सभ्यता उत्पन्न हुई। सर्व प्रथम स्वयम्भू मनु हुए और अन्तिम वैवस्वत मनु थे। शतपथ-ब्रह्मण में जलप्लावन की कथा सुमेरु, वेबिलोनिया, इजिप्ट, अरब आदि देशों के पौराणिक विवेचनों में भी पाई जाती है। क्रीट द्वीप के 'मिनोस', मिश्र देश के 'मेनीज' तथा हिब्रू साहित्य के 'नोआ' आदि सम्राटों की तरह मनु भी एक तरह से शासक-वंश का सूचक है जिसमें समय-समय पर महातेज, विशालवाहु, स्थितप्रज्ञ, कर्मयोगी राजा होते गये हैं। वैवस्वत मनु के बाद ही इक्ष्वाकुवंश प्रतिष्ठित हुआ जिसमें दिलीप, रघु आदि प्रतापी राजा हुए। रघुवंशियों की गौरवशाली परम्परा मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम' के बाद भी चलती गई। महाकवि कालिदास, भारवि आदि ने इन राजवंशों का व्यापक परिचय दिया है। गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञानयोग का रहस्य सर्वप्रथम विवस्वान् (सूर्य) को बतलाया और उससे मनु और फिर बाद में इक्ष्वाकुवंश के राजाओं ने प्राप्त किया।* 'आर्य महाप्रजाओं के युगान्तव्यापी जीवन की स्थिर आधार शिला का न्यास करने वाले जो अनेक महापुरुष हैं, उनमें मनु का नाम अप्रतिम तेज से प्रकाशित है।† वैसे मनु, वृहस्पति, शुक्र, याज्ञवल्क्य, नारद आदि आचार्यों के नाम भारतीय विधिशास्त्रियों (Law-givers) में उल्लेखनीय है। सृष्टि की उत्पत्ति, धर्मशक्ति, दण्ड, संस्कार, नित्य-नैमित्तिक धर्म-कर्म, आश्रम, राजधर्म, वर्ण, प्रायश्चित आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन इनके ग्रन्थों में किया गया है।

पौराणिक आख्यान तथा ग्रन्थ-परिचय :

ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में मनु के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में, जहाँ सर्वत्र जलमग्न संसार था, किसी अज्ञात, अनिवर्चनीय ईश्वरीय शक्ति से जीवोत्पत्ति हुई होगी। सृष्टि की उत्पत्ति का यह विज्ञान (Cosmology) वेदों में सूक्ष्म रीति से वर्णित है।§ पौराणिक कथाओं में जलप्रलय की कल्पना करके यह दर्शाया गया है कि भगवान्

---

*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥अ० ४॥१॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥

†. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—कला और संस्कृति—पृष्ठ ५२

§नासदीय सूक्तम्। (ऋग्वेद में)

पुराणपुरुष महासागर (वरुणालय) में शेषशय्या पर सुखासीन थे। समस्त लोक, भुवन तथा दिशाएं जीवहीन होने के कारण उन्होंने लोक सृष्टि की इच्छा की। उनके नाभिदेश से अन्तः प्रविष्ट सूक्ष्मतम तत्व से पद्मकोश की उत्पत्ति हुई। इस पद्मकोश में स्वयम्भू ब्रह्मा ने अधिवास किया। चारों ओर दृष्टि-निक्षेप करने के लिये उनके चार मुख हुए। सृष्टि की अभिवृद्धि के लिये उन्होंने तपस्या द्वारा शक्ति-संचय किया। उनके तेज से सनक, सनन्दन आदि ऋषि हुए। फिर रुद्र, मरीच, अत्रि, अंगिरस, भृगु, वशिष्ट, नारद आदि तेजस्वी ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ। फिर भी प्रजावृद्धि अपेक्षानुकूल न हो पाई। तब स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने आपको दो खण्डों में विभाजित कर लिया। इनसे पुरुष तथा स्त्री की अलग-अलग उत्पत्ति हुई, पुरुष स्वायम्भुव मनु था और स्त्री शतरूपा थी। मनु-शतरूपा के साहचर्य से प्रियव्रत, उत्तानपाद ये दो पुत्र हुए तथा आकूति, देवहूति, प्रसूति ये तीन कन्या उत्पन्न हुईं।* प्रियव्रत ने विश्वकर्मा प्रजापति की कन्या वर्हिष्मती से विवाह किया और अग्नि आदि पुत्रों तथा उर्जस्वती पुत्री को जन्म दिया। उस वंश में यशस्वी, विख्यात ऋषभदेव, भरत आदि राजा हुए। उत्तानपाद तथा उनकी पत्नी सुनीता से ध्रुव नामक विश्व-विख्यात पुत्र हुआ जिसने मधुवन में घोरतपस्या करके ईश्वरीय स्थान प्राप्त किया। फिर ब्रह्मावर्त क्षेत्र में सम्राट् मनु की कन्या देवहूति से परिणय करने के लिये स्वयं भगवान् हरि आये और उनसे कला आदि कन्यायें, असंख्य अवतार तथा कपिलमुनि आदि उत्पन्न हुए। उनके कन्याकुल में दत्त, दुर्वासा, कुबेर, रावण, विभीषण, मार्कण्ड आदि बलशाली योद्धा तथा व्यक्ति हुए। आकूति का विवाह रुचि नामक ऋषि से हुआ और उनसे यज्ञरूप विष्णु पुत्र तथा दक्षिणा उसकी पत्नी हुई। तीसरी कन्या प्रसूति का विवाह ब्रह्मपुत्र दक्ष के साथ हुआ। उनके भी आगे कई सन्तानें हुईं। इस प्रकार मनु से उत्पन्न मानव-परिवार निरन्तर वर्धमान रहा और सृष्टि उत्तरोत्तर विशालतर होती गई। एक छोटा-सा बीज विशाल वटवृक्ष (न्यग्रोध) के रूप में बदल गया। यही मानव-वंश है। मत्स्यपुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा हरिवंश-पुराण में भी इसी प्रकार का कथानक कुछ हेर-फेर के साथ वर्णित है। इस प्रकार के कथानक से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आदिमकाल में सजातीय सूक्ष्मतत्व से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ लेकिन उसकी वृद्धि विजातीय तत्व के सद्भाव से ही

---

* पार्जिटर के अनुसार ९ पराक्रमी पुत्र मनु के हुए—(Vedic Age by Majumdar and Pusalkar, page 272)

हुई। उस युग में यदि स्वेच्छा-मिश्रण अथवा सगोत्र साहचर्य (Promiscuity and incest) दिखाई देता है तो वह भी संख्यावृद्धि या प्रजनन की परम्परा कायम रखने के लिये है। इससे ही विवाह की स्थायी संस्था उद्भूत हुई।

मनुस्मृति, मनुसंहिता या मानवधर्मशास्त्र ये एक ही ग्रन्थ के अलग-अलग नाम है जिसका सम्बन्ध मनु से है। श्रुति और स्मृति भारतीय जीवन में विधि तथा आचार के अनन्य स्रोत रहे हैं और उनकी सर्वत्र निर्विकार मान्यता रही है। इन्हें हम वैचारिक दाय (intellectual heritage) भी कह सकते हैं। क्योंकि स्वतंत्र मौलिक चिन्तन की एक विशष्ट दिशा इनमें सुरक्षित है। विधानशास्त्री होने के नाते मनु के लिये यह आवश्यक था कि विविध, क्रियाशील, वहुमुखी जीवन के लिये वह ऐसा विधान करता जिससे अनुशासन रखते हुए प्रजावृद्धि सुविधापूर्वक होती। पाश्चात्य देशों में (विशेषतः प्राचीन रोमन राज्य में) विधियों की विरासत विभिन्न संहिताओं द्वारा सुरक्षित रखी गई। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व सम्राट् जस्टीनियन (Justinian) के समय १२ खण्डों की संहिता (Twelve Tables) प्रचलित थी जो जीवन के प्रत्येक अंग तथा क्रिया-कलाप पर नियंत्रण, नियमन, संचालन करती। मनुस्मृति भी १२ अध्याय में विभक्त है और रोमन ग्रन्थों में वर्णित सभी विषयों से सम्वन्ध रखती है। जिस प्रकार रोमन विधान में १० विद्वानों की परिषद् (Decemvirate or Council of ten) का उल्लेख है उसी तरह मनु ने भी दशावरा परिषद् का संकेत किया है। अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि मनु के कई वर्षों बाद विद्वानों ने उनकी यशोगाथा लिखने के साथ ही उनका अनुदाय अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये योजना की और विभिन्न विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किये। वैसे मनुस्मृति भृगु ऋषि या उनके वंश (भार्गव) से सम्बन्धित किसी विद्वान्-विशेष की कृति मालूम होती है। मनुस्मृति के प्रारम्भ में ही एक संवाद है जिसमें ऋषियों ने ध्यानस्थ मनु से धर्मरहस्य जानना चाहा और उन्होंने प्रवचन प्रारम्भ किया। कुछ समय वाद भृगु को यह कार्य उन्होंने सौंप दिया। भारतीय तथा पाश्चात्य विशेषज्ञों ने मनुस्मृति तथा महाभारत में रचनासाम्य दर्शा कर यह सिद्ध किया है कि यह ग्रन्थ (मनुस्मृति) ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं है। डा० हण्टर के मत से मनुसंहिता का रचनाकाल ईसा के लगभग ६०० वर्ष पूर्व का है। डा० काल्डवेल और एलफिन्सटन आदि विद्वान् उसे और प्राचीन अर्थात् ईसा के ६०० वर्ष पूर्व का मानते हैं। सर विलियम जोन्स और विलिसन ने

उसे ईसा पूर्व ८वीं सदी का माना है। कुछ लोग रामायण, महाभारत से भी प्राचीन उसे मानते हैं। विश्वास किया जाता है कि प्रारम्भ में एक लाख श्लोक थे घटते-घटते बारह हजार हो गये, लेकिन वर्तमान संस्करणों में केवल ढाई हजार के लगभग श्लोक ही प्राप्त होते हैं। वैवस्वत मनु का समय ईसा पूर्व ३११० वर्ष माना जाता है और वही मानव सन्तति का जनक है। भूमि की उपज का षड्भाग उसने कर रूप में ग्रहण कर शासन का कार्य चलाया (देखिये The Vedic Age, edited by R. C. Majumdar and Pusalker पृष्ठ २६८-२७२)।

डा० बूलर (Dr. Buhler) ने महाभारत के लगभग ३०० श्लोकों के साथ मनुस्मृति के श्लोकों की तुलना की और उनमें विचित्र साम्य पाया। डा० सुकथनकर ने 'भृगु' पर शोध करने के उपरान्त यह सिद्ध किया कि महाभारत की रचना में उनका हाथ रहा होगा। डा० कीथ ने भी यह माना है कि पहले मानव-धर्मसार वेदों के प्रातिशाख्यों (aphorisms) की तरह था और उसका संबंध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से रहा। यह शाखा एक संस्था-विशेष या चरण (Institutions) से सम्बन्धित थी जिसमें एक विशेष विचार-प्रकार (school of thought) का जन्म हुआ। उसी के चारों ओर धर्मसूत्र की रचना हुई। अन्य संहिताओं में भी जो वेदकालीन हैं मनु का उल्लेख बार-बार आता है। धर्मशास्त्रों की अविच्छिन्न परम्परा भारतीय साहित्य तथा जीवन-दर्शन में उपलब्ध है। डा० सरकार के अनुसार मनुस्मृति का काल सन् १५० ई० से अधिक पुराना नहीं है। श्रुतियों में इस बात का उल्लेख है कि जो कुछ मनु ने कहा वह औषधि की तरह है।* जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने मनुसंहिता को बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट, बौद्धिक तथा परिष्कृत पुनीत ग्रन्थ माना है।† मनु की विशेषता यह है कि वह वैदिक कर्मयोग संवर्धक है, पारलौकिकता का विरोध करता है और इसी लोक में (Here and now) सबल, सजग सुविचारपूर्ण मानव जीवन की प्रतिष्ठा करता है। विरक्तिवाद, संशयवाद अथवा निस्तेज सुखवाद का वह विरोधी है, सक्रिय कर्मवाद (Positive activism) उसका अभीष्ट है। ग्रंथों में ३ प्रकार के ऋण बतलाये गये हैं, ऋषि-ऋण, देवऋण और पितृऋण। लेकिन इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण है समाज-ऋण जो पूरी संस्कृति का संरक्षक है। मनु ने उस प्राचीनकाल में समाज-ऋण का

---

*"यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्" इति श्रुतिः ॥ मनुस्मृतिभूमिका

†"The law book of Manu is an incomparably greater intellectual work than the Bible"

पूरा-पूरा भुगतान किया और उसकी देन समाज को अद्वितीय रही। मनु से पूर्व भी नाना प्रकार के पुराण या पन्थ थे लेकिन उनमें परस्पर इतना विरोध था कि किसी एक की सर्वमान्यता न थी। विचारों की अराजकता के बीच धर्म और अनुशासन के बल पर जीवन-चक्र प्रवर्तित करने का श्रेय सर्वप्रथम मनु को है। सभ्यता तथा उसके प्रगतिशील पहलू ने भले ही आज हमारे जीवन में आमूल परिवर्तन किया हो लेकिन उसके इतिहास में मनु का नाम सदैव देदीप्यमान रहेगा। मानववंश का आदि प्रवर्तक, अप्रत्याशित संघर्षों से लोहा लेने वाला, सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता, संयम-संस्कार अनुशासन का अन्यतम उपासक, धर्मतत्व का उद्घाटक, पुरुषार्थ की प्रतिमा, समस्त मानवीय गुणों से युक्त मनु निश्चय ही प्रथितयश, भूरितेज, धीमान्, परमकारुणिक, अलौकिक तथा दिव्य महापुरुष है। धर्म और राजधर्म का यह सर्वप्रथम व्यवस्थित व्याख्याता है।

समाज व्यवस्था तथा धर्म :

आर्यों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उन्होंने कृषि का आविष्कार किया और उनकी संस्कृति मूलतः कृषि-प्रधान थी।* वैदिकयुग में सृष्टि के प्राकृतिक तत्वों का सामयिक सन्निपात एक नई कल्पना का जन्मदाता बना। चैतन्यस्वरूप के प्रीद्भासित अंशों तथा कणों के रूप में प्राचीन आर्यमानव ने शक्ति की उपसना की और समस्त प्रकृति को प्राणवान् (anthropomorphism) बनाया। समाज-रचना का मूल आधार चातुर्वर्ण्य संगठन था। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण थे जो प्रवृत्ति, व्यवसाय तथा गुणों के अनुकूल पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित थे। आर्थिक आधार पर वर्गों का जन्म होता है जो समय पर वर्ग से समन्वित हो जाति का रूप ग्रहण कर लेता है। जाति-तत्व में आनुवंशिक रक्त-सम्बन्धी विशेषता के साथ सांस्कृतिक वैचित्र्य के जमने और दृढ़ होने की प्रक्रिया (entrenched and encrusted) रहती है। जाति का स्वरूप निर्णय करने में सामाजिक दृष्टि से परिणय तथा भोजन व्यवस्था (बेटी-रोटी या connubium and commensality) का बड़ा हाथ रहता है। तो प्राचीन समाज में ४ वर्ण पहले-पहल समाज के लिये अनिवार्य रूप से बने जिनमें कार्य-विभाजन (Division of labour) तथा विशेषज्ञता (specialisation) के सिद्धान्त का समन्वय किया गया था।† व्यवसायी वर्गों के समूह भी बनते गये,

*स्व० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की व्याख्या।

†The Vedic Age, page 384-386.

ग्राम, जन, कुल, विश, श्रेणी आदि इकाइयाँ भी धीरे-धीरे बनती गईं। ब्राह्म धर्म बौद्धिक श्रेष्ठता का सूचक था, अध्ययन-अध्यापन, ज्ञानदान, यही ब्राह्मणों का प्रमुख कर्तव्य था। क्षात्रधर्म शक्ति-संचय तथा संरक्षण का सूचक था, समस्त आपत्तियों से समाज की रक्षा करनेवाले उग्र वीर क्षत्रिय थे। वैश्य-धर्म उत्पादन, वितरण, उपभोग के नियन्त्रण के फलस्वरूप सम्पत्ति तथा समृद्धि का रक्षक था। शूद्र-धर्म श्रम तथा सेवा का सम्मिलित रूप होने के कारण समाज के लिये उतना ही उपयोगी तथा मान्य था जितना ब्राह्मधर्म। इस तरह की कल्पना में सबसे पहले समाज को सावयव (Organism) रूप में देखा गया। प्रत्येक अपने आप में स्वतन्त्र किन्तु समाज में सापेक्ष तथा अन्योन्याश्रित था। मनु ने अपनी सारी व्यवस्था में इसी श्रेष्ठ संगठन की रक्षा के उपाय बताये हैं। इस तरह के संगठन में जो वर्गों में विभाजित था, कभी-कभी वर्ग-संघर्ष के दृश्य भी उपस्थित होते थे।* जीवन में आध्यात्मिकता प्रमुख थी किन्तु इससे यह अनुमान करना कि भौतिकता की उपेक्षा की गई थी, गलत होगा। वास्तव में भौतिक समृद्धि की सिद्धि के बाद ही आध्यात्मिक चिन्तन की व्यवस्था की गई थी। मनु ने भी इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि तीनों ऋणों से (देवऋण, पितृऋण ऋषि ऋण) मुक्त होने पर ही मनुष्य आध्यात्म-चिन्तन की ओर बढ़ सकता है। मनुप्रणीत आदर्श जीवन में लौकिक, पारलौकिक गुणों का सम्मिश्रण है। उसमें भोग और वैराग्य, संग्रह और त्याग, व्यक्ति और समष्टि, प्रगति और परम्परा, अभ्युदय और निःश्रेयस् एक दूसरे से पूर्ण सम्पृक्त हो जाते हैं। घड़ी के कांटों की तरह धर्मशास्त्र प्रत्येक क्षण की सूचना देता है, देश-काल पर नियन्त्रण रखता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति का जीवन-विभागचक्र (Time table) द्वारा नियंत्रित है। वर्ण के साथ ही आश्रम व्यवस्था बनी हुई है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन आश्रमों का उद्देश्य है व्यक्ति को अपने तत्कालीन कर्तव्य के प्रति सजग रखना और उससे अधिक से अधिक लाभ समाज के लिये प्राप्त करना। वर्णाश्रम में भले ही सामाजिक, शैक्षणिक, तथा जातिगत पक्ष रहे हों लेकिन यह मूलतः राष्ट्रीय तथा राजनीतिक धारणा है। (Varnashrama though obviously a socio-pedagogic and ethnico-economic term, is thus fundamentally a political concept—Dr. B. K. Sarkar—

---

*देखिये—भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण—डा० डा० भगवत शरण उपाध्याय तथा Studies in Social Polity by Dr. Bhupendra Nath Dutta.

The Political Institutions and theories of the Hindus—Page 214)

इनके साथ ही संस्कारों का महत्व भी है जो अतीत का एक पृष्ठ बन्द करने के बाद नये तथा रोचक पृष्ठ का अनावरण करते हैं। १६ संस्कारों का उद्देश्य है व्यक्तित्व का पूर्ण विकास (Development of personality) करना। यज्ञों का महत्व भी समाज में था और पंच महायज्ञ के द्वारा लोक-मंगल सम्पादित होता था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर जीवन केन्द्रित था। सारांश में पूरा समाज सर्वव्यापी धर्मचक्र से संचालित था। 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।'

धर्म के सम्बन्ध में कई तरह की धारणायें उस युग में प्रचलित थीं। मीमांसकों ने प्रेरणायुक्त अर्थसिद्ध को धर्म माना था। तार्किकों ने प्रतिषेधात्मक (negative) व्याख्या की और कहा कि अधर्म का विनाश करने वाला धर्म है। ब्रह्मविद्यावेत्ताओं ने योग द्वारा आत्मदर्शन को ही सर्वोत्तम धर्म माना। सम्प्रदायवादियों ने 'अचारः परमोः धर्मः' कहकर प्रत्यक्ष कर्मकाण्ड खड़ा कर दिया। अन्य विचारकों ने इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार का लौकिक उपाय धर्म को माना। इस तरह धर्म विभिन्न उद्देश्यों के सम्पादनार्थ जीवन-क्रिया (modus operandi) या काम करने का विशेष ढंग था। मनु ने महाभारत में वर्णित धर्मतत्व को स्वीकार किया और धर्म को प्रजा तथा समाज को धारण करने वाली निर्णायिका शक्ति के रूप में माना।* यह धर्म वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मविवेक में निहित है। यज्ञ, व्रत, तप, संकल्प आदि के द्वारा धर्म मनुष्य को विजेता तथा प्रतापी बनाता है, उसे जीवन संघर्ष के योग्य सम्पन्न-सुसज्जित योद्धा बनाता है! धर्म ही व्यक्ति की रीढ़ है।

धर्म राज्य का सहगामी अथवा सहोदर है क्योंकि धर्म के अभाव में राज्य का अस्तित्व नहीं है, केवल मात्स्य-न्याय का ही बोलबाला है। मात्स्य-न्याय के रहते उठाईगीरों या डाकुओं का आतङ्क (Banditry or tyranny of

---

*धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः ।। वेदव्यास ।।

वेदस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।। मनु० अध्याय २ ।।१२।।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो योधर्मः ।। ।। ।।—मनुस्मृति

robbers) फैला रहता है। अवस्था नैतिकता तथा आचार का निषेध, सम्पत्ति का निराकरण तथा विधि न्याय का प्रतिवाद है, यह अराजक स्थिति या राज्य का सर्वथा अभाव है। धर्म के नाम पर ही मात्स्य-न्याय गायब हो जाता है। धर्म के सम्बन्ध में अलग-अलग मान्यताएँ ग्रहण की गई हैं। पहले तो धर्म का सामान्य अभिप्राय उपासना-आराधना-आचार सम्बन्धी विभाग (a cotegory of theology) है, जैसे हिन्दू-धर्म, ईसाई-धर्म, यहूदी, मुस्लिम-धर्म, बौद्ध-जैन धर्म आदि। दूसरे, नैतिकता के अंग के रूप में धर्म, सद्गुण या सदाचार का पर्याय है। विधिशास्त्रीय समीक्षा में धर्म सामान्य विधि का सूचक है। न्याय तथा कर्तव्य का बोध भी धर्म से होता है। राज्य यदि विधायिनी संस्था है न्यायप्रदायिनी तथा कर्तव्यप्रेरिका है तो वह केवल धर्म के कारण। इसीलिये धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र विशद रूप से प्रत्येक क्रिया पर प्रकाश डालते हैं। मनु ने धर्म की व्याख्या करते हुये उसे राग-द्वेष से परे सज्जन विद्वानों द्वारा व्यवहृत तथा अन्तःकरण द्वारा अनुमोदित विवेक कहा है (विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो धर्मः··· अध्याय २। श्लोक १) आपस्तम्ब, वशिष्ठ, बौधायन, याज्ञवल्क्य आदि के ग्रन्थों में इसका ही अनुमोदन किया गया है। धर्म के साथ ही दण्ड-शक्ति का भी अभ्युदय हुआ है जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी। यहाँ इतना ही उल्लेखनीय है कि धर्म के फूल जिस वृक्ष में फूलते हैं उसकी जड़ दण्ड है। मनुसंहिता में देशधर्म, जातिधर्म कुलधर्म तथा गणधर्म (या समूह-धर्म) पर पूरा-पूरा प्रकाश डाला गया है इसके साथ ही धर्म का व्यतिक्रम होने पर प्रायश्चित-विधान (पाखण्ड-धर्म) भी किया गया है। धर्म शाश्वत तथा सार्वभौम है। आपद्धर्म की व्याख्या भी की गई है। स्वधर्म ही व्यक्ति का सब कुछ है, धर्म का वैयक्तिक श्रेष्ठांश है, इसीलिये स्वधर्म की रक्षा हर हालत में श्लाघ्य है (देखिये श्रीमद्भगवद्गीता 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। अ० ३। श्लो० ३५। (Varnashrama is but swa-dharma writ large—Dr. B. K. Sarkar Page 213) राजा भी धर्म की अवहेलना नहीं कर सकता। धर्म की ग्लानि अथवा अवमानना होने पर प्रलय-महाप्रलय होता है जिसका अर्थ है पूर्ण विनाश !

आचार तथा व्यवहार में धर्म का स्थायी रूप निरूपित करते हुए मनु ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य सत्य-पथ का अनुसरण करे, दुष्ट मनोभावों या विकारों को दूर रखे। आचारमूलक धर्म सत्य-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है। दशलाक्षणिक धर्म से मनु का अभिप्राय उन उपादेय गुणों से है और

जीवन को उदात्त, यशस्वी तथा तेजोमय बनाते हैं।* यह धर्म नैतिक, सात्विक तथा नित्य है। अतएव समाज में उत्कृष्ट नागरिक बनाना जो अपने कर्तव्य अधिकारों के प्रति सजग हों मनु का उद्देश्य है। केवल प्रजनन ही नहीं बल्कि श्रेष्ठ परम्परा कायम रखना, उसे बढ़ाते रहना समाज की अनिवार्य आवश्यकता है।

राजतन्त्र, राजधर्म तथा राष्ट्रधर्म :

मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि-रचना के बाद प्रकृति अर्थात् प्रजा का नियंत्रण करना आवश्यक था। ऐसे समय की कल्पना भी प्राचीन साहित्य में की गई है जब स्थिति भयावह थी, ठीक उस तरह जिस तरह हाब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था में थी। ऐसी दशा को अराजकता की संज्ञा दी गई है जिसमें न राजा था, न राज्य; न दण्ड, न दण्ड देनेवाला, ऐसी भीषण दशा में केवल धर्म के सहारे प्रजाजन पारस्परिक रक्षा करते थे।† इसे ही मात्स्य-न्याय कहा गया है। दूसरे शब्दों में इसे सुन्दोपसुन्द-न्याय भी कहते हैं (पौराणिक कथानक के अनुसार तिलोत्तमा अप्सरा के प्रति आसक्ति रखनेवाले ये दोनों राक्षस आपस में लड़कर मर गये)। इसका अर्थ है एक ही-सी कामना या ऐषणा की प्राप्ति के लिये निरन्तर संघर्ष। इस स्थिति का अन्त करके राजा की नियुक्ति की गई। यह कार्य ईश्वर द्वारा हुआ या प्रजा द्वारा यह प्रश्न विचारणीय है। यहीं हमें दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की जाँच करनी है। एक तो दैवी सिद्धान्त और दूसरा अनुबन्ध सिद्धान्त। मनुस्मृति में उस अवस्था का उल्लेख है जबकि सर्वत्र भय कातर, संत्रस्त समाज अस्त-व्यस्त था। उसकी रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की रचना की।'

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
मनु० अध्याय ७ (श्लोक ३)

प्राचीन समाज व्यावस्था में इस राजा या शासक का पद महत्वपूर्ण रहा है और एकतंत्र व्यवस्था प्रचलित रही भले ही उसका रूप बदलता रहा।

---

*धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १६ ॥ ६२ ॥ मनुस्मृति

†नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्। महाभारत ५६ ॥१४॥

मनु ने भी सर्वतेजोमय राजा* का विवेचन किया और उसे नियन्ता, रक्षक, प्रतिपालक आदि गुणों से विभूषित किया। इस राजा की रचना इन्द्रादि देवों के श्रेष्ठ अंशों के समन्वय से हुई ('सुरेन्द्राणां मात्राम्यो निर्मितो नृपः।' मनु ७।५)। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, धर्मराज, कुवेर, वरुण, इन्द्र इन आठ अमर तत्वों के संघात से राजा बना।† ये आठों विश्व के रक्षक, पोषक, प्रसाकर हैं। इनके श्रेष्ठ अंशों से निर्मित होने के कारण राजा मनुष्य रूप में साक्षात् महान् देव ही है, उसकी अवमानना अक्षम्य है ('वालोऽपि नावमन्तव्यः')। अन्य पार्थिव पदार्थों से अधिक शक्तिशाली तथा श्रेष्ठतम राजा है। पृथ्वी पर वही अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुवेर, वरुण, इन्द्र की तरह प्रतापी या प्रभावशाली है। यह राजा देशकाल के अनुरूप कार्यसिद्धि के लिये अपनी शक्ति का प्रक्षेप चारों ओर अनेक रूप से करता है। राजा धर्मचक्र के साथ ही युगचक्र का प्रवर्तक है और युग-निर्माता भी वह है, स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह आदि युग उसकी ही प्रेरणा के प्रतिफल हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह ईश्वरकृत राजा दैवी अंशों से उत्पन्न होने के फलस्वरूप श्रेष्ठतम है अथवा पहले से ही वैसा है। कुछ लेखकों (घोपाल प्रभृति) ने राजप्रकृत्ति को दैवी मानते हुए कहा है कि राजा पहले से ही सर्वशक्तिमान् तथा सार्वभौम है, निरपेक्ष रूप से वह स्वतन्त्र तथा अनुत्तरदायी है, अद्वैतवादियों की संप्रभुता-कल्पना की तरह उसका स्वरूप है। किन्तु डा० विनयकुमार सरकार तथा अन्य विद्वानों ने सामाजिक संविदा अथवा समझौते के मार्ग का अन्वेषण किया है। डा० जायसवाल के अनुसार वौद्धकालीन युग में राजा निमित्त-मात्र था अथवा वेतनभोगी कर्मचारी की तरह था जो चाहे जब अलग किया जा सकता था। पूरे हिन्दू राज्य-शास्त्र में किसी न किसी रूप में समझौते की बात को स्थान दिया गया है, कभी-कभी निरंकुश राजा की कल्पना भी की गई है। मनुसंहिता में इन दोनों बातों का समावेश मालूम होता है। क्योंकि ईश्वरकृत होने के साथ ही राजा समय (compact or consideration) द्वारा नियन्त्रित है। समय की अवहेलना करने पर राजा अपदस्थ किया जा सकता है। कर्मच्युति के अपराध में उसे कार्षापण दण्ड व्यक्ति से हजार गुना अधिक दिया जा सकता

---

*'यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥७॥ ११॥ मनु०'

†सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७।७॥'

है। प्रजारक्षण से उपरत होने पर राजा पाप-भागी होता है और सफल होने पर पुण्य लाभ करता है। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि राजा की हत्या (regicide) तक करने का विचार प्रतिपादित किया गया है। इस तरह एकतन्त्रवाद की मौलिक कल्पना में दैवी सिद्धान्त जोड़ते हुए सामाजिक अनुबन्ध से सूत्र भी बिखरा दिये गये हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि दैवी अभिधान मात्र से राजा योग्य नहीं बन जाता। उसे कृतसंस्कार होना पड़ता है। अर्थात् राजा के योग्य गुणों का सम्यक् विकास करना पड़ता है। कृत-संस्कार राजा ही प्रजा की रक्षा कर सकता है, संस्कारों का विधान जटिल है, व्यक्ति की तरह राजा भी उसमें दीक्षित होता है, इसका मतलब यह कि किसी न किसी रूप में राजा के लिये भी अपरिहार्य नियम हैं जिनका उल्लङ्घन राजा के विनाश का कारण हो सकता है। अन्त में उस बात पर भी ध्यान देना होगा कि अलग-अलग तत्वों की विभिन्नता के बीच एकता की योजना होने से राजतन्त्र सावयव राज्य-एकता (Organic unity) की ओर इंगित करता है। सावयव होने से अष्टतत्व-युक्त राजा अधिक सुरक्षित तथा जिम्मेवार भी है। सभी तत्व अन्योन्याश्रित हैं तथा प्राकृतिक सामञ्जस्य उनमें बना हुआ है।

मनुस्मृति में राजधर्म की विशद व्याख्या सातवें अध्याय में की गई है और राजा को कर्तव्याकर्तव्य से परिचित कराया गया है। राजा जितेन्द्रिय, न्यायी, विद्वान्, विनीत तथा लोकप्रिय होना चाहिये। वह धर्मरक्षक (Defender of the faith) तथा दण्डधर है। प्रकृष्टतेज धर्म तथा राजशक्ति-योग का वह अनन्य सेवक है। आदर्श जीवनयापन करते हुए उसे पानी के ऊपर गिरनेवाली तेल की बूंद की तरह ('तैलबिन्दुरिवाम्भसि') निर्लिप्त तथा पृथक् रहना चाहिये। विद्याध्ययन करना राजा का प्राथमिक कार्य है। इसमें उसे त्रयी (वेद), दंडनीति (राज्य-अर्थशास्त्र), वार्ता, (कृषि, वाणिज्य) आदि तीन तरह की विद्या का मनन-अनुशीलन करना चाहिये। मनु की इस कल्पना में प्लेटो के दार्शनिक शासक (Philosopher king) की विद्वत्ता तथा मूढ़ अन्तर्दृष्टि छिपी है। राजा का विनयी होना अत्यन्त आवश्यक है। न्यायप्रियता के साथ वैधानिक मर्यादा (Constitu-tional limits) का पालन करना ही विनयी का लक्षण है। अवि-नयी या अवैधानिक होने से राजा-सत्ता मान्य नहीं होती। विनय के अभाव में वेन, नहुष, पैजवन, सुमुख आदि नरेश नष्ट हो गये। विनय के बल पर ही कुबेर धनस्वामी बना, मनु और पृथु तेजस्वी बने और

विश्वामित्र ने ब्राह्मण्य-सिद्धि प्राप्त की (अर्थात् क्षात्रधर्म को ब्राह्मणधर्म से नियोजित किया)। नीतिज्ञ होना भी राजा के लिये आवश्यक है। राजा का जीवन प्रेरणादायी तथा आदर्श है इसलिये उसे लोकोत्तर पुरुषों की तरह वज्र से भी अधिक कठोर तथा फूलों से भी अधिक कोमल होना चाहिये ('वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि, लोकोत्तराणां चेतांसि···।' उत्तर रामचरित)। राजधर्म का यह परम आदेश है राजा के लिये कि वह अपने राज्य की सीमा में न्याय की प्रतिष्ठा करे, शत्रुओं का दमन करने में दण्ड-शक्ति का प्रयोग करे, मित्रों के प्रति सहृदयता रखे और वृद्ध ब्राह्मण सेवी होने के साथ ही क्षमा आदि गुणों से युक्त हो।* राजाओं के लिये भारतीय धर्म-नीति-शास्त्रों में एक अनुल्लङ्घनीय मर्यादारेखा खींची गई है। व्यसन अथवा विकार से बचे रहना राजा की सबसे बड़ी कसौटी है। इस सम्बन्ध में हमें सत्तामद अथवा राजमद का ध्यान रखना चाहिये और साथ ही लार्ड एक्टन (Lord Acton) की प्रसिद्ध उक्ति भी कि निर्बाध शक्ति व्यक्ति को पतनोन्मुख बनाती है।† अव्यसनी होने पर राजा इस मद से बच सकता है और कर्तव्य-पथ पर दृढ़ता से चल सकता है। व्यसनी राजा अपनी कब्रखुद बनाते चलता है और व्यसनहीन राजा सफलता की सीढ़ियाँ पार करता जाता है ('व्यसन्यधोधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः' ॥७।५३। मनु०)। मनु ने कामोद्भव १० व्यसनों का उल्लेख करते हुए बताया कि राजा को इनसे बचना है। द्यूत क्रीड़ा, छिद्रान्वेषी, शंकालु वृत्ति, संभोग प्रवृत्ति, हवाई योजना, व्यर्थ परिभ्रमण, मद्यपान, नृत्य गीत आदि स्त्रियोचित कला इन सबसे राजा को दूर रहना अच्छा है।‡ इसी प्रकार क्रोधोत्पन्न अष्ट विकारों से भी परे रहना चाहिये। छल छद्म, सामूहिक गिरफ्तारी (बन्धन या निग्रह), असहिष्णुता, आर्थिक दूषण (Confiscation and embezzlement), कठोरता या दमनकारी प्रवृत्ति (high-handedness), इत्यादि घातक दोष हैं।

(पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थ दूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ मनु० ।७।४८)

---

*स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याभृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥७।३२। मनु०

†'Power corrupts and absolute power corrupts absolutely'—Lord Acton

‡मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥७॥४७॥ मनु०

इसके साथ ही राजा को इस बात का ध्यान सदैव रखना चाहिये कि उसे कहीं न कहीं जवाब देना पड़ेगा। धर्म के प्रतिबन्ध, दैवी अभिशाप, दैहिक, दैविक-भौतिक ताप, और इन सबसे बढ़कर जनता में विप्लव या विद्रोह की भावना राजशक्ति को नष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं ('प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्'—चाणक्य)। बाह्य शत्रुओं के अलावे आन्तरिक शत्रु भी व्यक्ति के लिये सांघातिक हैं। अरिषड् वर्ग को जीत कर ही मनु की पदवी या परम्परा बचाई जा सकती है ('कृतारिषड्वर्ग जयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना। विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥' भारवि–किराता-र्जुनीय—१ सर्ग, ६ श्लोक। अरिषड्वर्ग में काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य हैं।) विजिगीषु होना अथवा विजय कामना रखना राजा के लिये अच्छा तो है लेकिन इसके लिये आवश्यक कर्तव्यों को पूर्ति करना ब्रह्मवाक्य की तरह है।

मन्त्रियों से परामर्श लेना और विवेकपूर्वक उनका अध्ययन करके कार्य करना राजा का विशेष गुण है। राज्य की 'सप्ताङ्ग प्रकृति' में राजा, अमात्य, मित्र, कोस, राष्ट्र, दुर्ग, सैन्य ये विभाग हैं (Departments) और शासक का काम है इन सबमें कुशलता, संतुलन तथा एकता बनाये रखना। प्रमाद न आने देना उसकी सजगता का नमूना है। हिन्दू राज्यतन्त्र में सप्ताङ्ग शासन पर काफी विवाद हुआ है और एकतन्त्र के समर्थकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि केन्द्रीकरण तथा अधिनायकवादी प्रवृत्ति के कारण ही इस तरह की व्यवस्था थी। इसमें तो कोई शक नहीं कि सामान्य प्रकृतियों का जनतंत्री-करण (Democratisation) बाद की अवस्था है जिसमें गणों का निर्माण सम्भव हुआ तथा लोगों को छन्दाधिकार (या शलाकाधिकार Franchise) दिये गये। यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जनतन्त्र लाने में उन संस्थाओं का हाथ अधिक रहता है जो प्रत्यक्ष रीति से जनता द्वारा संचालित होती हैं और श्रेणी, पूग, परिषद् आदि संस्थाएँ आगे चलकर वैसी बनीं। मनु ने इनका उल्लेख तो किया किन्तु प्रजातन्त्र की स्पष्ट व्याख्या न कर पाया। मन्त्रियों के बाद प्राचीन भारतीय शासनतन्त्र में 'पुरोहित' नामक जटिल व्यक्तित्व सामने आता है। शब्दार्थ से ही ध्वनित होता है कि जनकल्याण को आगे रखने वाला यह व्यक्ति है। अनुभव-वृद्ध, नीति-कुशल, अधीतशास्त्र, धर्माध्यक्ष, तथा सजग प्रहरी के रूप में वह राष्ट्र की रक्षा में सदैव प्रस्तुत रहता है। राज-कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए मनु ने कहा है कि युद्ध से पराङ्मुख न होना

प्रजा का परिपालन करना, वृद्ध ब्राह्मणों की सेवा करना ये श्रेयस्कर हैं ।* निरन्तर प्रसरणशील होना (doctrine of aggrandisement) राजा के लिये गुणकारी है । शक्ति के बल पर अप्राप्य वस्तुओं को लाना, सतर्कता से उसकी रक्षा करना, विकास योजनाएँ कार्यान्वित करना तथा योग्य पात्रों या अधिकारियों के हाथों उन्हें सौंप देना राजा की नीतिज्ञता का सूचक है ।† इसी प्रसङ्ग में मनु ने यह बताया है कि राजा छोटे-छोटे स्थानों में निगम अधिकारी या छोटे प्रशासक नियुक्त करता जावे और स्वयं नक्षत्रों या उडुगणों के बीच तेजस्वी ग्रह की तरह प्रकाश फैलावे ।§

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥

७।१२१।मनु०

अष्टतात्विक राजा अष्टकर्मा होता है । उसे आदान, (करग्रहण), विसर्ग (दान), प्रेम, निषेध, अर्थवचन, व्यवहार-परीक्षण, दण्ड तथा शुद्धि इन आठ कामों का संचालन नियमित रूप से करना पड़ता है । दुर्ग रचना, व्यूह-रचना, करग्रहण, युद्धकौशल, अफसरों की नियुक्ति, दक्ष तथा वाग्मी दूतों से कार्य लेना, महाबलाधिपति तथा सैन्य-नियुक्ति तथा नियंत्रण ये सब नीतिज्ञ शासक के लिये अनायास संपाद्य कार्य हैं । ऐसा राजा जो दूरदर्शी है, गुणदोषविवेक रखता है, शीघ्र निश्चय करता है, अतीत से सबक लेता है, कभी भी शत्रुओं द्वारा पराभूत नहीं हो सकता ।[१] विस्तारनीति तथा निष्कंटक शासन चलाने के लिये षाड्गुण्यनीति (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय) का प्रयोग करना चाहिये ।[२] इसमें आत्मरक्षा और शत्रुविनाश का साथ-साथ सम्पादन

---

* 'संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥' मनु ७।८८।७।१०१

† अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥

§ इस तरह के रूपक वर्तमान पाश्चात्य राजनीति में भी दिखाई देते हैं । इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को (Inter Stellas luna minores (a moon among stars) 'तारकों के बीच चन्द्र' की संज्ञा दी जाती है ।

[१] आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ मनु० ७।१७९॥

[२] संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ ७।१६० ॥

किया गया है। युद्ध का विस्तृत विवरण देने पर भी मनु ने युद्ध को, अन्तिम मार्ग (Last resort) ही बताया है, जब सारे साम, दाम, दण्ड आदि उपाय असफल तथा असम्भव हो जावें। मनु ने संक्षेप में यह कह दिया है कि सुसंगठित तथा सम्पन्न (consolidated and equipped) राष्ट्र में ही राजा सुख प्राप्त करता है ('सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥') अन्त में 'राजा हि युगमुच्यते' (राजा ही युग प्रवर्त्तक है) कह कर मनु ने एकतन्त्र के राजभवन पर स्वर्णमण्डित कलश स्थापित कर दिया।

मनु की राष्ट्रीयता सम्बन्धी कल्पना आज से बिलकुल भिन्न थी। किंतु भावना (sentiment) का अतिरेक दोनों में समान रहने से मनु ने देश-भक्ति तथा राष्ट्रधर्म का स्पष्ट चित्र समाज के सामने रखा। आज के जमाने में वे सब बातें युग-विसंगत मालूम होती हैं, प्रतिक्रियावादी कहकर उनका उपहास करना सहज है लेकिन उन सक्रिय मूर्तिमान् तथ्यों से आंखें नहीं मोड़ी जा सकतीं जिनके द्वारा राष्ट्रीयता की धारणा धीरे-धीरे विकसित हुई। मनु ने भारत को पुण्यभूमि, आदिदेश, आर्यदेश, देवभूमि, यज्ञभूमि, आर्यावर्त्त, ब्रह्मा-वर्त्त, ब्रह्मर्षि देश आदि नामों से पुनीत बनाया (consecrated) है। देश-भक्ति का प्रबल उदाहरण मनु ने यह कह कर रखा कि इस देश के श्रेष्ठ पुरुषों ने समस्त संसार में सदाचार तथा सच्चरित्रता की शिक्षा दी।* इस विचार को संकुचित तथा विकृत राष्ट्रीयता (jingoism or chauvi-nism) कह कर नहीं टाला जा रहता। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि विशिष्ट भौगोलिक सीमाओं से वेष्टित देश की कल्पना मनु करता है और उनकी विशेषताएँ भी बताते चलता है। जातीयता अथवा एकाङ्गी प्रभुत्व उसका अभीष्ट नहीं है, वह तो समस्त प्रकृति (प्रजा) की सावयव एकता पर विश्वास रखता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल, शूरसेनक, मध्यदेश, म्लेच्छ-देश आदि देशों अथवा अंचलों का भौगोलिक परिचय काफी हद तक आज की ही तरह है।

राष्ट्र में सर्वोच्च आसंदी राजा की है (राजगद्दी)। स्वराष्ट्र में राजशक्ति के कायम रहते सब व्यवस्था-मर्यादा ठीक से चलती है अन्यथा सारे आदर्श विकृत हो जाते हैं। अराजक स्थिति उत्पन्न होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है। राष्ट्रीय धर्म का एक मात्र संरक्षक दण्ड है जो वास्तव में धर्म का ही दूसरा रूप

---

*एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः। २।२०॥

है सार्वभौम अथवा संप्रभुता की कल्पना में दंड का स्थान महत्त्वपूर्ण है जैसा आगे चल कर ज्ञात होगा। आदर्श राष्ट्र में ब्रह्मकर्म और क्षात्रकर्म (Legislative and executive powers) का सुन्दर समन्वय है।* राष्ट्रीय धर्म का निर्माण श्रेष्ठतम ज्ञानियों की सभा ही कर सकती है। एक ज्ञानी दस हजार मूर्खों से श्रेष्ठ है और सच्चा ज्ञानी राष्ट्रीय संस्कृति का ज्वलन्त प्रतीक है। शिष्ट तथा कालदर्शी विद्वानों की दशावरा परिषद् में धर्म का तात्त्विक रूप निखर कर प्रकाश में आता है। ज्ञानी कर्मशील या कर्मयोगी होने पर ही यशभागी होता है। मानव श्रेष्ठता प्रमाणित करने वाली पांच वस्तुओं (धन, बन्धु, आयु, कर्म, ज्ञान) में विद्या का स्थान सर्वोच्च है। मनु की पूरी व्यवस्था मानव-केन्द्रित है, सभी शास्त्र, नीति, नियम मनुष्य के कल्याण मार्ग का अनुसन्धान करने में लगे हैं। सारांश में मनु ने निर्मल, तेजस्वी, वीर्यवान् राष्ट्रीयता की कल्पना की है।

दण्डशक्ति तथा संप्रभुता :

शक्तिशालिनी शासनपद्धति की योजना करते समय मनु ने दण्ड की कल्पना की है और उसे ही राजशक्ति का निर्णायक माना है अथवा दण्ड की धुरी पर ही पूरा राज्य परिचालित है। राज्य तथा धर्म की स्थापना-मात्र ही सब कुछ नहीं है। उनका बनाये रखना अनिवार्य है, इसलिये दण्ड की आवश्यकता है। मानव स्वभाव भी कुछ इस तरह का है कि 'भय बिन होय न प्रीति' उसका व्यवहार-वाक्य है। संसार में सभी प्राणी भयवश ही सुख ऐश्वर्य के पीछे दौड़ते तथा सक्रिय रहते हैं ('भयाद्भोगाय कल्पन्ते' तथा 'दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते।') दण्ड ही राजा है, न्याय का मूल है, राज्य की सर्वोच्च बन्धनातीत संस्था है, इसके बिना राज्य अराजक है। दंड का प्रयोग निष्पक्ष भाव से होना चाहिये जिससे प्रकृति का अन्तर्संघर्ष (या वर्ग-संघर्ष) न उभरने पावे (प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति)। दण्ड की रचना ईश्वर ने की सब प्राणियों की रक्षा के लिये, राष्ट्रीय धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये। यह दंड ब्रह्मतेज से युक्त है।† यह दंड राजपुरुष है, नेता है, शासक है, धर्मप्रतिपालक

---

*ना ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति ना क्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ मनु० ६।३२२॥

†तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दंडमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ ७।१४॥

है। चारों आश्रमों तथा वर्णों की रक्षा करने में इसका योगदान महत्वपूर्ण है।* दंड की इस कल्पना ने शासन का निर्वैयक्तीकरण (Depersonalisation) कर दिया है। दंडवर राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता, सत्ता-मद की औषधि समाज के पास है।

दंड सबसे निडर रहता है तथा सबको निडर रखता है। राष्ट्रीय सम्पत्ति की अभिवृद्धि के लिये दंड अनिवार्य है। जब सभी तत्व सुषुप्त रहते हैं तो दंड जागता रहता है।† ममत्व तथा स्वत्व दोनों के लिये दंड (punishment, restraint or sanction) आवश्यक है। डा० बी० के० सरकार ने दंड की आवश्यकता पर विचार करते हुए कहा है कि दंड न होने से राज्य नहीं रहता, राज्य के अभाव में धर्म नहीं रहता, ममत्व या सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।‡ कामन्दक तथा मनु ने दंड की आवश्यकता मनुष्य स्वभाव के कारण (दुर्लभो हि शुचिर्नरः···) ही प्रतिपादित की। दंड के ही फलस्वरूप भौतिक क्षेत्रों में सफलता प्राप्त होती है, भोग, ऐश्वर्य, स्वामित्व का लाभ होता है। इस प्रकार दण्ड सर्वशक्तिमान् तथा सार्वभौम तत्व है। यह अनियंत्रित, अदेय, अविभाज्य तथा आवश्यक है। शासक स्वतः इसके वशीभूत है। फलस्वरूप हिन्दू राजाओं के लिए अनिवार्य दुविधा (inevitable dilemma) सामने है, दंड का पालन न करने पर विनाश और करने पर आत्मबन्धन है। कामन्दकनीति तथा शुक्रनीति के अनुसार दंड का काम है लोगों को पुण्यात्मा बनाना, असत्य से दूर रखना और अनाक्रमक बनाना दुष्टों को सज्जन बनाना, वाचालों पर संयम रखना और विनय-अनुशासन का प्रचार करना। नागरिक जीवन में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। इस तरह दंड दुधारी तलवार की तरह है। एक ओर वह जनता में आतंक फैलाती है और दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों को दूर करती है। नैतिकता, पवित्रता तथा सभ्यता की धात्री वह है (moralizer, purifier and civilising agent)। यह तो सत्य है कि संप्रभुता की वर्तमान कल्पना सर्वशक्तिमत्ता

---

*स राजा पुरुषो दंडः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ ७।१४० ॥

†Dr. B. K. Sarkar—The Theory of sovereignty in Hindu Political Philosophy, Page 198.

‡दंडः शास्ति प्रजाः सर्वा दंड एवाभिरक्षति।
दंडः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥ १८ ॥

की स्थिति स्वीकार नहीं करती क्योंकि राज्य के अलावे अन्य संस्थान भी जीवन के लिये उपयोगी हैं। किन्तु सब समूहों या संघों में प्रमुख के रूप में राज्य की स्थिति अभी भी समाज में बनी है। हिन्दू राजतन्त्र में निरंकुश संप्रभुता को कोई स्थान नहीं है, क्योंकि संप्रभु धर्म तथा दंड से चौबीसों घन्टे संचलालित है जिस दिन यह शक्ति निकल गई, मात्स्य-न्याय की दशा आ जाती है और राज्य का लोप हो जाता है। दंड-संचालन करने वाला शासक या राजा यदि मूर्ख, आलसी या लालची है तो भी कल्याण नहीं हो सकता। इसके लिये तो सत्यनिष्ठ, पवित्र, शास्त्रों के अनुसार कार्य करनेवाला तथा विद्वानों की सलाह मानने वाला व्यक्ति चाहिये।* इतने बन्धनों से घिरे रहने पर दंड-शक्ति मर्यादित विधि अथवा संवैधानिक नैतिकता (Constitutional morality) का काम करती है और संप्रभुता की कल्पना स्पष्ट करती है। सारांश में संप्रभुता किसी व्यक्ति या स्थान में नहीं, दंड तथा धर्म की भावना में है।

व्यवहार तथा कुलधर्म :

मनुस्मृति के अध्याय ८ और ९ प्रचलित विधिसंहिता का स्पष्ट रूप हमारे सामने रखते हैं। व्यवहार से अभिप्राय है न्यायव्यवस्था का जिसके अनुसार वादी, प्रतिवादी के बीच विवाद का निर्णय, अपराध परीक्षण, दण्डविधान और इन मार्गों से अन्त में धर्म-परिरक्षण! शासक के लिये सबसे कठिन कार्य यही है क्योंकि पक्षपात, भ्रष्टाचार, अत्याचार, मोह आदि के पनपने का मुक्त क्षेत्र इसी स्थल पर है। दुर्व्यवहार या अव्यवहार से अधर्म की सृष्टि होती है, विनाश हो जाता है। व्यवहार को हम साधारणतया उस युग का दीवानी तथा फौजदारी विधान (Civil and Criminal Procedure Code) कह सकते हैं। इसके साथ ही साक्षी अथवा गवाही (Evidence) का प्रश्न भी जुड़ा है क्योंकि सत्य का अनुसन्धान करने में वह सहायक है। आज की तरह उस युग में भी न्यायाधिकरण अथवा न्याय सभा में राजा विद्वान् निर्णायकों (जज तथा जूरी) की सहायता से न्याय-प्रदान करता था। साक्षी के साथ ही शपथ (affidavit) लेने का विधान है क्योंकि अन्तःकरण ही मनुष्य की रहस्यमय कृतियों का अन्तिम साक्षी है। साक्षिभंग या असत्य शपथ दण्डनीय

*शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ७ ॥ ३१ ॥

† अधर्म दंड लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ मनु० ८।१२७ ॥

है। निर्णय करने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष साक्षी के अलावे परिस्थितिजन्य अनुमान (Circumstantial evidence) का भी प्रयोग होता है। स्त्रियों के लिये उनके ही वर्ग की साक्षी होनी चाहिये। साक्षियों को क्या ग्रहण करना, क्या नहीं (relevant and irrelevant) यह प्रश्नों द्वारा जाना जाता है। धर्मवित् या ब्राह्मण की साक्षी विशेषज्ञ (Expert opinion) की तरह ली जाती है। गोपनीयता का ध्यान भी रखा जाता है। १८ प्रकार के विवादों का उल्लेख किया है जिसमें ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, संविद् का व्यतिक्रम, स्वामिभृत्यसंघर्ष, चोरी, दुस्साहस, जुआ आदि धनसम्बन्धी अपराध हैं।* इनका निर्णय विद्वान् प्राड्विवाकों (judge) द्वारा होना चाहिये। अपराध-निदान तथा दंड-विधान (criminology and penology) के सम्बन्ध में मर्यादा तथा अनुपात का ध्यान रखा जाता है। दंड व्यवस्था बिलकुल अन्धेर नगरी की तरह नहीं है बल्कि अपराध के अनुरूप दंड दिया जाता है† इस व्यवस्था में सुधारात्मक, प्रतीकारात्मक तथा आवर्जक सिद्धांतों (corrective, retributive and deterrant) का समन्वय किया गया है। वाक्दंड, धिग्दंड, धनदंड, दशस्थान शारीर दंड, वधदंड, (oral, (censure, fine, corporal and capital punishments) आदि प्रचलित हैं। पूरे विवरण में इस बात की भी उल्लेख है कि कब कितना दंड देना चाहिये। वर्ण, आकार, परिमाण, देश-काल आदि का विचार कर ही दंड देना चाहिये। इसमें प्रमाद अथवा भ्रान्ति का परिणाम राजा के लिये भयानक है।§ बालधन, नाबालिगधन या स्त्रीधन की रक्षा करना (Court of Wards), सरकारी खजाने (Treasury) में प्रनष्ट अथवा प्राप्त धन का छठवां भाग जमा करना तथा दूसरी अवस्था में राज्यभाग लेना (court fees) इन सब का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी प्रकार सामाजिक तथा नैतिक अपराधों के लिये भी दराड व्यवस्था है।

कुलधर्म का अभिप्राय है मानव कुलों को यशस्वी बनाना क्योंकि कुल ही वास्तव में नागरिकता की प्राथमिक संस्था (first school of citizen-

---

*मनु० अध्याय ८। श्लोक ४, ५, ६, ७॥

†अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दराडं दराड्येषु पातयेत्॥ ८।१२६

§अदराड्यान्दरायन्राजा दराड्यां श्चैवाप्यदराडयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ ८।१२८

ship) है। कुलों के गृहपति या कुलपति (Pater familias and patria potestas in roman law) सामाजिक संगठन में प्रधान केन्द्र हैं और परिवार के सब सदस्य उसके अनुशासन में काम करते हैं। गृहपति की नियमित सत्ता के कारण ही समाज और राज्य की नीवें परिवर्तन की आंधियों में भी अडिग रहती हैं। राजा यदि राष्ट्र का ककुद (शीर्षस्थान) है, तो गृहपति कुलों का। उत्तराधिकार में बड़े लड़के को मूर्धाभिषिक्त करने का नियम (Law of Primogeniture) है। कुलों की अनुवंशिक शुद्धता पर जोर देते हुए विवाह आदि संस्कारों में सतर्कता रखने की सलाह दी गई है। कुलरक्षा के लिये स्त्रीधर्म तथा पुरुषधर्म की विशद व्याख्या मनु ने की है। एक तरह से यह सामाजिक विधि (social legislation) है जिससे समाज विघटन तथा विनाश से बचाया जाता है। मनुस्मृति के अध्याय ९. १०. ११ गार्हस्थ्य जीवन तथा सांसारिक कर्तव्य-कर्म की ओर मनुष्य को प्रेरित करते हुए कर्मकाण्ड का पूरा परिचय देते हैं। उन नियमों में रूढ़ि तथा सनातन प्रवृत्ति रहने से सुधार की गुञ्जाइश कम रखी गई है फिर भी समाज-शास्त्रीय दृष्टि से इनमें जीवन को संस्था तथा संस्कारगत बनाने का प्रयास किया गया है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यावहार तथा समाज के प्रति कर्तव्य-निर्वाह इन विषयों की विशेषता है। 'स भर्तासास्मृतांगना' में मनु ने स्त्री पुरुष को सम्पूर्ण रूप में देखा है। यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि जहाँ स्त्रियों की पूजा है वहाँ देव का आवास है, जहाँ पूजा नहीं हैं, वहीं कार्य विफलता है। भूत भविष्य तथा वर्तमान की सौभाग्यशीला नारी की यशोगाथा मनु ने मुक्तकंठ से गाई है। विवाह, धन, दाय, समानधर्म, वर्णाश्रम धर्म, संयम, व्रत, नियम, शिक्षा, स्नातकोचित प्रशिक्षण आदि जीवन के सर्वग्राही तथा व्यापक अंगों की उपेक्षा नहीं की गई है। व्यक्तिधर्म की रक्षा भी इसी प्रकार सम्भव है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा अधिकार की भावना का पूरा स्पष्टीकरण भले न हो पाया हो लेकिन आत्म प्रवञ्चना तथा आत्म-बन्धन से दूर रहने की सलाह दी गई है। (गीता के 'नात्मानमवसादयेत्' की तरह मनु ने भी श्रुति के 'सर्वत एवात्मानं गोपायीत' इस वाक्य का अनुसरण करते हुए 'आत्मानं सततं रक्षेत्' का संदेश सुनाया है—लेखक)। मनु के इस विवेचन पर यह आपत्ति अवश्य हो सकती है कि उसमें शूद्रों का पूर्ण तिरस्कार किया गया (ठीक उसी तरह जैसे प्लेटो और अरिस्टाटल ने दासवर्ग की उपेक्षा की है ?) और समाज के लिये एक तरह का लौह-पाश (Steel-frame) तैयार किया गया है। जीविका तथा अन्य भौतिक उपकरणों के लिये अनावश्यक प्रपंच खड़ा करके

मनु ने औदार्य और सहिष्णुता का गला घोंट दिया है। इस आलोचना में आंशिक सत्य अवश्य है किन्तु समाज की जटिलता तथा विविधता (complexity & diversity) का जो रूप आज है वह उस समय नहीं था और आज के सामाजिक मूल्य (social values) से उस युग को तौलना युगभ्रान्ति (anachronism) होगी । आपद्धर्म तथा अपवाद (emergency provision) की सृष्टि करके मनु ने जीवन के पूरे मानचित्र पर अपना प्रभाव दर्शाया है। ऐसा कोई विषय नहीं छूटने पाता जिस पर मनु कुछ न कुछ कहने को तैयार न हो। इसे मनु की सफलता या संकीर्णता मानना अपनी-अपनी राय है।

मण्डल-सिद्धान्त तथा शक्तिसंतुलन :

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पारस्परिक व्यवहार तथा आदान-प्रदान के लिए प्रचलित नियमों का संकलन भी मनु ने किया। राजनीति की इस शाखा का सम्पूर्ण परिचय तो कौटिल्य की प्रखर बुद्धि द्वारा ही सम्भव था किन्तु मनु ने इनकी उपेक्षा नहीं की। संप्रभुता अथवा ऐश्वर्य का भोग करने वाले राजा (नन्श्रयं पृथ्वी भुङ्क्ते राजा) इस बात के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते हैं कि उनके राज्य का विस्तार निरन्तर होता रहे। उसका प्रभुत्व-क्षेत्र (sphere of influence) बढ़ने पर अन्य प्रकृति भी उसके अनुकूल हो सकती है और राजा सर्वभौम पद प्राप्त करके यशगामी हो सकता है। हिन्दू राज्य-शास्त्र में मण्डल सिद्धान्त का अभिप्राय ऐसे क्षेत्रों का निर्माण है जो शक्ति-संतुलन (Balance of power) रखने में सहायक हों और सम्भावित उप्लवों या उपद्रवों का तत्काल शमन कर सकें। इस व्यवस्था में राष्ट्र के अनुराग या अपराग का ही विचार किया गया है। पूरी व्यवस्था का अभिप्राय है विजिगीषु राजा (siegfried or aspirant ro conquest) को उत्तरोत्तर प्रोत्साहित करते रहना। कर्मठ, मेघावी तथा संस्कार युक्त शासक ही इसका लाभ उठा सकता है। वैसे तो असंख्य नक्षत्र तारागण आकाश में हैं, लेकिन रात्रि को प्रकाशवती केवल चन्द्रमा बना पाता है; उसी प्रकार विजिगीषु राजा ही अपनी कीर्ति चारों ओर फैलाकर अन्य राजा-उपराजाओं को अभिभूत करता है।* प्रभाव-विस्तार के इस संघर्ष में चार तरह की प्रकृति (quadrivium) राष्ट्रों में दृष्टिगोचर होती है। विजिगीषु (विजयाकांक्षी), अरि (शत्रुपक्ष), मध्यम (उभयपक्षीय), उदासीन (तटस्थ)

*नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः —कालिदास

इस चार वर्गों में सारे राष्ट्र विभाजित होते हैं। शत्रु-मित्र के भेद से इनकी अन्य शाखाएँ भी निकली हैं। दस राष्ट्रों का एक मण्डल बनता है जिसका केन्द्र विजिगीषु है। उसका काम है अन्य राष्ट्रों को साम-दाम-दण्ड-भेद आदि के द्वारा या पौरुष तथा नीति के द्वारा वशीभूत करना।* समय तथा परिस्थिति का विचार करते हुए संधि, विग्रह, यान, संश्रय, आसन, द्वैधीभाव आदि ६ प्रकार की नीतियों को प्रयोग में लाना चाहिये। आक्रमण के पूर्व पूरी तरह से तैयारी करनी चाहिये और युद्ध के नियमों का पालन ठीक रीति से होना चाहिये। मनु की व्यवस्था में युद्धवृत्ति अनिवार्य है और उसका दृढ़ता से पालन होना चाहिये। सैन्यसंवर्धन, राष्ट्रीयकरण, कोषवृद्धि, यांत्रिक दृढ़ता आदि की ओर भी संकेत किया गया है। इसी प्रकार दौत्य-कार्य तथा कूटनीतिक सम्बन्ध के विषय में भी प्रकाश डाला गया है। शक्ति-संतुलन बनाये रखने के लिये दो तरह के विरोधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। एक तो दण्ड जो मात्स्य-न्याय की अवस्था समाप्त करता है और दूसरा मण्डल सिद्धान्त जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मात्स्य-न्याय की स्थिति स्वीकार करता है। विद्वानों ने इसे शत्रुता, घृणा, जासूसी और षड्यन्त्र का विज्ञान (essentially a science of enmity, hatred, espionage and intrigue) कहा है जो युद्ध तत्परता का लक्षण है।

मानवी पद्धति ; सार्वभौमता तथा समीक्षा :

भारतीय राजनीति की प्राचीनतम शाखाओं में मनु तथा कौटिल्य की विचार पद्धतियाँ प्रसिद्ध हैं। कौटिल्य की चिन्तनधारा यथार्थवाद का आश्रय लेकर भौतिक सम्पन्नता की अभिवृद्धि चाहती है। मनु की विचारधारा आदर्श वादी है और जीवन-नियमन की अपूर्व शृङ्खला प्रस्तुत करती है। मनु के विचारों में आज से हजारों वर्ष पूर्व उन तत्वों का समावेश है जो आज की राजनीति के भी उलझे हुए प्रश्न हैं। उत्तरदायित्व तथा अनुशासन का समन्वय करते हुए मनु ने आदर्श शासकों की जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है और हमेशा उन्हें इस बात के लिये सतर्क रखा कि अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना कदापि न करें। मनुष्य स्वभाव का मनोवैज्ञानिक परीक्षण करके ही मनु ने ऐसी व्यवस्था दी जिससे व्यक्ति अन्यथा तर्क-वितर्क या आडम्बर में न फँस कर विधिवत् जीवनयापन करता रहे। अराजक स्थिति के निवारणार्थ स्वामी,

---

* तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ मनु० ॥ ७ । १५९ ॥

सक्षम, उपयोगितावादी, प्रेरक तथा विधायक (Positive and creative) दृष्टिकोण समाज के सामने रखना चाहिये। उसी प्रकार धर्मचक्र प्रवर्तित करनेवाले राजा को 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' शासन करते हुए अपने व्यक्तित्व का समष्टि में विलयन कर देना चाहिये। (One fundamental principle which characterises the political thought of the Hindus is the conception of Dharma or Sacred law which sustains the universal and to which both the king and all sections of the community owe allegiance-the Vedic Age page 430।) भारतीय जीवनदर्शन आज भी उन कतिपय विशेषताओं से समन्वित है जिनके कारण वह सहस्राब्दियों का व्यवधान पारकर अपनी मनोनुकूल दिशा में चल रहा है। मनु ने पर्यवेक्षात्मक, ऐतिहासिक, समीक्षात्मक अथवा आगमन-निगमन का ध्यान नहीं रखा क्योंकि वह तो अपना मौलिक चिन्तन सामने रखना चाहता था। यह भी हो सकता है कि प्रचलित समाज रचना के बिखरे तत्वों को एकत्रित कर एक सूत्र में बांधने का प्रयास उसने किया। मानवीय पद्धति में सर्वप्रथम मनुष्य का स्थान है और उसके ही विभिन्न पक्ष-विपक्षों का अध्ययन मनु का विषय है। प्रगतिशीलता के उपासक इस युग में फिर से उसी 'मानवता' की पुकार उठा रहे हैं भले ही उनके स्वर में वैचित्र्य अथवा कर्कशता हो? इस दृष्टि से मनु को सनातनपन्थी अथवा प्रतिक्रियावादी कहना उचित न होगा। मनुष्य की राजनीतिक प्रेरणा बुद्धि (Political motivation) का पूरा ज्ञान मनु को था। उस हद तक वह भी वैज्ञानिक है जहाँ तक वह आचार व्यवहार संस्कार के बल पर आदर्श-सिद्धि के प्रयासों की उपयोगिता बताता है। भारत की प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन संस्कृति की जो भी विशेषताएँ हम पाते हैं उनमें निरन्तरता तथा तारतम्य है। मनु की कई व्याख्याएँ आज भी अपने मूलरूप में प्रत्यक्ष-परोक्ष रीति से लागू होती हैं। हमारा आज का सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, जीवन उन विश्वविश्रुत तथ्यों का उद्घाटन करता है।

बुद्ध और चाणक्य, से लेकर लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी तक धर्म की अविलुप्त, निष्कलुष धारा राजनीतिक जीवन में बहती आई है। पाश्चात्य लेखक जार्ज केटलिन ने मनु से गांधी तक राजदर्शन की क्रमबद्ध व्याख्या की है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत की खोज' (Discovery of India) में इस समन्वयवादी, राष्ट्रवादी, कर्मवादी

जीवन-दृष्टि की परीक्षण किया है। मनु के प्रकाश-स्तम्भ से फैलने वाली किरणें आज भी भारतीय समाज-पोत का मार्गदर्शन कर रही हैं।

मनु के विचारों में धार्मिकता का प्रपञ्च अवश्य है क्योंकि विशुद्ध धर्म-विहीन राजनीति नामक कोई वस्तु भारतीय जीवन में ग्राह्य नहीं है। मनु ने किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जो स्थायी प्रभावोत्पादक हो। वह तो केवल एक कार्यक्रम-मात्र प्रस्तुत करता है जो बड़ा उलझा हुआ है। व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी वैज्ञानिक धारणा मनु के समय नहीं थी और न राज्य का वर्तमान स्वरूप ही था। किन्तु इन बातों से मनु के अनुदाय का महत्व कम नहीं होता। मनु की व्यवस्था में हम प्रतिक्रियावाद की झलक भले पाते हों, परन्तु व्यवहारिक जीवन में उसका ही सर्वत्र प्रचलन है। सामाजिक-राजनीतिक विचारों के इतिहास में मनु का स्थान सदैव ऊँचा रहेगा।

२—कौटिल्य

(ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी)

प्राचीन भारतीय राजदर्शन में एक ओर हमें मानवी (मनु-प्रतिपादित) विचारधारा दिखाई देती है जो सर्वव्यापी, आदर्शमय, भावुक राजनीति तथा सूक्ष्मतम विवरण से युक्त (meticulous) कर्मकाण्ड का समर्थन करती है; दूसरी ओर कौटिल्य द्वारा समर्थित सक्रिय, पुरुषार्थयुक्त (virile) यथार्थवादी तथा सफलता-प्राप्ति को लक्ष्य बनाने वाली लौकिक चिन्तन-प्रणाली मिलती है। हो सकता है ये दोनों धाराएँ एक ही युग में समानान्तर चलती रही हों अथवा इनमें काल-विपर्यय तथा अन्तर रहा हो। किन्तु इन दोनों का अन्तर इतना स्पष्ट है कि वास्तविक राजनीति का अधिकृत और प्रामाणिक परिचय पाने के लिये कौटिल्य के इतिहास तथा ग्रन्थ की छानबीन करनी होगी। मनु के विपरीत, कौटिल्य का ऐतिहासिक विवरण तथा उल्लेख मिलता है। उसके सम्बन्ध में कुछ दिशा में मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है, पर अन्यत्र कटुतम आलोचना का शिकार भी उसे होना पड़ा है। भारत की प्राचीन राजनीति धर्ममूलक थी और मनु इनका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किन्तु कौटिल्य ने विशुद्ध राजनैतिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए भारतीय राजनीति में नवर्णाङ्कित, अभिनव तथा मनोरम अध्याय या मुख-पृष्ठ का उद्घाटन किया। यह भी सत्य है कि कौटिल्य ने पूर्ववर्ती राजनीति का गहन अध्ययन करके ही अपने मत निश्चित किये थे किन्तु मौलिकता, ओजस्विता, बौद्धिकता तथा वैज्ञानिकता के क्षेत्र में वह दूसरे विचारकों (अथवा धर्माचार्यों ?) से कहीं अधिक ऊँचा है। मनु-सम्प्रदाय ने तीन तरह की विद्या (त्रयी, वार्ता, दण्ड-नीति) प्रमुख माना है। बृहस्पति-सम्प्रदाय ने वार्ता और दण्डनीति को ही स्वीकार किया है। औशनस सम्प्रदाय (शुक्राचार्य के नेतृत्व में !) ने दण्ड-नीति का ही एकमात्र अस्तित्व माना। कौटिल्य ने धर्म-अर्थ के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करने के लिये आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इन चार प्रकार

की विद्या को अनिवार्य तथा उपयोगी बताया है।* इस प्रकार सामाजिक विज्ञान (Social Science) का पूरा अध्ययन करने पर ही राज्य-व्यक्ति-समाज का पारस्परिक सम्बन्ध समझाया जा सकता है। कौटिल्य का विश्व-विख्यात तथा विवादात्मक ग्रन्थ अर्थशास्त्र इस नाम के वर्तमान विशेष समाजविज्ञान का पर्याय नहीं है, बल्कि वह शासन तथा जीवन के परिपूर्ण मर्यादित विज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है। योगक्षेमवाहिनी दण्डनीति; राजधर्म, साम्राज्य-नीति तथा विस्तार, सप्ताङ्ग-प्रकृति राज्य, पौरजानपद तथा स्थानीय निकाय, राजस्व (Revenue), सेवाएँ (public service), न्याय तथा दंड, विदेश-नीति, युद्ध-विज्ञान (military science), प्रजातंत्र तथा गणराज्य का उत्थान-पतन आदि विषय अर्थशास्त्र की व्यापक परिधि में घिरे हैं। भारतीय संस्कृति, परम्परा, जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थिति के अनुरूप विचार करते हुए भू-राजनीति (geo-politics) सम्बन्धी मौलिक विचार भी हमें कौटिल्य में मिल सकते हैं। प्राच्य दर्शन तथा राजनीति की नई परम्परा का निर्माता आचार्य कौटिल्य आचार्य चाणक्य के नाम से विख्यात है। ये दोनों नाम कुल अथवा गोत्रसूचक हैं। कुटिल नीति के कारण कौटिल्य कहना असङ्गत है क्योंकि इस तरह की नीति अन्यत्र भी वर्णित है ('आर्जवम् न कुटिलेषु हि नीतिः' इस वाक्य के अनुसार तो नीति का ऋजु-वक्र होना सापेक्ष है—लेखक)। आचार्यपाद विष्णुगुप्त ही, जिनका जीवन प्रख्यात प्राध्यापक का कार्य करते बीता, इतिहास में चाणक्य के नाम से अभिहित हैं। इनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवरण के अलावे लोककथाएँ अथवा औपन्यासिक विवेचन भी उपलब्ध है। सारांश में राज्य शासन को यन्त्रवत् नहीं बल्कि मानव-हित में चलाने का श्रेय कौटिल्य को है। व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति कराना, राजा या शासक को अप्रतिद्वन्द्वी होकर निष्कंटक राज्य तथा प्रजारक्षण (तथा प्रजारंजन ?) करना,

*देखिये मनु-सम्बन्धी अध्याय।

आन्वीक्षिकी—दर्शन, समाज तत्त्वज्ञान। Social and moral Philosophy.

त्रयी—वेदों का अध्ययन, धर्म-अधर्म-तत्त्व-ज्ञान। History, Jurisprudence and Phenomenology.

वार्ता—कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योग। Economic Science.

दण्डनीति—शासन तथा राजनीति शास्त्र। Public Administration and Political Science.

जनता को सुख-समृद्धि सन्तोष की अनुभूति कराना, लोक कल्याणकारी राज्य (welfare state) का शिलान्यास करना, संवासों-निगमों तथा संस्थानों का परीक्षण करना, गणतन्त्रों की मौलिक आलोचना करना, इन सब विषयों पर कौटिल्य ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें सार्वभौमिक उपयोगिता है। 'कौटिल्य कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् राजनीति के एक सम्प्रदाय के संस्थापक थे, इसी से उनका और उनके ग्रन्थ का बाद के युग में सम्मान होता रहा। राजनीति के वाङ्मय में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण-शास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का। पाणिनि की भाँति कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्तियों को परास्त कर दिया और उनके ग्रन्थ धीरे-धीरे उपेक्षित तथा विलुप्त हो गये।'*

इतिवृत्त तथा ग्रन्थ परिचय :

कौटिल्य के सम्बन्ध में तरह-तरह के आख्यानक प्रसिद्ध हैं। कुटिलगोत्र में उत्पन्न आचार्य चणक के पुत्र के रूप में इनका उल्लेख किया गया है। जन्म इनका आर्थिक दृष्टि से सामान्य किन्तु बौद्धिक दृष्टि से समृद्ध परिवार में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के बाद इन्हें नालन्दा विश्वविद्यालय (बिहार) से उच्च शिक्षा प्राप्त हुई। उत्तर भारत में उन दिनों शिक्षा के कई केन्द्र थे जिनमें नालन्दा प्रमुख था। दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नीति, युद्ध-विज्ञान आदि का अच्छा अध्ययन इन्होंने किया। फिर तक्षशिला (उत्तर पश्चिमी सीमान्त देश) में प्राध्यापक होकर चले गये। तक्षशिला का विश्व-विद्यालय उच्चकोटि के स्नातकों तथा मेधावी छात्रों को विशेष दक्षता देने के लिये प्रसिद्ध था जहाँ दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी आते थे। वहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य को विद्याध्ययन हेतु जाना पड़ा और आचार्य कौटिल्य से उसने शिक्षा ग्रहण की। कुछ कथाकारों के अनुसार उनका स्वभाव क्रोधी था, आत्म-सम्मान की भावना तीव्र थी। नन्दवंश द्वारा अपमानित होने पर उन्होंने कुश उखाड़ कर या चोटी खोलकर (किंवदन्ती के आधार पर) प्रतिज्ञा की कि नन्दवंश का मूलोच्छेद करके ही दम लेंगे। कुशल प्राध्यापक होने के साथ ही कौटिल्य व्यावहारिक तथा सुयोग्य संगठनकर्ता भी था। उसका प्रभाव शिक्षा ही नहीं शासकीय क्षेत्र में भी बहुत था। नन्दवंश का साम्राज्य उन दिनों विस्तीर्ण तो बहुत था लेकिन सुदृढ़ न था। छोटे-छोटे गणराज्य पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि क्षेत्रों में फैले थे जो स्वतंत्र तथा संकीर्ण थे। कौटिल्य ने निश्चय ही चन्द्रगुप्त की प्रतिभा परखाने पर उसे बढ़ाने का निश्चय किया। उन दिनों देश की अवस्था छिन्न-

*डा० अ० स० अलतेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—पृष्ठ ७

भिन्न थी। एकसूत्रता तथा राष्ट्रीयता का विचार कौटिल्य के मन में उठा और उन्हीं को पूरा करने में जीवन लगाया। सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय आपसी कलह, प्रतिस्पर्धा के कारण भारत पददलित हो रहा था। उसे उठाने का बीड़ा कौटिल्य ने उठाया। चन्द्रगुप्त तो उसके हाथ में योग्य पात्र या साधन था ही। नन्दवंश के लड़खड़ाते राज्य को समाप्त कर शक्तिशाली चातुरन्त राज्य की स्थापना उसने की; चन्द्रगुप्त का मूर्धाभिषेक किया और आक्रमणकारी यवन-पारसीक-यूनानी सेनाओं का प्रतीकार किया, उन्हें बाहर निकाला। इस प्रकार शासन में क्रान्ति करके उसने प्रतिक्रान्ति (राक्षस आदि मन्त्रियों तथा अन्य दुर्धर्ष राजाओं के षड्यन्त्र से उत्पन्न) का मुकाबला किया। बाहरी और भीतरी विरोधी शक्तियों का दमन कर उसने सर्वथा निरापद, स्थायी, सुरक्षात्मक राज्य की नींव दृढ़ की जिस पर लगभग एक हजार वर्ष तक अन्यान्य हिन्दू राजा शासन करते रहे। इस तरह महान् ऐतिहासिक कार्य करने के बाद किसी अज्ञातनामा विरक्त साधु की तरह बिना धूमधाम या मान-माला के यह संसार से विदा हो गया। वास्तव में कौटिल्य ने नये भारत का मानचित्र अपनी कल्पना में देखकर उसे साकार बनाने का प्रयास किया। स्वतः किसी पद की कामना न करते हुए शासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखकर उसने 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया जो राजनीति विज्ञान का प्रमुख ग्रन्थ है। उसका अनुभव व्यापक, सूक्ष्म तथा गंभीर था।

अर्थशास्त्र के रचयिता और काल के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डा० जोली ने अर्थशास्त्र की परिभाषा में यह कहा कि प्रायः तीसरी शताब्दी ईसवी का लिखा हुआ यह एक जाली ग्रन्थ है। 'इसका वास्तविक रचयिता कोई कोरा सिद्धान्तवादी था और स्वयं कौटिल्य एक कल्पित राजमंत्री था।' 'जो लोग इसे कौटिल्य या चाणक्य का रचा हुआ ग्रन्थ मानते हैं उसका कारण केवल यही है कि उस प्रसिद्ध राजमंत्री के सम्बन्ध में बहुत-सी कल्पित कथाएँ प्रचलित थीं। वह राजनीति शास्त्र का पूर्ण पण्डित निर्णायक तथा नीति सम्बन्धी प्रचलित बुद्धिमता का आविष्कर्ता माना जाता था।' डा० जोली के इस निष्कर्ष की आलोचना करते हुए डा० के० पी० जायसवाल ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के मन्त्री उसी कौटिल्य द्वारा जिसने नंदवंश का मूलोच्छेद किया, लिखा गया और इसका रचनाकाल ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी है।* दूसरे विद्वानों में श्री श्याम शास्त्री, म० म० गणपति शास्त्री, म० म०

---

*हिन्दू राज्यतंत्र भाग १—श्री काशी प्रसाद जायसवाल—परिशिष्ट ग पृष्ठ २७१–२९५ तक।

ला, स्मिथ, फ्लीट आदि इसी विचार का अनुमोदन करते हैं कि अर्थशास्त्र प्रख्यात मंत्री कौटिल्य की कृति है। परन्तु डा० विंटरनिज़, कीथ, जोली, डा० भण्डारकर आदि इसे बाद का ग्रन्थ बताते हैं जो ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों (१ से ३ के भीतर) में लिखा गया। मौर्यकालीन इतिहासकार डा० सत्यकेतु विद्यालंकार सप्रमाण इस ग्रन्थ को मौर्यकाल में ही रचा गया बतलाते हैं। उनके अनुसार कौटिल्य चन्द्रगुप्त का मंत्री और पुरोहित दोनों था। कौटिल्य स्वतः मौर्य साम्राज्य की सीमा से पूर्ण परिचित था, मौर्य शासन का काल ई० पूर्व ३२० से १८५ वर्ष तक अनुमानित है। भारतीय ग्रन्थकारों में यह परिपाटी थी कि वे अपने कुल का नाम लिखना ही अधिक उपमुक्त समझते थे। (अतः कौटल्य गोत्र-संज्ञा है) जिस समय इस ग्रन्थ की रचना हुई बौद्ध धर्म राजधर्म तो नहीं बना था लेकिन उसका प्रचार अवश्य था। जिस समाज का इसमें चित्रण है उसमें विधवाओं के नियोग और पुनर्विवाह रूढ़ थे, विवाह-विच्छेद अज्ञात नहीं था, विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था और यह दशा मौर्यकाल में ही थी।* इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र मौर्यकालीन तथा कौटिल्यकृत है। हिन्दू राज्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यह है। विभिन्न आचार्यों के मत बतला कर अपने मत सिद्ध और पुष्ट करने वाली तुलनात्मक प्रणाली से यह लिखा गया है। इसमें १४ विभाग हैं जो सूत्र और भाष्य के रूप में हैं। प्रत्येक विभाग में व्यवस्थित तर्क प्रणाली के अधार पर विवेचन किया गया है। प्रथम भाग में राज्तंत्र, तथा शासन-पद्धतियों का उल्लेख है जिसमें राज्य की आवश्यकता, उत्पत्ति, राज्यतंत्र, कुलतंत्र, लोकतंत्र, संघ-राज्य या गणतंत्र आदि पर विचार, तथा राज्य के उद्देश्य बताये गये हैं। दूसरे विभाग में विभिन्न अधिकारियों के कर्तव्य-क्षेत्र तथा अधिकारों का वर्णन है। आगे दो भागों में कण्टक शोधन तथा व्यवहार-न्यायालय तथा विधि (फौजदारी, दीवानी), दाय विभाग तथा आचार संहिता पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवें में राजा के अनुचरों के कर्तव्य, छठवें में राज्य की सप्त प्रकृतियों का निर्णय है। शेष में मांडलिक नीति, परराष्ट्र नीति, संधि-विग्रह के उपाय युद्ध प्रणाली, व्यूह रचना, शत्रुभेद, कूटनीति, इन्द्रजाल, औपनिषदिक (मन्त्र-तंत्र रहस्य) आदि का सविस्तार वर्णन है।

राजनीतिक सिद्धान्तों तथा शासनकार्यों से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ पहले दण्डनीति और अर्थशास्त्र कहलाते थे।† अर्थशास्त्र नाम इसलिये दिया गया

*प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—डा० अ० स० अलतेकर—पृष्ठ ६

†कौटिल्य की शासनपद्धति—श्री भगवानदास केला—पृष्ठ ८

कि राज्य की (मनुष्य की बस्ती) को प्राप्ति, पालन, निवर्धन के उपाय उसमें बताये गये हैं। इसलिये अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान का व्यापक ग्रन्थ मानना चाहिये।* राजशक्ति सामाजिक न्याय तथा सांसारिक निर्वाह के लिये आवश्यक है क्योंकि धर्म, अर्थ, काम से मुक्त कराने वाली यही शक्ति है। अर्थशास्त्र इन विषयों का पूरा परिचय देता है।

प्राचीन हिन्दू तथा मौर्यकालीन शासन-पद्धति :

(३२०–१८५ ई० पूर्व०) :—कौटिल्य की ऐतिहासिक पार्श्वभूमि के परिचय के लिये वैदिककाल के राज्यों की शासन-प्रणाली तथा मौर्यकालीन राज्यव्यवस्था से परिचय आवश्यक है। वैसे तो मौर्यकालीन प्रणाली का स्वरूप निर्धारण करने में स्वतः कौटिल्य का बड़ा हाथ रहा है किन्तु यह भी सत्य है कि इस युग की व्यवस्था में पूर्वकालीन प्रयोगों का भी प्रभाव था। वैदिक काल में छोटे-छोटे जन राज्य उसी प्रकार थे जैसे यूनान या रोम के नगर-राज्य। शासकवर्ग में गृहपति, कुलपति, विशपति, जनपति आदि विभिन्न संस्थानों के अध्यक्ष थे। राजा सामान्य शासक था, पुरोहित वर्ग धर्मरक्षक था। पुरोहित, ऋत्विक्, श्रोत्रिय आदि उच्चवर्गीय ब्राह्मणों का राजकीय सम्मान था। चाणक्य की गणना शास्त्रवेत्ता श्रोत्रिय की कोटि में की गई है (चाणक्य इति विख्यातः श्रोत्रियः सर्वधर्मवित्')। समिति (लोकसभा) की स्थापना से राजा पर पूरा नियंत्रण था। राजा को परामर्श आदि देने के लिये मन्त्रियों (अमात्य-परिषद्) की सभा थी। राज्य के अधिकारियों में सेनापति (महाबलाधिकृत), संग्रहीता, सन्निधाता, ग्रामणी आदि थे। ग्रामसभा द्वारा न्याय संपादन होता, करों की व्यवस्था होती। राजा आदर्श जीवन व्यतीत करता, व्रतों का पालन करता ('धृतव्रत'), स्वेच्छाचारिता से दूर रहता। राज्य-तंत्र के सिवाय वैराज्य (राज्यविहीन जनतंत्र) थे जिनमें गणतन्त्रात्मक प्रणाली थी। स्वराज, भोज, सम्राट्, द्वैराज्य, चक्रवर्ती आदि अलग-अलग प्रकार के शासक थे। ई० पूर्व ६००–३५० के भीतर मगध और कोशल के बड़े राज्य विस्तृत थे। वैदिक कालीन व्यवस्था ई० पूर्व ३००० से ३०० तक चलती आई। इसके अन्तिम चरण में कौटिल्य ने अपना अनुभव प्राप्त किया। मौर्यकालीन व्यवस्था ३२० से १८५ ई० पूर्व तक इतिहास में वर्णित

---

*मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति (कौटिल्य)—दण्डनीति के सम्बन्ध में कहा है कि 'दण्डनीतिः अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षिणी, रक्षितविवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च।··· ··।। अन्यत्र भी इन परिभाषाओं का समर्थन किया गया है।

है सुसंगठित साम्राज्य की नींव इस काल में पड़ी (जिसका एकमात्र श्रेय कौटिल्य को है) । ग्राम, नगर, जिला, अंचल, प्रान्त तथा केन्द्र की सरकारों का सुनिश्चित रूप प्रकट हुआ । राजा का पद आनुवंशिक हो गया और उसके अधिकारों में वृद्धि हुई । सेना, न्याय, शासन आदि विभागों का प्रधान राजा ही था, केन्द्रीयकरण की वृत्ति शासन में थी । समिति का लोप हो गया किन्तु मंत्रि-परिषद का महत्व बढ़ गया। पौरजानपद संस्थाओं की (जो स्थानीय स्वराज्य की पोषक थीं) प्रगति उल्लेखनीय रही । सरकारी कार्यों में शासन-सुरक्षा-व्यवस्था के साथ सार्वजनिक हित और विकास के कार्यों का भी समावेश हुआ । खदान जंगल, उद्योग, बस्तियाँ, उपभोक्ताओं का हित, नाप-तौल, शिल्पियों का संरक्षण संचय और मुनाफाखोरी पर नियन्त्रण, द्यूत-मदिरापान-वेश्यावृत्ति का उन्मूलन, बौद्धिक सांस्कृतिक विकास, सूत्र-रुग्णालय, धर्मशालाओं की लोक-हितकारी कार्य राज्य के लिये अनिवार्य हो गये । कार्यसंचालन स्थापना आदि के लिये सचिवालयों (secretariat) की स्थापना भी की गई । शस्त्रीकरण और सैन्य-संरक्षण पर अधिक व्यय होता था । शासनयन्त्र पूरी तरह से गतिशील और चुस्त था । गणराज्यों का प्रभाव इस काल में अवश्य था । पंजाब, सिंध, मगध, विदेह में विशेषतः गणराज्यों की स्वाधीनता अक्षुण्ण थी ।* नन्द साम्राज्य ने उत्तरीय गणों को समाप्त किया । गणों की स्पर्धा और विभाजनकारी नीति के विरुद्ध कौटिल्य ने शक्तिशाली राज्य की कल्पना की जिसने गणों की टूटी-फूटी प्राचीरों को नष्ट कर दिया । स्वजातीय राज्यों की जगह विजातीय राज्य भी बने, जातियों (nationalities) की समस्या भी सुलझाई गई । थोड़े-बहुत संशोधन के साथ यह व्यवस्था भारतीय इतिहास में तेरहवीं शताब्दी तक प्रचलित रही । कहना न होगा कि कौटिल्य इस व्यवस्था या प्रणाली के मूल प्रवर्तकों में से था । इसमें भिन्न-भिन्न

---

* ई० पू० ६०० से ३२३ के बीच यूनानी नगरराज्यों की तरह भारतीय गणराज्यों का भी अभ्युदय-काल रहा । सिन्धुघाटी में अग्रश्रेनी, मुचिकार्णिक, अम्बष्ठ, वसाति, ब्राह्मण आदि गण थे । पश्चिम में काम्बोज, कठ, सौभूति, यौधेय, शिवि, मालव, क्षुद्रक आदि युद्धप्रिय बहुसंख्यक गण थे । मध्यदेश में कुरु, पांचाल, वृष्णि (अंधकवृष्णि) आदि थे । पूर्व में शाक्य, कोलुल, मल्ल (पावा तथा कुशीनारा के मल्ल), वज्जी, भग्ग, मोरिय आदि प्रबल गणराज्य थे । विभिन्न गणराज्य मिलकर संघराज्य का निर्माण करते थे । संघों की शक्ति असीम थी ।

तरीकों का समावेश है (यथा गणराज्य, कुलीनतन्त्र, द्वैराज्य, राजतन्त्र आदि)। डा० जायसवाल के अनुसार जैन सूत्रों में अराजक, गण, युवराज-शासित, द्वैराज्य, वैराज्य, विरुद्ध रज्जाणि अथवा दलों का शासन आदि प्रकारों का उल्लेख है (हिन्दू राज्यतन्त्र भाग १—पृष्ठ १३६ अरायणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा जैन आचारांग सूत्र)। प्रतिनिधिमूलक शासन (representative govt.) इस समय प्रचलित न था। कौटिल्य-प्रणीत शासन-पद्धति में सांसद पद्धति (parliamentary form) का कुछ-कुछ प्रयोग था। धर्म-मूलक शासन वास्तव में विधि-प्रधान शासन (rule of law) था जिसमें पक्षपात, वर्ग विभेद या स्वेच्छाचारिता को स्थान न था। निवारक तथा दंडमूलक उपायों द्वारा अनुशासन की योजना थी। धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक स्वतन्त्रता, वैयक्तिक विकास, लोकमत का समादर इस काल की कतिपय विशेषताएँ थीं। राजा और प्रजा में पिता-पुत्र-सम्बन्ध था। राजा को अपने लिए कुछ नहीं, प्रजा के सुख में ही सुख और उसके हित में हित मानना पड़ता था।* नागरिक अथवा असैनिक शासन (civil administration) कुशलतापूर्वक संचालित होता था। प्रत्यक्ष सम्राज्यवादी नीति में सफलता प्राप्ति और विस्तार भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है। कौटिल्य अपनी राजनीति में धर्म-रहित है, परन्तु वह न तो अधर्मी है और न धर्म भ्रष्टता का उपदेश ही करता है।† कौटिल्य ने उन राजाओं का दृष्टान्त दिया है जो काम, क्रोध आदि के कारण तथा प्रजा का तिरस्कार करने पर मारे गये।§ सारांश में, कौटिल्य ने भारतीय इतिहास में आसेतुहिमाचल एकाच्छत्र साम्राज्य की कल्पना साकार करने में अपना जीवन लगा दिया।

राज्य : उत्पत्ति, उद्देश्य, प्रकार :

राजशक्ति की परिभाषा करते हुए कौटिल्य ने बताया कि यह अप्राप्य वस्तु को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त की रक्षा करने वाली, रक्षित की वृद्धि करने वाली

---

* प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।। अर्थशास्त्र—१। १९ ।।

† कौटिल्य की शासन पद्धति श्री केला—पृष्ठ २२६

§ अर्थशास्त्र अ० १। ६ में दम्भोद्भव तथा हैहयदेशीय अर्जुन की हत्या।

और वृद्धि को सुनियोजित करने वाली मौलिक शक्ति है जिसके अभाव में मात्स्य-न्याय (पूर्ण अराजकता या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस—survival of the fittest' का सिद्धान्त) ही चलती है। इस रहस्य का उद्घाटन एक गुप्तचर ने इस प्रकार किया। 'पहले मात्स्य-न्याय प्रचलित था, इससे त्रस्त होकर प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया। कृषि-उत्पादन का छठवाँ हिस्सा और वाणिज्य का दासवाँ हिस्सा स्वर्ण आदि रूप में देकर उसे समर्थ बनाया। भृत्तिधारी राजा ने प्रजा के योग-क्षेम का भार ग्रहण किया। दण्ड और कर द्वारा वह राजा प्रजा का अमङ्गल दूर कर सकता है। ऋषिगण भी खेतों से बीने गये अनाज का छठवाँ हिस्सा राजा को देते हैं।'* इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि राजा तथा प्रजा के बीच सीधा समझौता (contract) है कि कर वसूल करके प्रजा की रक्षा करे। कौटिल्य ने राज्योत्पत्ति सम्बन्धी किसी सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन युक्ति-पूर्वक नहीं किया। उसके संकेत-मात्र से ज्ञात होता है कि दैवि सिद्धान्त उसे ग्राह्य नहीं, सामाजिक संविदा का ही वह समर्थक है। लोकयात्रा (जीवन-निर्वाह) निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए मानव-प्रकृति की आवश्यकताओं के अनुकूल राज्य उत्पन्न हुआ, इसलिए वह स्वाभाविक तथा हितकारक है।

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह मान लिया गया है कि वह सुरक्षा तथा वास्तविक न्याय अथवा धर्मसंस्थापना के लिये बना है। मनुष्यों के नृशंस, पाशविक व्यवहार, स्वेच्छाचार आदि को दूर करने के लिये दण्डधर (राजा) की उत्पत्ति हुई। राजा का कर्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, उसे अनुशासित बनाना, कर्तव्य-पथ पर प्रेरित करना, शिक्षा-सुरक्षा, सहयोग-शक्ति, सद्भावना में अभिवृद्धि करना। वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना और प्रजा को धर्म-पालन में तत्पर बनाना राज्य का काम है। मर्यादित तथा धर्म स्थित प्रजा सुखी रहती है। राजा का प्राथमिक कर्तव्य है आन्तरिक तथा वाह्य आक्रमणों तथा भयों से रक्षा करना। इसके लिए वह दुर्ग, सैन्य, गुप्तचर आदि

---

* मात्स्य-न्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे
धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥'
—अर्थशास्त्र अधि० १ अध्याय १३॥

को समुचित व्यवस्था करता है।* जनपद की सम्पत्ति बढ़ाना, कृषि की उन्नति करना, धनापहरण रोकना, प्रजापीड़कों और चोरों का निग्रह करना, यातायात की व्यवस्था करना, वाणिज्य-व्यापार करना, पशु-संपत्ति की रक्षा करना आदि राज्य के आवश्यक कर्तव्य हैं। इनके लिये विभिन्न विभाग तत्सम्बन्धी अध्यक्षों के नेतृत्व में गठित किये गये हैं। दैवी आपत्तियों का प्रतिकार करने में राजा को सदैव तत्पर रहना चाहिये। (अग्नि, जलप्लावन, व्याधि, दुर्भिक्ष, चूहे तथा टिड्डी-दल, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु, सांप, राक्षस ये ८ प्रकार के दैवी महाभय हैं)। आपत्ति काल में 'दुर्ग सेतु, कर्म' आदि कार्यक्रम (Construction work) द्वारा लोगों को तत्काल जीविका देने का प्रश्न भी राज्य के सामने रहता है। समय पड़ने पर राज्य को कर्ज लेना, खाद्य-नियंत्रण करना, देश-निक्षेप भी करना पड़ता है (loans rationing and foreign aid)। शिक्षा तथा स्वास्थ्य की व्यवस्था राज्य के जिम्मे थी। कौटिल्य का राज्य लोक कल्याणकारी था, समाज सेवा (Social welfare) का पूरा ध्यान उसमें रखा जाता था। बालापराधी, (juvenile delinquents) असहाय, अपाहिज, रोगी तथा अनाथ (handicapped and crippled and orphans), अप्रजाता स्त्री (Sterile women), बूढ़ों तथा बेकारों की रक्षा का भार वहन करता था। सारांश में, राज्य बहुमुखी तथा विविध-उद्देशीय था।

कौटिल्य ने भारत में प्रचलित विभिन्न शासन-प्रणालियों की गुण-दोष-समीक्षा की है। राजतंत्र, कुलीनतन्त्र, गणतन्त्र या संघ-राज्य आदि सब की व्याख्या की गई है। वैसे सामान्यतया उस युग के अनुरूप राजतन्त्र ही सर्वथा उपयुक्त माना गया किन्तु अन्य प्रकारों में भी अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। आदर्श राजा, सुयोग्य सलाहकार, जागरूक नागरिक, धर्म-भावना या उत्तर-दायित्व, सर्वाङ्गीण शिक्षा, संगठित लोकमत, कुशल शासन-प्रबन्ध, उच्च चारित्रिक स्तर आदि गुण ऐसे हैं जो किसी भी तन्त्र या व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं। फिर कौटिल्य ने शासकों का प्रमाद या स्वेच्छाचार रोकने के

---

*गुप्तचरों में कापटिक, उदास्थित गृहपतिक, वैदेहिक, तापस आदि संस्था-गुप्तचर तथा सत्री, रसद, तीक्ष्ण, भिक्षुकी, आदि संचार-गुप्तचर थे। इनके सिवाय ज्योतिषी, ऐन्द्रजलिक, नट, भांड, धातूपिक आदि गुप्त रहस्यों का पता लगाने वाले (Special branch या L. I. B.) थे, जो गाढ़े वेश या मुखौटों में रहते थे।
—अर्थशास्त्र

उपाय भी निर्धारित किये जिससे राज्य में उपद्रव न हों; 'सतर्कता ही स्वातंत्र्य की रक्षा कर सकती है' इस सिद्धान्त का पालन किया जाता था। फिर यह कहना गलत होगा कि कौटिल्य समर्थित राजतन्त्र ही सर्वथा निर्दोष या अन्तिम सत्य था। प्रयोगात्मक रूप में रहने के कारण कोई भी व्यवस्था ऐसा दावा नहीं कर सकती। दूसरे उस जमाने में भी यह हकीकत सर्वविदित थी कि तन्त्र या शासन के कर्मचारी (personnel) उसके स्वरूप-निर्धारण में महत्त्व-पूर्ण भाग लेते हैं। राजा के अच्छे-बुरे होने के साथ ही राज्य का भाग्य भी (और साथ ही प्रजा का भी) जुड़ा रहता है। राजा के ऊपर पुरोहित, मन्त्रि-परिषद्, विधि तथा धर्म का नियंत्रण हमेशा रहता। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कहा गया कि उपादेय गुणों से सम्पन्न होने पर ही राजकुमार को उत्तराधिकारी बनाया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि राजतंत्र में निर्वाचित राजा, (elected king), समयानुमोदित राजा (contractual king), आमन्त्रित राजा (invited king), द्विविध राजा (double kingship), पदधारी-मात्र राजा (titular or nominal king), मन्त्रपूत राजा (consecrated king) आदि तरह के प्रयोग समाज में हो चुके थे। प्राचीन रोम में जिस प्रकार निरंकुश आततायी शासकों का उल्लेख है वैसे राजा यहाँ नहीं हुए। व्यक्तिगत आततायी शासक शायद कभी हुए हों, किन्तु उनका काल इतिहास में अल्पकालीन या नगण्य (brief interlude) ही है। हिन्दू राजतन्त्र को व्यवहारिक तथा सर्वम्मत बनाने का यथासाध्य प्रयास कौटिल्य ने किया क्योंकि उस युग में आज की तरह प्रतिनिधिमूलक शासन न था। विशेष परिस्थितियों में कुलीन तन्त्र (aristocracy) का उल्लेख भी किया गया है। ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार का नियम (law of primogeniture) ही सब कुछ न था, गुणवान् पुत्रों में सबको शासन में योग देने का अधिकार था। यह भी प्रबल विश्वास था कि संगठित कुल या समुदाय को पराजित करना मुश्किल था। समुदाय या कुल में कोई एक व्यक्ति प्रमादी या व्यसनी हो जाय तो भी अन्य अपना कार्य सुचारु रीति से चलाते ही रहते। प्रजासत्तात्मक संघराज्यों या गणों का उल्लेख कौटिल्य ने 'संघवृत्त' अधिकरण में सविस्तार किया है। कौटिल्य के पूर्व इन गणों का शासन सर्वत्र था, उसने इनका महत्त्व समझा और इन्हें संगठित किया। मौर्य शासकों ने संघों को विजित कर विशाल साम्राज्य बनाया क्योंकि छोटे-छोटे संघों से विभेद-विग्रह की आशंका थी। संगठित संघों की शक्ति अजेय थी। सिकन्दर के आक्रमण काल में

देश में कई संघ थे, समय पर उनके संगठित न होने पर ही सिकन्दर को इस देश में आंशिक प्रारम्भिक सफलता मिली। फिर भी मद्रक, मल्लक, मालव, क्षुद्रक आदि संघों ने सिकन्दर की शक्ति तहस-नहस कर दी। चूंकि संघ तत्कालीन व्यवस्था में सर्वमान्य तथा सर्वशक्तिशाली थे राजा को उन्हें अनुकूल या आधीन करने की सलाह विभिन्न उपायों द्वारा दी गई। यदि संघ अनुकूल हों तो राजा को साम-दाम द्वारा उन्हें अपना अनुगामी बनाना चाहिये, यदि प्रतिकूल दंड-भेद के प्रयोग से उन्हें वशीभूत करना चाहिये। आचार्य ने दो प्रकार के ही तो गणों का उल्लेख किया है एक वार्ताशस्त्रोपजीवी और दूसरे राजशब्दोपजीवी। वार्ताशस्त्रोपजीवी को आयुधजीवी संघ भी कहते हैं, इनके सदस्य कृषि-वाणिज्य और युद्ध विद्या में दक्ष थे। कांभोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि गण इस तरह थे जिनमें प्रधान शासक राजा न था और सभी नागरिक विकट योद्धा थे (काम्भोज-सुराष्ट्र क्षत्रिय श्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः अर्थशास्त्र ११-१-१६०)। ये संघ भारत की पश्चिमवर्ती सीमा पर थे, व्यापार की रक्षा में सार्थवाहों (कारवाँ) के रूप में घूमते, युद्धकला में निष्णात होने से अपनी रक्षा आप करते। इनका उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने भी किया है। एक-राजत्व से प्रजातंत्र की ओर इनका संक्रमण हुआ था। दूसरे गणों को राज-शब्दोपजीवी कहने का अभिप्राय यह था कि उनमें प्रत्येक व्यक्ति राजा बनने की योग्यता रखता था, राजा कहलाता था। लिच्छविक, वृज्जिक, मल्लक, कुकुर, कुरु, पांचाल आदि संघों की गणना इस कोटि में की गई है। *इनमें पूर्ण जन-तंत्रात्मक प्रणाली का प्रचलन था। इन संघों में आपसी स्पर्धा बहुत थी। इसलिये कौटिल्य ने इनका एकीकरण करना उचित समझा। हिन्दू प्रजातन्त्र राज्यों के सम्बन्ध में डा० जायसवाल ने ऐतरेय ब्राह्मण से कौटिल्य तक (ई० पू० १०००-३००) का समय उदय काल माना है (हालांकि कौटिल्य ने उनका ह्रास करने में सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया)। उनके अनुसार 'हिन्दू प्रजा-तन्त्रों का यही सबसे अधिक उन्नति का काल था। राष्ट्रीय वैभव के लिये उत्तर-कुरु लोग परमप्रसिद्ध हो चुके थे। इस काल में विद्वत्ता तथा पांडित्य के लिये मद्र और कठ वीरता के लिये क्षुद्रक और मालव, राजनीतिक ज्ञान तथा प्रबन्ध स्वतन्त्रता के लिये वृष्णि और अन्धक, बल के लिये वृजि, शानप्रकाश, समानता के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा निम्नकोटि के लोगों के उद्धार के लिये

---

*"लिच्छविवृज्जिकमल्लकमद्रकुकुरकुरुपांचालादयो राजशब्दोपजीविनः।"

—अर्थशास्त्र

शाक्य तथा उनके पड़ोसी आर्य भारत के राष्ट्रीय जीवन तथा राष्ट्रीय साहित्य में अपने ऐसे चिह्न अंकित कर गये हैं जो किसी प्रकार नहीं मिट सकते।' (हिन्दू राज्यतन्त्र भाग १ पृष्ठ १८६) शक्तिशाली सम्प्रदाय के अन्तर्गत रहकर ये गण अपनी स्वतन्त्रता कायम रख सकते थे और बाहरी शत्रुओं के आक्रमण का मुकाबला भी कर सकते थे। कौटिल्य ने उन कूटनीतिक उपायों का वर्णन किया है जिनसे इनकी शक्ति क्षीण करके साम्राज्य में सम्मिलित किया जा सकता था। राजा को अप्रतिद्वन्द्वी होना चाहिए, उसे सब गणों के के ऊपर मुख्य राजा बनकर शासन करना चाहिए। इस विवेचन के साथ ही कौटिल्य ने स्थानीय संस्थाओं का महत्त्व भी स्वीकार किया और उन्हें उचित सम्मान दिया। कौटिल्य यद्यपि केन्द्रीकरण की नीति की पक्षपाती था किन्तु कुछ ही मामलों में (युद्ध, सैन्य, सुरक्षा आदि) वैसी व्यवस्था चाहता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य सम्बन्धी विचारों में कौटिल्य वस्तुपरकता (objectivity) तथा यथार्थ का पूरा परिचय देता है। 'कौटिल्य और मनु दोनों का मत है कि राज्य एक सजीव एकात्मक संस्था है; मनमानी चाल चलने वाले, अपना ही भला देखने वाले, विभिन्न कणों का ढीला-ढाला जोड़ नहीं है। इनके मतानुसार स्वामी, अमात्य भूप्रदेश, कर या साधन-सामग्री दुर्ग, सेना और मित्र, राज्य के सात अङ्ग हैं जिनको सप्त प्रकृतियाँ कहते हैं। कामन्दक, शुक्र आदि लेखक सप्तांग परिभाषा को स्वयंसिद्ध मानते हैं और शिलालेखादि में वर्णित तत्व भी इन्हीं सप्त प्रकृतियों से युक्त पाये जाते हैं।*

राजा तथा सप्ताङ्ग राज्य :

राज्य की सात प्रकृतियाँ या मौलिक तत्व हैं जिनका प्रभाव दिन-प्रतिदिन के शासन पर पड़ता है और जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं। इनके कारण पूरा राज्य सावयव समाज या राज्य (organic society or state) की तरह बना रहता है, विशृङ्खलित नहीं हो पाता। ये प्रकृतियाँ है स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद अर्थात् जनतायुक्त भूमि, दुर्ग (या दुर्ग-रक्षित नगर) कोष, दण्ड (सेना) और मित्र। प्रकृति-संक्षेप का विचार करके राजा और राज्य के दो ही भेद बताये हैं किन्तु राज्य के अन्तर्गत शेष सारे अंग आ जाते हैं। इन प्रकृतियों के अलग-अलग गुण हैं जिनके कारण इनका स्थायी महत्व तथा प्रभाव राज्य में बना रहता है। राजा तो जैसे (कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु या

---

* प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—डा० अलतेकर पृष्ठ २३

विजयकामी राजा) इस संगठन की जान है। उसके सम्बन्ध में प्रत्येक समाचार बड़ी सावधानी से प्रसारित होना चाहिये। राजा धर्मरक्षक, प्रजारंजक, कल्याणकारी है, यम और इन्द्र के समान प्रभावशाली है। देवोपम राजा का तिरस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि उसकी अकृपा से दैवी विपत्ति आ सकती है। सुयोग्य तथा धर्मानुशासन करनेवाला राजा ही दैवी विभूति से युक्त है। अयोग्य राजा त्याज्य है आततायी और अधर्मी राजा वध्य है। राजा को उन बुराइयों से बचना चाहिये जिनके कारण इतिहास में कुख्यात शासकों को बुरा बताया गया है। दाण्डिक्य भोज, कलम, विदेह, आजबिन्दु सौवीर, रावण, दुर्योधन, वातापि, हैह्य, तालजंघ आदि गणशासकों की दुर्गति से बचने का यत्न राजा को करना चाहिये। कौटिल्य ने राजा के गुणों का पूरा विवेचन किया है। उसमें कुछ जन्मजात विशेषताएँ होनी चाहिये, गुण होने चाहिये। स्वभावगत महानता तथा शिक्षा-अभ्यास द्वारा अर्जित कुशलता-गम्भीरता होनी चाहिये। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा महाकुलीन, धार्मिक, शास्त्रमर्यादित, कृतज्ञ, दृढ़निश्चयी, विचारशील तथा विनयोपेत होता है।* निर्भीक तथा संयमी होने के साथ ही वह जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधि है। युद्धकला में चतुर, समय-पारखी, सन्धि आदि के प्रयोग संमझनेवाला, दूरदर्शी राजा अरिषड्वर्गों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, चुगली आदि) से अलग रहकर प्रजा को कष्ट न पहुँचाते हुये धन-धान्य का विनियोग करता है, कोषवृद्धि करता है। मन्त्रियों की सलाह लेकर वृद्धों का आदर करते हुये वह आचार के नियमों का पालन करता है। इन उदात्त गुणों की प्राप्ति के लिये राजा तथा राजपुत्रों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई है। 'सुशिक्षित राजा प्राणियों का हितचिन्तन करते हुए प्रजारक्षण में तत्पर हो चिरकाल तक निष्कंटक राज्य करता है। अशिक्षित राजकुल वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे घुन लगने पर अच्छी से अच्छी लकड़ी।' सुशिक्षा के लिये अपेक्षित पाठ्यक्रम, दिनचर्या, सहवास, इन्द्रिय-दमन, चरित्र-निर्माण आदि की बातें भी कौटिल्य ने विस्तारपूर्वक समझाई हैं। इस विवेचन में उसकी कुशाग्र बुद्धि, मनोवैज्ञानिक पकड़ तथा व्यावहारिक ज्ञान का परिचय मिलता है। यथेष्ट गुण-सम्पन्न राजपुत्र ही राज्याभिषेक के योग्य होता है। अपने व्यवहार तथा कार्यों से ही राजा अपने पद का औचित्य सिद्ध करता है तथा प्रजाहित की रक्षा करता है इसलिये इस ओर अधिक ध्यान दिया गया

---

*विशेष परिचय के लिये देखिये—हिन्दू राज्यशास्त्र—श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी तथा हिन्दू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी।

है। इन कार्यों में विद्वानों के परामर्श से बुद्धि विकास करना, योगक्षेम का वहन करना, प्रजाधर्म का प्रचार करना, शिक्षा प्रचार से लोगों को विनीत तथा सहिष्णु बनाना, दान-अनुदान आर्थिक साहाय्य आदि देना तथा सदैव प्रजा-हित का ध्यान रखना प्रमुख हैं। इन्द्रियजयी राजा लोभ, वासना, आसक्ति से दूर अधर्म और अनर्थ से बचाता-बचता हुआ धर्म-अर्थ-काम की साधना करता है। इस दिशा में कौटिल्य राजा से न तो तीव्र विलासी जीवन की अपेक्षा करता है और न वीतराग या चरम विरक्त ही उसे बनाना चाहता है। स्वर्णिम मध्यममार्ग का समर्थक वह जान पड़ता है। कौटिल्य ने राजा के लिये प्रत्येक क्षण मूल्यवान् बाताया है, उसके अनुसार दिनचर्या के लिये समय विभाग-चक्र (time table) बनाया है। शासन कार्य में संलग्न मस्तिष्क इस प्रकार एक क्षण के लिये भी *आरामतलब नहीं हो सकता* (*'Uneasy lies* the head that wears the crown')। राजा के लिये दिन और रात का विभाजन आठ-आठ भागों में किया गया है। दिन के पहले भाग में रक्षात्मक तथा आय-व्यय व्यवस्था से परिचित होना चाहिये। दूसरे भाग में पौरजानपद के कार्यों का निरीक्षण (Inspection) करना चाहिये। तीसरे भाग में स्नान-भोजन-स्वाध्याय आदि वैयक्तिक कृत्य तथा चौथे भाग में कोष व्यवस्था, नियुक्ति आदि का ध्यान रखना चाहिये। पाँचवें में मंत्री-परिषद् से परामर्श, पत्रव्यवहार, गोपनीय (Confidential)—ज्ञापन, आदि करना चाहिये। दिन के छठवें भाग में कुछ विहार करना चाहिये। सातवें भाग में आयुध-परीक्षण तथा आठवें भाग में सेनापति आदि के साथ सामरिक सत्ता या योजना आदि पर विचार करना चाहिये। इसी प्रकार रात्रि-कालीन आठ भागों में अलग-अलग कार्यों का विधान है। प्रथम भाग में उच्च-अधिकारियों या गूढ़ पुरुषों से भेंट, दूसरे में भोजन-स्वाध्याय आदि, तीसरे में मनोरञ्जन तथा आमोद-प्रमोद में रहकर चौथे और पाँचवें भाग में शयन करना चाहिये। छठवें भाग में उठकर शास्त्र तथा कर्तव्य विचार करना चाहिये। सातवें भाग में रहस्यभेदी पुरुषों से मन्त्रणा था उनकी नियुक्ति करनी चाहिये। आठवें भाग में स्वतिवचन तथा मांगलिक पाठ के साथ पुरोहितों और ऋत्विजों से आशीर्वाद लेना चाहिये। इसी समय उसे महाचिकित्सक, मौहूर्तिक (ज्योतिषी) महानासिक (मैनेजर या भण्डार-अध्यक्ष) से मिलना चाहिये ताकि अपने विषय में उचित सूचना प्राप्त हो। फिर गो-वंश की प्रदक्षिणा कर राज्य-दरवार में प्रवेश करना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर इसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस तरह के विधान में कृत्रिमता, कठोरता अथवा अनावश्यक-

विस्तार नहीं समझना चाहिये वास्तव में शासनकार्य ही इतना दुष्कर तथा असिधाराव्रत की तरह दुर्गमपथ है कि उसके लिये पूरी सावधानी तथा तैयारी चाहिये। आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दू राजा इन नियमों का पालन तो करते ही रहे, अधिकांश मुगल राजा भी इसी तरह का प्रोग्राम अपने सामने रखते थे। और आजकल योग्य, कुशल राजनीतिज्ञ मन्त्रिगण आदि भी जनता के बीच व्यस्त कार्य-क्रम के बावजूद अपने एक-एक क्षण का सदुपयोग करते हैं। इतने सूक्ष्म विभाग का उद्देश्य यह था कि कठोर कर्तव्य के प्रति शासक को सजग रखना। प्रजा की समास्याओं को प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से जानकर उचित हल निकालना राजा का काम था। प्रजा के बीच समय-समय पर उपस्थित रह कर राजा लोकप्रिय तथा प्रतिष्ठित होता है, केवल मुसाहिबों या चाटुकारों के बीच रह कर वह घृणित बन जाता है। कौटिल्य के इस वाक्य में बड़ा बल है कि प्रजाकोप सभी कोपों से अधिक विकराल है ('प्रकृतिकोपोऽहि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्')। नौकरशाही पर भी पूरा नियंत्रण रखने की सलाह दी गई है। गुप्तचरों की रिपोर्ट को सर्वथा सत्य न मानकर राजा को तथ्यों की खुद जाँच करनी चाहिये। राष्ट्र सम्पत्ति राजा के पास न्याय-रूप में रहती है। राजा स्वतः पारिश्रमिक का अधिकारी है; राज्य सम्पत्ति का नहीं। भृत्यों या नौकरों की तरह राजा भी एक कर्मचारी है और उसे वेतन मिलना चाहिये। कौटिल्य ने कहा है कि राजा को अपने समानधर्मियों से तिगुना मिलना चाहिये। राजसूय यज्ञ करने पर राजा के सारथी को एक हजार पण दिया जाना चाहिये।* इसका आशय यह है कि राजा का वेतन तीन उच्च पदाधिकारियों-मंत्री, सेनापति, युवराज-के सम्मिलित वेतन से अधिक नहीं होना चाहिये। वेतनभोगी राजा अन्य अधिकारियों या सेना के सामने 'तुल्यवेतनोऽस्मि' कहकर उन्हें उत्साहित करता था। समय का अपव्यय रोकने के लिये राजा सचेष्ट रहता था। मन्त्रिपरिषद् तथा पौरजानपद संस्थाएँ उस पर नियंत्रण रखती थीं। संन्यासियों, ब्राह्मणों की बात भी माननी पड़ती थी। पुरोहित या राजगुरु का सम्मान अधिक था, राजा उनका अनुगामी था। लोकमत की अवहेलना करने की शक्ति राजा में भी नहीं थी। राजा का कार्य ऐहिक तथा भौतिक है। उसकी तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति। इनका प्रयोग वह अपने कर्तव्यों की पूर्ति के लिये करता है। राजा को प्रधानता देने से इतना अवश्य हुआ है कि सर्वांग

---

*'समान विद्योभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा राजसूयादिषु क्रतुषु राज्ञः सारथि-साहस्रः' ॥अर्थ० ।५।३।२३।

के अन्य अवयव गौण हो गये हैं। सप्तांग में जनता का अलग से समावेश न करके उसकी प्रधानता या संप्रभुता अक्षुण्ण रखी गई है। चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री कौटिल्य शासक के हित के लिये व्यावहारिक राजनीति पर उसी तरह विचार प्रकट करता है जैसे मेकियावेली अपने ग्रन्थ "प्रिंस" में व्यक्त करता है।

सप्तांग में दूसरा स्थान अमात्य का बताया गया है जिसका सामान्य अर्थ राजकर्मचारी (civil service) और विशेष मंत्री होता है। अमात्यों के सम्बन्ध में कौटिल्य अपने समय में प्रचलित अन्य आचार्यों (भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, वातव्याधि आदि) के मत दर्शाता है जिनका आशय है कि अमात्य-पद पर वे ही नियुक्त किये जावें जो योग्य, विश्वस्त, स्वामिभक्त, विद्वान् तथा कुलीन हों। कौटिल्य के अनुसार व्यक्ति की कार्यक्षमता, सामर्थ्य, बुद्धि, देश-काल-कार्य के अनुसार कुशलता आदि का विचार कर अमात्य बनाना चाहिये, किन्तु उन्हें मंत्री नहीं बनाना चाहिये। इस तरह अमात्य और मंत्री कौटिल्य ने अलग-अलग कर दिये हैं। मंत्रियों का कार्य मंत्रणा करना, परामर्श देना है, अमात्यों का कार्य नियमित शासनभार संभालना है। 'मंत्राधिकार' अधिकरण में मंत्रिपरिषद् का विस्तृत उल्लेख कौटिल्य ने किया है। आमात्यों के वेतन, आवास, नियम आदि के सम्बन्ध में भी उचित व्यवस्था की गई है। तीसरे अंग जनपद का अर्थ केवल विस्तृत भूमि नहीं बल्कि उसमें रहनेवाली जनता भी है। पहले स्वजातीय राज्य ही होते थे जिसमें उसी जाति के राजा रहते। धीरे-धीरे विजातीय तत्वों का भी सम्मिश्रण हुआ। ऐक्ष्वाक जनपद पहले स्वजातीय था, धीरे-धीरे वह काशी-कोशल में विस्तृत हो गया, मगध और अङ्ग मिलकर मगध के अन्तर्गत हो गये, ई०-पू० ६०० से ३०० तक यह दृढ़ीकरण (consolidation) की प्रक्रिया चलती रही। आवास-योग्य भूमि जहाँ लोग अपने उपयुक्त व्यवसाय, वातावरण, विस्तार, जलवायु, प्राकृतिक सुविधा आदि पाकर संगठित रूप में रहते हों वही जनपद है। यह जनपद धन-धान्यपूर्ण होना चाहिये, (जिसकी भूमि उर्वरा हो) उसकी सीमा पर्वत-वन आदि से सुरक्षित होनी चाहिये। आस-पास शत्रु प्रदेश या ऊसर जमीन, हिंस्र पशु, जघन्य अपराधी जातियाँ आदि न हों। नदी, तालाब, खदान, गाय-हाथी आदि उपयोगी मवेशी, नहरें, यातायात, शुद्ध जलवायु आदि हो तो वह स्थान उत्तम है। जहाँ के किसान परिश्रमी, लोग समझदार, अनुरक्त तथा शुद्ध विचार वाले हों (भले ही निम्न वर्ण के हों!) वह जनपद अच्छा है। कौटिल्य के इन विचारों को मानव परिस्थितिशास्त्र (Human Ecology) का परिचय

कहा जा सकता है। बस्ती बसाने के पहले उन प्राकृतिक तत्वों की छानबीन करनी चाहिये जिनसे जीवन सुखी, निरापद, सम्पन्न तथा प्रगतिशील बना रहे। कौटिल्य के विचार इस दिशा में वैज्ञानिक तथा योजनाबद्ध हैं। दुर्गों की आवश्यकता सुरक्षात्मक व्यवस्था के लिये अधिक थी। आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवों से सामना करने के लिये सुदृढ़ दुर्ग तथा स्थायी सेना राज्य में रहा करती थी। इन दुर्गों के औदुक, पार्वत, धान्वन, वन आदि विभिन्न प्रकार थे।* राज्य का स्थायी कोष न्यायपूर्वक करों द्वारा संचित रहता था। आपत्ति काल में राज्य की ओर से आपात निधि (Emergency Fund) की व्यवस्था थी। राजस्व (Finance) सम्बन्धी व्यवस्था में शुल्क, आयात-निर्यात कर, मूल भाग, व्याजी (एक तरह का सेल टैक्स), ग्राम-कर आदि का उल्लेख किया गया है। कर सम्बन्धी व्यवस्था बहुत संतुलित तथा समीचीन थी। आय के साथ ही व्यय का भी ब्यौरेवार विवेचन मिलता है। कोष ही इस तरह राज्य के अस्तित्व का मेरुदण्ड था। दण्ड अर्थात् सैन्य-बल का प्राचीन राज्यों में आज की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं था। सेना में कार्य करने के लिये जिन विशेष गुणों का आवश्यकता है उससे कौटिल्य पूर्णतया अवगत है। स्वामि-भक्ति तथा स्थिरचित्त हो सेवा करने वाला, साहसी, युद्ध-कुशल, क्षत्रियोचित गुणों से युक्त, सैनिक ही इस कार्य के लिये उपयुक्त है। विभिन्न प्रकार के सैन्य-सङ्गठन तथा युद्ध-विज्ञान का पूरा विवरण कौटिल्य की विशेषता है जिसका अधिक उल्लेख आगे किया जा सकेगा। मित्र से अभिप्राय सहायक या पड़ोसी देशों से है जो समय पर काम आते हैं। मित्र से सम्बन्धित विपरीत भाव शत्रु का है जिससे बचना राज्य के लिये जरूरी है। शत्रु-मित्र सम्बन्ध का विवेचन 'विदेशी-नीति' के अन्तर्गत किया जाता है। सप्ताङ्ग-सिद्धान्त में इस प्रकार राजा का सबसे अधिक महत्त्व है और आज की तरह कार्य-विभाजन का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। राजा को श्रेष्ठ स्थान देकर उसे अप्रतिद्वन्द्वी बनाने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि वही दण्डधर है और दण्ड के भय से धर्म या अधिकार-कर्तव्य का व्यतिक्रम नहीं हो पाता। पुरोहित तथा प्रधान मंत्री का पद सप्ताङ्ग के अन्तर्गत नहीं बल्कि पृथक् और स्वतन्त्र है। सप्ताङ्ग के कारण ही राज्य को पुष्टि मिलती है और उसका अस्तित्व बना रहता है।

---

* औदुक दुर्ग—चारों ओर जल से घिरा हुआ। धान्वन—सूखे मैदान में बना ठोस दुर्ग, पार्वत—पहाड़ी किला। वन—जंगलों या सघन वृक्षों से घिरा हुआ। इनमें प्रवेश द्वार, प्राचीर, सुरंग, गुप्तचर, जलमार्ग आदि थे।

उसकी उपेक्षा करने या किसी एक अंग के कमजोर होने का आशय है आत्म-विनाश। सप्ताङ्ग राज्य की सबसे बड़ी कमी है एकसूत्रता, सांस्कृतिक एकता अथवा राष्ट्रीयता जिनके अभाव में राज्य विनाशकारी ही सिद्ध होते हैं। हिन्दू तथा अन्य राजाओं ने इस सिद्धान्त का पालन तो किया किन्तु औचित्य का निर्वाह न कर सके। आज तो राजाओं तथा उस प्रकार की परम्पराओं के नष्ट होने से इन सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं रह गया है फिर भी इनके स्थायी तत्व पहले की तरह आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। राज्य का विस्तार तथा उसकी उपादेयता के सम्बन्ध में विभिन्न प्रयोगों के आधार पर नये मूल्य मापदण्ड स्थिर किये गये हैं।

मन्त्रिपरिषद् तथा सामान्य प्रशासन :

मन्त्रियों की नियुक्ति राजा ही करता था लेकिन मंत्रणा या वादविवाद के लिये वे स्वतन्त्र थे। विशेष अवसर या अधिवेशन पर ही मंत्रिगण परामर्श देते थे। प्रधानमंत्री या महामात्य सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होता था जो पूरी 'अमात्यसम्पत्' अर्थात् मंत्रिगुणों या निधि का रक्षा करता था; इससे उनके उत्तरदायित्व का बोध होता है। कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि कुलीन, अप्रमादी, प्रगल्भ, उत्साही, चतुर, धीमान्, धैर्यवान्, निरभिमानी, स्वामिभक्त, लोकप्रिय, स्थिरबुद्धि, अर्थशास्त्रज्ञ, सौम्य तथा कुशल प्रवक्ता ही प्राधानामात्य होने योग्य है। निश्चय ही जनता के सर्व श्रेष्ठ पुरुष ही इस पद पर आ सकते थे। मंत्रिपरिषद् से सलाह लेकर ही राजा विभिन्न पदों की नियुक्तियाँ करता, राजदूत बाहर भेजता और आन्तरिक प्रशासन पर नियंत्रण रखता था। कौटिल्य ने मंत्री तथा मंत्रिपरिषद् में भेद किया है। मंत्री तो सामान्यतया मंत्रणा देने के लिये रखे जाते थे जो राजा के व्यक्तिगत 'स्टाफ' के सदस्य थे। मंत्रिपरिषद् एक वैधानिक संस्था थी जो समय-समय पर अधिवेशन-सूत्रों में कार्य करती थी। मौखिक की अपेक्षा लिखित मत लेने का प्रचलन था। इस प्रकार मंत्रिपरिषद्-सहित राजा का कार्य सामान्य प्रशासन विभाग (general administration department या G.A.D.) का पूरा-पूरा संचालन करना था। मंत्रणा करने का अभिप्राय विधि-विवेक-पूर्वक किसी भी कार्य के पूर्व-पर पक्ष पर पूरा विचार कर योजना कार्यान्वित करने के प्रयत्न करना है। इसके पाँच भेद कौटिल्य ने स्थिर किये हैं। एक तो नवनिर्माण की योजना तथा उसके उपाय, दूसरी आवश्यक साधनों, उपकरणों तथा जनशक्ति की व्यवस्था, तीसरी देश-काल परिस्थिति

पर विचार, चौथी आकस्मिक तथा सम्भावित विपत्तियों का प्रतीकार, पाँचवीं, कार्यसिद्धि। कार्य का अभिप्राय दुर्ग, परिखा (खाई), पुल आदि बनाना तथा विदेशों में दूत भेजना है। मंत्रणा व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में हो सकती है लेकिन इसे पूर्णतया गुप्त रखना अच्छा है। मन्त्रणा करने का सार यह है कि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लिया जावे, दीर्घकालीन तरीकों (delaying tactics) का निषेध किया जावे। मन्त्रियों की नियुक्ति अमात्यों में से होती थी। इनको मनोवैज्ञानिक परीक्षण के बाद अन्य गुप्त रीतियों से भी जांचा जाता था। सर्वोपधा शुद्ध अमात्य ही मन्त्रिपद से योग्य होते थे। मंत्रिपरिषद् की कारवाई लिखित रूप में रखी जाती थी। लिपिबद्ध करने की व्यवस्था प्रत्येक क्षेत्र में थी, देश-ग्राम, कुल, जाति की सभाओं के निर्णय लिखे जाते थे। राजाज्ञा भी लिखित पत्र, (आधुनिक प्रशासकीय गजटों या राजपत्रों की तरह) में ही प्रस्तुत की जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर मन्त्री और मन्त्रिपरिषद् की संयुक्त बैठक भी होती थी, निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता था। साधारणतया राजा मन्त्रि-परिषद् की बातें मानने के लिये बाध्य था अन्यथा मन्त्रिपरिषद् में सदस्य त्यागपत्र दे सकते थे और राजा के लिये विशेष संकट उपस्थित हो सकता था।* परामर्श संबंधी नियमों के लिये कौटिल्य ने यह स्थिर किया कि तीन-चार मन्त्रियों के साथ राजा को विचार-विमर्श करना चाहिये। इससे आपसी प्रतिस्पर्धा या अनर्थकारी परिणाम न होगा। विभागों का सामञ्जस्य भी बना रहता है। मन्त्रियों के अलावे उपमन्त्री या सहायक मन्त्री भी होते थे। प्राचीन नीतिकारों के अनुसार मन्त्रियों की संख्या १२, १६, या २० आवश्यकतानुसार होनी चाहिये। कौटिल्य ने संख्या की अपेक्षा श्रेष्ठ गुणों पर अधिक महत्त्व दिया। साधारणतः आठ विभागों में मन्त्रियों का कार्य वितरण राज्य में होता था। अष्ट-प्रधान मन्त्रिमण्डल हिन्दू राजाओं तथा छत्रपति शिवाजी आदि के समय से भी प्रचलित था। महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येक वर्ग से प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल में लेने का उल्लेख था। कौटिल्य भी मन्त्रिमन्डल को प्रतिनिधिक, योग्य तथा लोक-प्रिय बनाना चाहता था। इस प्रकार वर्त्तमान केबिनेट

---

* कुछ लेखकों के अनुसार राजा को निषेधाधिकार (right of veto) भी था। आर्थिक अनुदायों के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद् की स्वीकृति अनिवार्य थी, नहीं तो राजा को अपने व्यक्तिगत धन से कार्य चलाना पड़ता था। (डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा डा० जायसवाल के अलग-अलग मत)।

व्यवस्था उस काल में प्रचलित थी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसिडेन्ट जिस प्रकार अपना मंत्रिमंडल आजकल गठित करते हैं उससे यह व्यवस्था मिलती-जुलती है। सबसे बड़ा अन्तर आज के जनतांत्रिक मंत्रिमंडल तथा कौटिल्य के मन्त्रिमडल में यह है कि आज की तरह उसके जमाने में लोक-सभा या विधान-सभा के समक्ष उत्तरदायी मन्त्री न थे। यदि कहीं उनका उत्तरदायित्व था तो वह राजा के सामने था। प्रत्येक मन्त्री के साथ सुयोग्य लिपिक तथा लेखक (Personal assistant) भी थे जो प्रत्येक आदेश लिखित रूप में प्रसारित करते थे। शासनतंत्र की बारीकियों को ध्यान में रखते हुए सामान्य प्रशासन का विभागीकरण (departmentalisation) किया गया था और प्रत्येक विभाग एक-एक अध्यक्ष के जिम्मे था। राज्य-कर्मचारियों तथा उच्च पदाधिकारियों की विस्तृत सूची देते हुए कौटिल्य ने उनके कर्तव्य-अधिकारों का विवेचन किया है। कर्मचारियों की योग्यता, पदवृद्धि, विभागीय जाँच, सुदृढ़ आर्थिक स्थिति, आदि का पूरा ध्यान उस समय में रखा जाता था। पक्षपात के बजाय गुणकर्म का विचार करके ही नियुक्तियाँ, तरक्की आदि होती थी। कर्मचारियों के सुन्दर व्यवहार तथा आचार-संहिता (Code of conduct) का उल्लेख भी किया गया है। कर्मचारियों के लिये विशेष प्रशासकीय नियमों (administrative law) का पता तो नहीं चलता पर इतना अवश्य था कि सरकारी विभागों से सम्बन्धित अपराध होने पर उन्हें अपेक्षाकृत अधिक दंड दिया जाता था। उच्च पदाधिकारियों के लिये गुप्त रीति से उपांशु दण्ड या वध इत्यादि कराने की बात भी कही गई है। धन-सम्बन्धी अपराधों के लिये भी अधिक दण्ड का विधान है। धन का अपव्यय, सरकारी कोष में कमी, आय अथवा समुदय का क्षय, धनापहरण, उत्कोच-ग्रहण (घूसखोरी), प्रजापीड़न आदि अवस्थाओं में कर्मचारियों का अपराध अक्षम्य है और उन्हें तत्काल उचित दण्ड दिया जाता है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित कर्ता, कारण, देश, काल, कार्य, उदय आदि के बारे में पूरी जानकारी रखे।

उच्च पदाधिकारियों को 'तीर्थ' की संज्ञा देते हुए कौटिल्य ने उनके १८ भेद किये हैं। किसी भी राज्य में इनके बल पर ही सामान्य प्रशासन चलता है और इनके सुयोग्य रहने पर प्रजा भी सुख-शान्ति का अनुभव करती है। इनमें सर्वप्रथम प्रधान-मन्त्री है जिसका विवेचन हो चुका है। दूसरा स्थान पुरोहित का है जो प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त राजा को धर्म तथा नीति की रक्षा करने के

लिये सतत प्रेरित करता है। पुरोहित का सर्वत्र सम्मान-अभिवादन होता था। सेनापति युद्ध तथा सैन्य सम्बन्धी व्यवस्था का सर्वोच्च मन्त्री या अधिकारी था और राजा का वह अन्यतम विश्वस्त व्यक्ति था। प्राचीन काल में भी सैनिक विप्लव (Coup d'etat) हुआ करते थे इसलिये इस ओर राजा का ध्यान सदैव खिंचा रहता था। युवराज को भी ऊँचे पद पर रखते हुए उसकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की गई है। युवराज के अयोग्य होने पर भी अन्य उपायों द्वारा राज्य कार्य शान्तिपूर्वक चलाने का विधान है। दौवारिक का पद उसी तरह महत्वपूर्ण था जिस तरह सेनापति का; वह राज प्रासाद में निरीक्षण की तरह रहता था। अन्तर्वंशिक भी इसी प्रकार का एक अंग था जो राजा तथा अन्तःपुर की पूरी सुरक्षा करता था। स्कन्धावार या छावनी (Cantonment) की सुरक्षा के लिये प्रशास्ता का पद था। समाहर्ता राजकीय आय-वृद्धि तथा जनपदों का संरक्षण करने वाला प्रधान अधिकारी था। उसके अन्तर्गत विभिन्न विभागों के अध्यक्ष कार्य करते थे। सन्निधाता का कार्य लोक-निर्माण-विभाग से सम्बन्धित था और उसे सभी तरह के भवन निर्माण कराने तथा उनकी रक्षा करने का भार ग्रहण करना पड़ता था। प्रदेष्टा का पद न्यायाधीश की तरह महत्वपूर्ण था; कण्टकशोधन न्यायालय का वह अध्यक्ष था। नायक सेना का महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। पौरव्यावहारिक का पद दीवानी मामलों में प्रधान न्यायाधीश की तरह था, धर्मस्थीय न्यायालयों के प्रधान की हैसियत से उनका निर्णय सर्वमान्य रहता था। कार्मान्तिक का कार्य कारखानों, खनिज, द्रव्यों आदि का संचालन, नियंत्रण करना था। मन्त्रि-परिषदाध्यक्ष महामात्यों की तरह प्रभावशाली रहता था। दंडपाल तथा दुर्गपाल आन्तरिक शासन में बड़े उपयोगी थे। अन्तपाल सीमावर्ती जातियों पर नियंत्रण रखता था। आटविक का पद जंगलों की व्यवस्था करने के लिये था। प्रत्येक विभाग में अनेक कर्मचारी कार्य करते, उनकी पूरी व्यवस्था रहती तथा शासन का दैनिक कार्य (routine work) सुचारु रीति से चलता था। न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था पर कौटिल्य ने पूरा प्रकाश डाला है। धर्मस्थीय तथा कण्टकशोधन ये दो प्रकार के न्यायालय थे जहाँ दीवानी और फौजदारी मुकदमों का निर्णय विधिपूर्वक किया जाता था। अदालतों की कार्रवाई व्यवहार-संहिता (procedure code) के आधार पर नियमानुसार चलती थी। विचारणीय विषयों तथा अभियोगों की विस्तृत सूची बनी थी। प्राड्विवाक या न्यायाधीश का समाज में सम्मान था और वे निष्पक्ष, विद्वान् तथा धर्मशास्त्री होते थे। प्रधान न्यायालय के अतिरिक्त स्थानीय न्यायालय

द्रोणमुख न्यायालय, संग्रहण न्यायालय, जनपद-संधि न्यायालय आदि भी थे जो अलग-अलग क्षेत्र में निर्णय करते थे; उनकी अपीलें भी ऊपर की अदालतों में हो सकती थीं। दण्ड-व्यवस्था (penology) का विचार करते समय यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसमें निर्दयता-अमानुषिकता थी तथा अनुपात का अभाव था। शारीरिक दण्ड (Corporal punishment) तथा प्राण-दण्ड (Capital punishment) के अलग-अलग तरीके थे, प्राण-दंड या जुर्माना तो मामूली बात थी। राजा उचित दंड-व्यवस्था करके लोकप्रिय रहता है किन्तु तीक्ष्ण होने से तिरस्कृत तथा अपमानित होता है। कारावासों की यन्त्रणा असह्य थी किन्तु अच्छे व्यवहार पर कैदियों के साथ रियायत भी की जाती थी।

पौरजानपद तथा स्थानीय शासन:

एक ओर जहाँ कौटिल्य की शासन व्यवस्था में पूर्ण केन्द्रीकरण का प्रयोग है वहीं विकेन्द्रित शासन की संस्थायें भी दिखाई देती हैं। पौर तथा जानपद ये दो संस्थायें प्राचीन काल में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से संचालित व्यवस्थापिका सभा की तरह थीं। इनके माध्यम से ही नागरिक शिक्षा (Civic education) का व्यवहारिक ज्ञान लोग प्राप्त करते तथा राज्य के प्रति अपना-अपना दाय प्रस्तुत करते थे। शहरी तथा ग्रामीण जनता दोनों समान रूप से इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करती। स्थानीय स्वशासन (local autonomy) के कारण जनता अपनी सांस्कृतिक निधि की रक्षा अच्छी तरह कर पाती है और उनके जीवन की विविधता-विचित्रता मर्यादित तथा अक्षुण्ण रही आती है। इन संस्थाओ ने इस दिशा में बड़ा ही महत्वपूर्ण काम किया और सर्वत्र प्रचलित जनप्रिय संस्था के रूप में इनका व्यापक जाल फैल गया। इनके द्वारा शासन-कार्य सुगम तथा सर्वजनसुलभ बनाया जाता था। पौर संस्थायें पर्याप्त स्वतन्त्रता के साथ राजनीतिक विषयों पर राज्य की नीति से सामञ्जस्य रखते हुए व्यवस्था करती थीं जानपद सभा भी इसी प्रकार शासन से सहयोग करती थी। इनके प्रमुख कार्यों में युवराज की नियुक्ति करना, राज्याभिषेक करना योग्य राजा योग्य प्रधानमन्त्री, योग्य कर्मचारी आदि के सम्बन्ध में स्वीकृति देना तथा उनके व्यवहार का निरीक्षण करना, राजनीतिक स्थिति का पर्यालोचन करना, असाधारण अवस्था में आर्थिक अनुदान तथा कर-व्यवस्था का नियमन करना, राष्ट्रीय आय अक्षत रखना तथा उसकी अभिवृद्धि करना आदि हैं। अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में वहाँ की सीनेट नामक संस्था

को एक तरह के विशेषाधिकार हैं (Senatorial Courtesy) जिनके कारण महत्वपूर्ण नीतियों तथा नियुक्तियों पर उसकी स्वीकृति अनिवार्य मानी जाती है। कुछ ऐसी ही विशेष स्थिति इन संस्थाओं की थी हालांकि इनका सङ्गठन पूरी तौर से भिन्न था। इनके कुछ अन्य कार्य पौष्टिक कहे जाते थे क्योंकि जनहित के लिए वे उपयोगी थे। तीर्थ, सभा, शाला, पूग, समवाय आदि अलग-अलग समितियाँ या उपसमितियाँ इनमें रहती थीं जिनका उद्देश्य था निर्माण-सम्बन्धी कार्य करना तथा सम्पन्न कार्य की आलोचना-विवेचना करना। इन संस्थाओं को अनुकूल रखने के लिए राजा यथेष्ठ प्रयत्न करता और हमेशा इन्हें साथ लिए रहना चाहता। कुछ ऐसे कार्य भी जो राजनीति से परे होते इन संस्थाओं द्वारा सम्पादित होते थे।

कौटिल्य का राज्य साम्राज्यवादी नीति पर आधारित अवश्य था किन्तु स्थानीय शासन में पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गई थी। राज्य के प्रान्तीय स्तर पर जो विभाजन किये गए वे स्थानीय कहलाते थे, जिसका शासक स्थानिक था। राजुक प्रादेशिक आंचलिक क्षेत्रों (regions) के शासक थे। युक्त और उपयुक्त सम्भवतः जिले के स्तर पर अर्थ-संग्रह करने वाले अधिकारी थे जो जल में बसनेवाली मछलियों की तरह अपना काम करते थे। जनपद निवेश प्रकरण में कौटिल्य के मानव परिस्थिति-शास्त्र (Human Ecology) का विस्तृत परिचय देते हुए गांव, आबादी, क्षेत्रफल, आय, जाति, व्यवसाय आदि का पारस्परिक साहचर्य तथा सहकार्य निरूपित किया। उसने भौगोलिक, प्राकृतिक सीमा भी निर्दिष्ट की है और वनस्पतियों तक का परिचय दिया है आठ सौ गांवों के बीच स्थानीय, चार सौ गांवों के बीच द्रोणमुख, दो सौ गांवों में सार्वटिक, दस गांवों में संग्रहण आदि विशेष केन्द्रीय स्थान बनाये जाते थे, जो न्याय, सुरक्षा, आय आदि के केन्द्र थे। गांवों से ही राजकर, योद्धा, धन-पशु-सुवर्ण आदि प्राप्त होने तथा सरकारी कामों के लिए मजदूर भी वहीं से आते। गांवों के प्रबन्ध में गोप का स्थान ऊंचा था जो प्रायः प्रत्येक बात की जानकारी रखता था। गांव का मुखिया ग्रामिक गोप से नीचे रहता था और प्रत्येक कार्य में उसकी मदद करता था। ग्राम-संघ सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था करते तथा अपना स्थायी कोष भी रखते थे। पञ्चायतों को मुकदमों का फैसला करने का अधिकार था और उसके निर्णय मान्य होते थे। सामूहिक नियमों का पालन अनिवार्य था, अवहेलना करने पर जुर्माना या शारीरिक दंड भी दिया जा सकता था। शान्ति सुव्यवस्था के साथ पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह कराना उनका मुख्य कार्य था। ग्रामिक की तरह नागरिक भी स्थानीय शासन

की महत्वपूर्ण कड़ी था। सार्वजनिक तथा शासकीय सम्पत्ति की रक्षा करना और उसे नुकसान पहुँचाने वालों को दंड देना उनका प्राथमिक कर्तव्य था। म्युनिसिपिल कमेटी तथा जनपद समिति की तरह ये प्राचीन सङ्गठन केन्द्रीय संरक्षण में चला करते थे और स्वावलम्बन की प्रबल भावना काम करती थी।

युद्धनीति तथा सैन्य-सगठन :

साम्राज्य की कल्पना में आत्मरक्षा, विजय तथा प्रभुत्व विस्तार की उद्दाम भावना निहित है इसलिये युद्ध तथा युद्धकला की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। मानव स्वभाव की संघर्षप्रियता (bellicose nature) का सामाजिक क्षेत्र में प्रयोग करते हुए कौटिल्य यह मानकर चलता है कि प्रकर्षशील राज्य में सुसज्जित सैन्य शक्ति अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि शक्ति-सम्बन्धी राजनीति (machtpolitik) ही कौटिल्य का अभिमत विषय है। पदाति, अश्वारोही, रथी, हस्तिसेना तथा नौसेना का सूक्ष्म संगठन कौटिल्य ने विस्तारपूर्वक बतलाया है। सेनापति को महाबलाधिकृत की उपाधि थी और वह स्वतः पारंगत महायोद्धा रहता था। उसके नीचे नायक, सेनापति, पदिक आदि पदाधिकारी काम करते थे चतुरंगिणी के अतिरिक्त कौटिल्य ने सात प्रकार की सेनाओं का उल्लेख किया है जो युद्धकाल में बड़ा काम करती है। इनमें मौल, भृत, श्रेणी, मित्र, अमित्र, अटवी औत्साहिक आदि बल हैं जो सैन्यशक्ति की वृद्धि करने के साथ ही समय पर बहुत काम देती हैं। सामान्य जनता में से उद्धत तथा साहसिक व्यक्तियों को भरती करके अग्रिम दस्ते की सेना तैयार की जाती थी जो खनक तथा परिसारक (sappers & miners) के नाम से प्रसिद्ध थी। शत्रुपक्ष पर आक्रमण करने के साथ ही गुप्त पंचमांगी कार्रवाइयों (fifth coloumn activties) का भी उल्लेख किया गया है जिनसे विजय-प्राप्ति आसान हो जाती है। सैनिकों के लिये विशेष नियम, विधान, सुविधा आदि का व्यवस्था थी। सैनिकों के परिवारों का पूरा ध्यान रखा जाता था। युद्ध करनेवाले स्वर्गगामी होते हैं, युद्ध महायोग है, और युद्ध जीवन की अग्निपरीक्षा है इस प्रकार के उद्बोधन वाक्यों से सेना का नैतिक बल (morale) अक्षुण्ण रखा जाता था। उनके प्रशिक्षण की पूरी व्यवस्था थी।

व्यूह-रचना-तथा छावनी आदि बनाने के लिये कौटिल्य ने वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय दिया है। उत्साह शक्ति, प्रभु-शक्ति, मंत्र-शक्ति के साथ ही वह बुद्धि की श्रेष्ठता पर अधिक जोर देता है। विजय प्राप्त करनेवाला राजा (विजिगीषु) अपनी शक्तियों का समुचित उपयोग करता है तथा सफलता की ओर अग्रसर होता है; विजयी राजा का सर्वत्र अभिनन्दन होता है और पराजित राजा पददलित-अवमानित होता है। सेना-अभियान तथा मोर्चेबन्दी (reinforcements) का भी सूक्ष्म परिचय दिया गया है। विजिगीषु राजा को देश, काल, यात्राकाल, बल समुत्थान, कोप, क्षय, लाभ, आपत्ति शत्रु-बलाबल आदि का पूरा ध्यान रखकर ही काम करना चाहिये ताकि उसका वार खाली न जावे शत्रु पर आक्रमण करने में दुर्ग पर घेरा डालना तथा प्रचण्ड आक्रमण करना उचित है लेकिन इसके साथ उपजाप' अपसर्प पर्युपासन, वामन, अवमर्द आदि उपायों का भी प्रयोग करना चाहिये।* वैसे तो उपयोगी सैन्य-सामग्री का उल्लेख आचार्य ने किया है लेकिन उस युग में आयुधागार (magazine and armoury) का स्वतन्त्र विभाग कार्य करता था जो आग्नेय अस्त्रों का उत्पादन भी बड़े पैमाने पर करता था। प्रत्यक्ष युद्ध के साथ ही उस युग में भी तूष्णी-युद्ध (cold wars) का प्रचलन था जिसका प्रभाव सभी राष्ट्रों पर पड़ता था। निम्नयुद्ध, स्थलयुद्ध, आकाशयुद्ध, कूटयुद्ध, खनकयुद्ध, दिवारात्रियुद्ध आदि विभिन्न भेदों का भी उल्लेख किया गया है। इन सब में युद्ध की एक मर्यादा तथा व्यवहार-संहिता बनी हुई है जिसका पालन करना प्रत्येक शासक का कर्तव्य है। सामान्य जनता, असैनिक तथा स्त्री-बच्चों की सुरक्षा पर ध्यान दिया जाता था। किसानों की फसलें नष्ट नहीं की जाती थीं। क्षारनीति या भस्मीभूत करने की नीति (scorched earth or blitzkrieg) नहीं बरती जाती थी। शत्रुओं के साथ भी सद्व्यवहार करने के नियम थे। जनपदों का आन्दोलन होने पर उन्हें शान्त करने के लिये राजा को धन आदि देना पड़ता था। सैनिकों को पूरी तरह संतुष्ट तथा अनुशासित रखा जाता था। गुप्तचरों तथा

---

*१. उपजाप—शत्रुपक्ष का जनमत अपने अनुकूल बनाना।

२. अपसर्प—गुप्तचरों द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तियों की हत्या कराना।

३. पर्युपासन—चारों ओर घेरा डालना तथा हमला करना।

४. वामन—विष-प्रयोग तथा रसद आदि का नाश करना।

५. अवमर्द—गुप्त उपायों से (सुरंग आदि) शत्रु के किले तोड़ देना।

राजदूतों की व्यवस्था भी पूरी तरह से की गई जो वाणिज्य-व्यवसाय-वृद्धि के साथ ही विदेशी शक्तियों से सम्पर्क बनाये रखते थे।

वैदेशिक नीति तथा मण्डल-सिद्धान्त:

संप्रभुता के सम्बन्ध कौटिल्य के विचार स्पष्ट थे और वह आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुत्व-शक्ति का अनन्य समर्थक था। आन्तरिक नियमों के अनुसार राजा भी अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिये बाध्य था। बाह्य नियमों का पालन राज्य-हित में था और राजा अपना सारा वैभव तथा कौशल सफल विदेश-नीति चलाने में लगाता था। दूसरे राज्यों से संधि, विग्रह तथा अन्य सम्बन्ध बनाये रखने में राज्य पूर्ण स्वतन्त्र था। अनुभवी तथा सुयोग्य राजदूतों के बल राज्य की शक्ति अपना प्रभाव क्षेत्र (sphere of influence) बढ़ाकर विजयिनी होती है। विजय, संग्राम, सन्धि आदि के सम्बन्ध में कौटिल्य ने बड़ा विस्तार किया है और वैदेशिक नीति को बहुत जटिल बनाया है। फिर भी उसका मूल उद्देश्य है विजिगीषु (siegfried) शासक को साम-दाम दण्ड-भेद के द्वारा सफलता प्राप्ति की ओर बढ़ाना। लेकिन ऐसा वह तभी कर सकता है जब उसमें भले-बुरे का ज्ञान, शत्रु-मित्र की पहचान तथा अनुकूल परिस्थित बनाने की योग्यता हो। कौटिल्य ने चार प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया है जो उसकी विदेश-नीति के चतुरंग (quadrivium) हैं। इनमें विजिगीषु, अरि, मध्यम तथा उदासीन ये चार भेद हैं। आत्म-सम्पन्न, द्रव्य-सम्पन्न, नीति का आश्रयभूत राजा विजिगीषु है। उसके चारों ओर के विरोधी या प्रतिस्पर्धी पड़ोसी अरिवर्ग है। अरि या शत्रु राज्य या तो सहज या कृत्रिम भाव से शत्रुता रखता है इसलिये उसके साथ सम्बन्ध बनाने में सतर्कता रखनी पड़ती है। मध्यम शासक वह है जो विजिगीषु और शत्रु के राज्य से मिला हुआ दोनों की सहायता करता है या अलग-अलग दोनों का सामना कर सकता है। उदासीन (neutral) वह है जो विजिगीषु, अरि मध्यम से भिन्न है, तटस्थ है तीनों से पृथक् है। राजाओं वर्गीकरण करने में शत्रु, मित्र, पड़ोसी आदि का भी ध्यान रखा जाता है और इस दृष्टि से कौटिल्य ने बाहर सामान्य भेद माने हैं। विजिगीषु अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यम और उदासीन ये बारह प्रकार के राजा होते हैं जो आपस में विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण अनुकूल-प्रतिकूल आचरण करते हैं। समय-समय पर इनके आचरण या व्यवहार में परिवर्तन भी होता रहता है लेकिन नीतिज्ञ राजा को इनकी वास्त-

विक प्रकृति से अनभिज्ञ नहीं होना चाहिये। राजदूत नियुक्त करते समय उन्हें पूरी तरह से इन सब बातों की जानकारी होनी चाहिये। यदि दो देशों के बीच तनावपूर्ण स्थिति हो या विग्रह की आशंका हो तो राजदूत बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, उनके साथ दक्ष गुप्तचर भी काम करते हैं। राजदूतों को विशेष छूट (diplomatic immunities) भी मिलती है। विजय-प्राप्ति तथा शान्ति-स्थापना के विभिन्न उपायों से राजा को हमेशा अपने अनुकूल जनमत रखना चाहिये नहीं तो कोई भी जीत उसके ही सिर पर पड़ने वाली अस्त्र (boomerang) की तरह हो जाती है।

साधारणतः व्यवहारिक क्षेत्र में साम-दाम-दण्ड-भेद आदि का आश्रय लिया जाता है और विदेश नीति में उनका प्रयोग अनिवार्य है। लेकिन उसके साथ ही षाड्गुण्य नीति का पूरा पालन करना चाहिये जो अधिक प्रभावशाली है। षाड्गुण्य नीति के अनुसार विदेश-नीति में सन्धि, विग्रह, यान, आसन संश्रय और द्वैधीभाव का प्रयोग विहित है।* इस नीति का प्रयोग करने में राजा को जैसा उचित दिखे वैसा करना चाहिये क्योंकि अनुपयुक्त या अनावश्यक नीति का पालन करने से विनाश होता है, निरर्थक कष्ट होता है। सामान्य सिद्धान्त यह तो मानना ही चाहिये कि जहाँ वाद-विवाद या आपसी समझौते से काम निकलता है वहाँ पर व्यर्थ का संघर्ष या बखेड़ा नहीं मोल लेना चाहिये। कौटिल्य की नीति स्वयं कुटिल नहीं है। (बल्कि वह बिलकुल स्पष्ट सीधी है !) किन्तु वह कुटिल व्यक्तियों या शासकों के लिये अवश्य ही भया-वह है। सन्धियों के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि दण्डोपनत, कोषोपनत, देशोपनत ये तीन प्रकार की सन्धियाँ होती हैं जिनसे निर्बल राजा अपनी रक्षा कर सकता है और शानदार प्रत्यावर्तन (honourable retreat) कर

---

* १. सन्धि—Treaty दो शासकों में पारस्परिक समझौता।

२. विग्रह—Break of hostility प्रत्यक्ष कार्यवाई से शत्रु का अपकार करना।

३. यान—attack or aggression सीधी चढ़ाई करना, हमला करना।

४. आसन—Status quo ante bellum चुपचाप तटस्थता का पालन करना या युद्ध-पूर्व स्थिति बनाये रखना।

५. संश्रय—Surrender आत्म-समर्पण या पराजय-स्वीकृति।

६. द्वैधीभाव—Diplomacy समयानुकूल कूटनीति निर्धारित करना।

सकता है। विजेता अपनी शक्ति तथा शिद्धि बढ़ाने का प्रयत्न करता है किन्तु उसे स्वेच्छाचार या अत्याचार से दूर रहना चाहिये। पराजित राज्य में सम्मानपूर्वक सन्धि करके उसे उचित व्यक्तियों को योग्य स्थान पर नियुक्त करके उनकी सद्भावना (good will) प्राप्त करनी चाहिये। विजेता को अपनी प्रजा के समान शील, वेश, भाषा, आचरण ग्रहण कर देवता, समाज, उत्सव, भक्तिभाव आदि में सहयोग देना चाहिये जिससे सामान्य जनता प्रतारित या तिरस्कृत अपने को न समझे। लौकिक आचारों की रक्षा से जनता अपनी सांस्कृतिक तथा धार्मिक अभिरुचि कायम रख सकती है। राजपूतों का भी यह कर्तव्य है कि जिस देश में हों वहाँ की प्रथा-परम्पराओं का सम्मान करें तथा ऊपरी तौर से (formalities) नियमों का पूरा पालन करें। आक्रमणकारी अथवा अभियोक्ता ३ प्रकार के होते हैं, धर्मविजयी, लोकविजयी असुरविजयी। निर्बल राजा इनका मुकाबला कुछ न कुछ देकर कर सकता है और अपनी जनता को बचा सकता है। अपने वचनों या आश्वासनों का पालन करना राजा का नैतिक धर्म है क्योंकि ऐसा न करने पर नये राज्य की जनता का विश्वास सम्पादन वह नहीं कर सकेगा।

राज्य-मण्डल या मण्डल-सिद्धान्त का अभिप्राय है राज-प्रकृति और द्रव्य-प्रकृति का निरूपण करके अपना प्रभाव-क्षेत्र निश्चित करना और सभी मामलों में एक सुनिश्चित स्थिर नीति (coherent and consistent policy) का पालन करना। जिस प्रकार सौरमंडल में विभिन्न ग्रह-उपग्रहों का पारस्परिक सम्बन्ध है तथा प्रकाश का आदान-प्रदान है उसी प्रकार राज्य मण्डल में भी विभिन्न राजाओं की स्थिति स्पष्ट है। वास्तव में विदेश-नीति का सार है मंडल निर्माण या मंडल-विस्तार क्योंकि एकाकी तथा पृथक् (isolationist) नीति कभी कारगर नहीं होती। आज की विदेशी-नीति में हमें ब्लाक (blocs) दिखाई देते हैं जो विशिष्ट कार्यप्रणाली, सुरक्षायोजना, विचारधारा आदि का अनुसरण करते हैं। इसी तरह की व्यवस्था उन दिनों भी थी। पूरे मण्डल की नीति समग्र रूप से संचालित होती थी और शक्ति संतुलन (balance of powlr) बनाये रखने में सहायक सिद्ध होती थी। चार प्रकार के राज्यों की तरह चार मण्डल भी थे, विजिगीषुमंडल, अरिमंडल, मध्यममंडल, उदासीनमंडल। विजिगीषुमण्डल में ३ राज्यप्रकृति हैं— विजिगीषु, उसका मित्र, उसके मित्र का मित्र, उन तीनों के (प्रत्येक) पाँच-पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ (अमात्य जनपद, दुर्ग, कोष, दंड) है और इस तरह १५ द्रव्यप्रकृतियाँ हैं। इस तरह विजिगीषु मण्डल में ३ राजप्रकृति और १५ द्रव्य

प्रकृति इस आधार पर १८ अवयव हैं। इसी प्रकार प्रत्येक मण्डल १८ अवयवों से युक्त है, कुल मिलकार १२ राजप्रकृति तथा ६० द्रव्यप्रकृति हैं। इस तरह मण्डल सिद्धान्त व्यापक तथा प्रभावोत्पादक है। राज्यों को आपसी व्यवहार में अपने उन सिद्धान्तों का निश्चय कर लेना चाहिये कि वे किस ओर मुखातिब होना चाहते हैं? मण्डल-सिद्धान्त में एक कठिनाई अवश्य है कि स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष विदेश-नीति का उल्लेख नहीं किया गया है।

अर्थशास्त्र के 'औपनिषदिक' अधिकरण में विजिगीषु को इस बात की प्रेरणा दी गई है कि वह चातुर्वर्ण्य की रक्षा के लिये अधार्मिक पुरुषों में प्रयोग जादू-टोना फूट डालना, इन्द्रजाल फैलाना, जासूसी करना तिलस्म बताना, गुप्त हत्या करना आदि उपाय शत्रु राज्य को वशीभूत करने के लिये कारगर हो सकते हैं। इस प्रकार के उल्लेख में यह अवश्य है कि साध्य-साधन की पवित्रता की ओर ध्यान नहीं दिया गया है और इनके कारण कौटिल्य की नीति गर्हित तथा त्याज्य मानी जाती है। वास्तव में आज के युग में इस प्रकार की चेष्टा हास्यास्पद तथा नीचता की द्योतक है? किन्तु कितने ही अपने को सभ्य कहने वाले राष्ट्र इन्हीं निम्नकोटि के उपायों (third degree methods) का आश्रय लेते हैं? यह अवश्य है कि विदेश-नीति में प्रत्येक को इसकी सलाह देकर जनता को सतर्क कर दिया गया है। जिस भीषण जुगुप्सा या आतंक की सृष्टि इससे होती है इसकी प्रतिक्रिया से शान्ति बनाये रखना ही सर्वोत्तम मार्ग बन जाता है।

राज्यों का वर्गीकरण करने में प्राचीनकालीन व्यवस्था के अनुसार राज्य, महाराज्य, आधिपत्य और सार्वभौम का उल्लेख किया जाता है।* वास्तव में ये सब संघ साम्राज्य प्रणाली (Federal Imperial System) के पोषक हैं। कौटिल्य ने प्राकृतिक सीमाओं से वेष्टित चातुरन्त राज्य की कल्पना की जिसमें कन्याकुमारी से हिमालय पर्यन्त विस्तृत भूदेश सम्मिलित था। इस साम्राज्य की कल्पना में प्रादेशिक तथा प्रांतीय स्वाधीनता का अधिकार निहित था। हिन्दू साम्राज्यवाद चक्रवर्ती राजा की कल्पना करता है जिसका अभिप्राय यह है कि साम्राज्य-चक्र अबाध गति से चलता है। महात्मा बुद्ध

*साम्राज्य भौज्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्य माहाराज्यमाधिपत्यमयं समंतपर्यायी स्यात्।

ऐतरेय ब्राह्मण ८.१५।

ने भी धर्म-चक्र प्रवर्तन के द्वारा धार्मिक साम्राज्य की नींव डाली थी। इस समय के साम्राज्य का रूप आज से पूर्णतया भिन्न था। वर्तमान युग में साम्राज्यवाद आर्थिक-नैतिक शोषण का माध्यम है, पाशविकता का प्रतीक है और पूंजीवाद व्यवस्था का पोषक है। कौटिल्य का साम्राज्य इसके विपरीत स्थानीय स्वाधीनता का संरक्षक, आर्थिक सुरक्षा का प्रेरक तथा संगठित जन-शक्ति का आदिस्त्रोत है। केन्द्रीकरण होने पर भी यह साम्राज्य-प्रणाली समझौते पर आश्रित थी। राष्ट्र-संगठन की इस व्यवस्था के सम्बन्ध में इतिहासकार डंकर का मत था कि यह इतनी दृढ़ तथा ठोस थी कि झुक भले जावे पर टूट नहीं सकती। राज्यतन्त्र का विस्तृत वर्णन करके कौटिल्य ने आर्यजाति के उच्च मानसिक स्तर तथा सफलता-प्राप्ति की प्रवृत्ति का विश्लेषण किया है।

समीक्षा :

कौटिल्य की राजनीतिक चिन्तनधारा एक ही लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ती है और वह है सफलता-प्राप्ति। चूंकि जीवन का उद्देश्य वही है और उसके बिना सारी साधना व्यर्थ है, उसे पाना उचित तथा आवश्यक है किन्तु इसमें साध्य-साधना प्रश्न जुड़ा हुआ है। कौटिल्य ने जिन उपायों का वर्णन किया उनकी उपयोगिता कहाँ तक है? मानवता की दृष्टि से वह लाभदायक है या नहीं? न्याय तथा धर्म के आधार पर वह सही है या नहीं? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय हमें मानवी विकास-क्रम तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि-कोण सामने रखना चाहिये। राजाओं की स्थिति जिस युग में थी तथा संघर्ष-बहुल जीवन जब था, इस व्यवस्था से कुछ लाभ अवश्य ही हुआ क्योंकि इतिहास में बहुत दिनों तक इसका अनुसरण हुआ। दूसरी बात यह कि इस विचार-धारा को व्यवहारिक होने के कारण अधिक बल भी मिला। जिस संस्था या व्यवस्था में सामयिक परिवर्तनों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर लोक हित करने की सामर्थ्य रहती है स्थायी होती है। किन्तु उसके मूलाधार यदि दूषित हों तो उसका विघटन या विनाश अन्त में होता ही है। सफलता-प्राप्ति के सम्बन्ध में भी दो तरह का लक्ष्य होता है, एक तो तात्कालिक दूसरा दीर्घकालीन। तात्कालिक सफलता आकर्षक तो है, लेकिन स्थायित्व-हीन है। तो क्या कौटिल्य तात्कालिक सफलता का मूलमन्त्र प्रकट करता है? इस प्रश्न का उत्तर एकाएक दे पाना कठिन है। मनुष्य स्वाभाव में 'अप्राप्तस्य प्रापणं, प्राप्तस्य रक्षणं' की प्रकृत्ति रूढ़ है और इसलिये शीघ्र ही सफलता प्राप्त करने

से जीवन की प्रेरणा-शक्ति (elan vital) सुरक्षित रहती है। कौटिल्य ने अपने सिद्धान्त निश्चित करते समय मानवता के शाश्वत सिद्धान्तों की ओर ध्यान नहीं दिया और सुविधा (expediency) को ही आराध्य बनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक संस्था में विघटनकारी तत्व समय पड़ने पर प्रबल होते आये। उसके विपरीत मनु ने अपनी विचार-धारा में व्यापक दृष्टिकोण रखा और सत्य-पथ का अवलम्बन करने की सलाह बराबर दी। कौटिल्य में संकीर्णता का दोष अवश्य दिखाई पड़ता है।

सिद्धान्तों की दृष्टि से कौटिल्य तथा मेकियावेली तुलनात्मक समीक्षा की जाती है। दोनों विचारकों में एक बड़ा साम्य है और वह यह कि किसी राजा विशेष के लिए वे ग्रन्थ रचना करते हैं और साध्य साधन-प्रयोग में एक सी राय रखते हैं। प्रशासकीय कार्यों का पूर्ण विभाजन कर उन्हें कला और विज्ञान दोनों दृष्टियों से पुष्ट करना मेकियावेली और कौटिल्य का लक्ष्य है। किन्तु इस क्षेत्र में कौटिल्य अधिक विस्तार से युक्तिपूर्वक शासनतन्त्र का वर्णन करता है। इस महान् अन्तर का कारण समझने के लिए यह जानना पर्याप्त होगा कि कौटिल्य अपने समय की तथा पूर्वकालीन व्यवस्था के ऐतिहासिक विवेचन से लाभ उठाता है और विजेता राष्ट्र बनाने के लिए राजा को सर्वशक्तिमान् बनाना चाहता है। इसके विपरीत मेकियावेली राष्ट्रियता-मात्र की उपासना करता है और इटली की स्वधीनता का प्रचारक हो जाता है। नीतिमत्ता अथवा व्यापक सिद्धान्तों की दृष्टि से कौटिल्य का स्थान मेकियावेली से कहीं अधिक ऊँचा है। कौटिल्य के गंभीर अध्ययन में सैद्धान्तिक समस्याओं को व्यावहारिक ढङ्ग से सुलझाने का मार्ग ढूंढ़ा गया है। विशाल मानवी अनुभूति के साथ कौटिल्य सहानुभूति, करुणा, दया, दाक्षिण्य आदि अपेक्षित गुणों का समर्थन करते हुए समयानुकूल उनके प्रयोग की सलाह देता है। सिद्धान्तों को ठोस होने के साथ ही इतना मजबूत भी होना चाहिये कि भले झुक जावें पर टूटें कदापि नहीं। मेकिया-वेली में अवसरवादिता तथा उथलापन खोजने में कोई कष्ट करना न पड़ेगा। कौटिल्य ने सामान्यतया एकतंत्रात्मक राज्य का समर्थन करके विजिगीषु राजा को अपना आदर्श माना है। गणराज्यों का उल्लेख उसने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते हुए यह बताया कि उनका उन्मूलन किस प्रकार सम्भव हुआ या होना चाहिये था। मेकियावेली ने गणतन्त्र तथा अन्य राज्यों का वर्णन पुराने वर्गी-करण (आरस्टायल, सिसरो आदि के आधार पर) के ढङ्ग पर किया किन्तु उसका वर्णन अधूरा और एकाङ्गी है। मेकियावेली पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों में प्रथम स्थान प्राप्त करता है यह भी इसलिए कि मध्ययुगीन

धार्मिकता-नैतिकता तथा आडम्बरयुक्त विचारधारा से राजनीति को पृथक करने का सौभाग्य उसे मिला। कौटिल्य ने जिस युग में लिखा उसमें धर्म और राजनीति बिलकुल घुले-मिले थे। कौटिल्य में नैतिकता का यदि कहीं-कहीं उल्लङ्घन दिखाई भी देता है तो वह कार्यनीति (Policy) के कारण, अन्यथा नैतिकता का उसने पूरा पालन किया है। उस युग का शासक स्वयं घृतव्रत, सदाचारी न्याय-व्यवस्था नियम का अनुगामी था, आचार-व्यवहार के नियमों का सदैव पालन करता था। मेकियावेली इन सबके विपरीत चाटुकारिता (Sycophancy), धूर्तता (hypocrisy), निरन्तर अस्थिरता (consistently inconsistent) की ही सलाह देता है। शक्ति की उपासना और साधना में कौटिल्य जहाँ महायज्ञ या तप की कल्पना करता है। (जिसमें स्वार्थत्याग, बलिदान, होम देना पड़ता है) वहीं मेकियावेली किसी भी प्रयोग की अनुकूल अवसरवादिता की) सलाह देता है। सारांश में, यदि दोनों की तुलना की जावे तो व्यापक मतभेद स्पष्ट दिखाई देंगे, समानता केवल ऊपरी (Superficial) होगी।

अन्त में यह प्रश्न विचारणीय है कौटिल्य-कालीन शासनतंत्र में किन भीषण दोषों की उपेक्षा के फलस्वरूप विघटन और विनाश के बीज पनप सके। सबसे पहले इस बात पर ध्यान आकर्षित होता है कि एकतंत्र, एकाधिकार, चक्रवर्ती, सार्वभौम आदि का उल्लेख करने पर अतिशय वैयक्तिकता (extreme individualism) जाग्रत होती है, महत्वाकांक्षा का वह भीषण ज्वर उमड़ता है, लौटना नहीं जानता। परिणाम स्वाभाविक है कि राजा जीवन भर युद्ध और हत्या के बीच गुजरता (wade through war and slaughter) हुआ अपनी कीर्ति फैलाता-गंवाता रहता है। पराजित राज्यों को कदर सामन्त बनाने में समस्या हल नहीं हो जाती। दमन करने से कहीं भी शान्ति नहीं स्थापित होती और अधिक से अधिक दमन होने से शीघ्रातिशीघ्र विद्रोह का वातावरण तैयार होता है। प्राचीन गण-राज्यों में आपसी स्पर्धा-ईर्ष्या का जो रोग (या क्षयरोग ?) फैला उससे कौटिल्य का साम्राज्य भी मुक्त न हो सका, निरंकुश राजा को रोकने के लिये कोई लौकिक व्यावहारिक या वैधानिक मार्ग राजनीतिज्ञों को प्राप्त नहीं था। इतना अवश्य है कि कौटिल्य ने अयोग्य, अत्याचारी, अन्यायी, दुष्ट शासक को राक्षस मानकर उसके वध करने की बात कही है। लेकिन यह इलाज वैसा ही है कि पेट का दर्द दूर करने के लिये जहर दे देना। इस तरह से न तो कोई व्यवस्था चलती है और न सुधार ही होते हैं। विकेन्द्रीकरण का अभाव, केन्द्रीकरण का

अविनय, यह भी शासन का भारी दोष तब, आज भी है। राज्य तथा राज्य-भक्ति के साथ देवत्व की भावना लपेटने से अंधविश्वास, भाग्यवादिता, अकर्मण्यता आदि को प्रश्रय मिलता है जिनके कारण ही भारत में पराधीनता का लम्बा इतिहास बन सका। केवल शासन या राजा की शक्ति का विकास करने से जनशक्ति गौण ही नहीं, उपेक्षित हो जाती है, जनशक्ति के अभाव में उचित व्यवस्था नहीं चल पाती। इस युग में भी विशेषाधिकारी वर्ग या सुविधा-प्राप्त वर्ग की सृष्टि हो गई जो हमेशा शासन के लिये विनाशक है। जासूसी प्रथा (Espionage) से शासन में संदेह, घृणा, षडयन्त्र के बीज पनपते ही रहते हैं। कौटिल्य का अध्ययन करते समय इन सब परिस्थितियों पर ध्यान देना चाहिये और यह न भूलना चाहिये कि वह सुदूर अतीत की छायामात्र है।

कौटिल्य के दर्शन से विभिन्न विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उन्हें संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है :—

१. कौटिल्य ने बहुलवाद से समर्थित अद्वैत (Pluralistically determined monism) की स्थापना की।

२. कौटिल्य का अर्थशास्त्र कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मणवाद (Ritualistic Brahmanism) का समर्थक है।

३. कौटिल्य ने सूत्रों और व्याख्यानों में तर्कसम्मत वैधानिकता (Rationalistic Legalism) का प्रमाण प्रचुर है।

४. कौटिल्य यथार्थवादी शक्ति-सिद्धान्त (Realistic Power-cult) का प्रतिपादक है।

५. कौटिल्य के ग्रन्थ में व्यावहारिक राजनीति और राजनय (Practical statesmanship and diplomacy) का विस्तृत विवेचन है। उसमें अलभ्य राजनीतिक दृष्टि और कौशल था (rare political in sight and practical vision)।

६. अर्थशास्त्र आर्यसभ्यता का सारतत्व और हिन्दू दृष्टि का चरम उत्कर्ष है (Quintessance of Aryanism and acme of Hindu vision)।

७. कौटिल्य की प्रेरणा ने धर्म और न्याय से अनुमोदित राज्य की नींव पड़ी (Kingdom of righteousness)।

८. कौटिल्य के विचारों में अवसरवादिता और सुविधावाद की सामग्री

प्रवृत्ति पाई जाती है (Mephisto phection opportunism and expediency)।

९. कौटिल्य ने मेकियावेली की तरह राजनीतिक सुविधा के नाम पर नैतिकता का परित्याग नहीं किया बल्कि उसकी जड़ें आचारवादिता में गहरी जमी थीं।*

१०. चाणक्य केवल सिद्धान्तों का व्याख्याता न होकर अपने युग के राजनीतिक जीवन का गतिशील सहयोगी था (He was not merely a theorist but a dynamic participant in the political life of his day)।

११. कौटिल्य भाग्यवादी न होकर पुरुषार्थवादी था।

कौटिल्य या चाणक्य के नाम पर विभिन्न परम्परविरोधी मत मिलते हैं। परन्तु यह सत्य है कि 'अर्थशास्त्र' व्यावहारिक जीवन की व्यापक परिधि को छूनेवाला रहस्यपूर्ण ग्रन्थ है। विशाखदत्त ने चाणक्य को कुटिलमति कहा है। महाकवि बाण ने अर्थशास्त्र को धूर्तता और प्रपञ्च का ग्रन्थ माना है। पंचतन्त्र में विष्णुगुप्त राजदूत और राजनीतिज्ञ बताया गया है। मंजुश्रीमूलकल्प में चाणक्य को दुर्मति, क्रोधान्ध, पापक आदि कहा गया है तो केवल दूसरों को ध्वस्त-पराजित करने में प्रवीण है, कुकर्मों और अपराधों का स्रष्टा है। यह सब होते हुए भी बौद्धिक तीक्ष्णता और व्यापक दृष्टि के क्षेत्र में (intellectual acumen and comprehensiveness of out look) वह बेजोड़ है।†

---

*Chanakya and the Arth shastra by Somnath Dhar Page 10.

†Ideologics of War and Peace in Ancient India by Prof. Indra. Page 94-95.

१५—महात्मा गाँधी

(१८६९-१९४८)

बीसवीं सदी के यांत्रिक-भौतिक युग में आध्यात्मिक उन्मेष तथा पुनर्जागरण करने वाले महात्मा गांधी का नाम राजदर्शन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है। इस इतिहास का निर्माण मनुष्य के अवचेतन मन अथवा कोरे आदर्शवादी तथा भावुक विचारों के बल पर नहीं, वरन् उच्च संकल्पों तथा महान् कार्यों द्वारा होता है। राजनीतिक सूझ या दृष्टि (political vision एक बात है और राजनीतिक क्रियाशीलता (political action) बिलकुल दूसरी। अन्य विचारकों में जहाँ हमें ऊँचे से ऊँचे विचार-शिखर दिखाई देते हैं, वहीं बड़ी से बड़ी व्यावहारिक खाँई अथवा सृजनात्मक मौलिकता का अभाव दिखलाई देता है। अधिकांश विचारक मनस्वी, मेधावी, प्रतिभावान् तो थे लेकिन जन-समुदाय से दूर किसी अध्ययन-कक्ष, पाठशाला राजदरबार अथवा कूटनीतिक पद पर रहकर घटनाओं का मनन-विश्लेषण करते रहे। बहुत ही कम को जन-जागरण उद्बोधन, आन्दोलन तथा नेतृत्व का सौभाग्य मिला। इस दिशा में मात्मा गांधी को इतिहास की अद्वितीय सफलता मिली। लेनिन ने मार्क्स के विचारों की व्याख्या करते हुये यह माना कि वही सिद्धान्त ठीक है जो व्यवहार अथवा प्रयोग की कसौटी पर खरा हो (that theory alone is sound which is tested in the crucible of practice) उसने मार्क्स के विचारों में कई तरह का संशोधन-परिवर्धन किया। प्राकृतिक अर्थशास्त्रियों अथवा उपयोगितावादियों की धारणाओं पर भी अलग-अलग ढङ्ग से अमल होता रहा। इन सब के विपरीत महात्मा गांधी ने एक विशिष्ट ऐतिहासिक-राजनीतिक पार्श्वभूमि में अपने सिद्धान्त (शाश्वत सिद्धान्त!) अथवा जीवनदर्शन के मूलाधार स्थिर किये और वे स्वतः उन पर व्यापक प्रयोग जीवन भर करते रहे एव। दृष्टिकोण से देखने पर हमें उनसे बड़ा दूसरा दार्शनिक महात्मा बुद्ध के बाद कोई नहीं दिखलाई देता।* महात्मा ने अपने विचारों

---

*"उनकी अक्सर गौतम बुद्ध और ईसा मसीह से तुलना की जाती है। गोखले ने सन् १९१९ में कहा था कि उनसे अधिक वीर और शुद्ध आत्मा वाला व्यक्ति इस संसार में कभी नहीं हुआ।" डा० गोपीनाथ धवन—सर्वोदय तत्व-दर्शन की भूमिका पृष्ठ १०

को व्यवस्थित रूप में सत्य का प्रयोग (Experiments in truth) कहा जो सत्य और अहिंसा इन दो मजबूत सिद्धान्तों पर अडिग खड़ा है। जीवन को अहिंसामय तथा प्रेम सुख-शान्तिमय बनाने की शाश्वत प्रेरणा के प्रतीक बनकर उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा उदात्त धार्मिक परम्परा का निर्वाह किया। उनके विचारों में नया तो कुछ भी नहीं लगता (क्योंकि 'श्रमिकों के स्वर्ग' की बात कल्पनावादी तथा अन्य भी कह गये हैं !) लेकिन विश्व-शान्ति के लिए अहिंसिक पुनर्निर्माण स्थायी चेष्टा करने में वे सर्वप्रथम हैं। सर्वोदय के रूप में उनका राजदर्शन व्यापक मानवहित ('सर्वजनहिताय 'अथवा सर्वभूतहिते रता:' की तरह !) का ध्यान रखते हुए उन नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना करता है जिनके खो जाते अथवा विस्मृत हो जाने के कारण युद्ध, दरिद्रता, बुभुक्षा, उपद्रव तथा उत्पीड़न चारों ओर है। गाँधीवाद वर्तमान विचारों अथवा सिद्धान्तों के संघर्ष (Conflict of ideologies) के इस युग में विषमता, विश्वासहीनता से भरी दुनियाँ के लिये सबसे उपयुक्त तथा मौलिक अनुदान हैं। मार्क्स की तरह गाँधी जी ने अपने किसी 'वाद' का अस्तित्व नहीं माना किन्तु उनके विचारों तथा कार्यों की वैज्ञानिक परिणति किसी न किसी रूप में होकर ही रही। आज तो गाँधीवाद विश्व-राजनीतिक (weltpolitik) में प्रधानता पाता जा रहा है और काफी हद तक तनावपूर्ण स्थिति पर काबू पाने में सफल हुआ है।' मार्क्स ने इतिहास का भौतिक चिन्तन किया और उसे गतिशील बनाया। गांधीजी ने इतिहास को बदलने की अभूतपूर्व प्रक्रिया दुनिया के सामने रखी। इस तरह वे महानतम क्रान्तिकारी थे।'* गांधी जी कर्मयोगी, सत्याग्रही, व्यावहारिक आदर्शवादी, सर्वोदयी (अथवा अभिनव समाजवादी ?) तथा सबसे बड़े मानवतावादी विचारक हैं। 'गांधी दर्शन जीवन का क्रियात्मक विज्ञान है। वह प्रतिक्षण, परिष्करण, समन्वय और साधना से पुष्ट होता जा रहा है। वह सत्य की एक जीवित और प्रगतिशील वृत्ति है। वह प्रयोग की अवस्था में हैं।'† स्वत: गांधी जी ने अपने जीवनकाल में यह कहा था कि सत्याग्रह एक ऐसा विज्ञान है जिसका निर्माण हो रहा है।‡ भारत के स्वातन्त्र्य अलोचना में गांधी जी का योगदान सर्वोत्कृष्ट है और वास्तव में आजादी का संघर्ष अन्त तक चलाने और विदेशी दासत्व से देश को मुक्त

---

* श्री जयप्रकाश नारायण—'मार्क्स और गांधी' (लेख)

† श्री रामनाथ 'सुमन'—गांधीवाद की रूप रेखा (भूमिका)

‡ हरिजन—२४-१-१६३८

कराने में गांधी का नेतृत्व पूर्ण सफल हुआ है। लोकमान्य तिलक द्वारा उद्घोषित 'स्वतन्त्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' इस नारे को गान्धी जी ने अपने जीवनकाल में साकार कर दिखाया! महान् राजनीतिक विचारक महात्मा गान्धी ने अपने लेखों, भाषणों और कार्यों द्वारा जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे राजनीति विज्ञान तथा दर्शन के विचारणीय तथा व्यवहार्य हैं। सारांश में, गान्धीवाद आज राजनीतिक युग-धर्म बन गया है।

जीवन-संघर्ष :

मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ ई० को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी (गुजरात में) सम्भ्रान्त कुल में हुआ। राजकोट की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर हाई स्कूल की परीक्षा सन् १८८७ में पास की। वहाँ से विलायत बैरिस्टर बनने के लिये गये। विलायत में अत्यन्त सादगी से रहते हुए उन्होंने गीता, बाइबिल आदि धर्म ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन किया। समाज सेवा की ओर अभिरुचि प्रारम्भ से ही थी। वकालत पेशे में सच्चाई की कमी के कारण उन्हें काफी दुःख होता था। १८९३ ई० में दक्षिण अफ्रीका अपने व्यवसाय के सिलसिले में गये। वहाँ की रंग-भेद नीति तथा भारतीयों के प्रति दुर्व्यवहार के कारण उन्होंने निश्चय किया कि वहीं रहकर ही अपने देशवासियों को संगठित करेंगे। मई १८९४ में नेटाल इंडियन कांग्रेस नामक संस्था का जन्म हुआ। १८९३ से १९१४ तक दक्षिण अफ्रिका में सक्रिय संगठन, जागरण, संघर्ष में भाग लेने पर इन्हें कारावास तथा अन्य यातनाएं भोगनी पड़ी। बोअर-युद्ध तथा जुलू विद्रोह के समय रेडक्रास दल में भरती होकर इन्होंने उल्लेखनीय सेवा की। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में उन दिनों गोखले जी का नेतृत्व था और उनसे गांधीजी बहुत प्रभावित हुए (एक तरह से गोखले उनके राजनीतिक गुरु थे—)। 'दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह' नामक ग्रन्थ में उन्होंने अपने व्यापक अनुभव लिखे हैं। टाल्सटाय-आश्रम, फिनिक्स आश्रम, 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्र का सम्पादन, मजदूर संगठन, निष्क्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह आदि कार्यों में उनकी रचनात्मक प्रतिभा चमक उठी और जनजागरण के अग्रदूत के रूप में उनकी ख्याति चारों ओर हो गई। रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'अन टु दिस लास्ट' पढ़ने पर उनके विचारों में जबर्दस्त उथल-पुथल मची। सर्वोदय के रूप में उन्होंने उसका अनुवाद भी किया। जीवन में अहिंसात्मक प्रयोग के साथ सर्वोदय के ३ सिद्धान्त स्थिर किये १—सबके भले में अपना भला है। २—आजीविका का हक प्रत्येक व्यक्ति

को है। ३—श्रमिकों, मजदूरों, किसानों का जीवन ही सच्चा जीवन है। सन् १९०९ में अपने विचारों को 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक में संग्रहीत किया जो आज भी उनकी महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है। ('तीस साल के तूफानी जीवन के बाद जिसमें से होकर मैं तबसे गुजर चुका हूँ, मैंने ऐसा कुछ भी नहीं देखा जिसके कारण मुझे उन सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा हो जिनका उसमें (हिन्द स्वराज्य में, १९०९) प्रतिपादन है।'—महात्मा गाँधी)

सन् १९१५ में भारत आने पर गाँधी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर दृष्टिपात किया जो दुर्भाग्यवश गरम दल, नरम-दल के चक्कर में फँसी थी। रष्ट्रीय नेता के रूप में वैसे लोकमान्य तिलक की ख्याति सर्वत्र थी। आतंक-वाद तथा सशस्त्र विप्लव की गुप्त कार्रवाइयाँ भी समय-समय पर होती थीं। अंग्रेजों के दमनकार कानून तो थे ही। गुजरात में किसानों के बीच काम करते हुए सत्याग्रह आश्रम बना कर गाँधी ने अपना ध्यान बिहार के किसानों की ओर लगाया। सन् १९१७ में चम्पारन जिले में नीलहे किसानों की मुक्ति के लिये जिस सत्याग्रह अभियान का योग्यतापूर्ण संचालन गाँधी ने किया वह अलौकिक तथा अमर है।* उनके ही शब्दों में 'चम्पारन की जाँच क्या थी, अहिंसा और सत्य का बड़ा प्रयोग ही था।' फिर खेड़ा सत्याग्रह तथा मजदूर संघ का काम भी आपने किया। प्रथम महायुद्ध के बाद रौलट बिल पेश करके अङ्गरेजों ने भारत में सुधारों के बजाय अधिक दमन दासत्व की सृष्टि करनी चाही। उसके विरोध में गांधी के आह्वान पर ६ अप्रैल १९१९ को सारे भारतवर्ष में संगठित विरोध-प्रदर्शन किया गया। १३ अप्रैल १९१९ को जलियानवाला बाग का निर्मम हत्याकाण्ड हो गया जिनकी भीषण प्रतिक्रिया देश-विदेश में हुई। उत्तेजना, रोष, घृणा तथा अमर्ष का तूफान सारे देश में छा गया। इस संकट काल में गांधी ने अपूर्व संयम, धैर्य, सहिष्णुता का परिचय दिया। १ अगस्त १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद कांग्रेस में गांधी जी का प्रधान नेतृत्व कायम हो गया।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास में सन् १९२१ से १९४७ तक का पूरा समय 'गांधी-युग' या 'गांधी-अध्याय' के नाम से प्रसिद्ध है। १९२१ में असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात करके गांधी ने खिलाफत आन्दोलन से उसे

---

*देखिये—'चम्पारन में महात्मा गांधी'—डा० राजेन्द्र प्रसाद।

१—डा० राजेन्द्र प्रसाद—आत्म कथा २—आचार्य कृपलानी—गांधी मार्ग ३—महात्मा गांधी—आत्मकथा।

संयुक्त कर दिया । फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता बड़े पैमाने पर हो गई, हजारों लोग जेल चले गये, अङ्गरेजों का दमन पराकाष्ठा पर पहुँच गया। असहयोग में निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं बल्कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार या बायकाट, कोर्ट, कौंसिल, कालेज, नौकरी आदि का बहिष्कार, स्वदेशी की भावना, हड़ताल या विरोध-प्रदर्शन, धरना,* लगान बन्दी या भूमि-कर न पटाना आदि कार्यक्रम थे। सारे देश में असहयोग की लहर फैली, गांधी के साथ करीब पचास हजार कार्यकर्ता गिरफ्तार किये गये। चौरीचौरा की हिंसात्मक घटना के कारण सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया। किन्तु स्वराज्य-आन्दोलन इतने से धीमा न पड़ा। गांधी जी ने अपना ध्यान रचनात्मक कार्यों की ओर केन्द्रित किया और खादी-प्रचार तथा ग्रामोद्योग को प्रधानता देकर जगह-जगह उनके केन्द्र तथा आश्रम स्थापित किये। उन दिनों 'यंग इंडिया' नामक पत्र का सम्पादन भी वे करते रहे, फिर 'नवजीवन' निकाला, बाद में 'हरिजन' का सम्पादन विभिन्न भाषाओं में प्रारम्भ किया जिनमें उनके विचार देश के सामने नियमित रूप से प्रकट होते रहे। दूसरा प्रसिद्ध आन्दोलन १९३० से १९३४ तक चलता रहा जो भद्र अवज्ञा या सविनय आज्ञा-भंग के नाम से प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक डांडी-यात्रा, धरसाना तथा वडाला के नमक गोदामों पर शान्तिपूर्ण धावा मारना, हजारों की तादाद में कानून भंग कर जेल जाना, समानान्तर सत्याग्रही सरकार की स्थापना, किसान मजदूरों के सत्याग्रह इस काल की महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन के अनुरोध पर गांधी जी गोलमेज परिषद† (राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स) में सम्मिलित हुए। यरवदा जेल में गांधीजी ने हरिजनों के लिये

---

*धरना या पिकेटिंग। अहिंसक रीति से शराब, विदेशी कपड़े, अफीम, आदि की दूकानों तथा अन्य स्थानों पर हड़ताल कराने के लिये धरना देना। यह काम पूर्ण शान्तिमय होने से असहयोग को विकसित-गतिमय बनाता है और सत्याग्रही को अपूर्व साहस-शौर्य देता है। (लेखक)

†(प्रथम गोलमेज परिषद् १२ नवम्बर १९३० से जनवरी १९३१ तक हुई जिसका कांग्रेस ने पूर्ण बहिष्कार किया। द्वितीय परिषद् ७ सितम्बर से १८ दिसम्बर १९३१ तक हुई जिसमें गांधीजी सम्मिलित हुए लेकिन लौटते ही गिरफ्तार कर लिये गये। तृतीय परिषद् १६ नवम्बर से २४ दिसम्बर १९३२ तक हुई जिसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं गया। इसके पश्चात् १८ मार्च १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने श्वेत पत्र प्रकाशित किया जो नये सुधारों की ओर संकेत करता था।)

को दिल्ली की प्रार्थना सभा में एक धर्मान्ध हिन्दू द्वारा उनकी हत्या कर दी गई। महात्मा गांधी की पत्नी श्रीमती कस्तूरबा ने भी जेल में यातनाएँ सहीं और उनका अहमदनगर जेल में १९४५ में स्वर्गवास हो गया। गांधी जी का सारा जीवन अखंड साधना की पुनीत वेदी होने के साथ ही संघर्ष-यातना की ओजस्वी गाथा है; साथ ही विधायक या रचनात्मक कार्यक्रम का नित्य नया प्रयोग है। कुछ उन्हें आदर्शवादी तथा सनातनी मानते हैं, अधिकांश उन्हें व्यवहारिक राजनीतिज्ञ समझते हैं। वास्तव में वे उच्च राजनीतिक दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने जीवन में उन सब बातों को उतारने का प्रयास किया जिन पर उनका दृढ़ विश्वास था।*

गाँधी जी के जीवन की उल्लेखनीय घटनाएँ :

१८६९—२ अक्टूबर को पोरबन्दर में जन्म।

१८८३—कस्तूरबा से विवाह।

१८८८—मेट्रिक पास करके उच्च शिक्षा के लिये विलायत रवाना।

१८९१—बैरिस्टर बने और ७ जुलाई को बम्बई पहुँचे।

१८९२—राजकोट तथा बम्बई में वकालत।

१८९३—दक्षिण आफ्रिका रवाना।

१८९५—नेटाल भारतीय कांग्रेस का संगठन।

१८९६—भारत-आगमन; तिलक-गोखले आदि नेताओं से भेंट; राजकोट में महामारी कमेटी द्वारा सेवा। आफ्रिका वापिस।

१८९९—बोअर युद्ध में अंग्रेजों की सहायता।

१९०१—भारत-आगमन; कलकत्ता-कांग्रेस में शामिल; बर्मा-यात्रा।

१९०२—दक्षिण आफ्रिका के लिए पुनः प्रस्थान।

---

*गांधीजी के जीवन सम्बन्धी विशेष विवरण के लिये पढ़िये,

१—कांग्रेस का इतिहास डॉ० पट्टाभि सीतारमैया।

२—गांधी विचार दोहन—किशोरी लाल घ० मश्रूवाला।

३—महादेव देसाई, सुशीला नायर, लुई फिशर, राधाकृष्णन, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहर लाल नेहरू, सी० एफ० एन्ड्रूज, म्यूरिल लिस्टर, आचार्य कृपलानी, विनोबाभावे आदि के ग्रन्थ।

४—गांधीजी की आत्मकथा अथवा सत्य के प्रयोग।

५—महात्मा—लेखक—डॉ० डी० जी० तेन्दुलकर (८ भागों में)।

१९०३—ट्रांसवाल ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन की स्थापना।

१९०४—गीताध्ययन, 'इंडियन ओपीनियन' का संपादन; रस्किन के 'अं टु दिस लास्ट' (सर्वोदय) को पढ़कर जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन।

१९०६—जुलू-विद्रोह; घायलों की सेवा; 'सत्याग्रह' शब्द का आविष्कार।

१९०७—शिष्ट मंडल के साथ विलायत की यात्रा।

१९०८—अंतरिम समझौता; पठान द्वारा आक्रमण: पुन: सत्याग्रह प्रारंभ; गिरफ्तारी।

१९०९—टाल्सटाय को प्रथम पत्र; शिष्ट मंडल में इंगलैंड रवाना; वापसी में जहाज पर 'हिन्द-स्वराज्य' लिखा।

१९१०—जोहांसवर्ग में टाल्सटाय-फार्म की स्थापना।

१९१२—गोखले की दक्षिण आफ्रिका की यात्रा।

१९१३—सत्याग्रह फिर आरंभ, गिरफ्तारी व रिहाई।

१९१४—चौदह दिन का उपवास।

१९१५—भारत-आगमन और 'कैसरे हिंद' मैडल की प्राप्ति; भारत-भ्रमण।

१९१६—काशी विश्वविद्यालय की स्थापना के अवसर पर प्रसिद्ध भाषण; लखनऊ-कांग्रेस में 'जवाहर लाल नेहरू से पहली बार भेंट।'

१९१७—१९ अप्रैल को चंपारन-सत्याग्रह।

१९१८—अहमदाबाद में मिल-मजदूरों की हड़ताल; खेड़ा-सत्याग्रह।

१९१९—रौलट कानून; ६ अप्रैल को प्रार्थना और उपवास दिवस; १३ अप्रैल का जलियांवाला बाग-कांड; 'यंग इंडिया' व 'नवजीवन' का संपादन शुरू; खिलाफत द्वारा असहयोग, अमृतसर कांग्रेस।

१९२०—१ अगस्त को लोकमान्य तिलक की मृत्यु; २ अक्टूबर को तिलक-फंड की स्थापना; गांधीजी द्वारा तैयार हुआ कांग्रेस का संविधान स्वीकृत; असहयोग-आन्दोलन।

१९२१—बहिष्कार युग की आँधी, राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना।

१९२२—५ फरवरी को चौरीचौरा कांड, सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित; ६ वर्ष की सजा।

१९२४—हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए २१ दिन का उपवास; बेलगांव कांग्रेस के अध्यक्ष।

१९२५—कानपुर-कांग्रेस; चर्खा-संघ की स्थापना।

१९२८—साइमन-कमीशन; बारडोली-सत्याग्रह; नेहरू रिपोर्ट; कलकत्ता कांग्रेस में समझौता-प्रस्ताव।

१९२९—लाहौर-कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव।

१९३०—२६ जनवरी को पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा; १२ मार्च को नमक कानून तोड़ने के लिए डांडी-यात्रा।

१९३१—४ मार्च को गांधी-इर्विन पैक्ट; करांची-कांग्रेस दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस में भारत के एक मात्र प्रतिनिधि निर्वाचित।

१९३२—सत्याग्रह फिर से प्रारंभ; कांग्रेस गैरकानूनी घोषित; २४ सितम्बर को यरवदा पैक्ट।

१९३३—८ मई से २१ दिन का उपवास; हरिजन पत्रों का प्रारम्भ, रिहाई, गिरफ्तारी।

१९३४—बिहार-भूकम्प, बम्बई-कांग्रेस।

१९३५—कांग्रेस स्वर्णजयन्ती।

१९३६—सेवाग्राम-आश्रम की स्थापना।

१९३७—जुलाई में कांग्रेस द्वारा पदग्रहण, प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल।

१९३९—राजकोट में आमरण अनशन। त्रिपुरी कांग्रेस; सुभाष बाबू की अध्यक्षता; ३ सितम्बर को द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ; कांग्रेस सरकारों द्वारा पद-त्याग।

१९४०—११ अक्तूबर से व्यक्तिगत सत्याग्रह—विनोबा प्रथम सत्याग्रही।

१९४१—'गो-सेवा-संघ' की स्थापना; कांग्रेस के नेतृत्व में उथल-पुथल।

१९४२—कांग्रेस का शीर्ष नेतृत्व; क्रिप्स-मिशन; ८ अगस्त को 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव; भारत-भर में नेताओं की सामूहिक गिरफ्तारियां।

१९४३—आगाखां महल में २१ दिन का उपवास।

१९४४—६ मई को जेल से रिहाई; गांधी-जिन्ना वार्ता।

१९४५—शिमला-कान्फ्रेंस।

१९४६—कैबिनट-मिशन; मुस्लिम लीग द्वारा 'सीधी कार्रवाई', साम्प्रदायिक दंगे, नोआखाली की पैदल यात्रा।

१९४७—१५ अगस्त को स्वतन्त्रता-प्राप्ति, भारत विभाजन तथा दो अधिराज्यों का जन्म।

१९४८—३० जनवरी को महाप्रयाण।

कृति और चिन्तन :

विचारों तथा लेखों की दृष्टि से महात्मा गाँधी ने बहुत बड़े तथा स्थायी जनसाहित्य का निर्माण किया है। पत्रकारिता का अच्छा अनुभव होने के साथ ही सामयिक समस्याओं के यथार्थवादी विवेचन के कारण गाँधीजी को भाव, भाषा, शैली, अभिव्यक्ति आदि पर पूरा अधिकार था और उनके लेख न केवल इस देश में बल्कि अन्यत्र विद्वानों तथा सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित करते थे। सन् १९०९ में 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पुस्तक में महात्मा गाँधी ने वर्तमान भौतिक तथा यान्त्रिक सभ्यता को असाध्य रोग बताते हुए हिंसात्मक क्रान्ति का खंडन किया है। सत्य और अहिंसा के जुड़वाँ सिद्धान्तों का तर्क-पूर्ण अन्तिम परिणाम व्यावहारिक क्षेत्र में निरूपित करने का प्रयास इस पुस्तक में है। गाँधीजी ने अपने वक्तव्य में स्वतः स्वीकार किया, 'जब मुझसे न रहा गया तभी मैंने लिखा। बहुत पढ़ा, बहुत विचारा, फिर विलायत में ट्रान्सवाल डेपुटेशन के लिये चार महीने रहा, उस बीच में मुझसे जहाँ तक हो सका हिन्दुस्तानियों से इन बातों पर विचार किया। भरसक अंग्रेजों से भी मिला और आखिरी विचारों को पाठकों के सामने प्रकट करना कर्तव्य जान पड़ा।'

लार्ड लोथियन, कुमारी रथबोन, जी० डी० एच० कोल, प्रो० साडी०, ह्यू फासेट आदि प्रसिद्ध शान्तिवादी-समाजवादी विचारक इस पुस्तक से अत्यन्त प्रभावित हुए। इसमें गाँधीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'सच्चा स्वराज्य अपने मन का राज्य है (self-govt, is alwys better than good govt.)। उसकी कुंजी सत्याग्रह, आत्मबल या दयाबल है। इसके लिये सर्वथा पूर्ण स्वदेशी बनना चाहिये। जो कुछ असहयोग या बहिष्कार के नाते हम करना चाहते हैं वह अपना कर्तव्य समझ कर करना चाहते हैं, अंग्रेजों से द्वेष या सजा देने के ख्याल से नहीं।' उनके अनुसार अंग्रेजों द्वारा संचालित तथा भारतीयों द्वारा अनुकृत वर्तमान सभ्यता ने भारत का आर्थिक-राजनीतिक

और आध्यात्मिक शोषण किया है ।* 'दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह' 'आत्म-कथा' 'मेरे समकालीन' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ गांधी-युग का राजनैतिक इतिहास व्यक्त करते हैं । इनके अध्ययन से उनकी शक्तियों तथा महानता पर पूरा प्रकाश पड़ता है । धार्मिक तत्व तथा नीति-धर्म का पूरा-पूरा पालन गांधी जी ने मानव जीवन के लिये उपादेय बनाया । उनकी राजनीति भी धार्मिकता की छाप लिये थी । 'धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य नहीं हृदयग्राह्य है, अन्तर में ही विकसित होने वाली वस्तु है; ऐसी धारणा उनकी थी ।† शुद्ध वैष्णवजन होकर संसार में सादा जीवन व्यतीत करना उनका लक्ष्य था । (भक्त नरसी मेहता का प्रसिद्ध गीत 'वैष्णव जन तो तेणे कहिये जे पीर पराई जाणी रे' गांधीजी की प्रार्थना में अमर है ।) गीता के उपदेशों का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा । 'गीता बोध' तथा 'अनासक्तियोग', 'गीतामाता' इन पुस्तकों में इस अहिंसात्मक अपरिग्रह तत्व की विशद व्याख्या की गई है । 'मंगल प्रभात' नामक पुस्तक में जीवनोपयोगी ११ व्रतों का विवरण है जो सर्वोदय के आधार स्तम्भ माने जाते हैं । "सर्वोदय, ब्रह्मचर्य, राष्ट्रवाणी, आश्रमवासियों से, सत्याग्रह, ग्राम सेवा, खादी, रचनात्मक कार्यक्रम, सत्यवीर की कथा, रामनाम की महिमा, आत्म शुद्धि, धर्मनीति, नीति धर्म, आरोग्य की कुंजी आदि" कई छोटी किन्तु उपयोगी पुस्तकें गांधी जी ने लिखीं । उनके भाषण 'प्रार्थना-प्रवचन' के नाम से कई खंडों में संग्रहीत हैं जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूते हैं । निष्काम कर्म तथा विशुद्ध नीति-धर्म पर जोर देते हुए महात्मा गांधी ने प्रत्येक कार्य को नापने के लिये सत्य का गज तैयार किया । उत्तम काम की शर्त है कि वह शुभ हो, शुभ भावना से किया गया हो, स्वप्रसूत—अपने आप हो, भयजनित न हो, लाभ या स्वार्थ के लिये न हो, आत्मानुभव में आस्था रखकर किया गया हो । योजना, राष्ट्रीयता, विश्व-शान्ति, कला, साधना, अहिंसात्मक अराजक जनशासन आदि विषयों पर भी उनके विचार उपलब्ध हैं । ट्रस्टीशिप अथवा न्यासवृत्ति का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उन्होंने व्यक्ति और समाज के लिये उसे महत्वपूर्ण बतलाया । यह

*"An India prostrate at the feet of Europe can give no hope to humanity. An India awakened and free has message of peace and goodwill to give to a groaning world". We want friendship with the world—M. Gandhi.

†'धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य न थी, परन्तु हृदयग्राह्य छे । ते मंदा माटे अन्तरमाजछे ।' —म० गांधी

सिद्धान्त त्याग और बलिदान के असिधारा-व्रत का प्रतिपादक है।* उनके राजनीतिक विचार भी समय-समय पर सामने आये हैं। उनकी राजनीति व्यापक जीवन दर्शन की प्रदर्शिका है (a comprehensive philosophy of life)। कबीर तथा अन्य भक्तिकालीन सन्तों का उन पर प्रभाव है। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, अरविन्द, गांधीजी आदि में उदीयमान सांस्कृतिक नवचेतना के दर्शन होते हैं। गांधीजी की लेखनी में तार्किक चमत्कार अथवा वाग्वैदग्ध्य भले न हो, हृदय से निकलने वाली निर्मल भाव-धारा तो अजस्र रूप से प्रवाहित है। गांधी के प्रत्येक ग्रंथ तथा कार्यक्रम में अनवरत सत्य-साधना का क्रम है।

गांधीजी पर पूर्व तथा पश्चिम की सांस्कृतिक चेतना का संश्लिष्ट प्रभाव पड़ा। उनकी विचारधारा समन्वयात्मक थी। वे सनातनी अवश्य थे (उतने ही जितना सत्य सनातन है); अंधविश्वासी या रूढ़िवादी नहीं, क्योंकि सदियों के रूढ़ि-कारा को उन्होंने ही ध्वस्त किया।† व्यवहार को आदर्शमय, आदर्श को व्यवहारमय तथा जीवन को कल्याणमय बनाने की साधना उनकी सदैव रही। उनकी धार्मिकता सार्वभौम, सार्वदेशिक तथा शाश्वत है, भौगोलिक सीमाओं से वेष्टित नहीं (my religion has no geographical limits)। हिन्दू बौद्ध-जैन धर्म की सत्यनिष्ठा तथा अहिंसा-वृत्ति, इस्लाम की न्यायप्रियता. ईसाई धर्म का त्याग-बलिदान, कनफूशियस तथा लाओत्से (चीन) का प्रेममार्ग, रोम यूनान की दार्शनिक बौद्धिक चेतना, सबका सुन्दर समन्वय गांधी मार्ग में किया गया है। गीता, बाइबिल (न्यूटेस्टामेंट) तथा कुरान का उन पर स्थायी प्रभाव पड़ा। हिन्दू धर्म की विविधता, विशालता तथा सहिष्णुता का पूरा आकलन करने में उन्हें अपने माता-पिता तथा घर के आस्तिकतापूर्ण वातावरण से भी प्रेरणा मिली। बम्बई के कवि रायचन्द ने उनका धार्मिक पथ-प्रदर्शन किया। इंग्लैण्ड के उदारपंथी आन्दोलन (liberalism) से प्रभावित होने के कारण ही प्रारम्भ से ही गांधी जी

---

*'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जागत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचिद्धनम।' (ईशोपनिषद्–१)
गांधी जी की प्रार्थना में इस श्लोक का बड़ा महत्त्व है।

†"I shall even go to the length of rejecting the divinity of the most ancient shastras, if they do not appeal to my reason"
—M. Gandhi.

अंग्रेजों के प्रति घृणा या विद्वेष नहीं बल्कि न्याय-बुद्धि जागृत करने का प्रचार करते रहे। विधिशास्त्री तो वे थे, किन्तु कानूनों और काले कानूनों (Lawless or Obnoxious laws) का विरोध करने में टी० एच० ग्रीन की तरह उन्होंने अपने स्पष्ट, निर्भीक विचार रखे हैं। अमेरिका के अराजकतावादी हेनरी डेविड थोरो के प्रसिद्ध ग्रन्थों (Civil Disobedience सिविल नाफ़रमानी या भद्र अवज्ञा) का गांधी जी पर प्रभाव पड़ा। परम आत्म-तत्व, चारित्रिक निर्माण तथा मनुष्य की अच्छाई में दृढ़ आस्था रखते हुए गांधीजी जान रस्किन से अत्यधिक प्रभावित हुए।* बलप्रयोग के स्थान में प्रेम तथा सद्भावना का अनुसरण करते हुए शान्ति-मार्ग अपनाने की शिक्षा गांधी जी ने रूस के प्रसिद्ध शान्तिवादी काउण्ट लियो टाल्सटाय से ग्रहण की।‡ अहिंसात्मक प्रतिरोध, सत्यान्वेषण, व्यक्ति और समाज का नैतिक पुनर्निर्माण, शरीरश्रम की प्रतिष्ठा, त्यागमूलक नैतिकता, पारिवारिक सम्बन्ध, इन्द्रिय निग्रह तथा संयम आदि आदर्शों में पर्याप्त समानता दिखाई देगी। दक्षिण आफ्रिका में टाल्सटाय आश्रम तथा फिनिक्स संस्था चलाकर गांधी जी ने उन सिद्धान्तों को अमली रूप दिया। टाल्सटाय की एक पुस्तक (The kingdom of god is within you) पढ़ने से गांधी जी का संशयवाद दूर हो गया और वे अहिंसा के दृढ़ समर्थक हो गये।† कार्डिनल न्यूमेन (जिनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ (lead kindly light) गांधी जी को बहुत प्रिय थीं) तथा अन्य आक्सफोर्ड आदर्शवादियों का प्रभाव भी गांधी जी पर पड़ा। समाजवादी तथा साम्यवादी विचारधारा का व्यर्थ में अनुकरण या विरोध करने के बजाय गांधी जी ने उन तत्वों को ग्रहण किया जो भारतीय परम्परा में ठीक बैठते थे। यही कारण है कि अपने युग के महान् समाजवादी श्री जयप्रकाश नारायण आज सर्वोदय अथवा गांधीवाद को ही सच्चा समाजवाद मानते हैं। प्रिंस क्रोपाटकिन के सहयोग सिद्धान्त (Mutual Aid) के गांधी जी प्रचण्ड समर्थक थे। श्रम-सहयोग-आवश्यकता के आधार पर चरखा-खादी और ग्रामोद्योग को अर्थशास्त्री गांधीजी ने चलाया जो इस देश के लिये सर्वथा उपयुक्त था। एवेन्स (सन् १९६० में जार्ज फाक्स, विलियम पेन, इन्होंने

*जान रस्किन की पुस्तकों में 'अन टु दिस लास्ट' तथा 'क्राउन आफ वाइल्ड आलिव्ह्ज़' अत्यन्त प्रिय हैं।

† रेवरेण्ड डोक गांधीजी को टाल्सटाय का शिष्य मानते हैं।

‡ सर्वोदय तत्व दर्शन डा० गोपीनाथ धावन पृष्ठ २४।

आदि द्वारा स्थापित मित्र-मंडल जो युद्ध विरोधी तथा अहिंसक राज्य के समर्थक थे) तथा दुखोबोर्स (शान्तिप्रिय, निरामिष भोजी, अहिंसक रूसी सम्प्रदाय) के संगठनों से प्रभावित होकर अपने आश्रमों में* अत्यन्त सादगी, पवित्रता तथा त्यागमय जीवन का आदर्श उन्होंने रखा। लेकिन इन सब बातों से बढ़कर गाँधीजी पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा इस देश की अशिक्षा, दरिद्रता, दासता, दैन्य और असमर्थता का। सात लाख गाँवों में फैले हुए देश को जागृत करके स्वावलम्बी बनाने का कठोर व्रत उन्होंने लिया। इसलिये यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि गाँधीजी पर अपने युग अथवा देश-काल की परिस्थिति की अमिट छाप है।

गाँधी दर्शन; आध्यात्मिक तथा धार्मिक पक्ष :

गाँधी जी ने सर्वव्यापी सत्य का साक्षात्कार करने के लिये बुद्धि-विवेक को सतत प्रेरित करना उचित समझा। गाँधी-दर्शन में सत्य लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति अहिंसा द्वारा सम्भव है। अहिंसा में विद्वेष या घृणा का अभाव है, आत्मवत् दृष्टि है, विश्वात्मा से अभिन्नता है, अहिंसा स्वयं सत्य है, अद्वैत है। जीवन का लक्ष्य है आत्मबोध या आत्मदर्शन जो समस्त मानव जाति से तादात्म्य के बिना सम्भव नहीं है। सर्व प्राणी के हित में संलग्न रहकर आध्यात्मिक तथा तात्विक एकता की अनुभूति होती है। गाँधी जी ने घोषित किया कि 'जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, वे धर्म को नहीं जानते। जो देश-प्रेम को नहीं जानता वह धर्म को नहीं जानता।' इस वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि आचारमूलक धर्म वास्तव में कर्तव्य-प्रेरक है और राजनीतिक क्रियाशीलता इसमें सम्मिलित है। धर्म व्यापक कर्तव्य है उसका पालन व्यक्ति और समाज के लिये अनिवार्य है। राजनीति देश धर्म है, उससे पराङ्मुख होकर व्यक्ति आत्मघात करता है। लेकिन उस धार्मिकता का रूढ़ि-वादी अर्थ नहीं लगाना चाहिये क्योंकि धार्मिक पाखंड या आडम्बर-युक्त मूर्ति-पूजा के गाँधीजी विरोधी थे। निष्प्राण मूर्तिपूजा के स्थान पर वे मानवपूजा तथा दरिद्रनारायण की सेवा श्रेयस्कर मानते थे। इसी प्रकार मंदिरों में सवर्णों के एकाधिकार का विरोध करते हुए हरिजनों या अछूतों को वहाँ जाने

*सेवाग्राम, साबरमती, सेवापुरी, सदाकत आदि कई आश्रम जो वास्तव में विधायक राजनीति के सक्रिय केन्द्र थे, देश में चारों ओर फैले थे। यहाँ से भी कई [illegible] है।

प्रवेश पाने का पूरा अधिकारी घोषित करते थे। ईश्वर में अटल विश्वास, आस्तिकता, आत्म-विश्वास तथा प्राणिमात्र पर आस्था उनके विचारों में प्रमुख हैं। सत्याग्रही आत्मबल के कारण बड़ी से बड़ी शक्ति का मुकाबला कर सकता है। ईश्वर श्रेष्ठतम मानव अंश, जीवन का प्रतीक तथा प्रत्येक मनुष्य में अंतर्निहित तत्व है, वह व्यक्ति नहीं, शक्ति है, शुद्ध चेतना है, जीवन का सार है, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की त्रिमूर्ति है। सत्य ही परमेश्वर है, अंतःकरण की आवाज उसका रहस्य उद्घाटित करती है। गीता के इस सिद्धान्त पर उनकी पूरी श्रद्धा थी कि संसार की सारी विभूति (या तत्व) या तेजस्विता परमेश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है।* गांधीजी ने यह स्वीकार किया कि समय-समय पर उन्हें किसी भी कार्य के लिये ईश्वरीय प्रेरणा मिली और उसी के बल पर वे कर्तव्य-पथ पर बढ़ चले। संकट-कालीन घड़ियों अथवा संशय-अंधकार, द्वंद्व आदि की स्थिति में रामनाम या ईश्वरीय बल अथवा आत्मबल का सहारा ग्रहण करने की सलाह उन्होंने दी है।

ईश्वर के साथ ही गांधीजी मानवता तथा आत्मा की नितान्त एकता में विश्वास रखते हैं। संसार की सबसे बड़ी शक्ति आत्म-शक्ति है जो एटमशक्ति को भी व्यर्थ कर सकती है। आत्मा गतिशील, क्रियावान् है, जड़ पदार्थ का सूक्ष्मतम रूप है, स्वयं चालित है, मृत्यु के बाद भी अस्तित्ववान् है। एक व्यक्ति के आत्मिक या आध्यात्मिक विकास से संसार लाभान्वित होता है और एक के पतन से उस परिमाण में संसार का पतन होता है। कोई भी विशाल वृक्ष तत्व-रूप में छोटे से बीज में छिपा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मांड या सृष्टि का व्यक्ति की आत्मा में अधिवास है। आत्म-साक्षात्कार सत्य सिद्धि है, जीवन की सार्थकता है। 'तत्वमसि' और 'सोऽहम्' आदि सूत्रों तथा बाइबिल के वक्तव्यों में ईश्वर और मनुष्य की एकात्मकता प्रकट हुई है। प्लेटो, अगस्टाइन, प्लाटिनस, स्पिनोजा, ब्रेडले आदि पाश्चात्य दार्शनिक इस आत्मिक एकता को स्वीकार करते हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने क्षुद्र 'स्व' का विलीनीकरण विशाल 'स्व' में करे। अर्थात् अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषों को भूल कर, अपनी महत्वाकांक्षा दबाकर जनकल्याण तथा मानव सेवा की ओर उन्मुख हों।

---

*यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंऽशसंभवम् ॥

इस पद्य के विशेष विवरण के लिये देखिये, गीता मीमांसा—लेखक पं० रामदयाल तिवारी।

'अहम्' से 'वयम्' की ओर गति ही विश्व-शान्ति की साधिका है। वामन से विराट् रूप धारण करने पर ही आत्मा का सारा रहस्य प्रकाशित होता है। आत्म-शुद्धि (मन-वचन और काया से निर्विकार या राग-द्वेष से रहित होना) जीवमात्र के साथ ऐक्य स्थापित करने का माध्यम है। आत्म-शुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन असम्भव है। संग्रह, वासना, स्वार्थ, तृष्णा, स्वाद आदि का परित्याग करके ही आत्म-शुद्धि होती है। आत्म-शुद्धि के लिये अपरिग्रह, अस्वाद, अस्तेय तथा इन्द्रिय-निग्रह का पालन अनिवार्य है। गाँधी-जी के शब्दों में 'सत्य के लिये अहिंसा, अहिंसा के लिये आत्म-शुद्धि, आत्म-शुद्धि के लिये अपरिग्रह, अपरिग्रह के लिये ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य के लिये अस्वाद, अस्वाद के लिये अस्तेय अत्यन्त आवश्यक है। गाँधी जी के तत्वज्ञान में कर्म, श्रद्धा, ज्ञान का अपूर्व समन्वय हुआ है। निवृत्ति मार्ग का तप-त्याग-संयम ग्रहण कर उसका उपयोग प्रवृत्ति या कर्म-शुद्धि के लिये किया है। यह तत्व ज्ञान प्रवृत्ति को निवृत्तिमूलक बनाता है, अनासक्त सदाचार की ओर प्रेरित करता है।* सारांश में, आत्मा मनुष्य का केन्द्रीय तथ्य है और देवत्व या ईश्वर में अटल श्रद्धा आदर्श जीवन के लिये और अहिंसात्मक प्रतिरोध के उपयोग के लिये आवश्यक है।†

कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों में विश्वास करते हुए गाँधी जी कर्म को नैतिक धारावाहिकता का नियम मानते हैं। इनके अनुसार व्यक्ति सापेक्ष परिणामों से जुड़ा है। सहेतुक कार्य गत्यात्मक संस्कार बनाते हैं जो भूत-वर्तमान-भविष्य को सम्बद्ध किये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गाँधीजी नियति-वाद या भाग्यवाद (Determinism or Fatalism) के समर्थक हैं। वे इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि मनुष्य वातावरण या परिस्थितियों का कठपुतला है। चूँकि नियतिवाद पुरुषार्थ को पंगु तथा नैतिकता को खंडित बनाता है इसलिये वह सृजन-शक्ति का निषेध कर आत्म-शासन का अधिकार छीन लेता है। कर्म का नियम तभी चलता है जब इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ वह जुड़ा हो। इच्छा स्वातन्त्र्य के कारण मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। किन्तु पूर्व कर्म व्यक्ति के इच्छा-स्वातन्त्र्य को सीमित करते हैं। स्वतन्त्रता के बिना कर्म असम्भव है किन्तु दोनों का सम्बन्ध सापेक्ष है। स्वतन्त्र इच्छा का अभिप्राय यह कि परिणाम हमारे वश की बात नहीं,

---

*गाँधीवाद की रूपरेखा—रामनाथ सुमन—पृष्ठ ७०-७८

† सर्वोदय-तत्व-दर्शन पृष्ठ-४२

हमें प्रयत्न-मात्र करना चाहिये (गीता के प्रसिद्ध श्लोक 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के आधार पर)। मनुष्य अपने स्वभाव की विचित्रता कुछ हद तक बदल सकता है, पूरी तरह नहीं। गांधीजी के शब्दों में 'शेर अगर अपने चमड़े की विचित्रता बदल सकता हो तो मनुष्य भी अपने स्वभाव की विचित्रता बदल सकता है।' 'जब बाघ अपना स्वभाव बदल लेगा, तभी अङ्गरेज भी अपनी आदत छोड़ेंगे। यह सम्भव नहीं है और असम्भव को सम्भव मानना मनुष्य स्वभाव के विपरीत है' (हिन्दी स्वराज्य पृष्ठ २७)। गांधीजी की यह धारणा है कि जीवन का आधार आदतें नहीं, बल्कि इच्छा-शक्ति का प्रयोग या आत्म-संचालन है। शुभ अशुभ के निर्वाचन में हम अकेले खड़े रहते हैं और अपना परिणाम आप भोगते हैं। अशुभ मनुष्य के इच्छा-स्वातन्त्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है। अशुभ को दूर करने के लिये मनुष्य को विशुद्ध शुभ का आश्रय लेना होगा। मनुष्य अपना विकास प्रयोगों के बल पर ही करता है जिसमें उससे भूलें या गलतियाँ भी होती हैं। किन्तु उन्हें स्वीकार कर, सुधार कर वह फिर आगे बढ़ता है। बुराई या अशुभ के विरुद्ध संघर्ष करना प्रगति का प्रथम चरण है, शुभ-प्राप्ति का प्रयास है। नैतिक सुधार से ही व्यक्ति अच्छा नागरिक या सत्याग्रही बन सकता है। हृदय-परिवर्तन ऐसी प्रक्रिया है जिससे जड़ से चेतन, अशुभ से शुभ, विरोध से मङ्गल की ओर मनुष्य बढ़ता है। इसके लिये नैतिक साध्य और उसके अनुरूप साधन अथवा साध्य-साधन शुचिता की आवश्यकता है। अच्छे साध्य (विश्व-शान्ति) के लिये अच्छा साधन (अहिंसात्मक क्रान्ति) जरूरी है। हिंसात्मक क्रान्ति के कारण ही विश्व में बार-बार पशु-बल का प्रदर्शन होता रहा, अत्याचार-दमन की पुनरावृत्ति हुई। केवल साधनों का औचित्य मानने अथवा येन केन प्रकारेण (by hook or crook) कार्य करने के परिणाम भयानक होते हैं।

साध्य-साधन-शुचिता, सत्य और अहिंसा :

गांधी-दर्शन में साधनों की नैतिकता पर बड़ा जोर दिया गया है। व्यावहारिक राजनीति में अथवा अन्यत्र यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि साध्य यदि वांछनीय है तो सारे साधन उचित हैं (end justifies the means)। गांधीजी इस सुविधा (Expediency) अथवा काम-चलाऊ नीति के विरोधी हैं। उनके अनुसार अच्छे साध्य के लिये अच्छे साधन अत्यावश्यक हैं—उच्च और श्लाघ्य साध्य के साथ नीति-संगत,

पवित्र साधन हों—वास्तव में साधन ही सब कुछ हैं (means justify the end)। इसका विवेचन करते हुए गांधीजी ने यह स्पष्ट किया कि जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है वही साधन और साध्य में है। बबूल से आम की आशा व्यर्थ है, शैतान की उपासना से ईश्वर-भजन नहीं होता, यान्त्रिक सभ्यता से मोक्ष नहीं प्राप्त होता। जीवन की सार्थकता इसमें है कि हैवान को इन्सान और इन्सान को भगवान् बनाया जावे। इसका निष्कर्ष यह कि जीवन में निष्काम कर्म करना चाहिये। निष्काम कर्म के लिये नैतिक अनुशासन अथवा आत्मानुशासन जरूरी है। अनुशासन वास्तव में मनुष्य की आन्तरिक शक्ति का आदिस्रोत है। आत्मनियन्त्रण से ही मनुष्य विश्वविजयी हो सकता है। इसके लिये सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य ये ५ प्रमुख नियम अथवा 'यम' मानना चाहिये। अपने आश्रमों में गांधी जी ने इनका पालन अनिवार्य बनाया। आत्मानुभूति के लिये व्रत लेना अनिवार्य है क्योंकि व्रत लेने पर मनुष्य आजीवन, मन, वचन, कर्म में उसका पूरा पालन करने का प्रयत्न करता है। साध्य-साधन-समीकरण सिद्धान्त के कारण ही गांधीजी ने चौरीचौरा की हिंसात्मक दुर्घटना होने पर सत्याग्रह स्थगित कर दिया, १९३९ में राजकोट के शासक के हृदय-परिवर्तन के लिये उपवास किया, १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह पर जोर दिया और १९४२ के हिंसात्मक उपद्रवों के लिये कांग्रेस को निर्दोष सिद्ध किया। तात्कालिक सफलता अथवा यशप्राप्ति के कार्य अस्थायी होते हैं क्योंकि उनमें साध्य-साधन के अनैतिक सिद्धान्त का अवलम्बन रहता है। संसार में हिंसा, बलप्रदर्शन तथा षड्यन्त्र के कारण ही महायुद्ध होते आये। घृणा, द्वेष, हिंसा, प्रतिहिंसा के कारण मानवता का विनाश ही होता है। अच्छा साध्य वही है जो अधिकतम एकीकरण की ओर मनुष्य को ले चले। क्रान्ति अर्थात् व्यक्ति और समाज की जीवन-प्रक्रिया एवं व्यवस्था में आमूलाग्र परिवर्तन लाने के लिये इस साध्य-साधन नैतिकता की ओर ध्यान रखना ही होगा।

सत्य के दो तरह के भेद गांधीजी ने स्वीकार किये हैं। एक तो आंशिक या आपेक्षिक सत्य जिसे व्यक्ति परिस्थिति विशेष के सम्पर्क से जान पाता है। दूसरा निरपेक्ष सार्वभौम सत्य जो सत्, चित्, आनन्द का सम्मिलित समन्वय है। इस सत्य के अनुसन्धान में व्यक्ति को बड़ी से बड़ी कीमत चुकाकर भी लगे रहना चाहिये। कितना ही त्याग, बलिदान, कष्ट क्यों न हो निःस्वार्थ सत्य का मार्ग अनुकरणीय है। यह सत्य शाब्दिक न होकर, वैचारिक तथा कार्य-सम्बन्धी भी है। सत्यान्वेषी अथवा सत्याग्रही को अपनी भूल स्वीकार

करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिये। 'भूल स्वीकार उस झाड़ू की भांति है जो धूल झाड़ देता है और धरातल को पहिले से अधिक साफ कर देता है।' गांधीजी ने अपनी राजनीतिक गलतियों को हिमालय जैसी भूल (Himalayan blunders) की संज्ञा दी है। पक्षपात, धोखा, छल, वास्तविकता छिपाना ('नरो वा कुञ्जरो वा' कहकर अपना समाधान करना), विनम्रता त्यागना, कटुता या विद्वेष उत्पन्न करना, वायदों से मुकर जाना, बातें टालना आदि सत्य-शोध के मार्ग की बाधाएं हैं। 'रिचार्ड ग्रेग गांधीजी को सामाजिक सत्य का वैज्ञानिक मानते हैं, क्योंकि उनमें समस्याओं का चुनाव तथा हल करने की अपूर्व योग्यता, अन्वेषण की व्यापकता तथा सटलता और मनुष्य स्वभाव का गम्भीर ज्ञान था।' (सर्वोदय-तत्व दर्शन—पृष्ठ ५५)। सत्य की खोज में ही अहिंसारूपी रत्न उपलब्ध हुआ। सत्य की प्रतिष्ठा अहिंसा के अभाव में असम्भव है। भारत के करोड़ों निर्धन, निरीह, किसान, अछूत, मजदूर या महिलावर्ग दृढ़ सत्यनिष्ठा के बल पर अपना संगठन बना मुक्ति का प्रयास करते आये हैं। दक्षिण अफ्रीका के निःशस्त्र भारतीय तथा सीमाप्रान्त के खुदाई खिदमतगार विपरीत परिस्थितियों में भी सत्य से विचलित नहीं हुए। सत्य की खोज में निकलने वाले सत्याग्रही में अदम्य आत्म-विश्वास, धैर्य, विवेक, संतुलन आदि के साथ ही सत्य की अन्तिम विजय पर दृढ़ आस्था होनी चाहिये।* सूली पर लटकने के बाद भी ईसा का शाश्वत सत्य ही विजयी हुआ। जहर का प्याला पीने वाला सुकरात, अनलहक का दावा करने वाला मंसूर, सत्यरक्षा में कष्ट सहन करने वाला राजा हरिश्चन्द्र अथवा आततायी की गोली सीने में लगने पर 'रामनाम' उच्चारण करनेवाला गांधी सब सत्य के अजेय सैनिक हैं।

अहिंसा के सम्बन्ध से यह कहा गया है कि वह सत्य की आत्मा, उसकी चरम अभिव्यक्ति तथा सुमधुर फल है। 'अहिंसा और सत्य इतने ओत-प्रोत हैं जितने एक ही सिक्के के दोनों बाजू (Two sides of the same coin) या एक ही चक्की के दो पाट या पहलू। उनको पृथक करना कठिन है। अहिंसा परमेश्वर का समानार्थक है, सर्वशक्तिमान है। यह केवल

---

*देखिये—डा० पट्टाभि सीतारमैया कृत कांग्रेस का इतिहास। जेम्स रसेल लॉवेल की पंक्तियों का उल्लेख करते हुये सत्याग्रही को सावधान किया गया है—

"सत्य भले ही अगतीतल पर, फिरे लटकता सूली पर।"

बौद्धिक या मानसिक धारणा या रुचि नहीं है बल्कि हृदय और आत्मा का गुण है। अहिंसा के मार्ग से ही सच्चा स्वराज्य सम्भव है। अहिंसा की व्याख्या करते समय ३ पक्षों का उल्लेख किया गया है। एक तो निषेधात्मक अहिंसा (हिंसा का अभाव अ-हिंसा), दूसरी विधायक अहिंसा, तीसरी निरपेक्ष अहिंसा (बनाम अनिवार्य हिंसा ?)। निषेधात्मक (Negative) परिभाषा से स्पष्ट है कि हिंसा जीवों के लिये बाधक है, उसका परित्याग होना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण करते हुए गाँधीजी ने बताया कि विचार, शब्द या कार्य से किसी को कष्ट न देना इस प्रकार की अहिंसा है। क्रोध, स्वार्थ, दुर्भावना, प्रतीकार, घृणा आदि के कारण किसी को दुःख, यन्त्रणा न देना, उसकी जान न लेना, अत्याचार, अपमान न करना आदि इस कोटि में है। दुस्साध्य रोग से पीड़ित या मृत्यु की दारुण यन्त्रणा से पीड़ित जीव को मारना, गाँधीजी के अनुसार, अहिंसा का अतिक्रमण नहीं है। किसी बीमार व्यक्ति की जान इस अहिंसा के अनुसार तब ली जा सकती है जब रोग लाइलाज हो, सम्बन्धित व्यक्तियों ने इसके जीने की आशा छोड़ दी हो, सेवा या सहायता न दी जा सके, बीमार व्यक्ति अपनी राय न प्रकट कर सके। (सर्वोदय तत्व दर्शन—पृष्ठ ६१)। विधायक अहिंसा वास्तव में सच्ची अहिंसा है क्योंकि उसमें सृजन-शक्ति अथवा क्रियाशीलता और गतिशीलता को स्थान मिलता है। इस दृष्टि से अहिंसा का अर्थ है प्रेम, जो एक विधायक (Positive) गुण है। व्यक्ति से सृष्टि तक इसी प्रेम का अखण्ड साम्राज्य स्थापित कर प्राणिमात्र का कल्याण करना अहिंसा की सच्ची साधना है। अपने आप अधिकतम कष्ट उठाकर भी दूसरों को सुविधा देना इस मार्ग का लक्षण है। अहिंसा की अवहेलना तब होगी जब किसी जीवधारी को कष्ट पहुँचाने का काम किया जायेगा अथवा ऐसे कार्य को रोकने के लिए अहिंसात्मक प्रयत्न से अलग रहा जावेगा। स्त्री-बच्चों पर आततायी द्वारा प्रहार होते देखकर अपने आपको उत्सर्ग कर देना अहिंसा की कसौटी है। निरपेक्ष अहिंसा ही पूर्ण धर्म है, अहम् का पूर्ण विसर्जन है, ईश्वरीय गुण है। गांधी जी के अनुसार कष्ट देना या जान लेना अहिंसा है, जब वह शान्तिपूर्वक सोच-विचार कर की गई हो। शरीर के भरण-पोषण या आश्रितों की रक्षा के लिए की गई हो तो वैध हिंसा है। क्रोध, स्वार्थ, दुर्भावना के कारण की गई हो तो हिंसा है। अहिंसक को निरामिष-भोजी (Perfect vegetarian) होना चाहिए। लेकिन गांधी जी स्वतः इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक अधिक बनाना चाहते थे। तीन तरह की अहिंसा का उल्लेख करना प्रासांगिक है। (१) उच्चतम अहिंसा वीरों की अहिंसा है जो साधनयुक्त व्यक्ति अथवा

सत्याग्रही द्वारा स्वीकार की जाती है। (२) व्यवहारिक अहिंसा, नीति (policy) की तरह स्वीकार की गई है, निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistance) इस कोटि में है। (३) अहिंसा की भ्रान्ति जो वास्तव में कायरता है। कायरता और अहिंसा उसी प्रकार विरोधी हैं जैसे पानी और आग। आत्म-समर्पण, दासत्व, यथास्थिति तथा कायरता की रक्षा अहिंसा के नाम पर करना निरा ढोंग है। उच्चकोटि का साहस न हो तो भी निर्लज्जता के साथ खतरे के समय भागने की अपेक्षा मरना-मारना अधिक श्रेयस्कर है। कर्मयोगी तथा सत्याग्रही के अन्तःकरण में 'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ !' का निरन्तर उद्घोष होना चाहिए (कमजोरी या नामर्दी का शिकार न बनो!) इस दृष्टि से १९४२ अगस्त आन्दोलन के समय नेता तथा कार्यक्रम के अभाव में जनता द्वारा की गई हिंसा आपद्धर्म है। अकर्मण्यता या निष्क्रियता के बजाय आपद्धर्म श्लाघ्य है। सत्य और अहिंसा मनुष्य के पास विकास तथा रक्षा के अमोघ अस्त्र हैं। अहिंसा के प्रयोग सबके लिए, सब स्थानों के लिए, सब काल के लिए है। अहिंसक पुनर्रचना के अभाव में वे सब बीमारियाँ बनी रहेंगी जो आज तक समाज को सताती आई हैं। संसार के धर्मों तथा विद्वानों ने भी इन सिद्धान्तों का महत्व बताया लेकिन उनका वास्तविक प्रयोग किसी ने न किया। तलवार से प्राप्त की गई वस्तु तलवार से छीनी भी जा जाती है लेकिन प्रेम से प्रतिष्ठित वस्तु को कोई आँच नहीं लग सकती। सत्य-अहिंसा की प्राप्ति के लिए नैतिक अनुशासन चाहिए। कोई भी जाति, देश, समूह इन पर अमल कर सकता है। जीवन सुधार के छोटे प्रयोग से लेकर अहिंसक विश्व-रचना के व्यापक प्रयोग तक इसी आधार पर किये जा सकते हैं।

व्यक्ति, समाज, सभ्यता तथा अनुशासन :

मनुष्य स्वभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन गांधी जी ने सूक्ष्म रीति से किया। यह स्वभाव कितना ही रङ्ग-बिरङ्गा या विभिन्नता-मंडित क्यों न हो उसमे बुनियादी अच्छाई मौजूद हैं। क्षमा, दया, शील, विनय आदि गुण प्रत्येक प्राणी में है। इनके लिए हृदय के भीतर की खिड़की खुलनी चाहिए। समाज में जो व्यक्ति आततायी, निर्मम या क्रूर जाने जाते हैं उनमें भी मूलप्रेरणा एक ही है। मनोविज्ञान के आधार पर इतना तो अवश्य स्वीकार किया जाता है कि प्रेम एक सूक्ष्मतम सार्वभौम तत्व है। सारा जीवन प्रेम-रस से आप्लावित है। घृणा या क्रोध यह प्रेम से ही उद्भूत पूर्ण-विपरीत प्रतिक्रिया (ambivalence) है। परिस्थितियों या स्वार्थ के आवरण में मनुष्य प्रेम से

विचलित होकर वाममार्गी या उत्पीड़िक हो जाता है। किन्तु उसकी यह स्थिति शाश्वत नहीं है। व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन गांधीवाद की देन है। इसके अनुसार व्यक्ति की अन्तरात्मा एक न एक दिन अवश्य ही सन्मार्ग पर लौटती है, उसके लिए चाहे कितनी भी साधना क्यों न करनी पड़े। प्रेममय जीवन (सत्य-अहिंसा जिसके दो पहलू हैं) प्रत्येक व्यक्ति को विताना चाहिये और वह भी अच्छे साधनों से युक्त होकर। गाँधी जी का यह संदेश सूफियों, सन्तों, धर्मात्माओं तथा शान्तिवादियों की अमर वाणी ही है। इसका अभिप्राय यह नहीं की मनुष्य केवल अच्छाई का ही पुतला है, फरिश्ता है। अच्छाई और बुराई तो भिन्न-भिन्न परिणाम में मनुष्य में हैं ठीक उसी तरह जैसे हमारे रक्त में लाल तथा सफेद रक्ताणु (Red and white blood corpusceles) हैं। फर्क यह है कि आत्म-शुद्धि तथा आत्म-संयम के बल पर धीरे-धीरे बुराई पर विजय प्राप्त की जा सकती है। गाँधी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में पशु और मानव की प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं (क्योंकि पशुओं से ही मनुष्य का क्रमिक विकास हुआ है ?)। ये प्रवृत्तियाँ ही उसे उर्ध्वगामी या अधोगामी बनाती हैं। निर्दोष तो कोई नहीं है, ईश्वर भक्त भी नहीं ! क्योंकि शरीरिक बन्धन में रहते हुए बड़े से बड़ा व्यक्ति भी दोषमुक्त नहीं हो पाता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि कुछ दोषपूर्ण बने रहें व अन्य दोषाविष्करण करें। दोषमुक्ति का निरन्तर प्रयास ही मुमुक्षु (बन्धनों से मोक्ष पाने वाले) के लिये अभीष्ट है। मनुष्य की सार्थकता देवत्व की ओर बढ़ने में है। उसमें उर्ध्वगामी होने की बेहद क्षमता है। पतन की अपेक्षा सुधार, बुराई की अपेक्षा अच्छाई, स्वार्थपरता की अपेक्षा सहयोग, घृणा के बजाय प्रेम, हिंसा के बजाय अहिंसा मनुष्य स्वभाव के लिए अधिक स्वभाविक तथा श्रेयस्कर है। मनुष्य की शारीरिक मानसिक दुर्बलता या भूल छिपाने से नहीं, बल्कि स्वीकार कर सुधारने से दूर होती है। सत्याग्रही को अपनी भूल पहचानकर उसका परिमार्जन करने के लिए साधना करनी चाहिए।

व्यक्ति में हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार समझाने के लिये हमें अरिस्टाटल द्वारा शोकान्तकी (tragedy) की परिभाषा समझनी होगी। इस परिभाषा के अनुसार किसी रूपक या नाटक में गंभीर, धीरोदात्त व्यक्ति का यंत्रणामय जीवन संघर्ष प्रेक्षकों के हृदय में भय तथा दया के भावों का विरेचन करता है। इससे मनुष्य के भावों का शुद्धीकरण (Katharsis of emotions) होता है। इसी प्रकार समाजिक यथार्थ अथवा आत्म-शक्ति की अदम्य प्रेरणा से मनुष्य अपने भीतरी सुप्त भावों को जगा सकता है,

दूसरों में भी वैसी ही अनुभूति उत्पन्न कर सकता है। लेकिन हृदय-परिवर्तन का अर्थ नैसर्गिक स्वभाव परिवर्तन नहीं है (अथवा उसकी मर्यादाएँ हैं !) यह न भूलना चाहिये। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव की रूप-रेखा समझाते हुये गाँधीजी जो समझौता न करने की नीति (uncompromising policy) अपनाई उसके मूल में उनका दृढ़ विश्वास था कि जो अंग्रेजों का इस देश में रहकर हृदय-परिवर्तन सम्भव न था। व्यक्ति में पाप (Sin) की कल्पना समाज के भीतर उसकी आत्मा का न्याय है। पाप करने पर व्यक्ति के लिये प्रायश्चित अनिवार्य हैं। पाप व्यक्ति और समाज दोनों से होते हैं। पाप के कारण ही विषमता, दरिद्रता है। इसका प्रायश्चित सर्वोदय द्वारा ही सम्भव है। बिहार के भूकम्प (१९३४) में होने वाले विनाश की ओर लक्ष्य करके एक बार गाँधीजी ने कहा कि समाज द्वारा अस्पृश्यों पर होने वाले अत्याचारों या पापों के कारण ही यह प्रकृति-कोप हुआ (इस सम्बन्ध में अन्य नेताओं द्वारा बड़ी दिलचस्प आलोचनाएँ भी हुईं।)

मनुष्य स्वभाव में मूलभूत समानता, एकता तथा विकास-क्षमता में विश्वास रखते हुए गाँधीजी समाज को भी नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित करना चाहते हैं क्योंकि व्यक्ति और समाज के अविभाज्य तथा सावयव रूप से ही परिचित हैं। केवल सत्ता-परिवर्तन व्यवस्था में तब्दीली होने से ही बुराई नहीं दूर होगी। व्यक्ति इकाई से ही सुधार का महायज्ञ प्रारम्भ होना चाहिये, ऐसा अभिमत उनका है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सच है कि समाज में समुदाय या झुन्ड के कारण कुछ उच्छृङ्खलता या नीतिमत्ता की कमी रहती है लेकिन अहिंसक समाज में यह स्थिति नहीं चल सकती। अहिंसक समाज में पर्याप्त अनुशासन, पूर्ण उत्तरदायित्व, सुयोग्य नेतृत्व तथा सर्वधर्म-समभाव आवश्यक हैं। इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिये कि गाँधीजी व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों तरह के आन्दोलन चलाया करते थे। व्यक्तिगत आन्दोलन सुयोग्य नेतृत्व पैदा करता, समाजिक तन्द्रा दूर करता और सामूहिक आन्दोलन लक्ष्य-पूर्ति की ओर बढ़ता। समाज में पूरा विश्वास होने के कारण ही (क्योंकि जो बात व्यक्ति के लिये सत्य तथा व्यवहार्य है वही समाज के लिये भी) सामूहिक भद्र-अवज्ञा (mass Civil disobedience) आन्दोलन गाँधीजी ने चलाये। इस प्रकार गाँधीजी इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि व्यक्ति और समाज दोनों का विकास साथ-साथ होना चाहिये। समाज की दौड़ में हमें स्पर्धा करके आगे नहीं निकल भागना है बल्कि सबको साथ लेकर चलना है। नेतृत्व की सफलता इसमें है कि प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी

होकर वैसे ही नेतृत्व की क्षमता रखे। सत्याग्रह में एक व्यक्ति या सभापति के गिरफ्तार होते ही दूसरा जननायक अपने-आप सामने आ जाता है। इस तरह का विकास होने पर वह सम्भावना नहीं रहेगी जिसे समाजशास्त्रीय दृष्टि से संस्कृति में एक भाग का पिछड़ जाना (Cultural lag) कहते हैं। वर्तमान पूँजीवादी या शोषक समाज-व्यवस्था के, जिसने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खांई या दीवार बना दी, गांधीजी तीव्र विरोधी थे। वर्णाश्रम, कुटुम्ब, विवाह, शिक्षा, व्यवसाय आदि के सम्बन्ध में उनके विचार मौलिक थे। स्वावलम्बन के साथ ही सहिष्णुता का प्रयोग वे आवश्यक मानते थे। सवर्ण-हरिजन के संघर्ष को वे समाज का अभिशाप मानते थे। उन्होंने हरिजनों, महिलाओं पिछड़ी आदिम जातियों आदि के उद्धार तथा विकास का ठोस काम किया। कुछ अलोचकों के अनुसार इस सम्बन्ध में गांधीजी की धारणायें अराजकता-वादी हैं। अहिंसक समाज-रचना में, जो रामराज्य का पर्याय है ('दैहिक दैविक, भौतिक तापा। रामराज्य काहू नहिं व्यापा।' गो० तुलसीदास) विषमता उत्पीड़न, अन्याय का नामोनिशान न रहेगा, पूर्ण समाजवादी, समष्टिवादी, समतावादी राज्य होगा। इस समाज रचना का कोई वर्गवादी आधार न होगा क्योंकि वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) तथा उस पर आधारित सिद्धान्तों पर गांधीजी की आस्था न थी। वर्ग संघर्ष के बजाय वर्ग-समन्वय या सहयोग (Class collaboration) की बात उन्हें अधिक संगत तथा न्यायानुमोदित लगती थी। उनकी समाज रचना में प्रन्यासी सिद्धान्त (Theory of trusteeship) का पूरा पालन होगा जिसमें गरीब-अमीर का भेद पूरा मिट जायेगा। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का विवेचन आगे किया जावेगा। गांधीजी की इस कल्पना का स्पष्टीकरण आचार्य विनोबाभावे ने 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' के रूप में किया है जो अहिंसक समाज रचना का मूलाधार है। यहाँ पर उपयोगितावादियों के इस सिद्धान्त पर भी विचार करना होगा जिसके अनुसार वे अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख (greatest good of the greatest number) ढूंढ़ते हैं। संख्या और मात्रा के इस विभेद में गांधीजी को विश्वास नहीं है क्योंकि उपयोगितावाद एक सीमा तक ही भौतिक क्षेत्र में ले जाता है। वे तो सबका अधिकतम भला (greatest good of all) पाना तथा लाना चाहते हैं। उत्पादन-वितरण तथा उपभोग पर पूरा नियंत्रण गांधीवादी समाज में रहेगा और शरीरश्रम अनिवार्य रहेगा। इस दृष्टि से गांधीजी के विचार समाजवादी सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। गांधीजी की समाज रचना में सत्ता का विकेन्द्रीकरण होकर ग्राम-समुदाय को

पूरी स्वाधीनता मिलेगी और सच्चा लोकतन्त्रात्मक ढांचा (राज्य-रहित जन-तंत्र) बनेगा। अहिंसक राज्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत पठनीय है— 'अहिंसक राज्य विकेन्द्रित, जनतन्त्रवादी, ग्रामीण-सत्याग्रही समूहों का संघ होगा। अहिंसक राज्य सीमित कार्य करेगा, कम से कम हिंसक शक्ति का उपयोग करेगा। आर्थिक और राजनैतिक शक्ति का विघटन, राज्य की महत्ता और उसके कार्यों में कमी, स्वेच्छा पर आधारित समूहों की वृद्धि (voluntary associations), मनुष्यता से गिराने वाली निर्धनता और विलासिता से छुटकारा, नई तालीम और अन्याय के विरुद्ध अहिंसक प्रतिरोध की परम्परा, इन सबके कारण मनुष्य जीवन को समझ सकेगा और समाज तथा राज्य जनतन्त्रवादी बनेंगे। ये सब अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अविभाज्य अङ्ग होंगे।' (सर्वोदय-तत्व दर्शन—पृष्ठ ३६६)

सभ्यता के सम्बन्ध में गांधीजी द्वारा आलोचना मानवतावादी दृष्टिकोण से हुई है। वर्तमान सभ्यता को वे शैतानी सभ्यता, कुसभ्यता, नाशकारी, अधार्मिक, घुन लगाने वाली, तीन दिन का तमाशा आदि कहते हैं (हिन्द स्वराज्य-पृष्ठ ४६-४७)।* यह सभ्यता भौतिकता तथा शरीर-सुख को सर्वस्व मानकर वर्ग-विभेद तथा कटुता उत्पन्न करती है क्योंकि इसके चलते समाज की जोंकों को रक्त चूसने का अवसर मिलता है। पूंजीवाद, फासिस्टवाद, मार्क्सवाद तथा अन्य तन्त्र इस सभ्यता के मूल ढांचे में बिना परिवर्तन किये कोरी लीपा-पोती करना चाहते हैं। इसके माया-जाल से मुक्त हुए बिना समाज-कल्याण सम्भव नहीं। इसके स्थान में आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों (values) की स्थापना करनी होगी, शरीरश्रम की पुनः प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी, शोषण का उन्मूलन कर स्वावलम्बन तथा स्वदेशी की भावना भरनी होगी। यन्त्रीकरण तथा बृहत् औद्योगीकरण, (mechanisation and heavy industrialisation) के विरुद्ध भी गांधीजी जिस हद तक हैं उसका उल्लेख

---

*मैथ्यू अर्नाल्ड की कविता 'स्कालर जिप्सी' में विच्छिन्नवादी सभ्यता की आलोचना इससे मिलती-जुलती है—

'This strange disease of the modern life
with its sick hurry and divided aims
Its heads overtaxed and palsied hearts'

व्याधिपूर्ण शीघ्रता, स्वार्थपरता, बोझिल मस्तिष्क, कुंठित तथा भग्न हृदय इस सभ्यता के उपहार हैं। —लेखक

आवश्यक है । 'मैं मशीनों के विरुद्ध नहीं हूँ; लेकिन मशीनरी के पीछे दीवाना होने के बरखिलाफ हूँ। लोग ऐसी मशीनों के पीछे दीवाने हो रहे हैं, जिनसे मिहनत बच जाय—कम मजदूरों से काम चल जाय। एक तरफ हजारों-लाखों आदमी बेकार पड़े हैं और भूख से तड़प-तड़प कर गली-गली में प्राण दे रहे हैं; और दूसरी ओर कम से कम मजदूर लगाने का प्रयत्न जारी है। मैं भी समय और मिहनत बचाने का पक्षपाती हूँ लेकिन कुछ थोड़े से आदमियों के लिये नहीं, वरन् सबके लिये। मैं भी सम्पत्ति को केन्द्रस्थ करना चहता हूँ लेकिन थोड़े से हाथों में नहीं, सबके हाथों में। सबसे अधिक खयाल हमें मनुष्य का करना चाहिये।' (हिन्द-स्वराज्य पृष्ठ २१२-२१३) इतना अवश्य है कि गाँधीजी मेन्चेस्टर के कपड़े या बकिंघम की मशीन के बजाय भारतीय मिलों को प्रोत्साहन देते हैं। किन्तु यन्त्रों का प्रयोग वे आपद्-धर्म के रूप में करने की सलाह देते हैं। चरखा-तकली और खादी का नित्य प्रयोग करने में वे अपना अभिनव अर्थशास्त्र प्रतिपदित करते हैं जिससे प्रत्येक को रोजी और आवश्यकता-पूर्ति दोनों उपलब्ध हैं। गाँधीजी की सबसे बड़ी शर्त मशीन के सम्बन्ध में यह है कि उसका उपयोग दूसरों को लूटने के लिये नहीं होना चाहिये। ग्रामोद्योग का विकास (यथा खेती, चरखा, धान कूटना, गुड़ बनाना, तेल पेरना, कागज बनाना, छोटे-छोटे हस्त-उद्योग जारी करना आदि) करना और हाथ से बनी चीजों का प्रयोग अर्थशास्त्र की सारी जटिलता दूर कर उसे मानव-सेवी विज्ञान सही मानों में बनाता है। एक बात का ध्यान अवश्य रखना है और वह यह कि विलासिता या बढ़ती हुई आवश्यकता या शौकीनी का हमें परित्याग करना है। पैसे की जगह श्रम, सत्ता की जगह सेवा, मशीन की जगह मानव, अहंता की जगह आत्मत्याग, दण्ड-शक्ति की जगह लोकशक्ति, केन्द्रीकरण की जगह विकेन्द्रीकरण, वर्गभेद की जगह वर्ग विसर्जक समाज लाने पर ही वर्तमान सभ्यता के असाध्य रोगों से छुटकारा मिल सकता है। गाँधीवादी योजना में सादगी, स्वच्छता, श्रमपवित्रता, (बुद्धिजन्य, हस्तश्रम), अवकाश का आकर्षण तथा मानवीय मूल्य की ओर अधिक लक्ष्य किया गया है।* इस तरह गाँधीजी नई मानवी सभ्यता के स्वप्नद्रष्टा हैं। उनकी सभ्यता नये प्रतीकों (symbols) के माध्यम से प्रकाशित है। गाँधीवादी सभ्यता के प्रतीक 'श्रमपूर्ण संघर्ष या

---

*देखिये—स्वतंत्र भारत की गाँधीवादी योजना—श्रीमन्नारायण अग्रवाल पृष्ठ २१-४६

होड़, तीव्र विद्वेष तथा प्रवञ्चना से भरी हुई वर्तमान जीवन विधि, वर्तमान विचार प्रणाली तथा कार्यप्रणाली के प्रति, जिसमें घोर स्वार्थ एवं मांसलता का भाव प्रधान हो गया है, विद्रोह की घोषणा करते हैं। वे जागृत मानव और राष्ट्र की उद्‌बुद्ध आत्मा के प्रतीक हैं।*

नैतिक अनुशासन की अहर्निश आवश्यकता बताते हुए गांधीजी साध्य-सत्य और साधन-अहिंसा के लिये ग्यारह प्रमुख व्रतों का उल्लेख करते हैं। 'व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार कर जाने के लिये ही तो व्रत की आवश्यकता है। असुविधा सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर नहीं उठ सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय व्रत नहीं, राक्षसी वृत्ति है। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी, उसके सम्बन्ध में व्रत होना चाहिये।'† नैतिक अनुशासन के बल पर ही अहिंसा के अधार पर वर्गविहीन और शोषणविहीन समाज स्थापित किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने सन् १९३० में यरवदा जेल में निम्नलिखित ग्यारह व्रतों का उल्लेख किया—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शारीरिक श्रम, सर्वधर्मसमभाव, स्वदेशी। प्रार्थना सूत्र इस प्रकार है ;—

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह,
शरीर श्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना,
विनम्र व्रतसेवा से ये एकादश सेव्य हैं॥

सत्य और अहिंसा को तो सर्वोदय की आधार-शिला माना गया है। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण तथा मनसा, वाचा, कर्मणा वासना का निवारण है। अस्वाद का अर्थ है अनावश्यक भोगों का परित्याग, स्वाद या लालसा की माया से बचना। 'पेट तरह-तरह के नाच नचाता है' स्वांग भरवाता है' तथा 'एक हाँडी तेरह व्यंजन माँगती है' इन वाक्यों का अर्थ समझ कर पेट की गढ़ाई से मुक्त होना (मंगल प्रभात पृष्ठ

*गांधीवाद की रूपरेखा—पृष्ठ १८२
†मंगल प्रभात—म० गांधी—पृष्ठ ५६

१८)। इसका आशय है जीने के लिए खाना, न कि खाने के लिये जीना। अपरिग्रह का अर्थ। सेवा के लिए सम्पत्ति का समर्पण। मनुष्य का सर्वस्व परमेश्वर की दी हुई धरोहर है और उसका प्रयोग मानव सेवा ('मनुष्यत्व ही दिव्य देवत्व है') में होना चाहिये। सत्य का आचरण करने में निर्भयता आध्यात्मिक आवश्यकता है, अभय के बिना कार्य असम्भव है। अस्पृश्यता, जातीयता और वर्गभेद देश के लिये कलंक है। उसका निवारण होना ही चाहिये। शरीरश्रम के पीछे भावना वही है जो बाइबिल के कथन 'पसीना बहा कर अपनी रोटी कमा-खा', या गीता का वाक्य 'यज्ञ-किये बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है''* अथवा सामान्य कथन 'जो काम नहीं करेगा वह नहीं खायेगा' (he who does not work shall not eat) इनमें व्यक्त है। समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा में भी इसी आदर्शवाक्य की प्रेरणा है। 'रोटी के लिये परिश्रम' का सिद्धान्त रूसी लेखक बान्डरेफ और टालसटाय द्वारा चलाया गया था जिसे गांधीजी ने ग्रहण किया। धर्म का अहंकार व्यर्थ है, संपूर्ण सत्य की उपलब्धि कठिनतम है, सहिष्णुता अनिवार्य है और इसके लिये सब धर्मों में समभाव चाहिये। स्वदेशी विश्वशान्ति का गजदूत पाया है। स्वदेशी क्रियात्मक अन्दोलन है, यह इस युग का महाव्रत है। 'स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है' (मंगल प्रभात पृष्ठ ५२ तथा गीता का परिचित श्लोक 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'।) इन व्रतों का पालन करते समय सादगी और नम्रता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। नम्रता का अर्थ गांधीजी ने तीव्रतम पुरुषार्थ लिया है। इन व्रतों के सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या इनका पालन व्यावहारिक है? अथवा मनुष्य की स्वभावगत कमजोरियाँ क्या पग-पग पर इनको विकृत न कर देंगी? इसका उत्तर इतने में ही दिया जा सकता है कि कठिन मार्ग होने पर भी उस पर चलने का प्रयास नहीं छोड़ना चाहिये। नितान्त अकेला चलने पर भी मनुष्य यदि आदर्शों से भ्रष्ट न हो तो एक न एक दिन मञ्जिल उसके करीब आ ही जाती है। इस नियम-अनुशासन का पालन शुद्ध व्यवहार की वस्तु है। गांधीजी बुद्धि की महत्ता स्वीकार करते हैं। ('बुद्धिगम्य

---

*'इष्टानभोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥'

अर्थात् यज्ञ (कर्म या परिश्रम-यज्ञः कर्मसमुद्भवः) द्वारा देवताओं को प्रसन्न किये बिना अथवा आवश्यक अंश का दान किये बिना जो खाता है वह चोर है।

मामलों में जो तर्क विरुद्ध है, वह त्याज्य है' हरिजन १९३७) लेकिन उसे वे शर्वशक्तिमान् नहीं मानते। 'हृदय निष्कर्षों को स्वीकार कर लेता है और बुद्धि बाद में उनके लिये युक्ति खोजती है। तर्क विश्वास का अनुगामी होता है, विश्वास हृदय की वस्तु है।' गांधीजी अपने निर्णयों में कभी-कभी प्रतिभा समान बुद्धि (Intuition) का प्रयोग करते थे। १९२६ का बारडोली सत्याग्रह, १९३० का सविनय आज्ञा-भंग १९४०-४१ का युद्ध-विरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रतिभाजन्य थे लेकिन असीम यातना के बाद उनकी उत्पत्ति हुई। क्रान्ति की प्रसव-पीड़ा (birth pangs of revolution) का उल्लेख जिस प्रकार समाजवादी विचारधारा में हुआ है, गांधीजी कष्ट-सहन और अनुशासन-पालन को क्रान्ति की धात्री कहते हैं। गांधीजी ने जनतांत्रिक नेतृत्व की बात स्वीकार की, लेकिन अनुगामियों को विवेकपूर्वक आज्ञा-पालन की सलाह दी है। नेता पर आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रतिबन्ध रहते हैं। स्वतन्त्रता, न्याय शान्ति तथा जनतन्त्र के लिये ईमानदार नेतृत्व तथा जागरूक नागरिकता आवश्यक है। १९२१ के असहयोग आन्दोलन के समय कांग्रेस के नेतृत्व में भारत के स्त्री-पुरुषों को जेल जाने और बहिष्कार करने का आह्वान देते हुए गांधीजी ने अनुशासन के १९ नियम बनाये जिनमें सत्यग्रही को क्रोध या बदला लेने की भावना से मुक्त रहने, विरोधी का आघात सहने लेकिन उसे असम्मानित न करने, जेल के कानूनों को जो आत्म-सम्मान के अविरुद्ध हों मनाने, सुविधाओं से दूर रहने तथा साम्प्रदायिकता से बचने आदि की सलाह प्रतिज्ञापत्र में दी गई थी।

सत्याग्रह, संघर्ष तथा रचना :

अनुशासन-पालन में सत्याग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोध से अधिक व्यापक आत्मबल का प्रयोग है। इसे गांधीजी ने दयाबल भी कहा है जो एक वैज्ञानिक सत्य है।* इतिहास या तवारीख में उदाहरण ढूंढने की जरूरत नहीं और यह भी मान्य नहीं कि इतिहास केवल संघर्षों या वर्ग संघर्षों का अखाड़ा है।

---

*इस सम्बन्ध में गांधीजी ने गोस्वामी तुलसीदास के दोहे का उद्धरण दिया है :—

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये; जब लग घट में प्रान॥

(हिन्द-स्वराज्य—पृष्ठ १४०)

स्वाभाविक गत्यात्मक तथा क्रियात्मक होने के कारण सत्याग्रह इतिहास की उल्लेखनीय वस्तु नहीं है बल्कि निरन्तर प्रयोग की अनवरत चेष्टा है। निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) तथा सत्याग्रह में स्पष्ट रेखा खींचते हुए गाँधीजी ने समझाया कि दोनों पद्धतियाँ आक्रमण का सामना करने, झगड़ा निपटाने तथा सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन करने की दिशा में प्रयुक्त हैं। निष्क्रिय प्रतिरोध और अप्रतिरोध Non-resistance) में भेद हैं, निष्क्रिय प्रतिरोध में त्याग, ओज, सक्रियता है पर अप्रतिरोध में नितान्त अकर्मण्यता और कष्ट-सहन है। सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से अधिक प्रभावशाली है। सत्याग्रह तो नैतिक शास्त्र है जिसका आधार है शरीर-शक्ति (पशुशक्ति अथवा दण्डशक्ति भी) की अपेक्षा आत्मशक्ति की श्रेष्ठता। सत्याग्रह वीरों का अस्त्र है, उनका जो बिना मारे मरने का साहस रखते हैं। काम चलाऊ अस्त्र या नीति के रूप में अथवा मजबूरी के नाम सत्याग्रह की चर्चा करना निष्फल है। सत्याग्रह का अपना स्वतंत्र तंत्र या विधान (Technique) है जिससे अन्त में हृदय-परिवर्तन और सफलता अवश्यम्भावी है। गाँधीजी ने व्यक्तिगत जीवन में नियम-अनुशासन का पालन अनिवार्य बताते हुए सत्याग्रही को आदर्श बनने की प्रेरणा दी। इस दिशा में यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रत्येक क्रान्तिदर्शी युगनेता अपने समय में कुछ ऐसे आदर्शों की व्यवस्था देता है जिन्हें हम सामाजिक कल्पित-आदर्श (Social myths) कह सकते हैं।* अपने अनुगामियों के सामने एक ही लक्ष्य या ध्येय बनाये रखने और हिम्मत न हारने के लिये इस तरह की मनोवैज्ञानिक भाव-रचना आवश्यक है। सत्याग्रही को विचार और व्यवहार के भेद (Divergence in theory and practice) से बचना चाहिए ('मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्' या मुख में राम बगल में छूरी वाला व्यक्ति सत्याग्रही हो ही नहीं सकता)। सार्वजनिक जीवन में जननायक होते हुए भी सत्याग्रही आत्मानुशासन तथा लोकानुशासन से बँधा है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बहुमत या अल्पमत के बनाये गये कृत्रिम ढाँचे में वह फिट हो जाय। कभी-कभी बहुमत मूर्खता का द्योतक होता है। सत्याग्रही तो अन्तरात्मा की आवाज पर चलने वाला है। रूसो के शब्द उसके कानों में गूँजते हैं 'जनता की आवाज परमात्मा की आवाज

---

*श्रमसंघवादी या सिंडिकलिस्ट विचार आम हड़ताल (General strike) के रूप में एक कल्पित आदर्श मानते हैं जो सब बीमारियों के लिये रामबाण है ऐसा उनका ख्याल है।

है' (Vox populi vox dei) । जनता-जनार्दन (जो दरिद्रनारायण का अवतार है) की सेवा का आजीवन व्रत लेना सत्याग्रही का श्रेष्ठ संकल्प है। सत्याग्रह का उद्देश्य है न्यायपूर्ण समन्वय करना।* इसका मतलब है विरोध का अन्त करना, न कि विरोधियों का (Hate the sin, and not the sinner के आधार पर)। समझौता, सहयोग, समभाव इसके आवश्यक परिणाम है। इस तरह के प्रयोग से भविष्य में घृणा या विद्वेष के अभाव के कारण फिर से झगड़ों का उभरना या अन्याय होना सम्भव नहीं। इसलिये गांधीजी का इलाज बीमारी को जड़मूल से उखाड़ने का है। सत्याग्रही के सामने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श है और वह इसका यथाशक्ति पालन करता है। निष्पक्ष बुद्धि से विपक्षी का दृष्टकोण समझने, अपने विचारों में संशोधन करने और विचार बदलने-बदलवाने का प्रयत्न वह हमेशा करेगा। लेकिन इसका अभिप्राय अवसरवादिता या शर्मनाक समझौता नहीं है। सत्याग्रह के विभिन्न प्रकारों में असहयोग, कानून-भङ्ग, अनशन, धरना, बहिष्कार, सामूहिक सत्याग्रह, हड़ताल, हिजरत, ('Exodus, या स्थान-परिवर्तन), सत्ता पर शक्तिपूर्वक अधिकार और उसका विकेन्द्रीकरण और समग्रक्रान्ति आदि सम्मिलित है। सत्याग्रह के पीछे व्यापक जन-संगठन, उचित अवसर, अधिकाधिक प्रचार-भाषण, रचनात्मक कार्यक्रम आदि होना अनिवार्य है। सत्याग्रह राजनैतिक अस्त्र के रूप में बड़ा सफल हुआ क्योंकि भारत के स्वधीनता अन्दोलन में इसके प्रत्यक्ष उदहारण हैं। किन्तु अराजनैतिक क्षेत्रों (सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक जो वास्तव में राजनीति से सम्बन्धित ही हैं।) में भी इसकी व्यावहारिकता है। पूंजीपति, मजदूर, जमीन्दार किसान, सरकार, जनता आदि के बीच संघर्षों में गांधीजी ने इसका प्रयोग किया। कम्युनिस्ट सिंडिकिस्ट, निहिलिस्ट व एनार्किस्ट विचारधारा में हिंसा-प्रतिपादित क्रान्ति की जगह गांधीजी अहिंसात्मक क्रांति की बात कहते हैं क्योंकि उनका दृढ़ मत है कि जितनी अधिक हिंसा होगी उतनी ही कम क्रान्ति होगी, सच्ची क्रान्ति अहिंसा पर ही आधारित हो सकती है। सत्याग्रही के लिये अपने आचार-विचार-व्यवहार में सर्वथा मुक्त भाव से सत्याग्रही होना सबसे पहली शर्त है। सत्य को ग्रहण करने

---

*सत्याग्रह तथा सहयोग की तुलना गांधीजी ने होम्योपैथिक इलाज से की है जिसमें स्वादरहित छोटी-छोटी सफेद गोलियां दूसरी दवाओं से अधिक कारगर होती हैं। इस तरह की तुलना अवैज्ञानिक या भ्रान्तिजनक भी हो सकती है क्योंकि चिकित्साविज्ञान की बारीकियां राजनीति से बहुत दूर हैं।

और आत्मसात् करने के बाद ही उस पर आग्रह करने की दिव्य स्फूर्ति पैदा होती है। इसलिये सत्याग्रही कथनी और करनी में विभेद नहीं करता।

रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह के प्रचार, आन्तरिक विकास, अहिंसात्मक प्रतिरोध की तैयारी का माध्यम है। गाँधीजी ने १६४१-४२ के आन्दोलनों के समय कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करते हुए कहा था की बिना विधायक कार्यक्रम के सविनय आज्ञा-भंग, अपराध-युक्त और निष्फल है। जिसको रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास नहीं है, उसमें भूखी जनता के लिये सक्रिय सहानुभूति नहीं है। राजनैतिक कार्य चलाने के पहले सामाजिक सुधार और आत्मशुद्धि का आन्दोलन आवश्यक है। नये रंगरूट सत्याग्रही को विधायक कार्यक्रम अनुशासित, संयत तथा आत्म-निर्भर बनाता है। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के बाद चम्पारन (१६१७), खेड़ा (१६१८), बारदोली (१६२८) आदि सत्याग्रहों में गाँधीजी की सफलता का मूलकारण उनकी विधायिनी क्षमता थी। पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति तथा स्वाधीनता-आन्दोलन उनके राजनीतिक पक्ष थे और समय आने पर ही प्रतिफलित होने वाले थे। किन्तु रचनात्मक कार्यक्रम हमेशा हर स्थिति में चलने वाला प्रयोग था। 'विधायक कार्यक्रम को उसकी उपयोगिता के अनुसार महत्व देना चाहिये, वह राजनीतिक कार्य का पुछल्ला नहीं है।' ग्राम-सुधार तथा अभिनव ग्राम-रचना के लिये रचनात्मक कार्यक्रम जो प्रस्तुत किया गया उसमें निम्नलिखित बातें प्रधान थीं:—साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, मद्य-निषेध, खादी, ग्रामोद्योग, ग्राम-सफाई, बुनियादी तालीम या नई शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, आदिवासियों की सेवा, स्त्री समाज की उन्नति, स्वास्थ्य और सफाई, राष्ट्रभाषा प्रचार, स्वभाषा प्रेम, आर्थिक समानता के प्रयत्न, किसान-मजदूर-नवयुवकों का संगठन, प्राकृतिक चिकित्सा आदि। इसमें खादी का कार्य अत्यधिक महत्व का है क्योंकि आर्थिक समानता लाने में वह बड़ा प्रभावशाली है। आर्थिक समता का अभिप्राय पूर्ण समता नहीं (क्योंकि यह असम्भव है!) किन्तु सामान्य या लगभग समता है। हरएक के पास मकान भोजन-वस्त्र तथा अन्य आवश्यक उपकरण उपलब्ध हों इस बात की सुरक्षा होनी चाहिये। असमता निर्दय तथा अमानुषिक है, उसे हटाना ही चाहिये एक ओर विलासिता और वैभव की चरम सीमा और दूसरी ओर गन्दी बस्तियों या नलियों में पलने वाला निम्नतम जीवन किसी भी समाज के लिये सह्य नहीं है। धनिकों तथा आभिजात्य वर्गों को सम्पत्ति के सम्बन्ध में न्यास या ट्रस्टीशिप की भावना रखनी चाहिये। विकेन्द्रित उत्पादन-वितरण से ही संतुलित आर्थिक जीवन सम्भव है। स्त्री-बच्चों की सेवा तथा उन्नति के लिये कस्तूरबा

गांधी स्मारक ट्रस्ट की स्थापना करके कार्य आगे बढ़ाया गया। ग्राम-सेवा केन्द्र, चरखा संघ, सर्व-सेवा-संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, मजदूर-संघ, विद्यार्थी कांग्रेस आदि सङ्गठनों का जाल देश भर में फैला कर इस दिशा में नेतृत्व किया गया। सर्वोदय-समाज ने जिसकी स्थापना गांधीजी की मृत्यु के बाद हुई (तथा जो गांधीजी द्वारा कल्पित लोक-सेवक संघ के रूप में काम करता है।) व्यापक २२ सूत्रीय कार्यक्रम अपनाया है और उसके अनुसार कार्य करता है।* आज तो रचनात्मक कार्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण भूदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धि दान आदि आचार्य विनोबाभावे के नेतृत्व में चलाया जा रहा है।

सत्याग्रह—प्रक्रिया और प्रयोग :

यह स्पष्ट है कि सत्य-अहिंसा पर अदम्य आस्था महात्माजी के जीवन-पर्यन्त बनी रही। सत्याग्रह का इस्तेमाल राजनीतिक अस्त्र के रूप में करते समय उन्होंने वर्ग-संघर्ष और वर्ग समन्वय के प्रश्न को पूरी तरह से उभारा। उसका निराकरण करके उन्होंने इसी मार्ग से वर्गविहीन वर्ण-विहीन समाजरचना प्रतिपादित की। साम्यवाद की इस अहिंसक उपलब्धि में केवल हिंसा का परित्याग नहीं है बल्कि व्यापक जीवन-प्रणाली का मर्म भी है जिसे आज का भौतिकता से आक्रान्त, आक्रामक साम्यवाद समझ नहीं पाता या जान-बूझकर नजर-अन्दाज किये हैं। गांधीजी कभी भी ध्वंसात्मक कार्रवाई, गुप्त योजना, उत्तेजनात्मक षड्यन्त्र या आतंकवादी प्रवृत्ति नहीं चाहते थे और सदैव इस तरह की गतिविधियों में लगे उत्साही तरुण-प्रौढ़ कार्यकर्ताओं से पुराना मार्ग छोड़ने का आग्रह करते थे। भारत छोड़ो आन्दोलन के समय जब जयप्रकाश-लोहिया-

---

*सर्वोदय कार्यक्रम (१) सम्प्रदायिक एकता, (२) अस्पृश्यता निवारण, (३) जाति भेद निराकरण, (४) नशाबन्दी, (५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योग, (६) गांव सफाई, (७) नई तालीम, (८) स्त्री-पुरुष की बराबरी के हक, (९) आरोग्य और स्वच्छता, (१०) देश भाषाओं का विकास, (११) प्रान्तीय संकीर्णता का निराकरण, (१२) राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी का प्रचार, (१३) आर्थिक समानता, (१४) कृषि-उन्नति, (१५) मजदूर संगठन, (१६) आदिम जाति की सेवा, (१७) विद्यार्थी संगठन, (१८) कुष्ट रोगियों की सेवा, (१९) संकट-निवारण तथा दुखियोंकी सेवा, (२०) गो-सेवा, (२१) प्राकृतिक चिकित्सा (२२) इसी तरह के अन्य कार्य—

श्री भगवानदास केला—समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय —पृष्ठ ८६)

अच्युत-अरुणा आदि के प्रयासों का उल्लेख आया, गाँधीजी ने मुक्तभाव से उनके त्याग-संगठन-कार्य की सराहना की और बिना किसी हिचक से सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ओढ़ते हुए कुख्यात ब्रिटिश शासन को ही, कुशल राजनीतिक दांवपेंच से, लाञ्छित किया। परिणामस्वरूप विदेशों में भी, और खासतौर से अमेरिका में ब्रिटिश इरादों की तीव्र भर्त्सना की गई। उनके ही शब्दों में 'विदेशी हुकूमत की मुखालिफत का दौर एक क्षण भी नहीं रुक सकता। सिविल नाफरमानी और तामीर कार्यक्रम के जरिये सत्याग्रह का सिपाही कवायद या ड्रिल करता है, अपनी तैयारी करता है। इस तालीम में रूहानी ताकत बढ़ती है।'* जिस समय गाँधीजी से यह सवाल किया गया कि क्या वे भारत छोड़ो आन्दोलन को सत्ता हथियाने और हुकूमत पर बलपूर्वक कब्जा करने की योजना नहीं मानते (is not non-violent rebellion a programme of seizure of power ?) उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि 'नहीं, अहिंसात्मक विद्रोह सत्ता हड़पने का कार्यक्रम नहीं है। यह आपसी सम्बन्धों में बदलाहट का कार्यक्रम है जिसका नतीजा है शान्तिपूर्वक सत्ता हस्तान्तरण (It is a programme of transformation of relationship ending in a peaceful transfer of power)। यह आशावाद और व्यावहारिक सत्य भारत के उदाहरण से कितना स्पष्ट और असंदिग्ध है। सत्याग्रह-शास्त्र का निर्माण गाँधीजी ने अपने निर्भीक प्रयोगों तथा आन्दोलनों के बल किया है। अहिंसा की नकारात्मक स्थिति न मानते हुए वे क्रियात्मक रूप से अन्याय के प्रतिकार का पवित्रतम साधन ढूढ़ते रहे। 'अहिंसा का अर्थ अन्यायी के सामने घुटने टेकना नहीं है। यह नकारात्मक शक्ति नहीं है विद्युत, ईथर और अणु (एटम) से भी अधिक शक्तिशाली आत्मिक शक्ति है। सत्याग्रह का प्रकाशस्तम्भ सुदृढ़, दुर्भेद्य चट्टानों पर खड़ा अजेय और अनश्वर है। सात्त्विक, शक्तिशाली, विधायक, समन्वयात्मक सत्याग्रह का सिपाही या प्रहरी होना जीवन का अपूर्व गौरव है।' सत्याग्रह के प्रयोग में बलप्रयोग, धमकी या बुराई नहीं है। शत्रु के प्रति प्रेमभाव रखते हुए कटु संबन्धों को मधुर बनाने की योजना है। 'मैं अंग्रेजों से नहीं लड़ रहा हूँ, ब्रिटिश सम्राज्यवाद से लड़ रहा हूँ। वे मेरे मित्र हैं और मित्र के नाते मैं उन्हें भारत छोड़ने की सलाह देता हूँ। अंग्रेज कौम के प्रति मेरी स्नेह-निष्ठा में कमी नहीं है।' शत्रु को भी प्यार करने की वह सीख जो महात्मा ईसा ने दी गाँधीजी के जीवन में साकार हुई। पाप से घृणा करो पाप करनेवाले से नहीं (hate

*Mahtma Gandhi—The Last Phase–Pyarelal, Page 44.

the sin and not the sinner) इस कथन को अक्षरशः चरितार्थ करने की शुद्ध, निर्विकल्प, निश्चयात्मिका बुद्धि सत्याग्रही के लिये आवश्यक है। कष्ट सहने की व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता राष्ट्र को असीम ऊँचाइयों तक ले जा सकती है, त्याग, कष्ट सहन और सहिष्णुता की आँच में तपकर ही सत्याग्रही का व्यक्तित्व निखरता है। आन्तरिक शुद्धि, अनशन, अभय, अपरिग्रह, धैर्य, क्षमाशीलता और सामञ्जस्य की शक्ति पर उनका अटूट विश्वास था और वे गुण व्यक्ति के लिये ही नहीं, राष्ट्र के व्यापक प्रयोग में हितकर थे। आमरण अनशन सत्याग्रह का अभिन्न अंग है और उसका प्रयोग आत्मिक शक्ति की पराकाष्ठा है। अहिंसा के समग्रव्यापी जीवनदर्शन (total philosophy of life) पर उनकी आस्था अन्त तक बनी रही। सत्याग्रह में संख्या या झुण्ड का महत्व नहीं है। एक भी सच्चा सत्याग्रही सही रास्ते की खोज करने का साहसिक कार्य करने में पूर्ण समर्थ है।

इस प्रसङ्ग में गांधीजी द्वारा संचालित सत्याग्रह-संग्राम को अहिंसात्मक विजय की संज्ञा देते हुए जोन बानडुरेन्ट नामक लेखिका ने विस्तृत प्रबन्ध लिखा है। इस ग्रन्थ में विभिन्न संग्रामों की पृष्ठिभूमि, प्रक्रिया, परिणति पर प्रकाश डाला गया है और वर्ग-संघर्ष के निराकरण के इस नवीन तथ्य का (technique and philosophy of action) अन्वेषण किया गया है।* विभिन्न सत्याग्रहों की सामान्य रूपरेखा इस भांति प्रस्तुत की जाती है :—

असहयोग से पूर्व :

१९२१ में सारे भारत में बड़े जोश-खरोश के साथ असहयोग बिगुल बज उठा। गांधीजी और अली-बन्धुओं ने इस योजना का सूत्रपात करते हुए विलक्षण धैर्य, शक्ति और संगठन का परिचय दिया। गांधीजी ने खिलाफत के प्रश्न पर सारे इस्लाम की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते रहे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का अद्वितीय प्रसङ्ग इस समय था। गांधीजी ने इससे पूर्व चम्पारन, खेड़ा और अहमदाबाद में सत्याग्रह का जो प्रयोग किया था वह भी उल्लेखनीय है।

चम्पारन :

बिहार के चम्पारन जिले में गोरी सरकारशाही, जमींदार और गोरे नील-हरों ने बड़ा आतंक मचा रखा था। किसानों से तीनकठिया और पांचकठिया के

*Conquest of violence --The Gandhian philosophy of Conflict by Joan V. Bondurant (O. U. P.)

नाम से जबरन नील पैदा की जाती थी और सामान्य खेती की दशा अत्यन्त दयनीय थी। किसानों पर तरह-तरह के कर्ज लदे थे और उनका जीवन क्रीत-दासों से भी बदतर था। गोरे निलहों ने अपने को कानून और न्याय से भी ऊपर मान लिया था। १९१७ ई० में लखनऊ कांग्रेस के बाद महत्माजी चम्पारन गये और बीस हजार किसानों से कलम बन्द बयान लिया। प्रारम्भ में गाँधीजी को गिरफ्तार किया गया और डराने-धमकाने की कोशिश की गई परन्तु उनकी दृढ़ता, तेजस्विता, निर्भीकता और सौम्यवृत्ति के आगे कुछ भी न टिक सका। लिहाजा सारे देश का ध्यान इस घटना पर केन्द्रित हो गया। आयोग नियुक्त हुआ, जाँच शुरू हुई, कानून बना और जबरन नील बोने की घृणित प्रथा का अन्त हुआ। इस तरह लाखों किसानों को जीवित करने से मुक्त मिली। फिर तो अपनी सारी प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, वैभव को खण्डहरों में अविशिष्ट छोड़कर गोरे चले गये। यह पहली विजय थी।

खेड़ा :

गुजरात में भीषण अकाल के कारण सन् १९१८ में सबकी स्थिति घोर संकटग्रस्त हो गई और किसानों की हालत बदतर होती जा रही थी। ऐसी हालत में भी भारी लगान, बेदखली, कुर्की और कर्ज का बोझ था। ऐसी दशा में सत्याग्रह का अवलम्ब किया गया। सरदार वल्लभ भाई पटेल इस कार्य में आगे आये। किसानों में नया जोश भर गया। फसल काटने और सजा भुगतने का एक सिलसिला शुरू हुआ। पहले भूमिपति और सरकार का रवैया दमनात्मक रहा परन्तु अन्त में जनमत के आगे झुकना ही पड़ा। पहले इस संघर्ष में किसानों में अपूर्व जागृति आई, उनमें आत्मविश्वास और स्वावलम्बन बढ़ा। गांधीजी के ही शब्दों में 'गुजरात के प्रजा जीवन में इस सत्याग्रह से नया तेज, नया उत्साह आया। सबने समझा कि प्रजा की मुक्ति का आधार खुद अपने ऊपर है, न्याय शक्ति पर है।'

अहमदाबाद :

मजदूरों और मिल-मालिकों के आपसी सम्बन्धों में घृणा, कटुता, विद्वेष और वर्ग-संघर्ष की हिंसात्मक सम्भवनाओं को समाप्त करने की दिशा में इस सत्याग्रह का बड़ा महत्व है। बुनकरों और मालिकों के झगड़े में पंचायत-न्याय की नींव इससे पड़ी। सरदार वल्लभ भाई पटेल पंच थे परन्तु हड़ताल के कारण वार्ता भंग हो गई। गांधीजी के परामर्श पर सारी स्थिति की समाजिक,

आर्थिक, औद्योगिक दृष्टि से जांच की गई और मजदूरों की दशा सुधारने और वेतन-वृद्धि करने के सुझाव दिये गये। २२ फरवरी, १६१८ को मिलों की तालेबन्दी का भय दिखाकर मालिकों ने सुधार करने से इन्कार कर दिया। गांधीजी के आह्वान पर हजारों मजदूर इस महानतम "औद्योगिक, नैतिक और आध्यात्मिक संघर्ष में कूद पड़े।" गांधीजी ने अनशन का प्रयोग भी किया और सारे देश में इस घटना की तीव्र गति से प्रतिक्रिया हुई। मिल मालिकों ने आखिर झूठी प्रतिष्ठा और प्रलोभन का मार्ग छोड़ा और समझौते की शर्तें मान गये। इस संघर्ष ने 'मजूर-महाजन' नामक राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की नींव रखी जिसका रचनात्मक योगदान देशहित में उल्लेखनीय है। इस तरह इन प्रारम्भिक प्रयोगों ने एक ओर गांधीजी की उपयोगिता और ख्याति बढ़ाई, पर साथ ही साथ इनसे निरीह मजदूर-किसानों में नवजीवन का संचार हुआ। वे भी समझ गये कि हाथ पर हाथ धरे भाग्य को रोते-पीटते बैठना कायरता है और अपनी संगठित शक्ति से बड़ी से बड़ी ताकत से वे मुकाबला कर सकते हैं। जनसंघर्षों की यही प्रक्रिया आगे और तेजस्वी तथा प्रखरतम होती गई।

असहयोग :

सन् १६१६ महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने काले कानूनों का जाल बिछा दिया। रौलट एक्ट, क्रिमिनल ला, इमर्जेन्सी एक्ट आदि का सारे देश में उग्र विरोध हुआ। अन्तःकरण की मांग पर गांधीजी ने देशव्यापी कानून भंग का प्रस्ताव किया (Conscientiously disobey the black laws)। जलियांवाला बाग का लोमहर्षक कांड देश की निद्रा तोड़ने के साथ शासन की बर्बरता का भी काम तमाम कर चुका था। तुर्की के खलीफा को पदच्युत करके सरकार मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं पर आघात कर चुकी थी। सारी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न थी, केवल ब्रिटिश शोषण की तीव्रता थी ऐसे समय में गांधीजी ने सन् १६२१ में असहयोग और खिलाफत का संयुक्त आन्दोलन चलाया जिसे दबाया तो बेरहमी से गया लेकिन सारे देश में चिनगारी फैल गई। इस अवसर पर सरकार से प्रगतिशील असहयोग की बात दुहराई गई। इसके कार्यक्रम में उपाधि, कचहरी, शिक्षा-संस्था, सरकारी सेवा परिषद, विदेशी कपड़े, मद्यपान आदि के पूर्ण बहिष्कार की योजना थी और साथ ही स्वदेशी, खादी, ग्रामोद्योग आदि की रचनात्मक योजना थी। हिन्दू-

वर्गों का उत्थान, हिन्दू-मुस्लिम एकता, लगानबन्दी और कानून तोड़ना भी इसके अन्तर्गत थे। सारे देश में प्रदर्शन, सत्याग्रह, जेलयात्रा का दौरदौरा रहा। इसमें लगभग पचास हजार लोग जेल गये और लगभग डेढ लाख लोगों ने आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। सारा देश नई चेतना से अभिभूत था और वर्ग-जागरण का नया अध्याय शुरू हुआ। विशेषता यह थी कि समाज के उपेक्षित, अभिशप्त और दरिद्र वर्गों ने भी पूरे जोश के साथ इस आन्दोलन में भाग लिया। परिणामस्वरूप कांग्रेस संगठन शक्तिशाली हुआ, जनान्दोलन की गति तेज हुई और स्वधीनता की राजनीतिक-आर्थिक रूपरेखा स्पष्ट हुई। ४ फरवरी १९२२ को चौरीचौरा की हिंसात्मक घटना के बाद आन्दोलन स्थगित हो गया। सरकारी दमन भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इस तरह असहयोग ने एक ओर जनता में अदम्य आत्म-विश्वास पैदा किया और दूसरी ओर शासन की कमजोरी पूरी तरह से प्रकट कर दी। सारी दुनियाँ में इसका गम्भीर प्रभाव पड़ा। गांधीजी की गिरफ्तारी और रिहाई के बाद कुछ समय तक विधानवाद की ओर रुख गया परन्तु साइमन कमीशन के बहिष्कार आदि से असन्तोष और भी उग्र होने लगा।

सविनय अवज्ञा या सिविल नाफरमानी :

शासन की शिथिलता, भेदनीति, औपनिवेशिक स्वराज्य की उपेक्षा, अल्पसंख्यकों का असन्तोष, नेहरू-कमेटी के प्रस्तावों की अवहेलना आदि के कारण सन् १९३० में भद्र अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। १२ मार्च १९३० को गांधीजी की ऐतिहासिक डांडी-यात्रा शुरू हुई और नमक कानून तोड़ा गया। सारे देश में नमक कानून तोड़े जाने के कारण हजारों व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। इस आन्दोलन में असहयोग के सभी कार्यक्रम अपनाए गये। धरना देना (पिकेटिंग), विदेशी वस्त्रों की होली जलाना, काले और गंदे कानूनों को तोड़ना यही कार्यक्रम सब जगह प्रारम्भ हुआ। इस सत्याग्रह में ग्रामीण जनता और महिलाओं ने अपूर्व उत्साह से भाग लिया। लाठी-गोली का आतंक सर्वत्र फैला, दमन अधिक तीव्रता और उग्रता से हुआ, अमानुषिक अत्याचारों से सरकार का खोखलापन साफ जाहिर हो गया। यह आन्दोलन बीच में रुका और फिर चला क्योंकि गोलमेज परिषद् और गांधी-इरविन समझौते की शर्तें बीच में आगई थीं। यह लगभग ३ वर्षों तक चलता रहा। इसी समय करांची कांग्रेस में १९३१ ई० में मौलिक अधिकारों और शासन के कर्तव्यों का घोषणा-पत्र तैयार किया गया। इस सत्याग्रह में ६० हजार व्यक्ति जेल गये और करीब पांच लाख जनता प्रदर्शन-आन्दोलन में सक्रिय रूप से शरीक हुई।

यदि हम असहयोग को भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता का शुभारम्भ मानते हैं, तो भद्र अवज्ञा आर्थिक स्वाधीनता का सुदृढ़ सूत्रपात था। इस संघर्ष ने अभूतपूर्व एकता, नई चेतना, आत्म-विश्वास, साहस और शौर्य को जन्म दिया जिसने साम्राज्यवादियों के हौसले पस्त कर दिये।

युद्धविरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह :

१६४० में श्री विनोवा भावे को प्रथम सत्याग्रही बनाकर गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार की युद्ध नीति के विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। इसमें सत्याग्रहियों के लिये कड़ा अनुशासन और आदेश था। हजारों व्यक्तियों ने इसमें भाग लिया। इसके पूर्व रामगढ़ कांग्रेस में कांग्रेस की नीति में कुछ शिथिलता आ गई थी और श्री सुभाष बोस के नेतृत्व में अग्रगामी दल अलग बन गया था। लोगों पर बहुत से जुर्माने हुए, गिरफ्तारी-कुर्की, जेल आदि के कारण सरकार को फिर सिरदर्द पैदा हुआ। शासन की ओर से सुधारों की मौखिक और योजनाबद्ध घोषणा होती रही। कूपलैण्ड और क्रिप्स के प्रस्ताव सामने आये परन्तु कांग्रेस ने सब को अस्वीकार कर दिया। इस सत्याग्रह से कांग्रेस की शान्तिवादी युद्धविरोधी भूमिका को समर्थन मिला और सरकार की चालाकी व छल-कपट की नीति स्पष्ट हो गई।

अगस्त १६४२ आन्दोलन :

८ अगस्त १६४२ को गांधीजी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू हुआ। ६ अगस्त को देश भर में सामूहिक गिरफ्तारियाँ हुईं। महात्मा गांधी नजरबन्द कर दिये गये। जेल में ही श्रीमती कस्तूरबा गांधी और महादेव भाई देसाई का देहान्त हो गया। नेताओं के गिरफ्तारी के बाद भी नेतृत्व-विहीन जनता ने आन्दोलन जारी रखा और लगातार तीन वर्षों तक यह आन्दोलन चलता रहा। आन्दोलन का स्वरूप पहिले की तरह सत्याग्रह करना या जेल जाना न होकर सामूहिक ध्वंसात्मक कार्रवाई हो गया। गांधी जी का आखिरी मन्त्र था 'करो या मरो' (Do or Dic), इसकी प्रेरणा लेकर नवयुवकों, श्रमिकों और मध्यमवर्गीय नागरिकों ने भारत में ब्रिटिश शासन दूर करने के लिये अन्तिम प्रहार किया। जगह-जगह गोलियाँ चलीं, हजारों लोग मारे गये, डेढ़ लाख व्यक्ति गिरफ्तार हुए और अगणित लोगों ने प्रदर्शन तोड़-फोड़ आदि के कामों में भाग लिया। रेल, डाक, थाना, अदालत, सरकारी इमारत आदि को क्षति पहुँचाई गई। भारत सरकार के मैक्सवेल

और टाटेनहेम ने कांग्रेस पर दोषारोपण किया किन्तु गांधीजी ने सारी जवाबदारी और हिंसात्मक उत्तेजना का दायित्व सरकार पर मढ़ दिया। आगाखाँ महल में गाँधीजी ने २१ दिनों का ऐतिहासिक उपवास भी किया। बाद में महायुद्ध का रुख मुड़ गया और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। देश के भीतर और बाहर आजाद हिन्द फौज, नाविक बगावत, सैनिक विद्रोह आदि से स्पष्ट हो गया कि सेनाएँ भी राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख थीं (forces succumbed to nationalism) और भारत की स्वाधीनता करीब थी। ६ मई १६४४ को गाँधीजी की रिहाई के बाद कान्फ्रेन्स, वावेल प्लान, केबिनेट मिशन योजना, माउन्टबेटन योजना आदि समझौतावादी योजनाओं का सूत्रपात हुआ और भारत की स्वाधीनता का प्रश्न भारत विभाजन की शर्त पर स्वीकृत हुआ (भारत स्वाधीनता अधिनियम, जुलाई १६४७)। इस तरह एक विप्लव या विद्रोह (insurrection) के रूप में प्रारम्भ किया गया। यह आन्दोलन स्वातन्त्र्य क्रान्ति के रूप में परिणत हो गया। (successful) culmination of a revolution)। इस आन्दोलन में यह सिद्ध हो गया कि भारतीय जनता का प्रत्येक वर्ग स्वाधीनता के प्रश्न पर बलिदान या उत्सर्ग के लिये तैयार हो गया था। इस दशा में भी गाँधीजी ने नैतिक, उदात्त, समझौता और क्षमा-विस्मरणवाली नीति (forgive and forget) का पालन किया और अपने सिद्धान्तों की यथासम्भव रक्षा की। इतिहास के पृष्ठों पर गाँधीजी विश्व के सबसे बड़े युद्ध विरोधी व शान्ति वादी नेता (greatest pacifist and anti-war leader) सिद्ध हुए। भारत-विभाजन का अभिशाप तो ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण आया लेकिन उससे गाँधीवादी मार्ग पर व्यवधान नहीं पैदा हो सका।* विभिन्न संघर्षों या आन्दोलनों के माध्यम से गाँधी जी देश का नैतिक पुनरुत्थान करने, विस्मृत आदर्शों की प्रतिष्ठा कराने और सत्यअहिंसा की सात्विक प्रेरणा से देश को आजाद कराने में सफल हुए। पचास वर्षों की निरन्तर साधना त्यागमयी तपश्चर्या और रचनात्मक प्रेरणा का सबल और सफल प्रमाण ये विभिन्न जन-आन्दोलन ही हैं। गाँधी जी ने 'संघर्ष, प्रगति और समन्वय' एक नई विरासत देश और दुनियाँ के सामने रखी जिसकी पुष्टि

---

* India wins Freedom—Maulana A.K. Azad
Guilty Men of India's Partition Dr.–Rammanohar Lohia Mission with Mountbatten—T. Compbell.

आज अणु अस्त्र-विरोधी सत्याग्रह और नीग्रो या दलित वर्गों के आन्दोलन कर रहे हैं। मानव-मुक्ति का दूसरा मार्ग इसके सिवाय नहीं दिखाई पड़ता।

संतुलित जीवन के लिये आचार-प्रधान एकादश-व्रत :

१. सत्य ही परमेश्वर है। सत्य आग्रह, सत्य-विचार, सत्य-वाणी और सत्य-कर्म ये सब उसके अंग हैं। जहां सत्य है, वहां शुद्ध ज्ञान है। जहां शुद्ध ज्ञान है, वहां आनन्द ही हो सकता है।

२. अहिंसा—सत्य ही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग, एक ही साधन, अहिंसा है। बगैर अहिंसा के सत्य की खोज असंभव है।

३. ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की—सत्य की खोज में चर्या, अर्थात् उससे सम्बन्ध रखने वाला आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है।

४. अस्वाद—मनुष्य जब तक जीभ के रसों को न जीते तब तक ब्रह्मचर्य का पालन अति कठिन है। भोजन केवल शरीर पोषण के लिए हों, स्वाद या भोग के लिये नहीं।

५. अस्तेय अर्थात् चोरी न करना—दूसरे की चीज को उसकी इजाजत के बिना लेना तो चोरी ही है, लेकिन मनुष्य अपनी कम से कम जरूरत से अधिक जो कुछ लेता या संग्रह करता है, वह भी चोरी ही है।

६. अपरिग्रह—सच्चे सुधार की निशानी परिग्रह-वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक परिग्रह कम करना उसकी निशानी है। ज्यों-ज्यों परिग्रह कम होता है, सुख और सच्चा संतोष बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है।

७. अभय—जो सत्यपरायण रहना चाहे, वह न तो जात बिरादरी से डरे, न चोर से डरे, न सरकार से डरे, न किसी के बुरा मानने से डरे।

८. अस्पृश्यता-निवारण—छुआछूत हिन्दू या किसी धर्म का अंग नहीं है, इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक का धर्म है, कर्त्तव्य है।

९. शरीर-श्रम—जिनका शरीर काम कर सकता है, उन स्त्री-पुरुषों को अपना रोजमर्रा का सभी काम जो खुद कर लेने के लायक हों, खुद ही कर लेना चाहिये और बिना कारण दूसरों से सेवा न लेनी चाहिये।

जो खुद मेहनत न करें, उन्हें खाने का हक ही क्या है ?

१०. सर्वधर्म-समभाव—जितनी इज्जत हम अपने धर्म की करते हैं, उतनी ही इज्जत हमें दूसरों के धर्म की भी करनी चाहिये। जहाँ यह वृत्ति है, वहाँ एक दूसरे के धर्म का विरोध हो ही नहीं सकता, न पर-धर्मी को अपने धर्म में लाने की कोशिश ही हो सकती है, बल्कि हमेशा प्रार्थना यही की जानी चाहिये की सब धर्मों में पाये जासे वाले दोष दूर हों।

११. स्वदेशी—अपने आस-पास रहने वालों की सेवा में ओत-प्रोत हो जाना स्वदेशी-धर्म है। जो निकट वालों की सेवा छोड़ कर दूर वालों की सेवा करने को दौड़ता है, वह स्वदेशी को भंग करता है।

स्वराज्य को सफल बनाने के लिये रचनात्मक कार्यक्रम :

रचनात्मक कार्यक्रम को सत्य और अहिंसात्मक साधनों द्वारा पूर्ण स्वराज्य की रचना कहा जा सकता है।

१. कौमी एकता—एकता का मतलब सिर्फ राजनैतिक एकता नहीं है सच्चे मानी तो हैं वह दिली दोस्ती जो तोड़े न टूटे। इस तरह की एकता पैदा करने के लिये सबसे पहिली जरूरत इस बात की है कि कांग्रेसजन, वे किसी भी धर्म के मानने वाले हों, अपने को हिन्दू मुसलमान, ईसाई पारसी, यहूदी सभी कौमों का नुमाइंदा समझे।

२. अस्पृश्यता-निवारण—हरिजनों के मामले में तो हरेक हिन्दू को यह समझना चाहिये कि हरिजनों का काम उसका अपना काम है।

३. मद्य-निषेध—अफीम, शराब, वगैरा चीजों के व्यसन में तो फंसे हुये अपने करोड़ों भाई-बहनों के भविष्य को सरकार की मेहरबानी या मरजी पर झूलता नहीं छोड़ सकते।... इन व्यसनों के पंजे में फंसे हुये लोगों को छुड़ाने के उपाय निकालने होंगे।

४. खादी—खादी का मतलब है देश के सभी लोगों की आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का आरम्भ। खादी में जो चीजें समाई हुई हैं, उन सबके साथ खादी को अपनाना चाहिये। खादी का एक मतलब यह कि हममें से हरेक को संपूर्ण स्वदेशी की भावना बढ़ानी और टिकानी चाहिये।

५. दूसरे ग्रामोद्योग—हाथ से पीसना, हाथ से कूटना और पछोरना, और साबुन बनाना, कागज बनाना, दियसलाई बनाना, चमड़ा कमाना, तेल

पेरना इस तरह के दूसरे सामाजिक जीवन के लिये जरूरी और महत्व के धंधों के बिना गांवों की आर्थिक रचना संपूर्ण नहीं हो सकती।

६. गांवों की सफाई—देश में जगह-जगह सुहावने और मनभावने छोटे-छोटे गांवों के बदले हमें घूर-जैसे गांव देखने को मिलते हैं। हमारा फर्ज हो जाता है कि गांवों को सब तरफ से सफाई के नमूने बनावें।

७. बुनियादी तालीम—बुनियादी तालीम हिन्दुस्तान के तमाम बच्चों को, वे गांवों के रहने वाले हों या शहरों के हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ तत्वों के साथ जोड़ देती है यह तालीम बालक के मन और शरीर दोनों का विकास करती है।

८. प्रौढ़ शिक्षा—बड़ी उम्र के अपने देशवासियों को जबानी यानी सीधी बातचीत द्वारा सच्ची राजनैतिक शिक्षा दी जाये।

९. स्त्रियां—स्त्री को अपना मित्र या साथी मानने के बदले पुरुष ने अपने को उसका स्वामी माना है। कांग्रेस वालों का यह खास कर्तव्य है कि वे हिन्दुस्तान की स्त्रियों को इस गिरी हुई हालत से हाथ पकड़ कर ऊपर उठायें।

१०. आरोग्य के नियमों की शिक्षा—हमारे देश की दूसरे देशों से बढ़ी-चढ़ी मृत्यु-संख्या का ज्यादातर कारण निश्चय ही वह गरीबी है जो देश-वासियों के शरीरों को कुरेद कर खा रही है, लेकिन अगर उनको तन्दुरुस्ती के नियमों की ठीक-ठीक तालीम दी जाय तो उसमें बहुत कमी की जा सकती है।

जब बीमार पड़ें तब अच्छे होने के लिए अपने साधनों की मर्यादा के अनु-सार प्राकृतिक चिकित्सा करें।

११. प्रान्तीय भाषाएँ—हिन्दुस्तान को जो बेहद नुकसान हुआ है, उसका कोई अन्दाजा हम नहीं कर सकते। जब तक जन साधारण को अपनी बोली में शासन के हर पहलू व कदम को अच्छी तरह से नहीं समझाया जाता तब तक उनसे यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वे उसमें हाथ बटावें?

१२. राष्ट्रभाषा—समूचे हिन्दुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिये हमको भारतीय भाषाओं में से एक ऐसी भाषा की जरूरत है जिसे आज ज्यादा से ज्यादा तादाद में लोग जानते और समझते हों और बाकी के लोग जिसे झट सीख सकें और वही भाषा हिन्दी ही हो सकती है। हिन्दी के बिना आजादी अधूरी है और हिन्दी के चलन से ही देश सुदृढ़ बनेगा हिन्दी हमारी माता है, यह हम कभी न भूलें।

१३. आर्थिक समानता—आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूंजी और मजदूरों के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिये मिटा देना। अगर धनवान लोग अपने धन को और उसके कारण मिलने वाली सत्ता को खुद राजी-खुशी से छोड़कर और सब के कल्याण के लिये सबों के साथ मिलकर बरतने को तैयार न होंगें तो यह तय समझिये कि हमारे मुल्क में हिंसक और खूंखार क्रान्ति हुए बिन नहीं रहेगी।

१४. किसान—स्वराज्य की इमारत एक जबरदस्त चीज है। जिसे बनाने में अस्सी करोड़ हाथों का काम है। इन बनाने वालों में किसानों की तादाद सबसे बड़ी है सच तो यह है कि स्वराज्य की इमारत बनानेवालों में ज्यादातर (करीब ८० फी सदी) वे ही लोग हैं। इसलिये असल में किसान ही कांग्रेस है, ऐसी हालत पैदा होनी चाहिये।

१५. मजदूर—अहमदाबाद के मजदूर-संघ का नमूना समूचे हिन्दुस्तान के लिये अनुकरणीय है, क्योंकि वह शुद्ध अहिंसा की बुनियाद पर खड़ा है। मेरा बस चले तो हिन्दुस्तान की सब मजदूर-संस्थाओं का संचालन अहमदाबाद के मजदूरसंघ के नीति पर करूँ।

१६. आदिवासी—आदिवासियों की सेवा भी रचनात्मक कार्य का एक अंग है। समूचे हिन्दुस्तान में आदिवासियों की आबादी दो करोड़ है। उनके लिये कई सेवक काम कर रहें हैं। फिर भी अभी उनकी संख्या काफी नहीं है।

१७. कुष्ट रोगी—यह एक बदनाम शब्द है। हकीकत यह है कि जिन कुष्ट रोगियों को सार-संभाल की एक सख्त जरूरत है, उन्हीं की हमारे यहाँ जानबूझ कर उपेक्षा की जाती हैं।

१८. विद्यार्थी—विद्यार्थी भविष्य की आशा हैं। इन्हीं में से तो राष्ट्र के भावी नेता तैयार होने वाले हैं। विद्यार्थियों को दलबंदी वाली राजनीति में कभी शामिल नहीं होना चाहिये। उन्हें राजनैतिक हड़तालें नहीं करनी चाहिये। सब विद्यार्थियों को सेवा की खातिर शास्त्रीय तरीके से करना चाहिये। अपने पहनने-ओढ़ने के लिये वे हमेशा खादी का इस्तेमाल करें।

१९. गोसेवा-गोरक्षा मुझे बहुत प्रिय है। मुझसे कोई पूंछे कि हिन्दू धर्म का बड़े से बड़ा बाह्य स्वरूप क्या है, तो मैं गोरक्षा बताऊँगा। मुझे वर्षों से दीख रहा है कि हम इस धर्म को भूल गये हैं। दुनिया में ऐसा कोई देश मैंने कहीं नहीं देखा जहाँ गाय के वंश की हिन्दुस्तान जैसी लावारिस हालत हो।

सर्वोदय, ट्रस्टीशिप, विकेन्द्रीकरण, समता :

महात्मा गांधी ने अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर से यह स्पष्ट कहा था कि उनके समाजवाद का अर्थ है सर्वोदय। जान रस्किन की पुस्तक पढ़ने के बाद उनके विचार में परिवर्तन हुआ और सर्वोदय की भावना जागी। साधारणतः इसका अर्थ लिखा जाता है 'सबका उदय' अर्थात् उपयोगितावादी सिद्धान्त (अधिकतम जनता का अधिकतम हित) की संकुचित सीमा छोड़कर पूरी मानवता के दृष्टिकोण से सोचना जिसमें सभी जाति, वर्ण, धर्म, वर्ग आदि की उन्नति हो और साथ ही वर्ग-संघर्ष के दूषित दृष्टिकोण को छोड़ना। दूसरा गंभीर अर्थ इस धारणा का है पूर्ण विकास अथवा आन्तरिक शक्तियों (inner potentialities) का प्रस्फुटन। गांधी जी ने कहा, 'मैं अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की आजादी चाहता हूँ।' इसका स्पष्ट आशय यह था कि सर्वोदय पाश्चात्य विचारधारा या आधुनिक समाजवादी-साम्यवादी राज्यों से भिन्न है क्योंकि यह व्यक्तिगत आजादी की पूर्णरूप से उपासना करता है (अर्थात् समष्टिवादी होकर व्यक्ति को समाज के सामने बलिदान नहीं करता और न ऐकान्तिक व्यक्तिवादी ही है)। सर्वोदय का व्यावहारिक अर्थ इस तरह माना जाता है:—

पारिवारिक मोह का त्याग, वर्ण-रङ्ग, जातीयता से मुक्ति, साम्प्रदायिकता संकीर्णता से आगे बढ़ना, प्रान्तीयता दूर करना, संकुचित राष्ट्रीयता छोड़ना, विश्वबन्धुत्व की चेष्टा करना। भारतीय साहित्य में 'सब सुखी हों, निरापद हों, श्रेय सब देखें' इस तरह की भावना प्रधान रही है।* सर्वोदय का साधक सत्य-ग्राही है जो व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्तर से जन-कल्याण का अग्रदूत है। सर्वोदय गांधीवादी स्वराज्य या रामराज्य की झांकी है जिसमें धन-वितरण की विषमता, दरिद्रता, बेकारी नहीं होगी। समाज के न्यायपूर्ण उत्थान में सभी शक्तियाँ अग्रसर होंगी। स्वतन्त्रता, समता, न्याय-भाव रहेगा। शारीरिक श्रम अनिवार्य होगा। बहुमत-अल्पमत का झगड़ा न होगा। सहयोग का अखण्ड साम्राज्य होगा। राज्य का कम से कम नियन्त्रण होगा। सारांश में यह प्रबुद्ध अराजकतावादी अहिंसक राज्य (non.violent, enlightened Anar-

---

* 'सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥'

अथवा—'न त्वहं कामये राज्यं ना स्वर्गं ना पुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥'

chy) होगा। इसके लिये नये ढङ्ग की शिक्षा, बुनियादी तालीम आवश्यक है जो व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी, स्वावलम्बी तथा आचरण श्रेष्ठ बनायेगी। शरीर, मन, आत्मा, तीनों की सम्भावनाएँ विकसित होंगी। समाज में नये मूल्यों की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। सर्वोदय के मूलाधार अहिंसा, विकेन्द्रीकरण, ग्राम-स्वावलम्ब, आर्थिक समानता (संरक्षण-ट्रस्टीशिप और अपरिग्रह) और विश्व शान्ति है।

ट्रस्टीशिप या संरक्षण के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु या सम्पत्ति को जरूरत से अधिक नहीं होना चाहिये, पर यदि वह जरूरत से ज्यादा है तो सार्वजनिक हित में उसके संरक्षक या ट्रस्टी के रूप में व्यक्ति को काम करना चाहिये। ट्रस्टी के सामने धार्मिक न्यायबुद्धि का प्रतिबन्ध रहता है, उस सम्पत्ति को वह जनहित में खर्च करेगा। वर्ग संघर्ष और धन-सत्ता-अपहरण के बजाय इस सिद्धन्त को मानने से समाज की अधिक बुराईयां दूर हो सकती हैं क्योंकि हृदय-परिवर्तन की बात इसमें निहित है। इस माध्यम से ही वर्गविहीन समाज की रचना सम्भव है। अहिंसक रीति से आर्थिक समानता लाने की भावना इस सिद्धान्त में है। इसका स्पष्टीकरण करते हुये गाँधीजी ने कहा, 'आज के धनवानों को वर्ग संघर्ष के और स्वेच्छा से धन के ट्रस्टी बनने के दो रास्तों में से एक को चुनना होगा। उन्हें अपनी मिल्कियत की रक्षा का हक होगा। उन्हें यह भी हक होगा कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं, मुल्क के भले के लिये दूसरों का शोषण न करके धन बढ़ाने में अपनी बुद्धि का उपयोग करें। उनकी सेवा और उसके द्वारा होने वाला समाज कल्याण का ध्यान रखकर राज्य उन्हें उचित कमीशन देगा। उनके बच्चे अगर योग्य हुए तो वे भी उस जायदाद के संरक्षक बन सकेंगे। धनिकों का व्यवहार ठीक न हो तो न्यायालय द्वारा वे अमानतदार के पद से हटा दिये जावेंगे। यदि वे विवेकपूर्वक ईमानदारी से कर्त्तव्य पालन करेंगे तो उन्हें अपनी धरोहर सम्पति से होने वाली शुद्ध आय या मुनाफे से पाँच-छः प्रतिशत भाग पुरस्कार रूप में पाने का हक होगा, शेष मुनाफा सार्वजनिक हित में लगाया जावेगा।' इस सिद्धान्त में दया भाव तो है लेकिन समानता की भावना भी उतनी ही प्रबल है। भूदान, सम्पत्तिदान इसके अनिवार्य निष्कर्ष हैं और समाज के प्रत्येक व्यक्ति को संरक्षण पाने का अधिकर है। सिद्धान्त रूप में उसे स्वीकार करने पर सच्ची आर्थिक आजादी मिल जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह सिद्धान्त जो संयुक्त-राष्ट्र संघ (U.N.O.) द्वारा चलाया जाता है, उसमें अपूर्णता है। यह केवल

राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित है। सर्वोदय का अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में पंचशील और सह-अस्तित्व तो है लेकिन इसका मतलब यह नहीं की यथा-स्थितिवाद को प्रश्रय दिया जाय, विकास न हो। ट्रस्टी बनने पर संचय या परिग्रह छोड़ना पड़ेगा, संकुचित राष्ट्रीयता का परित्याग करना होगा। सादगी, सेवा, लोक-सेवा का उत्तरदायित्व निभाना पड़ेगा। कृत्रिम आवश्यकताओं तथा परिग्रह के त्याग से आर्थिक समानता साकार हो सकेगी।

विकेन्द्रीकरण आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में सर्वोदय लाने का साधन है। पूंजीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन का केन्द्रीकरण है, थोड़े से लोगों के हाथ में उत्पादन के साधन हैं, सत्ता पर उनका ही प्रभाव है। उपभोक्ताओं को इस की जानकारी नहीं रहती कि जिन पदार्थों का वे उपयोग करते हैं वे कहाँ, कब, कैसे, किनके द्वारा बनते हैं, बनाने वालों का जीवन कैसा है? विकेन्द्रीकरण में यह बात नहीं रहती। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच की खाई नहीं रहती। उपभोक्ता ही उत्पादक हैं और उत्पादक स्वयं उपभोग करता है। आज के समाज में स्थिति विपरीत है, उत्पादक किसान अनुत्पादक धनवानों के हाथ अपना श्रम तथा उत्पादन बेचता है, स्वयं दरिद्र बना रहता है। आदेशपालन अथवा जटिल व्यवस्था पद्धति की आवश्यकता इसमें नहीं है। प्रेमपूर्वक सहयोग और सहकारी पद्धति से काम ठीक ढंग से चलता है। लोकराज्य के अनुकूल परिस्थितियाँ बनती जाती हैं, समाज और व्यक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है। केन्द्रीकरण से ये बातें सम्भव नहीं है। उसके चलते लूट-शोषण-परावलम्बन होगा ही। राजनीतिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति जब तक शासन कार्य में आत्म निर्णय के कार्य में अधिक से अधिक योगदान (largest participation) नहीं देता सच्ची आजादी नहीं मिलती। ग्राम-स्वावलम्बन, ग्रामोद्योग का विकास, यान्त्रिक मर्यादा इसके आवश्यक परिणाम हैं। गांधीजी के शब्दों में 'ग्राम अहिंसक राज्य का निर्माण, बड़ी मिलों की सभ्यता (केन्द्रित उत्पादन) के बल पर नहीं कर सकते; उसका निर्माण स्वावलम्बी गांवों द्वारा ही सम्भव है।' विकेन्द्रीकरण में अपरिग्रह और स्वदेशी की भावना है। पारस्परिक संबन्ध स्वेच्छा पर आधारित रहते हैं। ऊपरी सत्ता केवल नैतिक पथ-प्रदर्शन करती है। यह सिद्धान्त अहिंसात्मक सह-सहयोग पर आधारित है। विकेन्द्रीकरण से अराजकतावादी समाज, जिसमें पुलिस, फौज, अदालत, अपराध, जेल, डाक्टर, मिलें, मशीनें आदि न होंगे, आसानी से बन सकेगा। सर्वोदय की इस व्यापक विचारधारा के अनुरूप ही आचार्य विनोबा भावे ने 'भूदानमूलक, ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसात्मक क्रान्ति' का

नारा दिया है और जीवनदान की घोषणा श्री जयप्रकाश नारायण ने की है। इस प्रयोग में काञ्चनमुक्ति प्रयोग, प्रजासूय यज्ञ, दण्ड शक्ति का विनाश, लोक शक्ति निर्माण, तपस्या, विचार-प्रचार सत्याग्रह, नई तालवीम, भूदान-सम्पादित श्रमदान अन्याय से असहयोग आदि बातें निहित हैं। शासनमुक्त, शोषण-रहित समतायुक्त समाज की कल्पना इस सर्वोदयी विचारधारा की आकर्षक देन है। 'सबै भूमि गोपाल की' यह बात स्वतः गांधीजी ने चलाई थी। सर्वोदय व्यावस्था के कारण संसार में शान्ति स्थापित होगी और अनावश्यक स्पर्धा-संघर्ष का अन्त हो जायेगा। युद्ध-जर्जरित विक्षुब्ध विश्व के लिये यही एक मात्र कल्याण मार्ग है ('नान्यः पंथा वद्यतेऽयनाय' की तरह सर्वोदय ही समस्याओं का एकमात्र हल है)।

गाँधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद—समानता तथा अन्तर :

गांधीवाद और समाजवाद दोनों मानवतावादी धाराएँ हैं। इनका उद्देश्य है जनकल्याण तथा मानवता की वृद्धि। इनका जन्म पीड़ित-विश्व के प्रति गहरी समवेदना तथा वर्तमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष के आधार पर हुआ। समाज के प्रति नया दृष्टिकोण इन विचारों के कारण उत्पन्न हुआ। नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के साथ ही क्रान्तिकारी होने का दावा दोनों सिद्धान्तों का है। सामाजिक वर्गों के बीच विषमता की खाइँ पाटकर वर्ग-विहीन समाज बनाने के उद्देश्य में समाजवाद और गांधीवाद समीप हैं। राजनीतिक आजादी के साथ आर्थिक स्वाधीनता और समानता दोनों का लक्ष्य है। प्रत्यक्ष कार्य-प्रणाली (direct action) पर दोनों का विश्वास है। जनता का व्यापक समर्थन दोनों चाहते हैं। छोटे-बड़े सबके लिये इन विचारधाराओं का प्रयोग होता। है दोनों इस बात के लिये प्रयत्नशील हैं कि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ पूरी हों, भोजन, कपड़ा, दवा, दारू, शिक्षा, मकान तथा जीवन-यापन की अन्य वस्तुएँ सबको उपलब्ध हों, व्यक्ति को अपनी प्रतिभा का विकास करने का अवसर मिले। दोनों समाजोपयोगी श्रम (Socially useful labour) की महत्ता स्वीकार करते हैं। दोनों जाति-भेद, वर्ण-रङ्ग वर्ग-भेद, धर्म-भेद, साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता, स्त्री-पुरुष असमानता आदि को नष्ट करने का निश्चय व्यक्त करते हैं। विश्व-शान्ति का दावा दोनों का है। यह तो उद्देश्यों की समानता कुछ-कुछ दिखाई देती है किन्तु साधनों तथा क्रिया-पद्धति (methodology) में दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

समाजवाद में राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) पर जोर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप राज्य के प्रमुख उद्योग, कृषि, उत्पादन के साधन

सरकार द्वारा संचालित-नियंत्रित होते हैं, विकेन्द्रीकरण की प्रधानता रहती है। गांधीवाद में ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त है, विकेन्द्रीकरण और ग्रामोद्योग की प्रधानता है, व्यक्ति की जगह राज्य की पूँजी केन्द्रस्थ करने का इरादा नहीं है। समाजवाद मशीनों द्वारा औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण के पक्ष में है, उत्पादन बढ़ाने के लिये इन्हें अनिवार्य मानता है। गांधीवाद स्वावलम्बन चाहता है पर स्वदेशी और कुटीर-उद्योग का पोषक है। समाजवाद इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करता है, उसे वर्ग-संघर्ष की अखंड शृंखला मानता है, वर्ग-युद्ध को अनिवार्य धर्मयुद्ध का रूप देता है। गांधीवाद इतिहास को सामाजिक क्रमिक विकास तथा सहयोग की कड़ी बतलाता है, वर्ग-विभेद दूर करने में वर्ग-समन्वय की भावना रखता है और सत्याग्रह पर जोर देता है जो युद्ध नहीं आत्म-शुद्धि का द्योतक है। समाजवाद में सत्ता पर अधिकार पहले और व्यवस्था-परिवर्तन की प्रक्रिया बाद में आती है। गांधीवाद में व्यक्ति का सुधार-आत्म-दर्शन पहले है, क्रान्ति की प्रकिया व्यक्ति और समाज में साथ-साथ चलती है, सत्ता पर अधिकार अपने-आप आता है। गांधीवाद इस सत्ता को विभाजित करने, विकेन्द्रित बनाने और अराजक बनाने के पक्ष में है जब कि समाजवाद राज्य को अधिकाधिक मजबूत बनाना चाहता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में गांधीवाद अधिक उदार है, बौद्धिक स्थिरीकरण (Regimentation) की नीति पर उसका विश्वास नहीं है और न वह विरोधियों के प्रति वैसा रुख रखता है जैसे समाजवादी देश रखते हैं। समाजवाद व्यक्ति को मशीन के पुर्जे की तरह मानता है किन्तु गांधीवादी व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का चिन्तन करता है। समाजवाद हिंसात्मक मार्ग तथा वैधानिक प्रणाली (Parliamentary methods) स्वीकार करता है जिससे सरकार की शक्ति बनी रहे और सरकार द्वारा ही सब काम हों। गांधीवाद इस दिशा में अराजकतावादी है क्योंकि वह राज्य-रहित अहिंसक समाज की कल्पना करता है। सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना गांधीवाद द्वारा ही सम्भव है। समाजवाद शस्त्रीकरण (armament and militarisation) पर विश्वास रखता है, गांधीवाद के लिये ये बातें अग्राह्य हैं। सारांश में, गांधीवाद समन्वयात्मक धर्म है।

साम्यवाद का सिद्धान्त समाजवादी आधारों पर बना है। इतिहास की भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, अतिरिक्त श्रम का मूल्य (surplus value), हिंसात्मक विप्लव, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व (dictatorship of the proletariat), वर्गविहीन समाज और राज्य के

राज्य का लोप (withering away of the state) साम्यवाद के अनिवार्य अङ्ग हैं। साम्यवाद का व्यवहारिक रूप रूस में है जहाँ समष्टीकरण (collectivisation) के बड़े-बड़े प्रयोग किये गये हैं। वैसे तो यह कहा जाता है कि साम्यवाद से हिंसा निकाल देने पर सर्वोदय या गाँधीवाद शेष रह जाता है। किन्तु दोनों चिन्तन प्रणालियों में बड़ा अन्तर है। साम्यवाद प्रत्यक्षवादी है, जड़ या भौतिक शक्ति (matter) की गतिमयता पर विश्वास रखता है जबकि गाँधीवाद आत्मा (spirit) की प्रधानता मानता है, आध्यात्मिक चिन्तन करता है। सर्वोदय या गाँधीवाद हृदय-परिवर्तन पर विश्वास रखकर हिंसा का पूर्ण विसर्जन करता है। साम्यवाद में समय आने पर विरोधियों का उन्मूलन (liquidation or extirpation) बलपूर्वक किया जाता है। साम्यवादी धर्म ब्रह्मचर्य, अस्वाद आदि को धार्मिक पाखण्ड मानते हैं। केवल आर्थिक आधार ही सब कुछ है। उसके बदलने से समाज का ढाँचा अपने आप बदल जाता है, यह मार्क्सवाद या साम्यवाद की धारणा है। इस विचार को गाँधीवाद एकांगी मानता है क्योंकि रोटी से शरीर की भूख मिटती है, किन्तु आत्मा की भूख भी बलवती होती है जिसका साम्यवाद में कोई इलाज नहीं। साम्यवाद में सत्ता पर अधिकार करने पर ही परिवर्तन लाने की बात सोची जाती है किन्तु गाँधीवाद सत्ता से परे भी आत्मबल से परिवर्तन की बात सोचता है। साम्यवाद की सुरक्षा के लिए उसके मूल पितृ-देश रूस की रक्षा जरूरी है और उसके विस्तार-प्रचार के लिए रूस से प्रेरणा मिलनी चाहिए। गाँधीवाद ऐसी किसी धारणा का कायल नहीं है, वह सार्वदेशिक तथा सर्वकालीन है। साम्यवाद के प्रभाव क्षेत्र में घृणा या वर्ग विद्वेष का प्रचार जरूरी है किन्तु गाँधीवाद प्रेम-मार्ग का आश्रय लेता है। गाँधीवाद शुद्ध हृदय से लोक सेवा का भाव है जैसा श्री किशोरीलाल मश्रूवाला ने 'गांधी और साम्यवाद' नामक ग्रन्थ में बताया है। स्वतः गाँधी जी ने अपने आपको कट्टर या सच्चा कम्युनिस्ट होने का दावा किया था क्योंकि वे उस समाज की स्थापना का प्रयोग तत्काल ही अपने आप करते हैं जबकि कम्युनिष्ट भविष्य की ओर आँखें लगाये बैठे हैं। (हरिजन-सेवक ३१-३-४६) आज का साम्यवाद राष्ट्रीय पूंजीवाद का ही परिवर्धित संस्करण है जबकि गाँधीवाद पंचायत राज्य लाकर सच्चा साम्यवाद बनाना चाहता है। साम्यवाद में मुट्ठीभर लोगों का शासन है जबकि गाँधीवाद साक्षात् सर्वोदय है। इस अन्तर के साथ ही श्री जयप्रकाश नारायण की यह विवेचना भी उल्लेखनीय है 'समाजवाद और साम्यवाद दोनों विफलता की ओर जा रहे हैं। विजयी साम्यवाद राजकीय पूँजीवाद और ताना

शाही में परिणत हो गया है, जो साम्यवादी का प्रत्यक्ष निषेध है। पश्चिमी यूरोप में समाजवादी की प्राचीन आदर्शवादिता नष्ट हो चुकी है और यह केवल संसदीय या वैधानिक पन्थ हो गया है। इस प्रकार हिंसा के तथा संसदीय कार्य पद्धति के दोनों मार्ग अवरुद्ध हो चुके हैं। गांधीवाद एक तीसरी विचार-धारा है; अहिंसात्मक सर्वजनिक प्रेरणा द्वारा आमूल परिवर्तन या क्रान्ति।' इसके साथ ही यह भी स्वीकार करने में कोई संकोच न होना चाहिये कि गांधीवाद की स्थापनाएँ अभी भी अमूर्त हैं और गांधी जी की कल्पना का राम-राज्य अभी कहीं व्यावहारिक रूप में दिखाई नहीं देता।

समीक्षा तथा समन्वय :

महात्मा गान्धी ने अपने जीवन काल में यह घोषणा बार-बार की कि उनके नाम का कोई वाद न चलाया जावे। इसका मतलब यह था कि वाद हमेशा रूढ़ियों, अन्ध विश्वासों और कट्टरता की ओर खिचता जाता है जबकि गांधी जी के विचार इनसे दूर भागते हैं। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक प्रणाली मानने का अर्थ यह होता है कि समाज के भीतर स्वार्थों का संघर्ष (clash of interests) स्वीकार करना और वर्ग-संघर्ष की निरन्तर चेष्टा करना। व्यवहारिक जीवन में मार्क्सवाद अधिक गतिशील तथा कारगर दिखाई देता है। गांधीवाद में धीमी किन्तु निस्संदिग्ध परिवर्तन की गति है। वामपक्षी विचार धारा (leftist) के अन्तरगंत समाजवाद, साम्यवाद को तथा दक्षिण पंथी विचारधारा (rightist) के अन्तर्गत को देखने-परखने का यह दृष्टि-कोण नितान्त एकाङ्गी तथा भ्रामक है। विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से आलोचना-प्रत्यालोचना होनी चाहिये।

गांधीवाद के आलोचकों में अधिकांश वामपक्षी नेता या विचारक रहे हैं। (देखिये यशपाल की 'गांधीवाद की परीक्षा') किन्तु ये पूर्वाग्रह तथा दलबन्दी की भावना से आक्रान्त हैं। गांधीवाद को सनकियों का विचारदर्शन, कायरों की अहिंसा का पोषक, बालू पर बना हुआ विचार-महल, [illegible] तथा अव्यावहारिक आदि कहने का युग बीत गया क्योंकि स्वतः विरोधियों ने अपनी भ्रान्ति स्वीकार कर ली। भारतीय समाज की विशिष्ट परम्परा में गांधीवाद ही अब तक सफल हुआ है और उसका स्थाई प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है किन्तु उसकी कुछ कमजोरियों पर विचार करना आवश्यक है। सबसे बड़ा आक्षेप जो गांधीवाद पर लगाया जा सकता है, वह यह कि इसमें अभी बातों की निश्चित

पकाई गई है। आध्यात्मिकता और धार्मिकता का पुट देखकर इसे रहस्यवादी बना दिया गया है। समस्याओं के प्रत्यक्ष समाधान के बजाय उन्हें घुमा-फिर कर जटिल बनाया गया है। कुछ आलोचक यह कहते हैं कि सीधी नाक न पकड़कर सिर के पीछे घुमाकर (द्रविड़ प्राणायाम के द्वारा) नाक पकड़ने की बात है। किन्तु इस आलोचना में कुछ बल नहीं है क्योंकि गांधीवाद से अधिक संक्षिप्त, सर्वजनसुलभ और आसान प्रयोग है ही नहीं। नाक पकड़ने के लिये सरकार को बुलाने की अपेक्षा स्वतः पकड़ना अधिक आसान है। गांधीवाद के सम्बन्ध में यह बात अवश्य है कि उसका प्रत्यक्ष प्रयोग बड़े पैमाने पर हमें नहीं दिखाई देता और मनुष्य व्यवहार में हमेशा उदाहरण या दृष्टान्त ढूंढ़ा करता है किन्तु केवल इसीलिये यह प्रयोग त्याज्य नहीं हो सकता। आज उसका प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं है या कठिन है इसलिये प्रयास न करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। व्यवहारिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि वर्तमान भारतीय शासन तथा जनता की आशातीत सफलता (राष्ट्रीय विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र) में का एकमात्र श्रेय इस विचारधारा के अनुसार काम करने को ही है। गांधीवाद के साथ एक खतरा जबर्दस्त यह है कि व्यावहारिक जीवन में वह एक तरह का कट्टर तथा बहका हुआ विचार (craze or fad) न बन जाये। किन्तु यह डर तो प्रत्येक विचारधारा के साथ है वैज्ञानिक आधार छोड़कर रूढ़िवादी बनने से प्रत्येक विचार दर्शन पथ-भ्रष्ट होता है। गांधीवाद इसका अपवाद नहीं है। इतना अवश्य है कि गांधीवाद व्यक्ति के जिस उच्च मानसिक धरातल तथा नैतिक मेरुदंड की अपेक्षा करता है वह दुर्लभ या विरली वस्तु है। सत्याग्रहों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनका तरीका बड़ा पेचीदा है। सफलता की कोई गारन्टी उसमें नहीं है। गांधीवादी प्रणाली में समझौता और तुष्टीकरण (appeasement) की नीति उस हद तक चली जाती है जिससे हानि होने की संभावना है। मुस्लिम लीग और कांग्रेस के सम्बन्ध इसके ज्वलन्त उदाहरण है। शुद्ध सत्याग्रही तो लाखों में शायद एक ही या कुछ निकलें क्योंकि उसमें कठिन अग्नि परीक्षा है। गाँधीवाद के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उसमें ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के कारण पूंजीवाद को प्रच्छन्न समर्थन मिलता है। मालिक और मजदूर का झगड़ा चिरस्थाई है इसलिये उनमें समन्वय की बात करना शेर और बकरी का साथ-साथ रहना मालूम पड़ता है। किन्तु इस प्रकार की आलोचना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गलत है। गाँधीवाद के विकृत होने (vulgarise) की सम्भावना अधिक इसलिये मानी जाती है क्योंकि इसमें विभिन्न विरोधी तत्वों का एकीकरण या समूहीकरण होता है। गाँधीदर्शन

में जिस धर्मनीति का प्रतिपादन किया है वह धर्म निरपेक्षता (secularism) से कहाँ तक मेल खाती है यह भी विचारणीय प्रश्न है। हरिजनोद्धार का कार्य-क्रम तो ठीक है लेकिन अस्पृश्य या परिगणित जाति के नाम पर विशेष सुविधाएँ देने से वर्ग-विशेष कहाँ तक और क्यों समाप्त हो पायेगा यह भी संदेहजनक है। गांधीवादी अर्थशास्त्र के विषय में अक्सर यह कहा जाता है कि इसमें तो गरीबी या दरिद्रता ही बँटती है क्योंकि उत्पादन वृद्धि पर ध्यान नहीं दिया जाता (इस आलोचना के समर्थकों का मत है कि बिना औद्योगीकरण के उत्पादन वृद्धि सम्भव नहीं)।

मशीनों की उपेक्षा आज के युग में नहीं की जा सकती। विद्युत्-शक्ति और प्राकृतिक साधनों (natural resources) का पूरा-पूरा लाभ उठाना ही चाहिये जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है और व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊपर उठता है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में 'नियन्त्रित उपभोग के लिये योजनाबद्ध उत्पादन' (planned production for controlled consumption) का नियम लागू है। गांधीजी आवश्यकताओं के नियंत्रण की बात कहते हैं। गांधीवादी योजना में पाश्चात्य योजनाओं की अपेक्षा कम खतरा और अधिक लाभ है। गांधीवादी योजना अल्पकालीन (चतुर्वर्षीय या पंचवर्षीय) या त्वरित फलदायिनी नहीं है। इसमें पूरे समाज की आर्थिक नवरचना का प्रोग्राम है (देखिये: स्वतन्त्र भारत की गांधीवादी योजना: लेखक श्रीमन्नारायण अग्रवाल)। अन्त में एक प्रश्न और विचारणीय है और वह यह कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम में क्या केवल गांधीवाद सफल हुआ है अथवा कहाँ तक वह सफल हुआ है? इस प्रश्न के उत्तर में गांधीजी के अनुदाय की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत की स्वाधीनता में एक से अधिक तत्वों या कारणों का समावेश है। भारतीय आन्दोलन, आतंकवाद, जनजागृत, सत्याग्रह, किसान, मजदूर, विद्यार्थियों के संगठन, आजाद हिन्द सेना (जिसके संस्थापक श्रीसुभाषचन्द्र बोस कार्यक्रम के आधार पर गांधीजी से मतभेद रखने लगे थे), नाविक विद्रोह, ब्रिटिश नीति में परिवर्तन, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति आदि कई कारण हैं जिनका प्रभाव सम्मिलित रूप में (cumulative effect) पड़ा। यह अवश्य है कि इन सबमें प्रभावशाली प्रधान कारण गांधीवादी विचारधारा और उसके प्रयोग थे। सारांश में, हम यह निस्संदेह कह सकते हैं कि गांधीवाद ही एक मात्र वह स्थायी चिन्तनधारा है जिसने भारतीय जीवन को गौरवान्वित किया है, उसे सृजनशील बनाया है, भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल है। इस

में; निम्नलिखित मत उल्लेखनीय है—'मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गांधीवाद अधिक क्रान्तिकारी है। राजनीतिक दृष्टि से अधिक सम्भव, सरल, व्यापक एवं व्यावहारिक है। नैतिक दृष्टि से मानव-सौहार्द्र का जनक एवं प्रेरक होने के कारण श्रेष्ठ है। सामाजिक दृष्टि से वह एक सुसंस्कृत अराजकतावाद है। वह साम्यवाद का एक ऐसा विस्तृत, निर्दोष रूप है जिसमें व्यक्ति की पवित्रता एवं राष्ट्र अथवा समाज का हित दोनों सुरक्षित हैं और जो समाजवाद की तरह सर्वसाधारण को पूँजीवादी क्रूरता से तो बचाता है, उनकी आध्यात्मिक एवं नैतिक प्यास को भी शान्त करता है।' (श्रीरामनाथ 'सुमन'—गांधीवाद की रूप रेखा—'पृष्ठ ११६) इस व्क्तव्य में यह भी जोड़ा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह नये सामाजिक मूल्य, संगठन, नियमन का प्रारूप है जिसमें वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन, अहिंसक समाज की संस्थाओं को प्रधानता दी गई है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता तथा सामाजिक उपयोगिता के लिये सर्वसुलभ उत्पादन-प्रक्रिया है; आर्थिक समानता का समर्थक है। समाज तथा राज्य में इसका प्रयोग होना चाहिये। भाविष्य को अभी इस पर और भी कुछ कहना है।

———

परिशिष्ट नं० १

हाब्स, लॉक, रूसो का तुलनात्मक अध्ययन

(१) समानता

१—तीनों विचारक धर्मनिरपेक्षता (Secularism) पर जोर देते हैं और दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का खंडन करते हैं।

२—सामाजिक अनुबन्ध के अस्तित्व पर तीनों अपनी आस्था रखते हैं।

३—ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करते हुए सबने बौद्धिक अनुमानात्मक प्रणाली अपनायी है।

४—तीनों पूर्वाग्रह तथा निश्चित मतवाद के शिकार हैं इसलिये उनकी रचनाओं में उत्तेजना-उग्रता अधिक है, तटस्थ दृष्टिकोण कम है (Materials are blurred by prejudices)।

५—सामाजिक संस्थानों तथा क्रिया-कलापों, प्रथा-परम्पराओं की उपेक्षा करके तीनों केवल ऊपरी सतह पर छानबीन करते हैं, गहराई से समाज के अन्तराल में प्रवेश नहीं कर पाते।

६—तीनों ने अपने युग में उठनेवाले भयङ्कर तूफानों का मुकाबला किया है।

७—शैलीगत विशेषता के कारण तीनों उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक हैं। हाब्स की प्रशान्त तार्किक योग्यता, लॉक की अर्थव्यंग्यात्मक सहजबुद्धि, रूसो की भावुक, जोशीली प्रेरणा मौलिक तथा प्रशंसनीय है।

८—व्यक्ति की खोई हुई गरिमा पुनर्स्थापित करने में तीनों ने उल्लेखनीय कार्य किया है। हाब्स की व्यक्तिवादिता स्पष्ट है, लॉक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं होने देता, रूसो व्यक्ति को सतर्क, जागरूक तथा निष्ठावान् बनाता है।

९—राजदर्शन की दृष्टि से तीनों ने राजनीतिक विचारों के इतिहास में विकास तथा प्रगति का कार्य किया है। इनके बिना राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन अधूरा रह जाता है, भले ही इन विचारों की पुष्टि न हो पाई हो।

१०—अनुबन्धवाद का विवेचन करते समय तीनों ने एक निश्चित वर्गीकरण का आधार लिया है और उसके अन्तर्गत अपने विचार व्यक्त किये हैं, जैसा आगे दर्शाया गया है :—

(२) विभिन्नता

टॉमस हाब्स (१५८८-१६७६ ई०)
स्टुअर्ट निरंकुशता का समर्थक

(Supporter of the Stuart Despotism)

(१) प्रमुख ग्रन्थ :—

(i) डी कारपोरे पोलिटिको

(ii) डी सिवे

(iii) एलीमेन्ट्स ऑफ लॉ !

(iv) वाले यथन

(v) गृहयुद्ध पर संवाद !

जान लॉक (१६३२-१७०४ ई०)

यशस्वी क्रान्ति का समर्थक तथा रक्षक

(Defender of the Glorious Revolution of 1688)

(i) सामान्य शासन पर दो प्रवन्ध (Two Treatises on Government)

(ii) सहिष्णुता पर विचार (Letters on Toleration)

(iii) मनुष्य की परख (Essay Concerning Human Understanding)

जीनजेक्स रूसो (१७१२-१७७८ ई०)

फ्रांस की सन् १७८६ की जनक्रान्ति का अग्रदूत

(Precursor of the French Revolution)

(i) कला और विज्ञान पर प्रवन्ध (१७४७ ई०)

(ii) विपमता की उत्पत्ति पर निबंध (१७५३ ई०)

(iii) राजनीतिक अर्थशास्त्र पर प्रबंध (१७५८ ई०)

(iv) जूली या न्यू हेलॉय (१७६१ ई०)

(v) सामाजिक अनुबन्ध (१७६२ ई०)

(vi) एमिल या शिक्षा-सम्बन्धी ग्रंथ (१७६२ ई०)

(vii) आत्मनिवेदन (Confessions (१७६५-१७७० ई०)

(viii) एकान्त यात्री के उल्लास (Reveries of Solitary walker) (१७७८ ई०)

(२) प्राकृतिक अवस्था :—

अहंवादी, भयकातर, स्वार्थी मानव जो सत्ता, सम्मान के लिये प्रयत्नशील है लेकिन एक दूसरे के लिये वह भेड़िये की तरह है, सर्वग्रासी युद्ध में रत है। (homo homini lupus-man is wolf to man)। उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का कोई विचार नहीं है। समानता का गुण तो है लेकिन निरन्तर युद्ध और प्रतिस्पर्धा का चक्र चल रहा है। जीवन एकाकी, क्षणिक अवसादमय, पाशविक तथा अभावग्रस्त है। भय और धोखा (fear and fraud) मनुष्य का स्वभाव बन जाते हैं। इसे सर्वनाशीय युद्ध कहते हैं (Bellum ominum contra omines)। मनुष्य में तीन मूल प्रवृत्तियाँ हैं आत्मरक्षा, समता और भय।

प्राकृतिक दशा विश्वास, सहयोग, आत्मरक्षा तथा विकास की सम्भावनाओं से युक्त है। समाज में पूर्ण शान्ति है, युद्ध की बात कदापि स्वीकार्य नहीं। विश्वास और सद्भावना के कारण प्राकृतिक दशा उत्तम है लेकिन उस दशा में शीघ्र ही परिवर्तन होता जाता है। यह अवस्था राज्यहीन थी लेकिन कठिनाइयों से युक्त नहीं थी। सामाजिकता मनुष्य का स्वभाविक गुण है। विकास के साथ सभ्यता के भौतिक उपकरणों का उदय हुआ और सभ्य समाज (civil society) की नींव पड़ी। इस समाज का प्रत्येक मनुष्य सुखवादी या सुख का अन्वेषण करनेवाला था। मनुष्य के लिये सर्वाधिक प्रिय वस्तुएँ थीं—जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति। इन्हीं की रक्षा के लिये मनुष्य चाहिये था।

आदिम अवस्था पूर्ण सुखमय तथा आनन्ददायी है। भावनाओं से संचालित विवेक के जाल से दूर है। मनुष्य समानता और स्वावलम्बन का भक्त है। पूर्ण संतोष उसके जीवन में झलक रहा है। वनचारी मानव निर्द्वन्द्व, निर्बाध, निश्छल है। सम्पत्ति और एकाधिकार की भावना विभेद पैदा करती है और विषमता के बीज बोती है। जब तक मनुष्य संवेगों से संचालित रहा वह पूर्ण स्वतन्त्र था। जब तर्क का चक्र चला वह विषादमय बन गया। पर उसकी बुद्धि ने उसे प्रत्येक दशा में नये मार्ग सन्धान की ओर लगाया। चिर यामिक मानव सुख की खोज में यहाँ-वहाँ भटका पर उसे सर्वत्र प्रतिरोधों और जंजीरों का सामना करना पड़ा। उसने आदर्श की ओर लक्ष्य किया पर यथार्थ की कटुता पीने के लिये उसे बाध्य किया गया। अंत

में उसने जञ्जीरों को तोड़ने का फैसला किया और आजादी की ओर वह चल पड़ा।

(३) प्राकृतिक विधि :—

नागरिक विधियाँ नहीं हैं। प्राकृतिक विधि जीने के अधिकार की रक्षा के लिये है। सुविधा तथा सद्बुद्धि पर आधारित प्राकृतिक विधि मनुष्य के कार्यों का संचालन करती है। यह स्थिति जङ्गल के कानून की तरह भयावह होती हुई भी अस्तित्व-रक्षा पर ज्यादा जोर देती है।

केवल नैतिक विधि का प्रचलन है जो जीवन का पूर्ण रूप से नियंत्रण करती है। प्राकृतिक विधि भी नैतिकता पर आधारित है और जीवन के कटुतम प्रसङ्गों या संघर्षों को कम करती है। यथार्थ विधियाँ प्राकृतिक विधियों का विकसित रूप हैं।

भावों तथा संवेगों का आधिक्य है। विधि का स्रोत भावना है। सामाजिकता भी इस पर ही आधारित है। विधि का पालन उसी हद तक ठीक है जहाँ मनुष्य परितोष-परितृप्ति की कामना करता है। निषेध, वर्जना, कुण्ठा और न्याय की बातें निराधारा हैं। अभावग्रस्त जीवन में कुछ पाना ही सबसे महत्वपूर्ण है। विधि का जञ्जाल काट देना ही मुक्ति है।

(४) प्राकृतिक अधिकार —

अधिकार केवल शक्ति (might) पर निर्भर हैं। सुरक्षा के नाम पर सरकार या राज्य के सामने इनका विना शर्त समर्पण (unconditional surrender) हो जाता है। प्राकृतिक अधि-

अधिकार मनुष्य-प्रकृति में अंतर्निहित हैं। जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार व्यक्तित्व से पृथक् नहीं हैं। अधिकारों का समर्पण शर्तसहित होता है। समर्पण करने में यह 'गैरेन्टी' रहती

अधिकारों का निर्बाध, स्वतन्त्र उपभोग जीवन के लिये आकस्मिक किन्तु अविभाज्य (incidental and inalienable) है। अधिकारों को विना शर्त समर्पित नहीं किया जाता।

कार और विधि में उतना अन्तर है जितना स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व के बीच है।	है कि उनकी रक्षा अधिक अच्छे ढंग से होगी।	जनप्रिय संप्रभुता कभी भी नहीं छोड़ी जाती। सामान्य इच्छा के कारण समान रूप से अधिकारहीनता पैदा हो जाती है।
(५) सामाजिक अनुबन्ध :— एक ही समझौते के द्वारा संप्रभु की सृष्टि हुई। संप्रभु अनुबंध की शर्तों से बंधा नहीं है। सभी व्यक्ति सामान्यतः अपने सब अधिकार संप्रभु को सौंप देते हैं (केवल जीने के अधिकार कुछ स्थितियों में सुरक्षित रखते हैं)। सामान्य शासन और संप्रभुता की स्थिति सर्वोच्च रहती है। अनुबन्ध के पीछे कोरे शब्दों की नहीं, तलवार की शक्ति (bonds of swords, not words) होनी चाहिये।	समाज में पहले यह समझौता होता है कि प्राकृतिक विधि का संचालन तथा स्पष्टीकरण समय-समय पर सामान्य प्रथा (common agency) द्वारा होता रहे। फिर प्रशासकीय अनुबन्ध होता है जिससे सीमित संप्रभुता की सृष्टि होती है। यह संप्रभुता वैधानिक तथा सीमित-सापेक्ष होती है। अनुबन्ध एक ही है जिसमें समाज (व्यक्ति सहित) और सरकार ये दो पक्ष हैं। सामाजिकता के कारण विवेक के बल पर अनुबन्ध सम्भव हो सका।	व्यक्तियों में समझौता अलग-अलग तथा समष्टिगत रूप में (corporate capacity) होता है। अलग-अलग प्रत्येक व्यक्ति (क, ख, ग, घ पृथक्-पृथक्) ऐसा अनुबन्ध स्वीकार करता है जिससे सारे अधिकार एक नई सम्मिलित शक्ति क+ख+ग+घ (जिसके बनाने में प्रत्येक का अनुदाय महत्वपूर्ण है) को दिये जाते हैं जिससे अधिकारों के निष्कंटक उपभोग के लिये सब आश्वस्त रहें।
(६) संप्रभुता — सीमाहीन, अविभाज्य, निरपेक्ष, निरंकुश, सर्वाधिकारसम्पन्न, सर्वशक्तिसम्पन्न	सीमित, मर्यादित, वैधानिक संप्रभुता जो प्रजा के हितों की पूर्तिमात्र करती	सामान्य जन-इच्छा पर आधारित लोकप्रिय संप्रभुता जो यथार्थ, विधिमूलक

संप्रभुता जो सभी विधियों की निर्मातृ-शक्ति है। विधि, न्याय, धर्म, राज्य, सम्पत्ति सब संप्रभुता के अधीन हैं।	है। मनुष्य के अविभाज्य अधिकारों (जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अधिकार) की रक्षा करने के निमित्त इस वैधानिक संप्रभुता को स्वीकृति दी गई है।	तथा स्थायी है। संप्रभुता पूरे समाज में निहित है (समष्टिगत रूप में)। एकता अपृथकत्व, स्थायित्व, निरपेक्षता, अप्रतिनिधित्व आदि विशेषताएँ इस संप्रभुता की हैं। राज्य संप्रभु है और शासन आधीनस्थ है। शासन बदला जा सकता है पर राज्य की संप्रभुता अनश्वर है।
(७) स्वतन्त्रता —		
स्वतंत्रता का असली रूप उच्छृङ्खलता है। स्वतन्त्रता राज्य की ओर से दिया हुआ उपहार है जो कभी भी छीना जा सकता है। राज्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता की माँग असम्भव है।	स्वतन्त्रता की रक्षा व्यक्तित्व का विशेष गुण है। राज्य उसकी रक्षा के लिये कटिबद्ध है क्योंकि वह बनाया ही इसलिये गया है। जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता की रक्षा हर हालत में होनी चाहिये और इनका विसर्जन कदापि नहीं किया जा सकता।	स्वतन्त्रता व्यक्ति का प्रकृति सिद्ध गुण है लेकिन उसका सामञ्जस्य राज्य की संप्रभुता से होना चाहिये। क्योंकि संप्रभुता भी प्रकृतिजन्य लोकप्रियता तथा सौर्वभौम जन-इच्छा पर आधारित है। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत रूप में नहीं, लेकिन समष्टिगत में स्पृहणीय है।
(८) राज्य और सरकार —		
वास्तविक (de facto) तथा वैधानिक (de jure) में कोई भेद	राज्य, सरकार और समाज में व्यापक विभेद किया गया है। सीमित तथा वैधा-	राज्य संप्रभु तथा सर्वोच्च है, सरकार गौण है। सरकार का संगठन और स्वरूप

नहीं। सरकार ही वास्तविक सत्ता है, निरपेक्ष तथा निरंकुश है। राज्य और सरकार में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है क्योंकि जो वास्तव में है, वही कानून तथा उचित है।	निक सरकार का सिद्धान्त मान्य है। शान्तिपूर्ण वैधानिक उपायों का अवलंबन किया जाना चाहिये। क्रान्ति यदि होती है तो रक्तहीन आदर्श क्रान्ति की तरह (१६८८ ई०) हो। राज्य-शासन जनता की धरोहर या न्यास (Trust) है।	जनता की सामान्य इच्छा पर अवलम्बित है। क्रान्तिकारी प्रयोग परिवर्तन के लिये विहित है।

(९) व्यक्ति और राज्य —

व्यक्ति के अधिकार, कानून, सुरक्षा, न्याय, शान्ति आदि राज्य के अधर में हैं। आदेश पालन तथा कर देना अनिवार्य है। भाषण, प्रकाशन, सङ्गठन अंतरात्मा आदि की स्वाधीनता राज्य की कृपा पर निर्भर है। विशेष परिस्थितियों में जीवन रक्षा के लिये व्यक्ति संप्रभु का विरोध कर सकता है, उसके द्वारा होने वाले जीवन पर आक्रमण का प्रतीकार कर सकता है। आत्म-हत्या का आदेश व्यक्ति नहीं मान सकता और अनिवार्य सैन्यदल में भरती होने से इन्कार कर सकता है।	राज्य को पहले व्यक्ति की सुख-सुविधा-सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि व्यक्ति प्रमुख है, व्यक्ति के अधिकार पुनीत, मौलिक तथा अविभाज्य हैं। जीवन, आजादी और सम्पत्ति की रक्षा प्रत्येक स्थिति में राज्य का कर्तव्य है। इस कर्तव्य में उदासीन राज्य के विरुद्ध विद्रोह का व्यक्ति को अधिकार है क्योंकि व्यक्ति और उसके द्वारा निर्मित समाज संप्रभु है, न कि राज्य। राज्य की शक्ति नहीं बल्कि सीमा बतलाना राजनीति का प्रमुख कार्य है। विद्रोह हमेशा शान्तिपूर्ण	राज्य की समष्टिगत परिधि के बाहर व्यक्ति का अस्तित्व शून्यवत् है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज नहीं रह जाती, तब कुछ नागरिक स्वतन्त्रता है जो अनुशासन तथा आत्म-मर्यादा पर स्थित है। सामान्य इच्छा का पालन करना आवश्यक है। स्वतंत्रता, समता तथा भ्रातृत्व के आदर्श सामान्य इच्छा के ज्वलन्त प्रतीक हैं। व्यक्ति और समाज की सभी चेष्टाएँ सामान्य इच्छा में निरोहित हो जाती हैं। व्यक्ति का श्रेष्ठतम अंश सामान्य इच्छा में ही प्रस्फुटित होता है

पदच्युत, निर्बल तथा निराधार शासक या संप्रभु के लिए व्यक्ति कोई श्रद्धा-भक्ति नहीं बतलाता।	और वैधानिक होना चाहिये अन्यथा सभ्य समाज की मर्यादा टूटने का भय है।	अतः उसको ही महत्व देना चाहिये।
(१०) उद्देश्य – आनुवंशिक राजतन्त्र का समर्थन करना और निरंकुश राज्य-सत्ता को मजबूत बनाना। व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, भौतिकवाद तथा एकात्मक संप्रभुता का समन्वय करना। नागरिकों में राजकीय आज्ञापालन की प्रवृत्ति बढ़ाना और नवीन वर्गों के उभरते हुए विचारों को परम्परा के नाम पर स्थगित करना। एक तरह से उग्र प्रतिक्रियावाद ध्वनित होता है।	वैधानिक परिवर्तनों तथा शासन-परिवर्तनों को न्याय-संगत तथा उचित बनाना और शासन की संकुचित सीमा-रेखा खींचना। उत्तरदायित्वपूर्ण शासन, कार्य विभाजन या शक्ति विभाजन, विधि-मूलक व्यवस्था, व्यक्तिवाद और प्रजातंत्र का समन्वय करके वैधानिक शासन (constitutional govt.) की स्थापना करना।	क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करके मनुष्य को सच्ची स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित करना या मनुष्य को स्वतंत्र होने के लिए बाध्य करना (paradox of being forced to be free)। आदर्शवाद, क्रांति, प्रजातन्त्र, सामूहिक इच्छा, जनप्रिय संप्रभुता, सावयव राज्य का समन्वय करके अधिक आकर्षक सामाजिक स्थिति उत्पन्न करना जिसमें स्वतन्त्रता, समता, बन्धुत्व (Liberty, Equality, Fraternity) की पूर्ण रक्षा हो।

परिशिष्ट नं० २

समाजवादी विचारधारा के विविध रूप और उनके प्रवक्ता

(अ) काल्पनिक विचारक (Utopians)

१—सेन्ट साइमन (१७६०–१८२५)
२—चार्ल्स फोरियर (१७७२–१८३७)
३—रावर्ट ग्रोवन (१७७१–१८५८)
४—प्रूधां (१८०६–१८६५)
५—लुई ब्लांक (१८१३–१८८२)
६—जीनद सिसमांडी (१७७३–१८४२) आदि।

(आ) वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism)

१—कार्ल मार्क्स (१८१८–१८८३)
२—फ्रे० एंजेल्स (१८२०–१८९५)

मार्क्सवाद के अधिकृत व्याख्याता—जर्मनी में फ्रेंज मेहरिंग, विलियम लीवनेक्त, रुडोल्फ हिलफार्डिङ्ग, रोजा लुक्जेमबर्ग, फ्रांस में जूल्स गीदे, रूस में जार्ज प्लेखानेव, इङ्गलैण्ड में हिण्डमेन, अमेरिका में डेनियल डि लियन आदि।

कट्टर, सनातनी समाजवादियों में विक्टर एडलर (आस्ट्रिया), ऑगस्ट बेवाल (जर्मनी), केर हार्डी (इङ्गलैण्ड) आदि हैं। भारत में एक ऐसा पन्थ रहा है जिसे वर्णाश्रमी समाजवादी कहा जा सकता है।

(इ) जर्मनी का सामाजिक जनतन्त्र (German Social Democracy)

१—फर्डिनेण्ड लासाल (१८२५–१८६४)
२—लीवनेक्त (१८२६–१९००)
३—आगस्ट बॉवल (१८४०–१९१३)
४—एडवर्ड बर्नस्टीन (१८५०–१९३२)
५—कार्ल काटस्की (१८५४–१९३८)
६—रोजा लुक्जेमबर्ग (१८७१–१९१९)
७—वॉन वालमर, क्लारा जेटकिन आदि।

(इ) फेबियनवादी (Fabianism)

१—जार्ज बर्नार्ड शॉ (१८५६—१९५०)

२—सिडने वेब तथा बीट्रिस वेब (१८५९–१९४७ व १८५८–१९४३)

फेबियन निबन्धकार—वेब, क्लार्क, जी० बी० शा, ओलीवियर, वेलेस, ब्लांड, एनीबेसेन्ट आदि ।

(उ) संशोधनवादी (Revisionists)

एडवर्ड बर्नस्टीन, तुगन बेरेनास्की, जीन जुवारेज, वर्नर साम्बर्ट, मसारिक, पाल बर्थ, फ्रेंज ओपन हीमर आदि ।

बचावपक्षीय (Marxist Champions) कार्ल काटस्की, हेनरी हिंडमेन, लुई बोडिन , रूबीनो आदि ।

(ऊ) श्रमिक श्रेणीवादी (सिंडिकलिस्ट Syndicalist)

फ्रांस के जार्ज सोरेल (George Sorel) (१८४७–१९२२ ई०)
फ्रांस के फर्नेण्ड पेलोटियर (१८६७–१९०१)

ह्यूबर्ट लागरडेल, एडवर्ड बर्थ, हर्वे, एमिल पूज, ग्रिफूल्स, जार्ज यीटा, लुई नील आदि । (फ्रांस में गीदे, ब्रूसो, ब्लांकी, के अनुययी–Guesdists, Broussites, Blanquists हैं ।)

(ए) श्रेणी समाजवादी (Guild Socialism)

ए० जे० पेण्टी, ए० आर० ओरेज, एस० जी० हाब्सन, आर० एच० टानी, जी० डी० एच० कोल आदि ।

(ऐ) अधुनिक साम्यवादी (Modern Communism)

लेनिन, ट्राटस्की, स्टालिन, मेलान्कोब, बुलगानिन, क्रुश्चेव, माओत्सेतुङ्ग, हो ची मिन आदि । (इनमें ट्राटस्की ने स्थायी अनिवार्य क्रान्ति Permanent revolution) की बात पर स्टालिन से विद्रोह किया और सन् १९४० में मेक्सिको में मारा गया ।)

(ओ) अराजकतावादी (Anarchist)

१—विलियम गाडविन, थामस हाजस्किन, प्रूधां आदि ।

२—बाकुनिन, प्रिंस, कोपाटकिन, मेक्स स्टर्नर (जान केस्पर स्मिट)—स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी से क्रमशः ।

महत्वपूर्ण-प्रश्न

१—प्लेटो

१. 'प्लेटो देश और काल की सीमा से ऊपर सार्वभौम विचारक है।' इसका अर्थ समझाइये।

२. 'प्लेटो का दर्शन दास-सभ्यता की उपज है।' इस पर अपनी राय लिखिये।

३. प्लेटो के आदर्शवाद का विश्लेषण कीजिये। उसकी पद्धति पर भी प्रकाश डालिये।

४. आदर्श-राज्य की कल्पना प्लेटो के अनुसार कैसी थी? आदर्श-राज्य की समाज व्यवस्था समझाइये।

५. व्यक्ति और समाज पर प्लेटो के विचार लिखिये।

६. धर्म या न्याय (Justice) प्लेटो के सिद्धान्तों का सार है। इसकी व्यापक व्याख्या कीजिये।

७. प्लेटो के शिक्षा-संबन्धी विचारों का परिचय दीजिये।

८. विधि और शासन पर प्लेटो की विचारधारा क्या थी?

९. प्लेटो का साम्यवाद क्या है? इसका परिचय देकर आधुनिक साम्यवाद से उसकी तुलना कीजिये।

१०. सम्पत्ति और परिवार पर प्लेटो के विचार बताइये।

११. 'प्लेटो का प्रभाव सारे राजनीति विज्ञान पर है।' इसके उदाहरण दीजिये।

१२. प्लेटो और अरस्तू के विचारों का अन्तर बताइये।

१३. 'प्लेटो की काल्पनिकता आधारहीन और असम्भव है।' इसकी समीक्षा कीजिये।

१४. समाजरचना की दृष्टि से प्लेटो की योजना क्या है?

१५. प्लेटो का आदर्शवाद आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा से किस प्रकार भिन्न है?

२—एरिस्टाटल

१. अरस्तू की प्रतिभा और मौलिकता पर विचार कीजिये ।
२. वैज्ञानिक चिन्तन के क्षेत्र में अरस्तू का अनुदान क्या है ? उसकी चिन्तन-प्रक्रिया समझाइये ।
३. व्यक्ति, समाज और राज्य का राजनीतिक विश्लेषण अरस्तू ने किस प्रकार किया ?
४. राज्य की प्रकृति और उसके वर्गीकरण पर अरस्तू के विचार लिखिये ।
५. 'अरस्तू आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ से विमुख नहीं है ।' इसका स्पष्टीकरण कीजिये ।
६. 'भौतिकवादी चिन्तनधारा में अरस्तू का स्थान सबसे ऊँचा है ।' इस कथन की समीक्षा कीजिये ।
७. अरस्तू यूनानी प्रतिभा का प्रतीक होकर भी उसकी कमजोरियों का पुतला है ।—इसकी परीक्षा कीजिये ।
८. सम्पत्ति और परिवार पर अरस्तू के विचार क्या थे ? प्लेटो से वह कहाँ तक इस दिशा में भिन्न है ?
९. शिक्षा-सिद्धान्त की दृष्टि से प्लेटो और अरिस्टाटल की तुलना कीजिये ।
१०. युद्ध और शान्ति पर अरस्तू के विचार समझाइये ।
११. क्रान्ति के कारणों की खोज में अरस्तू सफल हुआ है ।—उदाहरण सहित लिखिये ।
१२. विधि और समाजिक विषमता पर अरस्तू क्या सोचता है ?
१३. अरस्तू का आदर्श राज्य क्या है ? प्लेटो के आदर्श राज्य से यह किस भाँति भिन्न है ?
१४. दास प्रथा पर अरस्तू के विचारों की आलोचना लिखिये ।
१५. 'प्लेटो नभचारी है, अरस्तू ठोस धरती पर है ।' इसकी समीक्षा कीजिये ।

३—सिसरो

१. सिसरो के राजनीतिक दर्शन सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।
२. रोम की राजनीतिक दशा सिसरो के काल में कैसी थी ?

३. विरक्तिवाद का आशय समझाते हुए इस क्षेत्र में सिसरो का स्थान निर्धारित कीजिये।

४. 'सिसरो एक महान् व्यक्ति था जो अपनी स्वार्थलीन अहंवादिता के कारण निष्प्रभ हो गया। इस कथन का विशदीकरण कीजिये।

५. मानव स्वभाव तथा समाज के सम्बन्ध में सिसरो के मत क्या थे ?

६. विधि-सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण सिसरो ने किस प्रकार किया है ?

७. राज्य और शासन पर सिसरो क्या सोचता है ?

८. रोम की राजनीतिक विरासत और सिसरो के अनुदान पर अपने विचार लिखिये।

९. सिसरो के मानवतावादी दर्शन का परिचय दीजिये।

१०. 'व्यक्तिवादी परिधान में सिसरो सार्वभौमता का अन्वेषण करता है।' समझाइये।

११. सिसरो और अरिस्टाटल के विचारों की तुलना कीजिये।

१२. सिसरो पर प्लेटो और अरिस्टाटल का कितना प्रभाव था ?

१३. 'अपनी बात समझाने के लिये सिसरो बुद्धि को उद्बुद्ध या तरंगित करने के बजाय आतंकित करता है।' स्पष्ट कीजिये।

१४. सिसरो के विचारों की समीक्षा कीजिये।

१५. रोम और यूनान की राजनीतिक अवस्था का परिचय देते हुए उनका अन्तर बताइये।

४—मेकियावेली

१. 'मेकियावेली राजनीति में आधुनिकता का प्रवर्तक है।' इस कथन की समालोचना कीजिये।

२. 'मेकियावेली का नाम राजनीतिक धूर्तता, अवसरवादिता और निर्मम स्वार्थ-साधना का पर्याय है।'—क्या आप इस वक्तव्य से सहमत हैं ? तो क्यों ? और असहमत हैं तो कारण लिखिये।

३. मेकियावेली के सिद्धान्त समझाते हुए जनका मूल्यांकन कीजिये।

४. मेकियावेली के रचनाओं पर प्रकाश डालिये अथवा उसकी अध्ययन-पद्धति की समीक्षा कीजिये।

५. मानव-स्वभाव पर मेकियावेली का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिये ।

६. नैतिकता और धर्म के सम्बन्ध में मेकियावेली की धारणा क्या थी ? अथवा 'वह अनैतिक नहीं नैतिकता-विरोधी था, अधार्मिक नहीं, धर्म-निरपेक्ष था' व्याख्या कीजिये ।

७. राज्य की उत्पत्ति और परिवृद्धि पर मेकियावेलो की विचारधारा क्या है ?

८. 'सर्वशक्तिमान् विधिनिर्माता' के गुण क्या हैं ? प्लेटो के 'दार्शनिक शासक' से इसका भेद स्पष्ट कीजिये ।

९. सम्प्रभुता और विधि पर मेकियावेली के विचार लिखिये ।

१०. 'मेकियावेली युद्धलिप्सा, साम्राज्यवाद और शोषण का समर्थक है' इसकी समीक्षा कीजिये ।

११. 'जो वस्तु नैतिक दृष्टि से अनुचित है वह राजनीतिक दृष्टि से उचित नहीं हो सकती' इस कथन के आधार पर मेकियावेली की समालोचना कीजिये ।

१२. 'मेकियावेली, निरंकुश निरपेक्ष सत्ता का आदर्शवादी समाराधक है' इसकी व्याख्या कीजिये ।

१३. मेकियावेली का महत्व बतलाते हुए उसका प्रभाव स्पष्ट कीजिये ।

१४. मेकियावेली की कल्पना का शासक क्या है ? और क्या करना चाहता है ?

१५. 'प्रिंस' और 'रिपब्लिक' की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये अथवा 'प्रिंस' और 'पालिटिक्स' का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

५—हाब्स

१. हाब्स के अनुबन्धवादी विचारों की व्याख्या कीजिये ।

२. हाब्स और लॉक के सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों का अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

३. हाब्स की अध्ययन-पद्धति का स्पष्टीकरण करते हुए उसके वैज्ञानिक पक्ष पर विचार कीजिये ।

४. हाब्स के जीवन पर पड़नेवाले प्रभावों का परिचय दीजिये ।

५. वैज्ञानिक भौतिकवाद के प्रवक्ता के रूप में हाब्स के विचारों की समीक्षा कीजिये ।

'मानव-प्रकृति और प्रकृतिक स्थिति की विभीषिका प्रकट करने में हाब्स सफल हुआ है' समालोचना कीजिये ।

७. प्राकृतिक अधिकार और विधि का विश्लेषण हाब्स ने किस तरह किया है ?

८. हाब्स और रूसो के विचारों का अन्तर समझाइये ।

९. हाब्स, लॉक, रूसो के विचारों की समानता और उनका अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

१०. संप्रभुता की व्याख्या और संप्रभु के गुण, हाब्स के अनुसार क्या हैं ? इस दिशा में वह रूसो से कहाँ तक भिन्न है ?

११. व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर हाब्स के विचारों का मूल्यांकन कीजिये ।

१२. सर्वश्रेष्ठ शासन पर हाब्स के विचार क्या हैं ?

१३. राज्य और धार्मिक संघों पर हाब्स के विचारो का स्पष्टीकरण कीजिये ।

१४. हाब्स के व्यक्तिवाद और भौतिकवाद का विश्लेषण कीजिये ।

१५. 'हाब्सवाद नास्तिकता, भौतिकता, निरंकुशता और व्यक्तिवाद का पर्याय है' व्याख्या कीजिये । अथवा

हाब्स के राजनीतिक अनुदाय की समीक्षा कीजिये ।

६—लॉक

१. लॉक की विचारधारा का महत्व समझाते हुए उसकी विशेषताएँ बताइये ।

२. लॉक के युग की राजनीतिक परिस्थितियों का सर्वेक्षण कीजिये ।

३. लॉक के अनुबन्धवाद पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।

४. मर्यादित राजतन्त्र की सीमा रेखा स्पष्ट कीजिये ।

५. राज्य, प्रकृति और शासन के सम्बन्ध में लॉक और हाब्स के विचारों का अन्तर बताइये ।

६. प्रन्यास-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए राज्य की उत्पत्ति पर लॉक के विचार समझाइये ।

७. लॉक का व्यक्तिवाद क्या है ? हाब्स के व्यक्तिवाद से वह किस प्रकार भिन्न है ?

८. सहिष्णुता और स्वातन्त्र्य पर लॉक के विचारों की समीक्षा कीजिये।

९. लॉक के राजनीतिक सिद्धान्तों की समीक्षा कीजिये।

१०. 'लॉक के सिद्धान्तों में व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, प्रजातन्त्र के बीज हैं' व्याख्या कीजिये।

११. अमरीकी क्रान्ति और लॉक के सिद्धान्तों का साम्य स्पष्ट कीजिये।

१२. 'लॉक धनिकों के कुलीनतन्त्र का पोषक है'—समझाइये।

१३. क्रान्ति के सम्बन्ध में लॉक के विचार क्या थे ? क्रान्ति का स्वरूप उसके अनुसार क्या होना चाहिये ?

१४. समाज के विकास और संगठन पर लॉक के विचार स्पष्ट कीजिये ?

१५. वैधानिक सत्ता के समर्थन में लॉक के तर्क क्या हैं ?
अथवा लॉक के विधानवाद का पूरा परिचय दीजिये।

७—रूसो

१. रूसो के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय देकर उनका महत्व बताइये।

२. फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर रूसो की छाप स्पष्ट है' इसका स्पष्टीकरण कीजिये।

३. रूसो के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दीजिये।
अथवा 'रूसो का जीवन अभाव और आवारगी की आकर्षक गाथा है'—समझाइये।

४. रूसो के अनुबन्धवादी विचारों का अर्थ बताइये।

५. 'रूसो के व्यक्तिवाद और प्रबुद्ध आततायित्व का समर्थक है'—समालोचना कीजिये।

६. मानव-प्रकृति और प्राकृतिक दशा पर रूसो के विचार क्या हैं ? और वे हाब्स के विचारों से कितने भिन्न हैं ?

७. 'सामाजिक अनुबन्ध की वास्तविक आधारशिला रूसो ने रखी'—क्या आप सहमत हैं ? तो क्यों ?

८. प्रजातन्त्र और लोकप्रिय संप्रभुता पर रूसो के विचार समझाइये।

९. सामान्य इच्छा का सिद्धान्त क्या है ? इसकी व्यापक समीक्षा कीजिये,

'सामान्य इच्छा न तो सामान्य है, न इच्छा है; बल्कि निराकार, निराधार, अमूर्त चिन्तन है' — इसका अर्थ समझाइये ।

'रूसो व्यक्तिवादी क्रान्तिवादी है' — स्पष्ट कीजिये ।
अथवा रूसो के क्रान्तिवादी आधारों का परिचय दीजिये ।

१२. 'रूसो का सिद्धान्त कई तरह के अनमेल, अस्पष्ट, संदिग्ध, जटिल तथा असम्बद्ध विचारों की पुलिन्दा है'—समझाइये ।

१३. 'रूसो घोर विरोधाभासों का व्यक्ति है'—स्पष्ट कीजिये ।

१४. संप्रभुता, विधि और शासन पर रूसो के विचार क्या हैं ?

१५. शिक्षा और क्रान्ति के सम्बन्ध में रूसो का योगदान क्या है ?

८—वेन्थम

१. वेन्थम के सिद्धान्तों का परिचय देते हुए उनका महत्त्व बताइये ।

२. उपयोगितावाद के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए उसमें वेन्थम का स्थान बताइये ।

३. 'वेन्थम के सिद्धान्तों में आनन्दवाद और व्यक्तिवाद का प्राधान्य है' सिद्ध कीजिये ।

४. 'वेन्थमवाद निकृष्टतम आत्मतुष्टि अथवा पाशविक परितोप का दर्शन है समीक्षा कीजिये ।

५. समाज, शासन और संप्रभुता पर वेन्थम के विचार क्या थे ?

६. वेन्थम ने विधि और अधिकारों का स्वरूप किस प्रकार निरूपित किया है ?

७. दण्ड-व्यवस्था पर वेन्थम के विचार लिखिये ।

८. सुधारवादी आन्दोलन का राजनीतिक मूल्यांकन करते हुए वेन्थम के अनुदाय पर प्रकाश डालिये ।

९. वेन्थम के व्यक्तिवाद का विश्लेषण कीजिये ।

१०. मिल और वेन्थम के विचारों की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये ।

११. उपयोगितावाद के सिद्धान्तों की आलोचना कीजिये ।

१२. 'अधिकाधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख' इसका आशय समझाते हुए वेन्थम के विचार लिखिये ।

१३. कल्याणकारी राज्य की दिशा में वेन्थम का अनुदान क्या है ?

१४. सामाजिक सुधारों की दृष्टि से वेन्थम और ग्रीन के विचारों की तुलना कीजिये ।

१५. 'वेन्थम के विचारों में सार्वभौमता और सार्वदेशिकता है' स्पष्ट कीजिये । अथवा वेन्थम के चिन्तन की त्रुटियाँ बताइये ।

९–मिल

१. मिल के व्यक्तिवाद का सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट कीजिये ।

२. संशोधित उपयोगितावाद क्या है ? मिल का इस दिशा में योगदान क्या रहा है ?

३. प्रतिनिधिमूलक शासन का स्पष्टीकरण मिल ने किस भाँति किया है ?

४. आर्थिक उदारवाद और उपयोगितावाद के सिद्धान्त समझाते हुए उनमें मिल की स्थिति स्पष्ट कीजिये ।

५. स्वतन्त्रता पर मिल के विचारों की समीक्षा कीजिये । अथवा विधायक स्वाधीनता की धारणा स्पष्ट कीजिये ।

६. स्वाधीनता और प्रतिबन्ध का सामञ्जस्य मिल ने किस प्रकार किया है ?

७. 'सनक और संशय से भी बड़े विचारों को प्रोत्साहन मिलता है' इस प्रसङ्ग में मिल के विचार समझाइये ।

८. प्रतिनिधित्व और मतदान पर मिल के विचार क्या थे ?

९. राज्य के कार्यों पर मिल का दृष्टिकोण क्या रहा है ?

१०. मिल के विचारों का महत्व बताते हुये उसकी कमजोरियाँ बताइये ।

११. 'मिल मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी दल का प्रतिभाशील नेता है' इस कथन का औचित्य बताइये ।

१२. स्वतन्त्रता के स्वर्णिम मार्ग का अनुसन्धान करते हुए मिल का महत्व समझाइये ।

१३. मिल के विचारों से प्रजातन्त्र का पोषण कहाँ तक होता है ?

१४. 'मिल के दार्शनिक आधार त्रुटिपूर्ण मनोविज्ञान तथा आगमन तर्क पर आधारित हैं' समझाइये ।

'बेन्थम का उपयोगितावाद भेड़ियों के समाज में हिंसा की वृद्धि करता है और सज्जनों के बीच विरक्ति की; इसके विपरीति मिल का उपयोगितावाद मनुष्यों में मानवता की ही वृद्धि करता है' समझाइये।

१०---ग्रीन

१. आदर्शवादी विचारधारा में ग्रीन का स्थान निश्चित कीजिये।

२. ग्रीन के विचारों की तुलना गांधीजी के विचारों से कीजिये और उसके स्थायी तत्वों का विश्लेषण कीजिये।

३. अभिनव व्यक्तिवाद या आदर्श मानवतावाद का स्पष्टीकरण करते हुए ग्रीन का महत्व बताइये।

४. ग्रीन के राजनीतिक प्रभाव की समीक्षा कीजिये।

५. व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों पर ग्रीन के विचार समझाइये।

६. राज्य के कार्यों पर ग्रीन के विचार क्या हैं?

७. 'अच्छे जीवन की बाधाओं का निराकरण करना' क्या महत्व रखता है? ग्रीन के अनुसार इसे समझाइये।

८. 'कर्तव्य और अधिकार एक ही सिक्के दो पहलू हैं—' स्पष्ट कीजिये।

९. 'राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है' इसका आशय बताइये।

१०. नैतिकता और व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर ग्रीन की धारणा क्या थी?

११. दण्ड व्यवस्था के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ग्रीन ने किस तरह किया है?

१२. राज्य का प्रतिरोध किस सीमा तक उचित है और उसका स्वरूप क्या है? ग्रीन के अनुसार स्पष्ट कीजिये।

१३. युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीयता पर ग्रीन के विचार क्या हैं?

१४. सम्पत्ति एवं समाज-सुधार की दिशा में ग्रीन का अनुदाय क्या है?

१५. 'ग्रीन के विचारों में केवल बुद्धिवाद का बोलबाला है'—समझाइये। अथवा 'ग्रीन का आदर्शवाद रूढ़िवाद का जामा पहिने हुए हैं' इसकी समालोचना कीजिये।

११---मार्क्स

१. मार्क्सवाद के मूलाधारों का परिचय दीजिये। अथवा मार्क्स के विचारों का मूल्यांकन कीजिये।

२. मार्क्स के पूर्व समाजवादी विचारधारा का परिचय देते हुए उसके अनुदान का उल्लेख कीजिये ।

३. समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद की धारणाओं का स्पष्टीकरण संक्षेप में कीजिये ।

४. पूँजीवाद व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को दूर कर सर्वहारा की तानाशाही किस तरह कायम होती है ? साम्यवाद की अन्तिम स्थिति क्या है ?

५. 'मार्क्स का जीवन घोर विफलताओं और असंगतियों से भरा रहकर भी सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा' इसकी व्याख्या कीजिये ।

६. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आशय समझाते हुए मार्क्स का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत कीजिये ।

७. हीगेल और मार्क्स की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये ।

८. मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

९. श्रम-सिद्धान्त और अतिरिक्त अर्हा का विश्लेषण कीजिये ।

१०. वर्ग-संघर्ष की पृष्ठिभूमि में क्रान्ति का स्वरूप स्पष्ट कीजिये ।

११. 'वर्गों को लेकर मार्क्स की विचारधारा सबसे अधिक उलझी है' सुलझाइये ।

१२. क्रान्ति की योजना और संक्रमणकालीन व्यवस्था का परिचय दीजिये ।

१३. 'मार्क्स के विचारों में वैज्ञानिकता और तार्किक विवेचन का समन्वय तो है ही, सबसे बढ़कर जीवित, जागृत, मूर्त विश्वास भी है जो जीवन में स्पन्दन, चेतना, उत्साह भरता है' सिद्ध कीजिये ।

१४. मार्क्स के विचारों की भ्रान्तियाँ या कमजोरियाँ स्पष्ट कीजिये । अथवा मार्क्सवाद की आलोचना कीजिये ।

१५. 'मार्क्सवाद एक सामाजिक गल्प है'; 'मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक यथार्थ है', दोनों दृष्टियों का स्पष्टीकरण कीजिये ।

१२—लास्की

१. लास्की के राजनीतिक विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिये ।

२. 'लास्की मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के लिये समाजवाद का विक्रेता है (A broker of Socialism to middle class intelligentsia), इसका आशय बताइये ।

लास्की के आर्थिक दृष्टिकोण का विश्लेषण कीजिये ।

. अधिकार और स्वतन्त्रता पर लास्की के विचार क्या थे ?

. बहुलवादियों में लास्की का क्या स्थान है ? उसका बहुलवाद क्या है ?

६. लास्की के जनतान्त्रिक समाजवाद की विशेषताएँ समझाइये ।

७. राज्य के कार्यों पर लास्की के विचार समझाइये ।

८. 'लास्की के चिन्तन में मार्क्स की छाप प्रत्येक पग पर है' स्पष्टीकरण कीजिये ।

९. मार्क्स से सहमत होते हुए भी लास्की समाजवाद का प्रशंसक किन्तु रूस आलोचक है' इसका अर्थ समझाइये ।

१०. संप्रभुता पर लास्की की आलोचना क्या है ? अथवा 'राजनीति के सम्पूर्ण क्षेत्र से संप्रभुता को बहिष्कृत कर देने में स्थायी लाभ है' इसकी समीक्षा कीजिये ।

११. कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त निरूपित करने में लास्की का अनुदान समझाइये ।

१२. पूँजीवाद की आलोचना और सम्पत्ति पर लास्की के विचार व्यक्त कीजिये ।

१३. 'आर्थिक समानता के क्षेत्र में लास्की के सिद्धान्त अद्वितीय हैं' उनका परिचय दीजिये ।

१४. 'बीसवीं सदी के उत्कृष्ट और उद्भट विचारक के रूप में लास्की प्रख्यात है' उदाहरणसहित समझाइये ।

१५. संघवाद, विधि और संसदीय प्रणाली पर लास्की के विचार क्या थे ?

भारतीय विचारक

१—मनु

१. भारत की प्राचीन राजनीतिक चिन्तनधारा का संक्षेप में विवेचन कीजिये ।

२. मनु कालीन भारतीय राजनीति का परिचय दीजिये ।

३. मानवधर्मशास्त्र के राजनीतिक महत्व पर निबन्ध लिखिये ।

४. प्राचीन समाज व्यवस्था में धर्म की स्थिति स्पष्ट कीजिये ।

५. मनु के राजधर्म की विशेषताएँ बतलाते हुए उसके राष्ट्रवादी स्वरूप का परिचय दीजिये ।
६. मनु के विचारों से संप्रभु का स्वरूप क्या है ? उसकी शक्तियों का उल्लेख कीजिये ।
७. दण्ड शक्ति का विवेचन करते हुए धर्म के साथ उसका सामञ्जस्य बताइये ।
८. कुलधर्म और व्यवहार की दृष्टि से मनु का मूल्यांकन कीजिये ।
९. मण्डल सिद्धान्त और शक्ति संतुलन का विवेचन कीजिये ।
१०. मनु के राजनीतिक सिद्धान्तों की समीक्षा कीजिये ।
११. 'बुद्ध और चाणक्य से होकर लोकमान्यतिलक और महात्मागांधी तक धर्म की अविलुप्त निष्कलुष धारा राजनीतिक जीवन में बहती आई है' भारतीय राजनीति से प्रमाणित कीजिये ।
१२. राजतन्त्र के समर्थन में मनु के विचारों का उल्लेख कीजिये ।
१३. वर्णाश्रम, विधि और स्वतन्त्रता पर मनु के विचारों की समीक्षा कीजिये ।
१४. मनु द्वारा प्रतिपादित सक्रिय कर्मवाद की विवेचना कीजिये ।
१५. मनु के विचारों की व्यावहारिकता पर अपने विचार लिखिये ।
अथवा मनु और कौटिल्य के राजनीतिक विचारों की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये ।

२—कौटिल्य

१. सप्ताङ्ग राज्य का विवेचन करते हुये कौटिल्य के राज्य संबन्धी विचारों का स्पष्टीकरण कीजिये ।
२. 'कौटिल्य भारतीय प्रतिभा का उज्ज्वलतम प्रतीक है' इसके आधार पर उसके अनुदाय का विश्लेषण कीजिये ।
३. प्रशासकीय योजना में कौटिल्य के कौशल का परिचय दीजिये ।
४. विदेशनीति पर कौटिल्य के विचार समझाइये ।
अथवा मण्डल-सिद्धान्त का विशदीकरण कीजिये ।
५. 'कौटिल्य ने केन्द्रीकरण और साम्राज्यवाद की नींव रखी' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ।

कौटिल्य युग की राजनीतिक विशेषताओं पर अपने विचार लिखिये ।

. मेकियावेली और कौटिल्य के विचारों की समानता और उनका अन्तर समझाइये ।

. 'अपने विचारों में कौटिल्य मेकियावेली से दूर किन्तु अरस्तू के अधिक पास है' इस पर अपनी राय दीजिये ।

९. कौटिल्य-विरचित 'अर्थशास्त्र' की उपयोगिता और महत्ता पर प्रकाश डालिये ।

१०. 'कौटिल्य दुरभिसन्धियों, षड़यन्त्रों और कूटनीतिक दुराचारों का स्रष्टा है' इसकी आलोचना कीजिये ।

११. विभिन्न लेखकों द्वारा स्थापित कौटिल्य के सिद्धान्तों का निष्कर्ष बताइये ।

१२. मनु और कौटिल्य के विचार 'राजधर्म' पर कहाँ तक सहमत हैं ?

१३. व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में कौटिल्य का महत्व बताइये ।

१४. हिन्दू राजनीतिक चिन्तनधारा में कौटिल्य का क्या स्थान है ?

१५. शान्ति और युद्ध के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार क्या थे ? उसकी सैन्य व्यवस्था का परिचय दीजिये ।

३—महात्मागाँधी

१. गाँधीवाद की प्रमुख विशेषताएँ बताइये ।

२. 'मेरा कोई भी वाद नहीं है' इन शब्दों से गाँधीजी का क्या अभिप्राय है ? गाँधीवाद क्या चाहता है ?

३. मार्क्स और गाँधी के विचारों की तुलना कीजिये ।

४. गाँधीजी के राजनीतिक और आर्थिक विचारों की समीक्षा कीजिये ।

५. समाजवाद और गाँधीवाद किस सीमा तक समान हैं और कहाँ उनमें अन्तर है ? गाँधीवादी समाजवाद क्या है ?

६. सत्याग्रह के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुये उसकी राजनीतिक उपयोगिता बताइये ।

७. प्रन्यास सिद्धान्त (ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त) क्या है और समाज रचना पर इसका क्या प्रभाव है ?

८. 'गांधीवाद और साम्यवाद के लक्ष्य एक हैं, रास्ते अलग-अलग हैं, इस कथन की समालोचना कीजिये।

९. साध्य, साधन और विकेन्द्रीकरण पर गांधीजी के विचारों का विवेचन कीजिये। गांधीजी द्वारा मशीनीकरण का विरोध कहां तक किया गया?

१०. प्रयोगात्मक चिन्तनपद्धति के रूप में गांधीवाद का महत्व समझाइये।

११. भारतीय राजनीति पर गांधीजी के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिये।

१२. 'भारत की स्वाधीनता गांधीजी के आन्दोलनों का प्रतिफल है' समालोचना कीजिये।

१३. गांधीजी धर्म, नीति और राजनीति का समन्वय कहां तक कर सके हैं? समन्वयवादी दृष्टिकोण से आप कहां तक सहमत हैं?

१४. वर्ग-संघर्ष और वर्ग-समन्वय पर गांधीवादी विचार स्पष्ट कीजिये।

१५. सत्याग्रह की पृष्ठभूमि में गांधीवाद की सफलता-असफलता पर अपने विचार लिखिये।